सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा

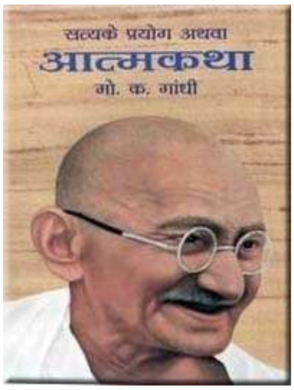

लेखक : मोहनदास करमचंद गांधी

अनुवाद: काशिनाथ त्रिवेदी

यूनिकोड संस्करण : संजय खत्री

Courtesy: http://hi.wikipedia.org

नवजीवन प्रकाशन मंदिर,

अहमदाबाद ३८००१४

प्रस्तावना

चार या पाँच वर्ष पहले निकट के साथियों के आग्रह से मैंने आत्मकथा लिखना स्वीकार किया था और उसे आरम्भ भी कर दिया था। किन्तु फुलस्केप का एक पृष्ट भी पूरा नहीं कर पाया था कि इतने में बम्बई की ज्वाला प्रकट हुई और मेरा शुरू किया हुआ काम अधूरा रह गया। उसके बाद तो मैं एक के बाद एक ऐसे व्यवसायों में फँसा कि अन्त में मुझे यरवाडा का अपना स्थान मिला। भाई जयरामदास भी वहाँ थे। उन्होंने मेरे सामने अपनी यह माँग रखी कि दूसरे सब काम छोड़कर मुझे पहले आत्मकथा ही लिख डालनी चाहिए। मैंने उन्हें जवाब दिया कि मेरा अभ्यास-क्रम बन चुका है और उसके समाप्त होने तक मैं आत्मकथा का आरम्भ नहीं कर सकूँगा। अगर मुझे अपना पूरा समय यरवाडा में बिताने का सौभाग्य प्राप्त हुआ होता, तो मैं ज़रूर आत्मकथा वहीं लिख सकता था। परन्तु अभी अभ्यास-क्रम की समाप्ति में भी एक वर्ष बाकी था कि मैं रिहा कर दिया गया। उससे पहले मैं किसी तरह आत्मकथा का आरम्भ भी नहीं कर सकता था। इसलिए वह लिखी नहीं जा सकी। अब स्वामी आनन्द ने फिर वही माँग की हैं। मैं दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास लिख चुका हूँ, इसलिए आत्मकथा लिखने को ललचाया हूँ। स्वामी की माँग तो यह थी कि मैं पूरी कथा लिख डालूँ और फिर वह पुस्तक के रूप में छपे। मेरे पास इकट्ठा इतना समय नहीं हैं। अगर लिखूँ तो 'नवजीवन' के लिए ही मैं लिख सकता हूँ। मुझे 'नवजीवन' के लिए कुछ तो लिखना ही होता है। तो आत्मकथा ही क्यों न लिखूँ ? स्वामी ने मेरा यह निर्णय स्वीकार किया और और अब आत्मकथा लिखने का अवसर मुझे मिला।

किन्तु यह निर्णय करने पर एक निर्मल साथी ने, सोमवार के दिन जब मैं मौन में था, धीमें से मुझे यों कहा:

"आप आत्मकथा क्यों लिखना चाहते हैं ? यह तो पश्चिम की प्रथा है। पूर्व में तो किसीने लिखी जानी नहीं। और लिखेंगे क्या ? आज जिस वस्तु को आप सिद्धान्त के रुप में मानते हैं, उसे कल मानना छोड़ दे तो ? अथवा सिद्धान्त का अनुसरण करके जो भी कार्य आज आप करते हैं, उन कार्यों में बाद में हेरफेर करें तो ? बहुत से लोग आपके लेखों को

प्रमाणभूत समझकर उनके अनुसार अपना आचरण गढ़ते हैं। वे गलत रास्ते चले जाएँ तो ? इसलिए सावधान रहकर फिलहाल आत्मकथा जैसी कोई चीज न लिखें, तो क्या ठीक न होगा ?"

इस दलील का मेरे मन पर थोड़ा-बहुत असर हुआ। लेकिन मुझे आत्मकथा कहाँ लिखनी हैं? मुझे तो आत्मकथा के बहाने सत्य के जो अनेक प्रयोग मैंने किये हैं, उनकी कथा लिखनी है। यह सच है कि उनमें मेरा जीवन ओतप्रोत होने के कारण कथा एक जीवन-वृत्तांत जैसी बन जाएगी। लेकिन अगर उसके हर पन्ने पर मेरे प्रयोग ही प्रकट हों, तो मैं स्वयं उस कथा को निर्दोष मानूँगा। मैं ऐसा मानता हूँ कि मेरे सब प्रयोगों का पूरा लेखा जनता के सामने रहे, तो वह लाभदायक सिद्ध होगा-अथवा यों समझिये कि यह मेरा मोह है। राजनीति के क्षेत्र में हुए मेरे प्रयोगों को तो अब हिन्दुस्तान जानता है; यही नहीं बल्कि थोड़ी-बहुत मात्रा में सभ्य कही जानेवाली दुनिया भी उन्हें जानती है। मेरे मन इसकी कीमत कम से कम है, और इसलिए इन प्रयोगों के द्वारा मुझे 'महात्मा' का जो पद मिला है, उसकी कीमत भी कम ही है। कई बार तो इस विशेषण ने मुझे बहुत अधिक दुःख भी दिया है। मुझे ऐसा एक भी क्षण याद नहीं है, जब इस विशेषण के कारण मैं फूल गया होऊँ। लेकिन अपने आध्यात्मिक प्रयोगों का, जिन्हें मैं ही जान सकता हूँ और जिनके कारण राजनीति के क्षेत्र में मेरी शक्ति भी जन्मी है, वर्णन करना मुझे अवश्य ही अच्छा लगेगा। अगर ये प्रयोग सचमुच आध्यात्मिक हैं, तो इनमें गर्व करने की गुंजाइश ही नहीं। इनसे तो केवल नम्रता की ही वृद्धि होगी। ज्यों-ज्यों मैं विचार करता जाता हूँ, भूतकाल के अपने जीवन पर दृष्टि डालता हूँ, त्यो-त्यों अपनी अल्पता मैं स्पष्ट ही देख सकता हूँ। मुझे जो करना है, तीस वर्षों से मैं जिसकी आतुर भाव से रट लगाये हुए हूँ, वह तो आत्म-दर्शन है, ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष है। मेरे सारे काम इसी दृष्टि से होते हैं। मेरा सब लेखन भी इसी दृष्टि से होता है; और राजनीति के क्षेत्र में मेरा पड़ना भी इसी वस्तु के अधीन है।

लेकिन ठेठ से ही मेरा यह मत रहा है कि जो एक के लिए शक्य है, वह सबके लिए भी शक्य है। इस कारण मेरे प्रयोग खानगी नहीं हुए, नहीं रहे। उन्हें सब देख सकें तो मुझे नहीं लगता कि उससे उनकी आध्यात्मिकता कम होगी। अवश्य ही कुछ चीजें ऐसी हैं, जिन्हें आत्मा ही जानती है, जो आत्मा में ही समा जाती हैं। परन्तु ऐसी वस्तु देना मेरी शक्ति से परे की बात है

। मेरे प्रयोगों में तो आध्यत्मिकता का मतलब है नैतिक; धर्म का अर्थ है नीति; आत्मा की दृष्टि से पाली गयी नीति धर्म है। इसलिए जिन वस्तुओं का निर्णय बालक, नौजवान और बूढ़े करते हैं और कर सकते हैं, इस कथा में उन्हीं वस्तुओं का समावेश होगा । अगर ऐसी कथा मैं तटस्थ भाव से, निरभिमान रहकर लिख सकूँ, तो उसमें से दूसरे प्रयोग करनेवालों को कुछ सामग्री मिलेगी।

इन प्रयोगों के बारेमें मैं किसी भी प्रकार की सम्पूर्णता का दावा नहीं करता । जिस तरह वैज्ञानिक अपने प्रयोग अतिशय नियम-पूर्वक, विचार-पूर्वक और बारीकी से करता है, फिर भी उनसे उत्पन्न परिणामों को अन्तिम नहीं कहता, अथवा वे परिणाम सच्चे ही हैं इस बारेमें भी वह साशंक नहीं तो तटस्थ अवश्य रहता है, अपने प्रयोगों के विषय में मेरा भी वैसा ही दावा है । मैंने खूब आत्म-निरीक्षण किया है, एक-एक भाव की जाँच की है, उसका पृथक्करण किया है । किन्तु उसमें में निकले हुए परिणाम सबके लिए अन्तिम ही हैं, वे सच हैं अथवा वे ही सच हैं, ऐसा दावा मैं कभी करना नहीं चाहता । हाँ, यह दावा मैं अवश्य करता हूँ कि मेरी दृष्टि से ये सच हैं और इस समय तो अन्तिम जैसे ही मालूम होते हैं । अगर न मालूम हो तो मुझे उनके सहारे कोई भी कार्य खड़ा नहीं करना चाहिए । लेकिन मैं तो पग-पग पर जिन-जिन वस्तुओं को देखता हूँ, उनके त्याज्य और ग्राह्य ऐसे दो भाग कर लेता हूँ, और जिन्हें ग्राह्य समझता हूँ उनके अनुसार अपना आचरण बना लेता हूँ । और जब तक इस तरह बना हुआ आचरण मुझे अर्थात् मेरी बुद्धि को और आत्मा को संतोष देता हैं, तब तक मुझे उसके शुभ परिणामों के बारेमें अविचलित विश्वास रखना ही चाहिए ।

यदि मुझे केवल सिद्धान्तों का अर्थात् तत्त्वों का ही वर्णन करना हो, तब तो यह आत्मकथा मुझे लिखनी ही नहीं चाहिए । लेकिन मुझे तो उन पर रचे गये कार्यों का इतिहास देना है, और इसीलिए मैंने इन प्रयत्नों को 'सत्य के प्रयोग' जैसा पहला नाम दिया है । इसमें सत्य से भिन्न माने जानेवाले अहिंसा, ब्रह्मचर्य इत्यादि नियमों के प्रयोग भी आ जाएँगे । लेकिन मेरे मन सत्य ही सर्वोपरि है और उसमें अगणित वस्तुओं का समावेश हो जाता है । यह सत्य स्थूल-वाचिक-सत्य नहीं है । यह तो वाणी की तरह विचार का भी है । यह सत्य केवल हमारा कल्पित सत्य ही नहीं है, बल्कि स्वतंत्र चिरस्थायी सत्य है; अर्थात् परमेश्वर ही है ।

परमेंश्वर की व्याख्याएँ अनगिनत हैं, क्योंकि उसकी विभूतियाँ भी अनगिनत हैं। ये विभूतियाँ मुझे आश्चर्यचकित करती हैं। क्षणभर के लिए ये मुझे मुग्ध भी करती हैं। किन्तु मैं पुजारी तो सत्यरुपी परमेंश्वर का ही हूँ। वह एक ही सत्य है, और दुसरा सब मिथ्या है। यह सत्य मुझे मिला नहीं है, लेकिन मैं इसका शोधक हूँ। इस शोध के लिए मैं अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु का त्याग करने को तैयार हूँ, और मुझे यह विश्वास है कि इस शोधरूपी यज्ञ में इस शरीर को भी होमने की मेरी तैयारी है और शक्ति है। लेकिन जब तक मैं इस सत्य का साक्षात्कार न कर लूँ, तब तक मेरी अन्तरात्मा जिसे सत्य समझती है उस काल्पनिक सत्य को अपना आधार मानकर, अपना दीपस्तम्भ समझकर, उसके सहारे मैं अपना जीवन व्यतीत करता हूँ।

यद्यपि यह मार्ग तलवार की धार पर चलने जैसा है, तो भी मुझे यह सरल से सरल लगा है। इस मार्ग पर चलते हुए अपनी भयंकर भूलें भी मुझे नगण्य-सी लगी हैं, क्योंकि वैसी भूलें करने पर भी मैं बच गया हूँ और अपनी समझ के अनुसार आगे बढ़ा हूँ। दूर-दूर से विशुद्ध सत्य की-ईश्वर-की-झाँकी भी मैं कर रहा हूँ। मेरा यह विश्वास दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है कि एक सत्य ही है, उसके अलावा दूसरा कुछ भी इस जगत में नहीं है। यह विश्वास किस प्रकार बढ़ता गया है, इसे मेरा जगत अर्थात् 'नवजीवन' इत्यादि के पाठक जानकर मेंरे प्रयोगों के साझेदार बनना चाहें और उस सत्य की झाँकी भी मेंरे साथ करना चाहें तो भले करें। साथ ही, मैं यह भी अधिकाधिक मानने लगा हूँ कि जितना कुछ मेंरे लिए सम्भव है, उतना एक बालक के लिए भी सम्भव है, और इसके लिए मेंरे पास सबल कारण हैं। सत्य की शोध के साधन जितने कठिन हैं उतने ही सरल भी हैं। वे अभिमानी को असम्भव मालूम होंगे और एक निर्दोष बालक को बिलकुल सम्भव लगेंगे। सत्य के शोधक को रजकण से भी नीचे रहना पड़ता है। सारा संसार रजकणों को कुचलता है, पर सत्य का पुजारी तो जब तक इतना अल्प नहीं बनता कि रजकण भी उसे कुचल सके, तब तक उसके लिए स्वतंत्र सत्य की झाँकी भी दूर्लभ है। यह चीज वशिष्ठ-विश्वामित्र के आख्यान में स्वतंत्र रीति से बतायी गयी है। ईसाई धर्म और इस्लाम भी इसी वस्तु को सिद्ध करते हैं।

मैं जो प्रकरण लिखनेवाला हूँ उनमें यदि पाठकों को अभिमान का भास हो, तो उन्हें अवश्य ही समझ लेना चाहिए कि मेरी शोध में खामी है और मेरी झाँकियाँ मृगजल के समान हैं। मेंरे

समान अनेकों का क्षय चाहे हो, पर सत्य की जय हो। अल्पात्मा को मापने के लिए हम सत्य का गज कभी छोटा न करें।

मैं चाहता हूँ कि मेरे लेखों को कोई प्रमाणभूत न समझें। यही मेरी बिनती है। मैं तो सिर्फ यह चाहता हूँ कि उनमें बताये गये प्रयोगों को दृष्टान्तरूप मानकर सब अपने-अपने प्रयोग यथाशक्ति और यथामति करें। मुझे विश्वास है कि इस संकुचित क्षेत्र में आत्मकथा के मेरे लेखों से बहुत कुछ मिल सकेगा, क्योंकि कहने योग्य एक भी बात मैं छिपाऊँगा नहीँ। मुझे आशा है कि मैं अपने दोषों का खयाल पाठकों को पूरी तरह दे सकूँगा। मुझे सत्य के शास्त्रीय प्रयोगों का वर्णन करना है, मैं कितना भला हूँ इसका वर्णन करने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है। जिस गज से स्वयं मैं अपने को मापना चाहता हूँ और जिसका उपयोग हम सबको अपने-अपने विषय में करना चाहिए, उसके अनुसार तो मैं अवश्य कहूँगा कि:

मो सम कौन कुटिल खल कामी ?

जिन तनु दियो ताहि बिसरायो

ऐसो निमकहरामी।

क्योंकि जिसे मैं सम्पूर्ण विश्वास के साथ अपने श्वासोच्छवास का स्वामी समझता हूँ, जिसे मैं अपने नमक का देने वाला मानता हूँ, उससे मैं अभी तक दूर हूँ, यह चीज मुझे प्रतिक्षण खटकती है। इसके कारणरूप अपने विकारों को मैं देख सकता हूँ, पर उन्हें अभी तक निकाल नहीं पा रहा हूँ।

परन्तु इसे यहीं समाप्त करता हूँ। प्रस्तावना में से मैं प्रयोग की कथा में नहीं उतर सकता। वह तो कथा-प्रकरणों में ही मिलेगी।

मोहनदास करमचंद गांधी

आश्रम, साबरमती

मार्गशीर्ष शुक्ल ११, १९८२

पहला भाग

१. जन्म

जान पड़ता है कि गांधी-कुटुम्ब पहले तो पंसारी का धंधा करनेवाला था। लेकिन मेरे दादा से लेकर पिछली तीन पीढ़ियों से वह दीवानगीरी करता रहा है। ऐसा मालूम होता है कि उत्तमचंद गांधी अथवा ओता गांधी टेकवाले थे। राजनीतिक खटपट के कारण उन्हें पोरबन्दर छोड़ना पड़ा था, और उन्होनें जूनागढ़ राज्य में आश्रय लिया था। उन्होंने नवाब साहब को बायें हाथ से सलाम किया। किसीने इस प्रकट अविनय का कारण पूछा, तो जवाब मिला : "दाहिना हाथ तो पोरबन्दर को अर्पित हो चुका है।"

ओता गांधी के एक के बाद दूसरा यों दो विवाह हुए थे। पहले विवाह से उनके चार लड़के थे और दूसरे से दो। अपने बचपन को याद करता हूँ, तो मुझे खयाल नहीं आता कि ये भाई सौतेले थे। इनमें पाँचवे करमचन्द अथवा कबा गांधी और आखिरी तुलसीदास गांधी थे। दोनों भाइयों ने बारी-बारी से पोरबन्दर में दीवानगीरी छोड़ने का काम किया। कबा गांधी मेरे पिताजी थे। पोरबन्दर की दीवानगीरी छोड़ने के बाद वे राजस्थानिक कोर्ट के सदस्य थे। बाद में राजकोट में और कुछ समय के लिए वांकानेर में दीवान थे। मृत्यु के समय वे राजकोट दरबार के पेंशनर थे।

कबा गांधी के भी एक के बाद एक यों चार विवाह हुए थे। पहले दो से दो कन्याएँ थीं; अन्तिम पत्नी पुतलीबाई से एक कन्या और तीन पुत्र थे। उनमें अन्तिम मैं हूँ।

पिता कुटुम्ब-प्रेमी, सत्य-प्रिय, शूर, उदार किन्तु क्रोधी थे। थोड़े विषयासक्त भी रहे होंगे। उनका आखिरी ब्याह चालीसवें साल के बाद हुआ था। हमारे परिवार में और बाहर भी उनके विषय में यह धारणा थी कि वे रिश्वतखोरी से दूर भागते हैं और इसलिए शुद्ध न्याय करते हैं। राज्य के प्रति वे वफादार थे। एक बार प्रान्त के किसी साहब ने राजकोट के ठाकुरसाहब का अपमान किया था। पिताजी ने उसका विरोध किया। साहब नाराज हुए, कबा गांधी से माफी माँगने के लिए कहा। उन्होंने माफी माँगने से इनकार किया। फलस्वरूप

कुछ घंटों के लिए उन्हें हवालात में भी रहना पड़ा। इस पर भी जब वे डिगे नहीं तो अंत में साहब ने उन्हें छोड़ देने का हुक्म दिया।

पिताजी ने धन बटोरने का लोभ कभी नहीं किया। इस कारण हम भाइयों के लिए बहुत थोड़ी सम्पत्ति छोड़ गये थे।

पिताजी की शिक्षा केवल अनुभव की थी। आजकल जिसे हम गुजराती की पाँचवीं किताब का ज्ञान कहते हैं, उतनी शिक्षा उन्हें मिली होगी। इतिहास-भूगोल का ज्ञान तो बिलकुल ही न था। फिर भी उनका व्यावहारिक ज्ञान इतने ऊँचे दर्जे का था कि बारीक से बारीक सवालों को सुलझाने में अथवा हजार आदमियों से काम लेने में भी उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती थी। धार्मिक शिक्षा नहीं के बराबर थी, पर मन्दिरों में जाने से और कथा वगैरा सुनने से जो धर्मज्ञान असंख्य हिन्दुओं को सहज भाव से मिलता रहता है वह उनमें था। आखिर के साल में एक विद्वान ब्राह्मण की सलाह से, जो परिवार के मित्र थे, उन्होंने गीता-पाठ शुरू किया था और रोज पूजा के समय वे थोड़े-बहुत श्लोक ऊँचे स्वर से पाठ किया करते थे।

मेरे मन पर यह छाप रही है कि माता साध्वी स्त्री थीं। वे बहुत श्रद्धालु थीं। बिना पूजा-पाठ के कभी भोजन न करतीं। हमेंशा हवेली (वैष्णव-मन्दिर) जातीं। जब से मैंने होश संभाला तब से मुझे याद नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी चातुर्मास का व्रत तोड़ा हो। वे कठिन-से-कठिन व्रत शुरु करतीं और उन्हें निर्विघ्न पूरा करतीं। लिए हुए व्रतों को बीमार होने पर भी कभी न छोड़तीं। ऐसे एक समय की मुझे याद है कि जब उन्होंने चान्द्रायण का व्रत लिया था। व्रत के दिनों में वे बीमार पड़ी, पर व्रत नहीं छोड़ा। चातुर्मास में एक बार खाना तो उनके लिए सामान्य बात थी। इतने से संतोष न करके एक चौमासे में उन्होंने तीसरे दिन भोजन करने का व्रत लिया था। लगातार दो-तीन उपवास तो उनके लिए मामूली बात थी। एक चातुर्मास में उन्होंने यह व्रत लिया था कि सूर्यनारायण के दर्शन करके ही भोजन करेंगी। उस चौमासे में हम बालक बादलों के सामने देखा करते कि कब सूरज के दर्शन हों और कब माँ भोजन करें। यह तो सब जानते हैं कि चौमासे में अकसर सूर्य के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं। मुझे ऐसे दिन याद हैं कि जब हम सूरज को देखते और कहते, "माँ-माँ, सूरज दीखा;" और

माँ उतावली होकर आतीं इतने में सूरज छिप जाता और माँ यह कहती हुई लौट जातीं कि "कोई बात नहीं, आज भाग्य में भोजन नहीं है;" और अपने काम में डूब जातीं।

माता व्यवहार-कुशल थीं। राज-दरबार की सब बातें वे जानती थीं। रनिवास में उनकी बुद्धि की अच्छी कदर होती थी। मैं बालक था। कभी-कभी माताजी मुझे भी अपने साथ दरबार गढ़ ले जाती थीं। 'बा-माँसाहब' के साथ होनेवाली बातों में से कुछ मुझे अभी तक याद हैं।

इन माता-पिता के घर में संवत् १९२५ की भादों वदी बारस के दिन, अर्थात् २ अक्तूबर, १८६९ को पोरबन्दर अथवा सुदामापुरी में मेरा जन्म हुआ।

बचपन मेरा पोरबन्दर में ही बीता। याद पड़ता है कि मुझे किसी पाठशाला में भरती किया गया था। मुश्किल से थोड़े पहाड़े मैं सीखा था। मुझे सिर्फ इतना याद है कि मैं उस समय दूसरे लड़कों के साथ अपने शिक्षक को गाली देना सीखा था। और कुछ याद नहीं पड़ता। इस पर से मैं अंदाज लगाता हूँ कि मेरी बुद्दी मंद रही होगी; और स्मरण-शक्ति उन पंक्तियों के कच्चे पापड़-जैसी होगी, जिन्हें हम बालक गाया करते थे। वे पंक्तियाँ मुझे यहाँ देनी ही चाहिए:

एकडे एक, पापड शेक;

पापड कच्चो, – मारो –

पहली खाली जगह में मास्टर का नाम होता था | उसे मैं अमर करना नहीं चाहता | दूसरी खाली जगह में छोड़ी हुई गाली रहती थी, जिसे भरने की आवश्यकता नहीं |

२. बचपन

पोरबन्दर से पिताजी राजस्थानिक कोर्ट के सदस्य बनकर राजकोट गये। उस समय मेरी उमर लगभग सात साल की होगी। मुझे राजकोट की ग्रामशाला में भरती किया गया। इस शाला के दिन मुझे अच्छी तरह याद हैं। शिक्षकों के नाम-धाम भी याद हैं। पोरबन्दर की तरह यहाँ की पढ़ाई के बारेमें भी जानने लायक कोई खास बात नहीं हैं। मैं मुश्किल से साधारण श्रेणी का विद्यार्थी रहा होऊँगा। ग्रामशाला से उपनगर की शाला में और वहाँ से हाईस्कूल में। यहाँ तक पहुँचने में मेरे बारहवाँ वर्ष बीत गया। मुझे याद नहीं पड़ता कि इस बीच मैंने किसी भी समय शिक्षकों को धोखा दिया हो। न तब तक किसीको मित्र बनाने का स्मरण है। मैं बहुत ही शरमीला लड़का था। पाठशाला में अपने काम से ही काम रखता था | घंटी बजने के समय पहुँचता और पाठशाला के बन्द होते ही घर भागता। 'भागना' शब्द मैं जान-बूझकर लिख रहा हूँ, क्योंकि किसीसे बातें करना मुझे अच्छा न लगता था। साथ ही यह डर भी रहता था कि कोई मेरा मजाक उड़ायेगा तो ?

हाईस्कूल के पहले ही वर्ष की, परीक्षा के समय की, एक घटना उल्लेखनीय है। शिक्षा-विभाग के इन्स्पेक्टर जाइल्स विद्यालय की निरीक्षण करने आये थे। उन्होंने पहली कक्षा के विद्यार्थियों को अंग्रेजी के पाँच शब्द लिखाये। उनमें एक शब्द 'केटल' (kettle) था। मैंने उसके हिज्जे गलत लिखे थे। शिक्षक ने अपने बूट की नोक मारकर मुझे सावधान किया। लेकिन मैं क्यों सावधान होने लगा ? मुझे यह ख्याल ही नहीं हो सका कि शिक्षक मुझे पास वाले लड़के की पट्टी देखकर हिज्जे सुधार लेने को कहते हैं। मैंने यह माना था कि शिक्षक तो यह देख रहे हैं कि हम एक-दूसरे की पट्टी में देखकर चोरी न करें। सब लड़कों के पाँचों शब्द सही निकले और अकेला मैं बेवकूफ ठहरा ! शिक्षक ने मुझे मेरी बेवकूफी बाद में समझायी; लेकिन मेरे मन पर कोई असर न हुआ। मैं दुसरे लड़कों की पट्टीमें देखकर चोरी करना कभी सीख न सका।

इतने पर भी शिक्षक के प्रति मेरा विनय कभी कम न हुआ। बड़ों के दोष न देखने का गुण मुझमें स्वभाव से ही था। बाद में इन शिक्षक के दूसरे दोष भी मुझे मालूम हुए थे: फिर भी

उनके प्रति मेरा आदर तो बना ही रहा। मैं यह जानता था कि बड़ों की आज्ञा का पालन करना चाहिए। वे जो कहें सो करना; करें उसके काजी न बनना।

इसी समय के दो और प्रसंग मुझे हमेंशा याद रहे हैं। साधारणतः पाठशाला की पुस्तकों को छोड़कर और कुछ पढ़ने का मुझे शौक नहीं था। सबक याद करना चाहिए, उलाहना सहा नहीं जाता, शिक्षक को धोखा देना ठीक नहीं, इसलिए मैं पाठ याद करता था। लेकिन मन अलसा जाता, इससे अक्सर सबक कच्चा रह जाता। ऐसी हालत में दूसरी कोई चीज पढ़ने की इच्छा क्यों कर होती? किन्तु पिताजी की खरीदी हुई एक पुस्तक पर मेरी दृष्टि पड़ी। नाम था 'श्रवण-पितृभक्ति नाटक'। मेरी इच्छा उसे पढ़ने की हुई और मैं उसे बड़े चाव के साथ पढ़ गया। उन्हीं दिनों शीशे में चित्र दिखाने वाले भी घर-घर आते थे। उनके पास भी श्रवण का वह दृश्य भी देखा, जिसमें वह अपने माता-पिता को काँवर में बैठाकर यात्रा पर ले जाता है। दोनों चीजों का मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। मन में इच्छा होती कि मुझे भी श्रवण के समान बनना चाहिए। श्रवण की मृत्यु पर उसके माता-पिता का विलाप मुझे आज भी याद है। उस ललित छन्द को मैंने बाजे पर बजाना सीख लिया था। मुझे बाजा सीखने का शौक था और पिताजी ने एक बाजा दिला भी दिया था।

इन्हीं दिनों कोई नाटक-कंपनी आयी थी और उसका नाटक देखने की इजाजत मुझे मिली थी। हरिश्चन्द्र का आख्यान था | उस नाटक को देखते हुए मैं थकता न था। उस बार-बार देखने की इच्छा होती थी। लेकिन यों बार-बार जाने कौन देता ? पर अपने मन में मैंने उस नाटक को सैकड़ों बार खेला होगा। मुझे हरिश्चन्द्र के सपने आते | 'हरिश्चन्द्र की तरह सत्यवादी सब क्यों नहीं होते ?' यह धुन बनी रहती। हरिश्चन्द्र पर जैसी विपत्तियाँ पड़ीं वैसी विपत्तियों को भोगना और सत्य का पालन करना ही वास्तविक सत्य है। मैंने यह मान लिया था कि नाटक में जैसी लिखी हैं, वैसी विपत्तियाँ हरिश्चन्द्र पर पड़ी होंगी। हरिश्चन्द्र के दुःख देखकर, उनका स्मरण करके मैं खूब रोया हूँ। आज मेरी बुद्धि समझती है कि हरिश्चन्द्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं था। फिर भी मेरे विचार में हरिश्चन्द्र और श्रवण आज भी जीवित हैं। मैं मानता हूँ कि आज भी उन नाटकों को पढ़ूं, तो मेरी आँखों से आँसू बह निकलेंगे।

३. बाल-विवाह

मैं चाहता हूँ कि मुझे यह प्रकरण न लिखना पड़ता। लेकिन इस कथा में मुझको ऐसे कितने ही कड़वे घूँट पीने पड़ेंगे। सत्य का पुजारी होने का दावा करके मैं और कुछ कर ही नहीं सकता। यह लिखते हुए मन अकुलाता हैं कि तेरह साल की उमर में मेरा विवाह हुआ था। आज मेरी आँखो के सामने बारह-तेरह वर्ष के बालक मौजूद हैं। उन्हें देखता हूँ और अपने विवाह का स्मरण करता हूँ, तो मुझे अपने ऊपर दया आती है और इन बालकों को मेरी स्थिति में से बचने के लिए बधाई देने की इच्छा होती है। तेरहवें वर्ष में हुए अपने विवाह के समर्थन में मुझे एक भी नैतिक दलील सूझ नहीं सकती।

पाठक यह न समझें कि मैं सगाई की बात लिख रहा हूँ। काठियावाड़ में विवाह का अर्थ लग्न है, सगाई नहीं। दो बालकों को ब्याहने के लिए माँ-बाप के बीच होनेवाला करार सगाई है। सगाई टूट सकती है। सगाई के रहते वर यदि मर जाए, तो कन्या विधवा नहीं होती। सगाई में वर-कन्या के बीच कोई सम्बन्ध नहीं रहता। दोनों को पता भी नहीं होता। मेरी एक-एक करके तीन बार सगाई हुई थी। ये तीन सगाईयाँ कब हुईं, इसका मुझे कुछ पता नहीं। मुझे बताया गया था कि दो कन्याएँ एक के बाद एक मर गयीं। इसीलिए मैं जानता हूँ कि मेरी तीन सगाईयाँ हुई थीं। कुछ ऐसा याद पड़ता हैं कि तीसरी सगाई कोई सात साल की उमर में हुई होगी। लेकिन मैं नहीं जानता कि सगाई के समय मुझसे कुछ कहा गया था। विवाह में वर-कन्या की आवश्यकता पड़ती है, उसकी एक विधि होती है; और मैं जो लिख रहा हूँ, सो विवाह के विषय में ही है। विवाह का मुझे पूरा-पूरा स्मरण है।

पाठक जान चुके हैं कि हम तीन भाई थे। उनमें सबसे बड़े का ब्याह हो चुका था। मझले भाई मुझसे दो या तीन साल बड़े थे। घर के बड़ों ने एक साथ तीन विवाह करने का निश्चय किया। मझले भाई का, मेरे काकाजी के छोटे लड़के का, जिसकी उमर मुझसे एकाध साल शायद अधिक रही होगी, और मेरा। इसमें हमारे कल्याण की बात नहीं थी। हमारी इच्छा की तो थी ही नहीं। बात सिर्फ बड़ों की सुविधा और खर्च की थी।

हिन्दू-संसार में विवाह कोई ऐसी-वैसी चीज नहीं | वर-कन्या के माता-पिता विवाह के पीछे बरबाद होते हैं; धन लुटाते हैं और समय लुटाते हैं। महीनों पहले से तैयारियाँ होती हैं। कपड़े बनते हैं, गहने बनते हैं, जातिभोज के खर्च के हिसाब बनते हैं, पकवानों के प्रकारों की होड़ बदी जाती है। औरतें, गला हो चाहे न हो, तो भी गाने गा-गाकर अपनी आवाज बैठा लेती हैं; बीमार भी पड़ती हैं, पड़ोसियों की शांति में खलल पहुँचाती हैं। बेचारे पड़ोसी भी अपने यहाँ प्रसंग आने पर यही सब करते होते हैं, इसलिए शोरगुल, जूठन, दुसरी गन्दगियाँ, सब कुछ उदासीन भाव से सह लेते हैं।

ऐसा झमेंला तीन बार करने के बदले एक ही बार कर लिया जाए, तो कितना अच्छा हो? खर्च कम होने पर भी ब्याह ठाठ से हो सकता है, क्योंकि तीन ब्याह एकसाथ करने पर पैसा खुले हाथों खर्चा जा सकता है। पिताजी और काकाजी बुढ़े थे। हम उनके आखिरी लड़के ठहरे। इसलिए उनके मन में हमारे विवाह रचाने का आनन्द लूटने की वृत्ति भी रही होगी। इन और ऐसे दूसरे विचारों से ये तीनों विवाह एकसाथ करने का निश्चय किया गया, और इसके लिए तैयारियाँ और सामग्री जुटाने का काम तो, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, महीनों पहले से शुरु हो चुका था।

हम भाईयों को तो सिर्फ तैयारियों से ही पता चला कि ब्याह होने वाले हैं। उस समय मेंरे मन में अच्छे-अच्छे कपड़े पहन ने, बाजे बज ने, वर-यात्रा के समय घोड़े पर चढ़ने, बढ़िया भोजन मिलने, एक नई बालिका के साथ विनोद करने आदि की अभिलाषा के सिवा दूसरी कोई खास बात रही हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है। विषय-भोग की वृत्ति तो बाद में आयी। वह कैसे आयी, इसका वर्णन मैं कर सकता हूँ, पर पाठक ऐसी जिज्ञासा न रखें। मैं अपनी शरम पर परदा डालना चाहता हूँ। जो कुछ बतलाने लायक है, वह इसके आगे आयेगा। किन्तु इस चीज के ब्यौरे का उस केन्द्रबिन्दु से बहुत ही थोड़ा सम्बन्ध है, जिसे मैंने अपनी निगाह के सामने रखा है।

हम दो भाइयों को राजकोट से पोरबन्दर ले जाया गया। वहाँ हल्दी चढ़ाने आदि की जो विधि हुई, वह मनोरंजक होते हुए भी उसकी चर्चा छोड़ देने लायक है।

पिताजी दीवान थे, फिर भी थे तो नौकर ही; तिस पर राज-प्रिय थे, इसलिए अधिक पराधीन रहे। ठाकुरसाहब ने आखिरी घड़ी तक उन्हें छोड़ा नहीं। अन्त में जब छोड़ा तो ब्याह के दो दिन पहले ही रवाना किया। उन्हें पहुँचाने के लिए खास डाक बैठायी गयी। पर-! पर विधाता ने कुछ और ही सोचा था। राजकोट से पोरबन्दर साठ कोस है। बैलगाड़ी से पाँच दिन का रास्ता था। पिताजी तीन दिन में पहुँचे। आखिरी मंजिल में ताँगा उलट गया। पिताजी को कड़ी चोट आयी। हाथ पर पट्टी, पीठ पर पट्टी। विवाह-विषयक उनका और हमारा आधा आनन्द चला गया। फिर भी ब्याह तो हुए ही। लिखे मुहूर्त कहीं टल सकते हैं ? मैं तो विवाह के बालउल्लास में पिताजी का दुःख भूल गया |

मैं पितृभक्त तो था ही, पर विषय-भक्त भी तो वैसा ही था न ? यहाँ विषय का मतलब एक इन्द्रिय का विषय नहीं है, बल्कि भोग-मात्र है। माता-पिता की भक्ति के लिए सब सुखों का त्याग करना चाहिए, यह ज्ञान तो आगे चलकर मिलने वाला था। तिस पर भी मानो मुझे इस भोगेच्छा का दण्ड ही भुगतना हो, इस तरह मेरे जीवन में एक विपरीत घटना घटी, जो मुझे आज तक अखरती है। जब-जब निष्कुलानन्द का

त्याग न टके रे वैराग विना,
करीए कोटि उपाय जी.

गाता हूँ या सुनता हूँ, तब-तब वह विपरीत और कड़वी घटना मुझे याद आती है और शरमाती है।

पिताजी ने शरीर से पीड़ा भोगते हुए भी बाहर से प्रसन्न दीखने का प्रयत्न किया और विवाह में पूरी तरह योग दिया। पिताजी किस-किस प्रसंग पर कहाँ-कहाँ बैठे थे, इसकी याद मुझे आज भी जैसी की वैसी बनी है। बाल-विवाह की चर्चा करते हुए पिताजी के कार्य की जो टीका मैंने आज की है, वह मेरे मन ने उस समय थोड़े ही की थी ? तब तो सब कुछ योग्य और मनपसन्द ही लगा था। ब्याह ने का शौक था और पिताजी जो कर रहे हैं ठीक ही कर रहे हैं, ऐसा लगता था। इसलिए उस समय के स्मरण ताजे हैं।

मण्डप में बैठे, फेरे फिरे, कंसार खाया-खिलाया, और तभी से वर-वधू साथ में रहने लगे। वह पहली रात! दो निर्दोष बालक अनजाने संसारसागर में कूद पड़े। भाभी ने सिखलाया कि

मुझे पहली रात में कैसा बरताव करना चाहिए। धर्मपत्नी को किसने सिखलाया, सो पूछने की बात मुझे याद नहीं। अब भी पूछा जा सकता है, पर पूछने की इच्छा तक नहीं होती। पाठक यह जान लें कि हम दोनों एक-दूसरे से डरते थे, ऐसा भास मुझे है। एक-दूसरे से शरमाते तो थे ही। बातें कैसे करना, क्या करना, सो मैं क्या जानूँ? प्राप्त सिखावन भी क्या मदद करती? लेकिन क्या इस सम्बन्ध में कुछ सिखाना ज़रूरी होता है? जहाँ संस्कार बलबान हैं, वहाँ सिखावन सब गैर-ज़रूरी बन जाती है। धीरे-धीरे हम एक-दूसरे को पहचानने लगे, बोलने लगे। हम दोनों बराबरी की उमर के थे। पर मैंने तो पति की सत्ता चलाना शुरू कर दिया।

४. पतित्व

जिन दिनों मेरा विवाह हुआ, उन दिनों निबन्धों की छोटी-छोटी पुस्तिकायें-पैसे-पैसे की या पाई-पाई की, सो तो कुछ याद नहीं-निकलती थीं । उनमें दम्पती-प्रेम, कमखर्ची, बाल-विवाह आदि विषयों की चर्चा रहती थी। उनमें से कुछ निबन्ध मेरे हाथ में पड़ते और मैं उन्हें पढ़ जाता। मेरी यह आदत तो थी ही कि पढ़े हुए में से जो पसन्द न आये उसे भूल जाना और पसन्द आये उस पर अमल करना। मैंने पढ़ा था कि एकपत्नी-व्रत पालना पति का धर्म है। बात हृदय में रम गयी। सत्य का शौक तो था ही, इसलिए पत्नी को धोखा तो दे ही नहीं सकता था। इसीसे यह भी समझ में आया कि दूसरी स्त्री के साथ सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए। छोटी उमर में एकपत्नी-व्रत के भंग की सम्भावना कम ही रहती है।

पर इन सद् विचारों का एक बुरा परिणाम निकला। अगर मुझे एकपत्नी-व्रत पालना है, तो पत्नी को एकपति-व्रत पालना चाहिए। इस विचार के कारण मैं ईर्ष्यालु पति बन गया। 'पालना चाहिए' में से मैं 'पलवाना चाहिए' के विचार पर पहुँचा। और अगर पलवाना है तो मुझे पत्नी की निगरानी रखनी चाहिए। मेरे लिए पत्नी की पवित्रता में शंका करने का कोई कारण नहीं था। पर ईर्ष्या कारण क्यों देखने लगी ? मुझे हमेंशा यह जानना चाहिए कि मेरी स्त्री कहाँ जाती है। इसलिए मेरी अनुमति के बिना वह कहीं जा ही नहीं सकती। यह चीज हमारे बीच दुःखद झगड़े की जड़ बन गयी। बिना अनुमति के कहीं भी न जा सकना तो एक तरह की कैद ही हुई। पर कस्तूरबाई ऐसी कैद सहन करनेवाली थी ही नहीं। जहाँ इच्छा होती वहाँ मुझसे बिना पूछे ज़रूर जाती। मैं ज्यों-ज्यों दबाव डालता, त्यों-त्यों वह अधिक स्वतंत्रता से काम लेती, और त्यों-त्यों मैं अधिक चिढ़ता। इससे हम बालकों के बीच बोलचाल का बन्द होना एक मामूली चीज बन गयी। कस्तूरबाई ने जो स्वतंत्रता बरती, उसे मैं निर्दोष मानता हूँ। जिस बालिका के मन में पाप नहीं हैं, वह देव-दर्शन के लिए जाने पर या किसीसे मिलने जाने पर दबाव क्यों सहन करें ? अगर मैं उस पर दबाव डालता हूँ, तो वह मुझ पर क्यों न डाले?-यह तो अब समझ में आ रहा है। उस समय तो मुझे अपना पतित्व सिद्ध करना था |

लेकिन पाठक यह न माने कि हमारे गृह-जीवन में कहीं भी मिठास नहीं थी। मेरी वक्रता की जड़ प्रेम में थी। मैं अपनी पत्नी को आदर्श बनाना चाहता था। मेरी यह भावना थी कि वह स्वच्छ बने, स्वच्छ रहे, मैं सीखूँ सो सीखे, मैं पढ़ूँ सो पढ़े, और हम दोनों एक-दूसरे में ओतप्रोत रहें।

कस्तूरबाई में यह भावना थी या नहीं, इसका मुझे पता नहीं। वह निरक्षर थी। स्वभाव से सीधी, स्वतंत्र, मेंहनती और मेरे साथ तो कम बोलने वाली थी। उसे अपने अज्ञान का असन्तोष न था। अपने बचपन में मैंने कभी उसकी यह इच्छा नहीं जानी कि मेरी तरह वह भी पढ़ सके तो अच्छा हो। इससे मैं मानता हूँ कि मेरी भावना एकपक्षी थी। मेरा विषय-सुख एक स्त्री पर ही निर्भर था और मैं उस सुख का प्रतिघोष चाहता था। जहाँ प्रेम एक पक्ष की ओर से भी होता है, वहाँ सर्वांश में दुःख तो नहीं ही होता। मुझे कहना चाहिए कि मैं अपनी स्त्री के प्रति विषायासक्त था। शाला में भी उसके विचार आते रहते। कब रात पड़े और कब हम मिलें, यह विचार बना ही रहता। वियोग असह्य था। अपनी कुछ निकम्मी बकवासों से मैं कस्तूरबाई को जगाये ही रहता। मेरा ख्याल है कि इस आसक्ति के साथ ही मुझमें कर्तव्य-परायणता न होती, तो मैं व्याधिग्रस्त होकर मौत के मुँह में चला जाता, अथवा इस संसार में बोझरूप बनकर जिन्दा रहता। 'सवेरा होते ही नित्यकर्म में तो लग जाना चाहिए, किसीको धोखा तो दिया ही नहीं जा सकता'-अपने इन विचारों के कारण मैं बहुत से संकटों से बचा हूँ।

मैं लिख चुका हूँ कि कस्तूरबाई निरक्षर थी। उसे पढ़ाने की मेरी बड़ी इच्छा थी। पर मेरी विषय-वासना मुझे पढ़ाने कैसे देती ? एक तो मुझे जबरदस्ती पढ़ाना था। वह भी रात के एकान्त में ही हो सकता था। बड़ों के सामने तो स्त्री की तरफ देखा भी नहीं जा सकता था। फिर बातचीत कैसे होती ? उन दिनों काठियावाड़ में घूँघट निकालने का निकम्मा और जंगली रिवाज था; आज भी बड़ी हद तक मौजूद है। इस कारण मेरे लिए पढ़ाने की परिस्थितियाँ भी प्रतिकूल थी। अतएव मुझे यह स्वीकार करना चाहिए कि जवानी में पढ़ाने के जितने प्रयत्न मैंने किये, वे सब लगभग निष्फल हुए। जब मैं विषय की नींद में से जागा, तब तो सार्वजनिक जीवन में कूद चुका था। इसलिए अधिक समय देने की मेरी स्थिति नहीं रही थी। शिक्षक के द्वारा पढ़ाने के मेरे प्रयत्न भी व्यर्थ सिद्ध हुए। यही कारण है कि आज

कस्तूरबाई की स्थिति मुश्किल से पत्र लिख सकने और साधारण गुजराती समझ सकने की है। मैं मानता हूँ कि अगर मेरा प्रेम विषय से दूषित न होता, तो आज वह एक विदुषी स्त्री होती। मैं उसके पढ़ने के आलस्य को जीत सकता था, क्योंकि मैं जानता हूँ कि शुद्ध प्रेम के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।

यों अपनी पत्नी के प्रति विषायासक्त होते हुए भी मैं किसी कदर कैसे बच सका, इसका एक कारण बता चुका हूँ। एक और भी बताने लायक है। सैकड़ों अनुभवों के सहारे मैं इस परिणाम पर पहुँच सका हूँ कि जिसकी निष्ठा सच्ची है, उसकी रक्षा स्वयं भगवान ही कर लेते हैं। हिन्दू समाज में यदि बाल-विवाह का घातक रिवाज है, तो साथ ही उसमें से थोड़ी मुक्ति दिलाने वाला रिवाज भी है। माता-पिता बालक-वर-वधू को लंबे समय तक एकसाथ रहने नहीं देते। बाल-पत्नी का आधे से अधिक समय पीहर में बीतता है। यही बात हमारे संबंध में भी हुई; मतलब यह कि तेरह से उन्नीस साल की उमर तक छुटपुट मिलाकर कुल तीन साल से अधिक समय तक साथ नहीं रहे होंगे। छह-आठ महीने साथ रहते, इतने में माँ-बाप के घर का बुलावा आ ही जाता। उस समय तो वह बुलावा बहुत बुरा लगता था, पर उसीके कारण हम दोनों बच गये। फिर तो अठारह साल की उमर में मैं विलायत गया, जिससे लम्बे समय का सुन्दर वियोग रहा। विलायत से लौटने पर भी हम करीब छह महीने ही साथ में रहे होंगे, क्योंकि मैं राजकोट और बम्बई के बीच जाता-आता रहता था। इतने में दक्षिण अफ्रिका का बुलावा आ गया। इस बीच तो मैं अच्छी तरह जाग्रत हो चुका था।

५. हाईस्कूल में

मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि ब्याह के समय मैं हाईस्कूल में पढ़ता था। उस समय हम तीनों भाई एक ही स्कूल में पढ़ते थे। जेठे भाई ऊपर के दर्जे में थे और जिन भाई के ब्याह के साथ मेरा ब्याह हुआ था, वे मुझसे एक दर्जा आगे थे। ब्याह का परिणाम यह हुआ कि हम दो भाईयों का एक वर्ष बेकार गया। मेरे भाई के लिए तो परिणाम इससे भी बुरा रहा। ब्याह के बाद वे स्कूल में पढ़ ही न सके। कितने नौजवानों को ऐसे अनिष्ट परिणाम का सामना करना पड़ता होगा, भगवान ही जाने ! विद्याभ्यास और विवाह दोनों एक साथ तो हिन्दू-समाज में ही चल सकते हैं।

मेरी पढ़ाई चलती रही। हाईस्कूल में मेरी गिनती मन्दबुद्धि विद्यार्थियों में नहीं थी। शिक्षकों का प्रेम मैं हमेंशा ही पा सका था। हर साल माता-पिता के नाम स्कूल से विद्यार्थी की पढ़ाई और उसके आचरण के संबंध में प्रमाणपत्र भेजे जाते थे। उनमें मेरे आचरण या अभ्यास के खराब होने की टीका कभी नहीं हुई। दूसरी कक्षा के बाद मुझे इनाम भी मिले और पाँचवीं तथा छठी कक्षा में क्रमशः प्रतिमास चार और दस रूपयों की छात्रवृत्ति भी मिली थी। इसमें मेरी होशियारी की अपेक्षा भाग्य का अंश अधिक था। ये छात्रवृत्तियाँ सब विद्यार्थियों के लिए नहीं थी, बल्कि सोरठवासियों में से सर्वप्रथम आनेवालों के लिए थीं। चालीस-पचास विद्यार्थियों की कक्षा में उस समय सोरठ प्रदेश के विद्यार्थी कितने हो हो सकते थे? हो सकते थे?

मेरा अपना खयाल है कि मुझे अपनी होशियारी का कोई गर्व नहीं था। पुरस्कार या छात्रवृत्ति मिलने पर मुझे आश्चर्य होता था। पर अपने आचरण के विषय में मैं बहुत सजग था। आचरण में दोष आने पर मुझे रूलाई आ ही जाती थी। मेरे हाथों कोई भी ऐसा काम बने, जिससे शिक्षकों को मुझे डाँटना पड़े अथवा शिक्षकों का वैसा खयाल बने, तो वह मेरे लिए असह्य हो जाता था। मुझे याद है कि एक बार मुझे मार खानी पड़ी थी। मार का दुःख नहीं था, पर मैं दण्ड का पात्र माना गया, इसका मुझे बड़ा दुःख रहा। मैं खूब रोया। यह प्रसंग पहली या दूसरी कक्षा का है। दुसरा एक प्रसंग सातवीं कक्षा का है। उस समय

दोराबजी एदलजी गीमी हेडमास्टर थे। वे विद्यार्थी-प्रेमी थे, क्योंकि वे नियमों का पालन करवाते, व्यवस्थित रीति से काम करते और लेते और अच्छी तरह पढ़ाते थे। उन्होंने उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए कसरत-क्रिकेट अनिवार्य कर दिये थे। मुझे इनसे अरुचि थी। इनके अनिवार्य बनने से पहले मैं कभी कसरत, क्रिकेट या फुटबालमें गया ही न था। न जाने में मेरा शरमीला स्वभाव ही एकमात्र कारण था। अब मैं देखता हूँ कि वह मेरी अरूचि मेरी भूल थी। उस समय मेरा यह गलत खयाल बना हुआ था कि शिक्षा के साथ कसरत का कोई सम्बन्ध नहीं है। बाद में मैं समझा कि विद्याभ्यास में व्यायाम का, अर्थात् शारीरिक शिक्षा का, मानसिक शिक्षा के समान ही स्थान होना चाहिए।

फिर भी मुझे कहना चाहिए कि कसरत में न जाने से मुझे नुकसान नहीं हुआ। उसका कारण यह रहा कि मैंने पुस्तकों में खुली हवा में घूमने जाने की सलाह पढ़ी थी और वह मुझे रूची थी। इसके कारण हाईस्कूल की उच्च कक्षा से ही मुझे हवाखोरी की आदत पड़ गयी थी। वह अन्त तक बनी रही। टहलना भी व्यायाम तो है ही, इससे मेरा शरीर अपेक्षाकृत सुगठित बना।

अरूचि का दूसरा कारण था, पिताजी की सेवा करने की तीव्र इच्छा। स्कूल की छुट्टी होते ही मैं सीधा घर पहुँचता और सेवा में लग जाता। जब कसरत अनिवार्य हुई, तो इस सेवा में बाधा पड़ी। मैंने विनती की कि पिताजी की सेवा के लिए मुझे कसरत से छुट्टी दी जाए। पर गीमी साहब छुट्टी क्यों देने लगे? एक शनिवार के दिन सुबह का स्कूल था। शाम को चार बजे कसरत के लिए जाना था। मेरे पास घड़ी नहीं थी। आसमान बादलों से घिरा था, इसलिए समय का कोई अन्दाज नहीं रहा | मैं बादलों से धोखा खा गया। जब कसरत के लिए पहुँचा, तो सब जा चुके थे। दूसरे दिन गीमी साहब ने हाजिरी देखी, तो मैं गैर-हाजिर पाया गया। मुझसे कारण पूछा गया। मैंने सही-सही कारण बता दिया | उन्होंने उसे सच नहीं माना और मुझ पर एक या दो आने (ठीक रकम का स्मरण नहीं है) का जुर्माना किया। मैं झूठा ठहरा! मुझे बहुत दुःख हुआ। कैसे सिद्ध करूँ कि मैं झूठा नहीं हूँ? कोई उपाय न रहा | मन मसोसकर रह गया। रोया। समझा कि सच बोलने वाले और सच्चा काम करने वाले को गाफिल भी नहीं रहना चाहिए। अपनी पढ़ाई के समय में इस तरह की मेरी यह पहली

और आखिरी गफलत थी। मुझे धुँधली-सी याद है कि आखिर मैं वह जुर्माना माफ करा सका था।

मैंने कसरत से तो मुक्ति कर ही ली। पिताजी ने हेडमास्टर को पत्र लिखा कि स्कूल के समय के बाद वे मेरी उपस्थिति का उपयोग अपनी सेवा के लिए करना चाहते हैं। इस कारण मुझे मुक्ति मिल गयी।

व्यायाम के बदले मैंने टहलने का सिलसिला रखा, इसलिए शरीर को व्यायाम न देने की गलती के लिए तो शायद मुझे सजा नहीं भोगनी पड़ी, पर दुसरी एक गलती की सजा मैं आज तक भोग रहा हूँ। मैं यही जानता कि पढ़ाई में सुन्दर लेखन आवश्यक नहीं है, यह गलत खयाल मुझे कैसे हो गया था। पर ठेठ विलायत जाने तक यह बना रहा। बाद में, और खास करके दक्षिण अफ्रीका में, जब मैंने वकीलों के तथा दक्षिण अफ्रीका में जन्मे और पढ़े-लिखे नवयुवकों के मोती के दानों-जैसे अक्षर देखे तो मैं शरमाया और पछताया। मैंने अनुभव किया कि खराब अक्षर अधूरी शिक्षा की निशानी मानी जानी चाहिए। बाद में मैंने अक्षर सुधारने का प्रयत्न किया, पर पके घड़े पर कहीं गला जुड़ता है? जवानी में मैंने जिसकी उपेक्षा की, उसे मैं आज तक नहीं कर सका। हरएक नवयुवक और नवयुवती मेरे उदाहरण से सबक ले और समझे कि अच्छे अक्षर विद्या का आवश्यक अंग हैं। अच्छे अक्षर सीखने के लिए चित्रकला आवश्यक है। मेरी तो यह राय बनी है कि बालकों को चित्रकला पहले सिखानी चाहिए। जिस तरह पक्षियों, वस्तुओं आदि को देखकर बालक उन्हें याद रखता है और आसानी से उन्हें पहचानता है, उसी तरह अक्षर पहचानना सीखे और जब चित्रकला सीखकर चित्र आदि बनाने लगे तभी अक्षर लिखना सीखे, तो उसके अक्षर छपे अक्षरों के समान सुन्दर होंगे।

इस समय के विद्याभ्यास के दूसरे दो संस्मरण उल्लेखनीय हैं। ब्याह के कारण जो एक साल नष्ट हुआ था, उसे बचा लेने की बात दूसरी कक्षा के शिक्षक ने मेरे सामने रखी थी। उन दिनों परिश्रमी विद्यार्थी को इसके लिए अनुमति मिलती थी। इस कारण तीसरी कक्षा में मैंने छह महीने रहा और गरमी की छुट्टियों से पहले होनेवाली परीक्षा के बाद मुझे चौथी कक्षा में बैठाया गया। इस कक्षा से थोड़ी पढ़ाई अंग्रेजी माध्यम से होने लगती थी। मेरी समझ में

कुछ न आता था। भूमिति भी चौथी कक्षा से शुरु होती थी। मैं उसमें पिछड़ा हुआ था ही, तिस पर मैं उसे बिलकुल समझ नहीं पाता था। भूमिति-शिक्षक अच्छी तरह समझाकर पढ़ाते थे, पर मैं कुछ समझ ही न सकता था। मैं अकसर निराश हो जाता। कभी-कभी यह भी सोचता कि एक साल में दो कक्षाएँ करने का विचार छोड़कर मैं तीसरी कक्षा में लौट जाऊँ। पर ऐसा करने में मेरी लाज जाती, और जिन शिक्षक ने मेरी लगन पर भरोसा करके मुझे चढ़ाने की सिफारिश की थी उनकी भी लाज जाती। इस भय से नीचे जाने का विचार तो छोड़ ही दिया। जब प्रयत्न करते-करते मैं युक्लिड के तेरहवें प्रमेंय तक पहुँचा, तो अचानक मुझे बोध हुआ कि भूमिति तो सरल से सरल विषय है | जिसमें केवल बुद्धि का सीधा और सरल प्रयोग ही करना है, उसमें कठिनाई क्या है? उसके बाद तो भूमिति मेरे लिए सदा ही एक सरल और सरस विषय बना रहा।

भूमिति की अपेक्षा संस्कृत ने मुझे अधिक परेशान किया। भूमिति में रटने की कोई बात थी ही नहीं, जब कि मेरी दृष्टि से संस्कृत में तो सब रटना ही होता था। यह विषय भी चौथी कक्षा में शुरु हुआ था। छठी कक्षा में मैं हारा। संस्कृत-शिक्षक बहुत कड़े मिजाज के थे। विद्यार्थियों को अधिक सिखाने का लोभ रखते थे। संस्कृत वर्ग और फारसी वर्ग के बीच एक प्रकार की होड़ रहती थी। फारसी सिखाने वाले मौलवी नरम मिजाज के थे। विद्यार्थी आपस में बात करते कि फारसी तो बहुत आसान है और फारसी सिक्षक बहुत भले हैं। विद्यार्थी जितना काम करते हैं, उतने से वे संतोष कर लेते हैं। मैं भी आसान होने की बात सुनकर ललचाया और एक दिन फारसी के वर्ग में जाकर बैठा। संस्कृत-शिक्षक को दुःख हुआ। उन्होंने मुझे बुलाया और कहा: "यह तो समझ कि तू किनका लड़का है। क्या तू अपने धर्म की भाषा नहीं सीखेगा ? तुझे जो कठिनाई हो, सो मुझे बता | मैं तो सब विद्यार्थियों को बढ़िया संस्कृत सिखाना चाहता हूँ। आगे चलकर उसमें रस के घूँट पीने को मिलेंगे। तुझे यों हारना नहीं चाहिए। तू फिर से मेरे वर्ग में बैठ।" मैं शरमाया। शिक्षक के प्रेम की अवगणना न कर सका। आज मेरी आत्मा कृष्णशंकर मास्टर का उपकार मानती है। क्योंकि जितनी संस्कृत मैं उस समय सीखा उतनी भी न सीखा होता, तो आज संस्कृत शास्त्रों में मैं जितना रस ले सकता हूँ उतना न ले पाता। मुझे तो इस बात का पश्चाताप होता

है कि मैं अधिक संस्कृत अधिक न सीख सका। क्योंकि बाद में मैं समझा कि किसी भी हिन्दू बालक को संस्कृत का अच्छा अभ्यास किये बिना रहना ही न चाहिए।

अब तो मैं यह मानता हूँ कि भारत वर्ष की उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में मातृभाषा के अतिरिक्त राष्ट्रभाषा हिन्दी, संस्कृत, फारसी, अरबी और अंग्रेजी का स्थान होना चाहिए। भाषाओं की इस संख्या से किसीको डरना नहीं चाहिए। भाषा पद्धतिपूर्वक सिखाई जाए और सब विषयों को अंग्रेजी के माध्यम से सीखने-सोचने का बोझ हम पर न हो, तो ऊपर की भाषाएँ सीखना सिर्फ बोझरूप न होगा, बल्कि उसमें बहुत ही आनन्द आयेगा। और जो व्यक्ति एक भाषा को शास्त्रीय पद्धति से सीख लेता है, उसके लिए दूसरी का ज्ञान सुलभ हो जाता है। असल में तो हिन्दी, गुजराती, संस्कृत एक भाषा मानी जा सकती हैं। इसी तरह फारसी और अरबी एक मानी जाएँ। यद्यपि फारसी संस्कृत से मिलती-जुलती है और अरबी का हिब्रू से मेंल है, फिर भी दोनों का विकास इस्लाम के प्रकट होने के बाद हुआ है, इसलिए दोंनो के बीच निकट का सम्बन्ध है। उर्दू को मैंने अलग भाषा नहीं माना है, क्योंकि उसके व्याकरण का समावेश हिन्दी में हो जाता है। उसके शब्द तो फारसी और अरबी ही हैं। उँचे दर्जे की उर्दू जानने वाले के लिए अरबी और फारसी का ज्ञान ज़रूरी है, जैसे उच्च प्रकार की गुजराती, हिन्दी, बंगला, मराठी जानने वाले के लिए संस्कृत जानना आवश्यक है।

६. दुःखद प्रसंग – १

मैं कह चुका हूँ कि हाईस्कूल में मेरे थोड़े ही विश्वासपात्र मित्र थे। कहा जा सकता है कि ऐसी मित्रता रखने वाले दो मित्र अलग-अलग समय में रहे। एक का सम्बन्ध लम्बे समय तक नहीं टीका, यद्यपि मैंने उस मित्र को छोड़ा नहीं था। मैंने दूसरे की सोहबत की, इसलिए पहले ने मुझे छोड़ दिया। दूसरी सोहबत मेरे जीवन का एक दुःखद प्रकरण है। यह सोहबत बहुत वर्षों तक रही। इस सोहबत को निभाने में मेरी दृष्टि सुधारक की थी। इन भाई की पहली मित्रता मेरे मझले भाई के साथ थी। वे मेरे भाई की कक्षा में थे। मैं देख सका था कि उनमें कई दोष हैं। पर मैंने उन्हें वफादार मान लिया था। मेरी माताजी, मेरे जेठेभाई और मेरी धर्मपत्नी तीनों को यह सोहबत कड़वी लगती थी। पत्नी की चेतावनी को तो मैं अभिमानी पति क्यों मानने लगा? माता की आज्ञा का उल्लंघन मैं करता ही न था। बड़े भाई की बात मैं हमेंशा सुनता था। पर उन्हें मैंने यह कहकर शान्त किया: "उसके जो दोष आप बाताते हैं, उन्हें मैं जानता हूँ। उसके गुण तो आप जानते ही नहीं। वह मुझे गलत रास्ते नहीं ले जाएगा, क्योंकि उसके साथ मेरा सम्बन्ध उसे सुधारने के लिए ही है। मुझे यह विश्वास है कि अगर वह सुधर जाएँ, तो बहुत अच्छा आदमी निकलेगा। मैं चाहता हूँ कि आप मेरे विषय में निर्भय रहें।" मैं नहीं मानता कि मेरी इस बात से उन्हें संतोष हुआ, पर उन्होंने मुझ पर विश्वास किया और मुझे मेरे रास्ते जाने दिया।

बाद में मैं देख सका कि मेरा अनुमान ठीक नहीं था। सुधार करने के लिए भी मनुष्य को गहरे पानी में नहीं पैठना चाहिए। जिसे सुधारना है उसके साथ मित्रता नहीं हो सकती। मित्रता में अद्वैत-भाव होता है। संसार में ऐसी मित्रता क्वचित् ही पायी जाती है। मित्रता समान गुण वालों के बीच शोभती और निभती है। मित्र एक-दूसरे को प्रभावित किये बिना रह ही नहीं सकते। अतएव मित्रता में सुधार के लिए बहुत कम अवकाश रहता है। मेरी राय है कि घनिष्ठ मित्रता अनिष्ट है, क्योंकि मनुष्य दोषों को जल्दी ग्रहण करता है। गुण ग्रहण करने के लिए प्रयास की आवश्यकता है। जो आत्मा की, ईश्वर की मित्रता चाहता है, उसे

एका की रहना चाहिए, अथवा समूचे संसार के साथ मित्रता रखनी चाहिए। ऊपर का विचार योग्य हो अथवा अयोग्य, घनिष्ठ मित्रता बढ़ाने का मेरा प्रयोग निष्फल रहा।

जिन दिनों मैं इन मित्र के संपर्क में आया, उन दिनों राजकोट में 'सुधारपंथ' का जोर था। मुझे इन मित्रने बताया कि कई हिन्दू शिक्षक छिपेछिपे माँसाहार और मद्यपान करते हैं। उन्होंने राजकोट के दूसरे प्रसिद्ध गृहस्थों के नाम भी दिये। मेंरे सामने हाईस्कूल में कुछ विद्यार्थियों के नाम भी आये। मुझे तो आश्चर्य भी हुआ और दुःख भी। कारण पूछने पर यह दलील दी गयी: 'हम माँसाहार नहीं करते, इसलिए प्रजा के रूप में हम निर्वीर्य हैं। अंग्रेज हम पर इसलिए राज्य करते हैं कि वे माँसाहारी हैं। मैं कितना मजबूत हूँ और कितना दौड़ सकता हूँ, सो तो तुम जानते ही हो। इसका कारण माँसाहार ही है। माँसाहारी को फोड़े नहीं होते, होने पर झट अच्छे हो जाते हैं। हमारे शिक्षक माँस खाते हैं, इतने प्रसिद्ध व्यक्ति खाते हैं, सो क्या बिना समझे खाते हैं? तुम्हें भी खाना चाहिए। खाकर देखो तो मालूम होगा कि तुम में कितनी ताकत आ जाती है।

ये सब दलीलें किसी एक दिन नहीं दी गयी थीं। अनेक उदाहरणों से सजाकर इस तरह की दलीलें कई बार दी गयीं। मेंरे मझले भाई तो भ्रष्ट हो चुके थे। उन्होंने इन दलीलों की पुष्टि की। अपने भाई की और इन मित्र की तुलना में मैं तो बहुत दुबला था। उनके शरीर अधिक गठीले थे। उनका शरीरिक-बल मुझसे कहीं ज्यादा था। वे हिम्मतवर थे। इन मित्र के पराक्रम मुझे मुग्ध कर देते थे। वे मनचाहा दौड़ सकते थे। उनकी गति बहुत अच्छी थी। वे खूब लम्बा और ऊँचा कूद सकते थे। मार सहन करने की शक्ति भी उनमें खूब थी। अपनी इस शक्ति का प्रदर्शन भी वे मेंरे सामने समय-समय पर करते थे। जो शक्ति अपने में नहीं होती, उसे दूसरे में देखकर मनुष्य को आश्चर्य होता ही है। वैसा मुझे भी हुआ | आश्चर्य में से मोह पैदा हुआ | मुझमें दौड़ने-कूदने की शक्ति नहीं के बराबर थी। मैं सोचा करता कि मैं भी इन मित्र की तरह बलबान बन जाउँ, तो कितना अच्छा हो !

इसके अलावा मैं बहुत डरपोक था। चोर, भूत, साँप आदि के डर से घिरा रहता था। ये डर मुझे खूब हैरान भी करते थे। रात कहीं अकेले जाने की हिम्मत नहीं थी। अँधेरे में तो कहीं जाता ही न था। दीये के बिना सोना लगभग असंभव था। कहीं इधर से भूत न आ जाए,

उधर से चोर न आ जाए और तीसरी जगह से साँप न निकल आये ! इसलिए बत्ती की ज़रूरत तो रहती ही थी। पास में सोयी हुई और अब कुछ सयानी बनी हूई पत्नी से भी अपने इस डर की बात मैं कैसे करता ? मैं यह समझ चुका था कि वह मुझसे ज्यादा हिम्मत वाली है और इसलिए मैं शरमाता था। साँप आदि से डरना तो वह जानती ही न थी। अँधेरे में वह अकेली चली जाती थी। मेरे ये मित्र मेरी इन कमजोरियों को जानते थे। मुझसे कहा करते थे कि वे तो जिन्दा साँपों को भी हाथ से पकड़ लेते हैं। चोर से कभी नहीं डरते। भूत को तो मानते ही नहीं। उन्होंने मुझे जँचाया कि यह सारा प्रताप माँसाहार का हैं।

इन्हीं दिनों नर्मद[१] का नीचे लिखा पद स्कूलों में गाया जाता था:

अंग्रेजो राज्य करे, देशी रहे दबाई,
देशी रहे दबाई, जोने बेनां शरीर भाई
पेलो पाँच हाथ पूरो, पूरो पाँचसेंने[२].

इन सब बातों का मेरे मन पर पूरा-पूरा असर हुआ। मैं पिघला। मैं यह मानने लगा कि माँसाहार अच्छी चीज है। उससे मैं बलवान और साहसी बनूँगा। समूचा देश माँसाहार करे, तो अंग्रेजों को हराया जा सकता है।

माँसाहार शुरू करने का दिन निश्चित हुआ।

इस निश्चय-इस आरम्भ-का अर्थ सब पाठक समझ नहीं सकेंगे। गांधी- परिवार वैष्णव सम्प्रदाय का है। माता-पिता बहुत कट्टर वैष्णव माने जाते थे। हवेली में (वैष्णव-मन्दिर में) हमेंशा जाते थे। कुछ मन्दिर तो परिवार के ही माने जाते थे। फिर गुजरात में जैन सम्प्रदाय का बड़ा जोर है। उसका प्रभाव हर जगह, हर काम में पाया जाता है। इसलिए माँसाहार का जैसा विरोध और तिरस्कार गुजरात में और श्रावकों तथा वैष्णवों में पाया जाता है, वैसा हिन्दुस्तान में या सारी दुनिया में और कहीं नहीं पाया जाता। ये मेरे संस्कार थे।

मैं माता-पिता का परम भक्त था। मैं मानता था कि वे मेरे माँसाहार की बात जानेंगे, तो बिना मौत के उनकी तत्काल मृत्यु हो जाएगी। जाने-अनजाने मैं सत्य का सेवक तो था ही। मैं ऐसा नहीं कह सकता कि उस समय मुझे यह ज्ञान न था कि माँसाहार करने में माता-पिता को धोखा देना होगा।

ऐसी हालत में माँसाहार करने का मेरा निश्चय मेरे लिए बहुत गम्भीर और भयंकर बात थी।

लेकिन मुझे तो सुधार करना था। माँसाहार का शौक नहीं था। यह सोचकर कि उसमें स्वाद है, मैं माँसाहार शुरू नहीं कर रहा था। मुझे तो बलवान और साहसी बनना था, दूसरों को वैसा बनने के लिए न्योतना था और फिर अंग्रेजों को हराकर हिन्दुस्तान को स्वतंत्र करना था। 'स्वराज' शब्द उस समय तक मैंने सुना नहीं था। सुधार के इस जोश में मैं होश भूल गया।

७. दुःखद प्रसंग – २

निश्चित दिन आया । अपनी स्थिति का सम्पूर्ण वर्णन करना मेरे लिए कठिन है। एक तरफ सुधार का उत्साह था, जीवन में महत्त्व परिवर्तन करने का कुतूहल था, और दूसरी तरफ चोर की तरह छिपकर काम करने की शरम थी । मुझे याद नहीं पड़ता कि इसमें मुख्य वस्तु क्या थी । हम नदी की तरफ एकान्त की खोज में चलें । दूर जाकर ऐसा कोना खोजा, जहाँ कोई देख न सके, और वहाँ मैंनें कभी न देखी हुई वस्तु-माँस-देखी! साथ में भटियारखाने की डबल-रोटी थी। दोनों में से एक भी चीज मुझे भाती नहीं थी । माँस चमड़े-जैसा लगता था । खाना असम्भव हो गया । मुझे कै होने लगी । खाना छोड़ देना पड़ा ।

मेरी वह रात बहुत बुरी बीती । नींद नहीं आई । सपने में ऐसा भास होता था, मानो शरीर के अन्दर बकरा जिन्दा हो और रो रहा हो । मैं चौंक उठता, पछताता और फिर सोचता कि मुझे तो माँसाहार करना ही है, हिम्मत नहीं हारनी है! मित्र भी हार खाने वाले नहीं थे । उन्होंने अब माँस को अलग-अलग ढंग से पकाने, सजाने और ढँकने का प्रबन्ध किया । नदीकिनारे ले जाने के बदले किसी बावरची के साथ बातचीत करके छिपेछिपे एक सरकारी डाक-बंगले पर ले जाने की व्यवस्था की और वहाँ कुर्सी, मेंज वगैरा सामान के प्रलोभन में मुझे डाला । इसका असर हुआ । डबल-रोटी की नफरत कुछ कम पड़ी, बकरे की दया छूटी और माँस का तो कह नहीं सकता, पर माँस वाले पदार्थों में स्वाद आने लगा । इस तरह एक साल बीता होगा और इस बीच पाँच-छह बार माँस खाने को मिला होगा, क्योंकि डाक-बंगला सदा सुलभ न रहता था और माँस के स्वादिष्ट माने जाने वाले बढ़िया पदार्थ भी सदा तैयार नहीं हो सकते थे । फिर ऐसे भोजनों पर पैसा भी खर्च होता था । मेरे पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं थी, इसलिए मैं कुछ दे नहीं सकता था । इस खर्च की व्यवस्था उन मित्र को ही करनी होती थी |उन्होंने कहाँ से, कैसे व्यवस्था की, इसका मुझे आज तक पता नहीं है । उनका इरादा तो मुझे माँस की आदत लगा देने का-भ्रष्ट करने का-था, इसलिए पैसा वे अपने पास से खर्च करते थे । पर उनके पास भी कोई अखूट खजाना नहीं था, इसलिए ऐसी दावतें कभी-कभी ही हो सकती थीं ।

जब-जब ऐसा भोजन मिलता, तब-तब घर पर तो भोजन हो ही नहीं सकता था । जब माताजी भोजन के लिए बुलातीं, तब 'आज भूख नहीं हैं, खाना हजम नहीं हुआ है' ऐसे बहाने बनाने पड़ते थे । ऐसा कहते समय हर बार मुझे भारी आघात पहुँचता था । यह झूठ, सो भी माँ के सामने! और अगर माता-पिता को पता चले कि लड़के माँसाहारी हो गये हैं तब तो उन पर बिजली ही टूट पड़ेगी । ये विचार मेंरे दिल को कुरेदते रहते थे, इसलिए मैंने निश्चय किया: 'माँस खाना आवश्यक हैं; उसका प्रचार करके हम हिन्दुस्तान को सुधारेंगे; पर माता-पिता को धोखा देना और झूठ बोलना तो माँस न खाने से भी बुरा है । इसलिए माता-पिता के जीते-जी माँस नहीं खाना चाहिए । उनकी मृत्यु के बाद, स्वतंत्र होने पर खुले तौर से माँस खाना चाहिए और जब तक वह समय न आवे, तब तक माँसाहार का त्याग करना चाहिए ।' अपना यह निश्चय मैंने मित्र को जता दिया, और तबसे माँसाहार जो छूटा, सो सदा के लिए छूट गया । माता-पिता कभी यह जान ही न पाये की उनके दो पुत्र माँसाहार कर चुके हैं ।

माता-पिता को धोखा न देने के शुभ विचार से मैंने माँसाहार छोड़ा, पर वह मित्रता नहीँ छोड़ी । मैं मित्र को सुधारने चला था, पर खुद ही गिरा, और गिरावट का मुझे होश तक न रहा ।

इसी सोहबत के कारण मैं व्यभिचार में भी फँस जाता । एक बार मेंरे ये मित्र मुझे वेश्याओं की बस्ती में ले गये । वहाँ मुझे योग्य सूचनाएँ देकर एक स्त्री के मकान में भेजा । मुझे पैसे वगैरा कुछ देना नहीं था । हिसाब हो चुका था । मुझे तो सिर्फ दिल-बहलाव की बातें करनी थी । मैं घर में घुस तो गया, पर जिसे ईश्वर बचाना चाहता है, वह गिरने की इच्छा रखते हुए भी पवित्र रह सकता है । उस कोठरी में मैं तो बिलकुल अंधा बन गया । मुझे बोलने का भी होश न रहा । मारे शरम के सन्नाटे में आकर उस औरत के पास खटिया पर बैठा, पर मुँह से बोल न निकल सका । औरत ने गुस्से में आकर मुझे दो-चार खरी-खोटी सुनायी और दरवाजे की राह दिखायी ।

उस समय तो मुझे जान पड़ा कि मेरी मर्दानगी को बट्टा लगा; और मैंने चाहा कि धरती जगह दे, तो मैं उसमें समा जाऊँ । पर इस तरह बचने के लिए मैंने सदा ही भगवान का आभार

माना है। मेंरे जीवन में ऐसे ही दुसरे चार प्रसंग और आये हैं। कहना होगा कि उनमें से अनेकों में, अपने प्रयत्न के बिना, केवल परिस्थिति के कारण मैं बचा हूँ। विशुद्ध दृष्टि से तो इन प्रसंगों में मेरा पतन ही माना जाएगा। चूँकि मैंने विषय की इच्छा की, इसलिए मैं उसे भोग ही चुका। फिर भी लौकिक दृष्टि से, इच्छा करने पर भी जो प्रत्यक्ष कर्म से बचता है, उसे हम बचा हुआ मानते हैं; और इन प्रसंगों में मैं इसी तरह, इतनी ही हद तक, बचा हुआ माना जाऊँगा। फिर कुछ काम ऐसे हैं, जिन्हें करने से बचना व्यक्ति के लिए और उसके संपर्क में आनेवालों के लिए बहुत लाभदायक होता है, और जब विचार-शुद्धि हो जाती है तब उस कार्य में से बच जाने कि लिए वह ईश्वर का अनुगृहित होता है। जिस तरह हम यह अनुभव करते हैं कि पतन से बचने का प्रयत्न करते हूए भी मनुष्य पतित बनता है, उसी तरह यह भी एक अमुभव-सिद्ध बात है कि गिरना चाहते हुए भी अनेक संयोगों के कारण मनुष्य गिरने से बच जाता है। इसमें पुरुषार्थ कहाँ है, दैव कहाँ है, अथवा किन नियमों के वश होकर मनुष्य आखिर गिरता या बचता है, ये सारे गूढ़ प्रश्न हैं। इनका हल आज तक हुआ नहीं, और कहना कठिन है कि अन्तिम निर्णय कभी हो सकेगा या नहीं।

पर हम आगे बढ़ें। मुझे अभी तक इस बात का होश नहीं हुआ था कि इन मित्र की मित्रता अनिष्ट है। वैसा होने से पहले मुझे अभी कुछ और कड़वे अनुभव प्राप्त करने थे। इसका बोध तो मुझे तभी हुआ जब मैंने उनके अकल्पित दोषों का प्रत्यक्ष दर्शन किया। लेकिन मैं यथासंभव समय के क्रम के अनुसार अपने अनुभव लिख रहा हूँ, इसलिए दुसरे अनुभव आगे आवेंगे।

इस समय की एक बात यहीं कहनी होगी। हम दम्पती के बीच जो कुछ मतभेद पैदा होता या कलह होता, उसका एक कारण यह मित्रता भी थी। मैं ऊपर बता चुका हूँ कि मैं जैसा प्रेमी वैसा ही वहमी पति था। मेंरे वहम को बढाने वाली यह मित्रता थी, क्योंकि मित्र की सच्चाई के बारेमें मुझे कोई सन्देह था ही नहीं। इन मित्र की बातों में आकर मैंने अपनी धर्मपत्नी को कितने ही कष्ट पहुँचाये हैं। इस हिंसा के लिए मैंने अपने को कभी माफ नहीं किया है। ऐसे दुःख हिन्दू स्त्री ही सहन करती है, और इस कारण मैंने स्त्री को सदा सहनशीलता की मूर्ति के रूप में देखा है। नौकर पर झूठा शक किया जाय तो वह नौकरी छोड़ देता हैं, पुत्र पर ऐसा शक हो तो वह पिता का घर छोड़ देता हैं, मित्रों के बीच शक पैदा

हो तो मित्रता टूट जाती है, स्त्री को पति पर शक हो तो वह मन मसोस कर बैठी रहती है, पर अगर पति पत्नी पर शक करे तो पत्नी बेचारी का भाग्य ही फूट जाता है। वह कहाँ जाए? उच्च माने जाने वाले वर्ण की हिन्दू स्त्री अदालत में जाकर बँधी हुई गाँठ को कटवा भी नहीं सकती, ऐसा इकतरफा न्याय उसके लिए रखा गया है। इस तरह का न्याय मैंने दिया, इसके दुःख को मैं कभी नहीं भूल सकता। इस सन्देह की जड़ तो तभी कटी जब मुझे अहिंसा का सूक्ष्म ज्ञान हुआ, यानी जब मैं ब्रह्मचर्य की महिमा को समझा और यह समझा कि पत्नी पति की दासी नहीं, पर उसकी सहचारिणी है, सहधर्मिणी है, दोनों एक-दूसरे के सुख-दुःख के समान साझेदार हैं, और भला-बुरा करने की जितनी स्वतंत्रता पति को है उतनी ही पत्नी को है। सन्देह के उस काल को जब मैं याद करता हूँ, तो मुझे अपनी मूर्खता और विषयान्ध निर्दयता पर क्रोध आता है और मित्रता-विषयक अपनी मूर्च्छा पर दया आती है।

८. चोरी और प्रायश्चित

माँसाहार के समय के और उससे पहले के कुछ दोषों का वर्णन अभी रह गया है। ये दोष विवाह से पहले के अथवा उसके तुरन्त बाद के हैं।

अपने एक रिश्तेदार के साथ मुझे बीड़ी पीने का शौक लगा। हमारे पास पैसे नहीं थे। हम दोनों में से किसीका यह खयाल तो नहीं था कि बीड़ी पीने में कोई फायदा है, अथवा उसकी गन्ध में आनन्द है। पर हमें लगा कि सिर्फ धुआँ उड़ाने में ही कुछ मजा है। मेरे काकाजी को बीड़ी पीने की आदत थी। उन्हें और दूसरों को धुआँ उड़ाते देखकर हमें भी बीड़ी फूकने की इच्छा हुई। गाँठ में पैसे तो थे नहीं, इसलिए काकाजी पीने के बाद बीड़ी के जो 'ठूँठ' फेंक देते, हमने उन्हें चुराना शुरू किया।

पर बीड़ी के ये ठूँठ हर समय मिल नहीं सकते थे, और उनमें से बहुत धुआँ भी नहीं निकलता था। इसलिए नौकर की जेब में पड़े दो-चार पैसों में से हमने एकाध पैसा चुराने की आदत डाली, और हम बीड़ी खरीदने लगे। पर सवाल यह पैदा हुआ कि उसे संभाल कर रखें कहाँ। हम जानते थे कि बड़ों के देखते तो बीड़ी पी ही नहीं सकते। जैसे-तैसे दो-चार पैसे चुराकर कुछ हफ्ते काम चलाया। इसी बीच सुना कि एक प्रकार का पौधा होता है (उसका नाम तो मैं भूल गया हूँ), जिसके डंठल बीड़ी की तरह जलते हैं और फूँके जा सकते हैं। हमने उन्हें प्राप्त किया और फूँकने लगे !

पर हमें संतोष नहीं हुआ। अपनी पराधीनता हमें अखरने लगी। हमें दुःख इस बात का था कि बड़ों की आज्ञा के बिना हम कुछ भी नहीं कर सकते थे। हम ऊब गये और हमने आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया !

पर आत्महत्या कैसे करें? जहर कौन दे? हमने सुना कि धतूरे के बीज खाने से मृत्यु होती है। हम जंगल में जाकर बीज ले आये। शाम का समय तय किया। केदारनाथजी के मन्दिर की दीपमाला में घी चढ़ाया, दर्शन किये और एकान्त खोज लिया। पर जहर खाने की हिम्मत न हुई। अगर तुरन्त ही मृत्यु न हुई तो क्या होगा? मरने से लाभ क्या? क्यों न पराधीनता ही सह ली जाए? फिर भी दो-चार बीज खाये। अधिक खाने की हिम्मत ही न पड़ी। दोनों मौत से

डरे और यह निश्चय किया कि रामजी के मन्दिर में जाकर दर्शन करके शान्त हो जाएँ और आत्महत्या की बात भूल जाए।

मेरी समझ में आया कि आत्महत्या का विचार करना सरल है, आत्महत्या करना सरल नहीं। इसलिए कोई आत्महत्या करने की धमकी देता है, तो मुझ पर उसका बहुत कम असर होता है, अथवा यह कहना ठीक होगा कि कोई असर होता ही नहीं।

आत्महत्या के इस विचार का परिणाम यह हुआ कि हम दोनों जूठी बीड़ी चुराकर पीने की और नौकरके पैसे चुराकर बीड़ी खरीदने और फूँकने की आदत भूल गये। फिर बड़ेपन में बीड़ी पीने की कभी इच्छा नहीं हुई। मैंने हमेंशा यह माना है कि यह आदत जंगली, गन्दी और हानिकारक है। दुनिया में बीड़ी का इतना जबरदस्त शौक क्यों है, इसे मैं कभी समझ नहीं सका हूँ। रेलगाड़ी के जिस डिब्बे में बहुत बीड़ी पी जाती है, वहाँ बैठना मेरे लिए मुश्किल हो जाता है, और उसके धुएँ से मेरा दम घुटने लगता है।

बीड़ी के ठूँठ चुराने और इसी सिलसिले में नोकरके पैसे चुराने के दोष की तुलना में मुझसे चोरी का दूसरा जो दोष हुआ, उसे मैं अधिक गम्भीर मानता हूँ। बीड़ी के दोष के समय मेरी उमर बारह-तेरह साल की रही होगी; शायद इससे कम भी हो। दूसरी चोरी के समय मेरी उमर पन्द्रह साल की रही होगी। यह चोरी मेरे माँसाहारी भाई के सोने के कड़े के टुकड़े की थी। उन पर मामूली-सा, लगभग पच्चीस रुपये का, कर्ज हो गया था। उसकी अदायगी के बारेमें हम दोनों भाई सोच रहे थे। मेरे भाई के हाथ में सोने का ठोस कड़ा था। उसमें से एक तोला सोना काट लेना मुश्किल न था।

कड़ा कटा। कर्ज अदा हुआ। पर मेरे लिए यह बात असह्य हो गयी। मैंने निश्चय किया कि आगे कभी चोरी करूँगा ही नहीं। मुझे लगा कि पिताजी के सम्मुख अपना दोष स्वीकार भी कर लेना चाहिए। पर जीभ न खुली। पिताजी स्वयं मुझे पीटेंगे, इसका डर तो था ही नहीं। मुझे याद नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी हममें से किसी भाई को पीटा हो। पर खुद दुःखी होंगे, शायद सिर फोड़ लें। मैंने सोचा कि यह जोखिम उठाकर भी दोष कबूल कर ही लेना चाहिए, उसके बिना शुद्धि नहीं होगी।

आखिर मैंने तय किया कि चिट्ठी लिखकर दोष स्वीकार किया जाए और क्षमा माँग ली जाए । मैंने चिट्ठी लिखकर हाथोंहाथ दी । चिट्ठी में सारा दोष स्वीकार किया और सजा चाही । आग्रहपूर्वक बिनती की कि वे अपने को दुःख में न डालें, और भविष्य में फिर ऐसा अपराध न करने की प्रतिज्ञा की ।

मैंने काँपते हाथों चिट्ठी पिताजी के हाथ में दी । मैं उनके तख्त के सामने बैठ गया । उन दिनों वे भगन्दर की बीमारी से पीड़ित थे, इस कारण बिस्तर पर ही पड़े रहते थे । खटिया के बदले लकड़ी का तख्त काम में लाते थे।

उन्होंने चिट्ठी पढ़ी । आँखों से मोती की बूँदें टपकीं । चिट्ठी भीग गयी। उन्होंने क्षण भर के लिए आँखें मूँदीं, चिट्ठी फाड़ डाली और स्वयं पढ़ने के लिए उठ बैठे थे, सो वापस लेट गये ।

मैं भी रोया । पिताजी का दुःख समझ सका । अगर मैं चित्रकार होता, तो वह चित्र आज भी सम्पूर्णता से खींच सकता । आज भी वह मेरी आँखों के सामने इतना स्पष्ट है ।

मोती की बूँदों के उस प्रेमबाण ने मुझे बेध डाला । मैं शुद्ध बना । इस प्रेम को तो अनुभवी ही जान सकता है ।

रामबाण वाग्यां रे होय ते जाणे.[१]

(राम की भक्ति का बाण जिसे लगा हो वही जान सकता है ।)

मेरे लिए यह अंहिसा का पदार्थपाठ था । उस समय तो मैंने इसमें पिता के प्रेम के सिवा और कुछ नहीं देखा, पर आज मैं इसे शुद्ध अंहिसा के नाम से पहचान सकता हूँ । ऐसी अंहिसा के व्यापक रूप धारण कर लेने पर उसके स्पर्श से कौन बच सकता है? ऐसी व्यापक अंहिसा की शक्ति की थाह लेना असम्भव है।

इस प्रकार की शान्त क्षमा पिताजी के स्वभाव के विरूद्ध थी । मैंने सोचा था कि वे क्रोध करेंगे, कटु वचन कहेंगे, शायद अपना सिर पीट लेंगे । पर उन्होंने इतनी अपार शान्ति जो धारण की, मेरे विचार में उसका कारण अपराध की सरल स्वीकृति थी । जो मनुष्य अधिकारी के सम्मुख स्वेच्छा से और निष्कपट भाव से अपराध स्वीकार कर लेता है और फिर कभी वैसा अपराध न करने की प्रतिज्ञा करता है, वह शुद्धतम प्रायश्चित करता है ।

मैं जानता हूँ कि मेरी इस स्वीकृति से पिताजी मेरे विषय में निर्भय बने और उनका महान प्रेम और भी बढ़ गया।

९. पिताजी की मृत्यु और मेरी दोहरी शरम

उस समय मैं सोलह वर्ष का था। हम ऊपर देख चुके हैं कि पिताजी भगन्दर की बीमारी के कारण बिलकुल शय्यावश थे। उनकी सेवा में अधिकतर माताजी, घर का एक पुराना नौकर और मैं रहते थे। मेरे जिम्मे 'नर्स' का काम था। उनका घाव धोना, उसमें दवा डालना, मरहम लगाने के समय मरहम लगाना, उन्हें दवा पिलाना और जब घर पर दवा तैयार करनी हो तो तैयार करना, यह मेरा खास काम था। रात हमेंशा उनके पैर दबाना और इजाजत देने पर अथवा उनके सो जाने पर सोना यह मेरा नियम था। मुझे यह सेवा बहुत प्रिय थी। मुझे स्मरण नहीं है कि मैं इसमें किसी भी दिन चूका होऊँ। ये दिन हाईस्कूल के तो थे ही। इसलिए खाने-पीने के बाद का मेरा समय स्कूल में अथवा पिताजी की सेवा में ही बीतता था। जिस दिन उनकी आज्ञा मिलती और उनकी तबीयत ठीक रहती, उस दिन शाम को टहलने जाता था।

इसी साल पत्नी गर्भवती हुई। मैं आज देख सकता हूँ कि इसमें दोहरी शरम थी। पहली शरम तो इस बात की कि विद्याध्ययन का समय होते हुए भी मैं संयम से न रह सका और दूसरी यह कि यद्यपि स्कूल की पढ़ाई को मैं अपना धर्म समझता था, और उससे भी अधिक माता-पिता की भक्ति को धर्म समझता था-और सो भी इस हद तक कि इस विषय में बचपन से ही श्रवण को मैंने अपना आदर्श माना था-फिर भी विषय-वासना मुझ पर सवारी कर सकी थी। मतलब यह कि यद्यपि रोज रात को मैं पिताजी के पैर तो दबाता था, लेकिन उस समय मेरा मन शयन-गृह की ओर भटकता रहता था, और सो भी ऐसे समय जब स्त्री का संग धर्मशास्त्र, वैद्यक-शास्त्र और व्यवहार-शास्त्र के अनुसार त्याज्य था। जब मुझे सेवा के काम से छुट्टी मिलती, तो मैं खुश होता और पिताजी के पैर छुकर सीधा शयन-गृह में पहुँच जाता।

पिताजी की बीमारी बढ़ती जाती थी। वैद्यों ने अपने लेप आजमाये, हकीमों ने मरहम-पट्टियाँ आजमायीं, साधारण हज्जाम वगैरा की घरेलू दवायें भी कीं; अंग्रेज डॉक्टर ने भी

अपनी अक्ल आजमा कर देखी। अंग्रेज डॉक्टर ने सुझाया कि शस्त्र-क्रिया ही रोग का एकमात्र उपाय है। परिवार के एक मित्र वैद्य बीच में पड़े और उन्होंने पिताजी की उत्तरावस्था में ऐसी शस्त्र-क्रिया को नापसन्द किया। तरह-तरह की दवाओं की जो बोतलें खरीदी थीं वे व्यर्थ गईं और शस्त्र-क्रिया नहीं हुई। वैद्यराज प्रवीण और प्रसिद्ध थे। मेरा खयाल है कि अगर वे शस्त्र-क्रिया होने देते, तो घाव के भरने में दिक्कत न होती। शस्त्र-क्रिया उस समय के बम्बई के प्रसिद्ध सर्जन के द्वारा होने को थी। पर अन्तकाल समीप था, इसलिए उचित उपाय कैसे हो पाता? पिताजी शस्त्र-क्रिया कराये बिना ही बम्बई से वापस आये। साथ में इस निमित्त से खरीदा हुआ सामान भी लेते आये। वे अधिक जीने की आशा छोड़ चुके थे। कमजोरी बढ़ती गयी और ऐसी स्थिति आ पहुँची कि प्रत्येक क्रिया बिस्तर पर ही करना ज़रूरी हो गया। लेकिन उन्होंने आखिरी घड़ी तक इसका विरोध ही किया और परिश्रम सहने का आग्रह रखा। वैष्णव धर्म का यह कठोर शासन है। बाह्य शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। पर पाश्चत्य वैद्यक-शास्त्र ने हमें सिखाया है कि मल-मूत्र-विसर्जन की और स्नानादि की सब क्रियायें बिस्तर पर लेटे-लेटे संपूर्ण स्वच्छता के साथ की जा सकती हैं और रोगी को कष्ट उठाने की ज़रूरत नहीं पड़ती; जब देखो तब उसका बिछौना स्वच्छ ही रहता है। इस तरह साधी गयी स्वच्छता को मैं तो वैष्णव धर्म का ही नाम दूँगा। पर उस समय स्नानादि के लिए बिछौना छोड़ने का पिताजी का आग्रह देखकर मैं आश्चर्यचकित ही होता था और मन में उनकी स्तुति किया करता था।

अवसान की घोर रात्रि समीप आई। उन दिनों मेरे चाचाजी राजकोट में थे। मेरा कुछ ऐसा खयाल है कि पिताजी की बढ़ती हुई बीमारी के समाचार पाकर ही वे आये थे। दोनों भाईयों के बीच अटूट प्रेम था। चाचाजी दिन भर पिताजी के बिस्तर के पास ही बैठे रहते, और हम सबको सोने की इजाजत देकर खुद पिताजी के बिस्तर के पास सोते। किसीको यह खयाल तो था ही नहीं कि यह रात आखिरी सिद्ध होगी। वैसे डर तो बराबर बना ही रहता था। रात के साढ़े दस या ग्यारह बजे होगें। मैं पैर दबा रहा था। चाचाजी ने मुझसे कहा: "जा, अब मैं बैठूगाँ।" मैं खुश हुआ और सीधा शयन-गृह में पहुँचा। पत्नी तो बेचारी गहरी नींद में थी। पर मैं सोने कैसे देता ? मैंने उसे जगाया। पाँच-सात मिनट ही बीते होंगे, इतने में जिस नौकर की मैं ऊपर चर्चा कर चुका हूँ, उसने आकर किवाड़ खटखटाया। मुझे धक्का-सा लगा। मैं

चौंका। नौकरने कहा, “उठो, बापू बहुत बीमार हैं|” मैं जानता था कि वे बहुत बीमार तो थे ही, इसलिए यहाँ 'बहुत बीमार' का विशेष अर्थ समझ गया। एकदम बिस्तर से कूद पड़ा। “कह तो सही, बात क्या हैं?” जवाब मिला, “बापू गुजर गये!”

मेरा पछताना किस काम आता? मैं बहुत शरमाया। बहुत दुःखी हुआ। दौड़कर पिताजी के कमरे में पहुँचा। बात मेरी समझ में आयी कि अगर मैं विषयान्ध न होता, तो इस अन्तिम घड़ी में यह वियोग मुझे नसीब न होता और मैं अन्त समय तक पिताजी के पैर दबाता रहता। अब तो मुझे चाचाजी के मुँह से ही सुनना पड़ा: “बापू हमें छोड़कर चले गये!” अपने बड़े भाई के परम भक्त चाचाजी अंतिम सेवा का गौरव पा गये। पिताजी को अपने अवसान का अन्दाज हो चुका था। उन्होंने इशारा करके लिखने का सामान मँगाया और कागज पर लिखा: “तैयारी करो!” इतना लिखकर उन्होंने अपने हाथ पर बँधा तावीज तोड़कर फेंक दिया, सोने की कण्ठी भी तोड़कर फेंक दी और एक क्षण में आत्मा उड़ गयी।

पिछले अध्याय में मैंने अपनी जिस शरम का जिक्र किया है, वह यही शरम है-सेवा के समय भी विषय की इच्छा! इस काले दाग को मैं आज तक मिटा नहीं सका, भूल नहीं सका | और मैंने हमेंशा माना है कि यद्यपि माता-पिता के प्रति मेरी अपार भक्ति थी, उसके लिए मैं सब कुछ छोड़ सकता था, तथापि सेवा के समय भी मेरा मन विषय को छोड़ नहीं सकता था। यह सेवा में रही हुई अक्षम्य त्रुटि थी। इसीसे मैंने अपने को एकपत्नी-व्रत का पालन करनेवाला मानते हुए भी विषयान्ध माना है। इससे मुक्त होने में मुझे बहुत समय लगा और मुक्त होने से पहले कई धर्म-संकट सहने पड़े।

अपनी इस दोहरी शरम की चर्चा समाप्त करने से पहले मैं यह भी कह दूँ कि पत्नी का जो बालक जन्मा वह दो या चार दिन जीकर चला गया। कोई दूसरा परिणाम हो भी क्या सकता था? जिन माँ-बापों को अथवा जिन बाल-दम्पती को चेतना हो, वे इस दृष्टान्त से चेतें।

१०. धर्म की झाँकी

छह या सात साल से लेकर सोलह साल की उमर तक मैंने पढ़ाई की, पर स्कूल में कहीं भी धर्म की शिक्षा नहीं मिली। यों कह सकते हैं कि शिक्षकों से जो आसानी से मिलना चाहिए था वह नहीं मिला। फिर भी वातावरण से कुछ-न-कुछ तो मिलता ही रहा। यहाँ धर्म का उदार अर्थ करना चाहिए। धर्म अर्थात् आत्मबोध, आत्मज्ञान। मैं वैष्णव सम्प्रदाय में जन्मा था, इसलिए हवेली में जाने के प्रंसग बार-बार आते थे। पर उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई। हवेली का वैभव मुझे अच्छा नहीं लगा। हवेली में चलने वाली अनीति की बातें सुनकर मन उसके प्रति उदासिन बन गया। वहाँ से मुझे कुछ भी न मिला।

पर जो हवेली से न मिला, वह मुझे अपनी धाय रम्भा से मिला। रम्भा हमारे परिवार की पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद है। मैं ऊपर कह चुका हूँ कि मुझे भूत-प्रेत आदि का डर लगता था। रम्भा ने मुझे समझाया कि इसकी दवा रामनाम है। मुझे तो रामनाम से भी अधिक श्रद्धा रम्भा पर थी, इसलिए बचपन में भूत-प्रेतादि के भय से बचने के लिए मैंने रामनाम जपना शुरू किया। यह जप बहुत समय तक नहीं चला। पर बचपन में जो बीज बोया गया, वह नष्ट नहीं हुआ। आज रामनाम मेरे लिए अमोघ शक्ति है। मैं मानता हूँ कि उसके मूल में रम्भाबाई का बोया हुआ बीज है।

इसी अरसे में मेरे चाचाजी के एक लड़के ने, जो रामायण के भक्त थे, हम दो भाईयों को राम-रक्षा का पाठ सिखाने की व्यवस्था की। हमने उसे कण्ठाग्र कर लिया और स्नान के बाद उसके नित्यपाठ का नियम बनाया। जब तक पोरबन्दर रहे, यह नियम चला। राजकोट के वातावरण में यह टिक न सका। इस क्रिया के प्रति भी खास श्रद्धा नहीं थी। अपने बड़े भाई के लिए मन में जो आदर था उसके कारण और कुछ शुद्ध उच्चारणों के साथ राम-रक्षा का पाठ कर पाते हैं इस अभिमान के कारण पाठ चलता रहा।

पर जिस चीज का मेरे मन पर गहरा असर पड़ा, वह था रामायण का पारायण। पिताजी की बीमारी का थोड़ा समय पोरबन्दर में बीता था। वहाँ वे रामजी के मन्दिर में रोज रात के समय रामायण सुनते थे। सुनाने वाले बीलेश्वर के लाधा महाराज नामक एक पंडित थे। वे

रामचन्द्रजी के परम भक्त थे। उनके बारेमें यह कहा जाता था कि उन्हें कोढ़ की बीमारी हुई, तो उसका इलाज करने के बदले उन्होंने बीलेश्वर महादेव पर चढ़े हुए बेलपत्र लेकर कोढ़ वाले अंग पर बाँधे और केवल रामनाम का जप शुरू किया। अन्त में उनका कोढ़ जड़मूल से नष्ट हो गया। यह बात सच हो या न हो, हम सुननेवालों ने तो सच ही मानी। यह भी सच है कि जब लाधा महाराज ने कथा शुरू की, तब उनका शरीर बिलकुल नीरोग था। लाधा महाराज का कण्ठ मीठा था। वे दोहा-चौपाई गाते और अर्थ समझाते थे। उस समय मेरी उमर तेरह साल की रही होगी, पर याद पड़ता है कि उनके पाठ में मुझे खूब रस आता था। यह रामायण-श्रवण रामायण के प्रति मेरे अत्याधिक प्रेम की बुनियाद है । आज मैं तुलसीदास की रामायण को भक्तिमार्ग का सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूँ।

कुछ महीनों के बाद हम राजकोट आये। वहाँ रामायण का पाठ नहीं होता था। एकादशी के दिन भागवत ज़रूर पढ़ी जाती थी। मैं कभी-कभी उसे सुनने बैठता था। पर भट्टजी रस उत्पन्न नहीं कर सके। आज मैं यह देख सकता हूँ कि भागवत एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसके पाठ से धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है। मैंने तो उसे गुजराती में बड़े चाव से पढ़ा है। लेकिन इक्कीस दिन के अपने उपवास-काल में भारत-भूषण पंडित मदनमोहन मालवीयजी के शुभ मुख से मूल संस्कृत के कुछ अंश जब सुने, तो खयाल हुआ कि बचपन में उनके समान भगवद्-भक्त के मुँह से भागवत सुनी होती, तो उस पर उसी उमर में मेरा गाढ़ प्रेम हो जाता। बचपन में पड़े हुए शुभ-अशुभ संस्कार बहुत गहरी जड़े जमाते हैं, इसे मैं खूब अनुभव करता हूँ; और इस कारण उस उमर में मुझे कई उत्तम ग्रन्थ सुनने का लाभ नहीं मिला, सो अब अखरता है।

राजकोट में मुझे अनायास ही सब सम्प्रदायों के प्रति समान भाव रखने की शिक्षा मिली। मैंने हिन्दू धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय का आदर करना सीखा, क्योंकि माता-पिता वैष्णव-मन्दिर में, शिवालय में और राम-मन्दिर में भी जाते और भाईयों को भी साथ ले जाते या भेजते थे।

फिर पिताजी के पास जैन धर्माचार्यों में से भी कोई न कोई हमेंशा आते रहते थे। पिताजी उन्हें भिक्षा भी देते थे | वे पिताजी के साथ धर्म और व्यवहार की बातें किया करते थे। इसके सिवा, पिताजी के मुसलमान और पारसी मित्र थे। वे अपने-अपने धर्म की चर्चा करते और

पिताजी उनकी बातें सम्मानपूर्वक और अकसर रसपूर्वक सुना करते थे। 'नर्स' होने के कारण ऐसी चर्चा के समय मैं अकसर हाजिर रहता था। इस सारे वातावरण का प्रभाव मुझ पर यह पड़ा कि मुझमें सब धर्मों के लिए समान भाव पैदा हो गया।

एक ईसाई धर्म अपवादरूप था। उसके प्रति कुछ अरूचि थी। उन दिनों कुछ ईसाई हाईस्कूल के कोने पर खड़े होकर व्याख्यान दिया करते थे। वे हिन्दू देवताओं की और हिन्दू धर्म को मानने वालों की बुराई करते थे। मुझे वह असह्य मालूम हुआ। मैं एकाध बार ही व्याख्यान सुनने के लिए खड़ा रहा होऊँगा। दूसरी बार फिर वहाँ खड़े रहने की इच्छा ही न हुई। उन्हीं दिनों एक प्रसिद्ध हिन्दू के ईसाई बनने की बात सुनी। गाँव में चर्चा थी कि उन्हें ईसाई धर्म की दीक्षा देते समय गोमाँस खिलाया गया और शराब पिलायी गयी। उनकी पोशाक भी बदल दी गयी और ईसाई बनने के बाद वे भाई कोट-पतलून और अंग्रेजी टोपी पहनने लगे। इन बातों से मुझे पीड़ा पहुँची। जिस धर्म के कारण गोमाँस खाना पड़े, शराब पीनी पड़े और अपनी पोशाक बदलनी पड़े, उसे धर्म कैसे कहा जाए? मेरे मन ने यह दलील की। फिर यह भी सुनने में आया कि जो भाई ईसाई बने थे, उन्होंने अपने पूर्वजों के धर्म की, रीति-रिवाजों और देश की निन्दा करना शुरू किया था। इन सब बातों से मेरे मन में ईसाई धर्म के प्रति अरूचि उत्पन्न हो गयी।

इस तरह यद्यपि दूसरे धर्मों के प्रति समभाव जागा, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मुझमें ईश्वर के प्रति आस्था थी। इन्हीं दिनों पिताजी के पुस्तक-संग्रह में से मनुस्मृति का भाषांतर मेरे हाथ में आया। उसमें संसार की उत्पत्ति आदि की बातें पढ़ीं। उन पर श्रद्धा नहीं जमी, उलटे थोड़ी नास्तिकता ही पैदा हुई। मेरे दूसरे चाचाजी के लड़के की, जो अभी जीवित हैं, बुद्धि पर मुझे विश्वास था। मैंने अपनी शंकायें उनके सामने रखीं, पर वे मेरा समाधान न कर सके। उन्होंने मुझे उत्तर दिया: "सयाने होने पर ऐसे प्रश्नों के उत्तर तुम खुद दे सकोगे। बालकों को ऐसे प्रश्न नहीं पूछने चाहिए।" मैं चुप रहा। मन को शान्ति नहीं मिली। मनुस्मृति के खाद्याखाद्य-विषयक प्रकरण में और दूसरे प्रकरणों में भी मैंने वर्तमान प्रथा का विरोध पाया। इस शंका का उत्तर भी मुझे लगभग ऊपर के जैसा ही मिला। मैंने यह सोचकर अपने मन को समझा लिया कि 'किसी दिन बुद्धि खुलेगी, अधिक पढ़ूँगा और समझूँगा।' उस समय मनुस्मृति को पढ़कर में अहिंसा तो सीख ही न सका। माँसाहार की चर्चा हो चुकी

है। उसे मनुस्मृति का समर्थन मिला। यह भी खयाल हुआ कि सर्पादि और खटमल आदि को मारना नीति है। मुझे याद है कि उस समय मैंने धर्म समझकर खटमल आदि का नाश किया था।

पर एक चीज ने मन में जड़ जमा ली-यह संसार नीति पर टिका हुआ है। नीतिमात्र का समावेश सत्य में है। सत्य को तो खोजना ही होगा। दिन-पर-दिन सत्य की महीमा मेरे निकट बढ़ती गयी। सत्य की व्याख्या विस्तृत होती गयी, और अभी भी हो रही है।

फिर, नीति का एक छप्पय दिल में बस गया। अपकार का बदला अपकार नहीं, उपकार ही हो सकता है, यह एक जीवन-सूत्र ही बन गया। उसने मुझ पर साम्राज्य चलाना शुरू किया। अपकारी का भला चाहना और करना, इसका मैं अनुरागी बन गया। इसके अनगिनत प्रयोग किये। वह चमत्कारी छप्पय यह है:

पाणी आपने पाय, भलुं भोजन तो दीजे;
आवी नमावे शीश, दंडवत कोडे कीजे.
आपण घा से दाम, काम महोरोनुं करीए;
आप उगारे प्राण, ते तणा दुःखमां मरीए.
गुण केडे तो गुण दश गणो, मन, वाचा, कर्मे करी;
अपगुण केडे जो गुण करे, ते जगमां जीत्यो सही.[१]

१. जो हमें पानी पिलाये, उसे हम अच्छा भोजन करायें। जो आकर हमारे सामने सिर नवाये, उसे हम उमंग से दण्डवत् प्रणाम करें। जो हमारे लिए एक पैसा खर्च करे, उसका हम मुहरों की कीमत का काम कर दें। जो हमारे प्राण बचावे, उसका दुःख दूर करने के लिए हम अपने प्राण तक निछावर कर दें। जो हमारा उपकार करे, उसका तो हमें मन, वचन और कर्म से दस गुना उपकार करना ही चाहिए। लेकिन जग में सच्चा और सार्थक जीना उसीका है, जो अपकार करने वाले के प्रति भी उपकार करता है।

११. विलायत की तैयारी

सन् १८८७ में मैंने मैंट्रिक की परीक्षा पास की। देश की और गांधी-कुटुम्ब की गरीबी ऐसी थी कि अहमदाबाद और बम्बई-जैसे परीक्षा के दो केन्द्र हों, तो वैसी स्थिति वाले काठियावाड़-निवासी नजदीक के और सस्ते अहमदाबाद को पसन्द करते थे। वही मैंने किया। मैंने पहले-पहल राजकोट से अहमदाबाद की यात्रा अकेले की।

बड़ों की इच्छा थी कि पास हो जाने पर मुझे आगे कॉलेज की पढ़ाई करनी चाहिए। कॉलेज बम्बई में भी था और भावनगर में भी | भावनगर का खर्च कम था, इसलिए भावनगर के शामलदास कॉलेज में भरती होने का निश्चय हुआ कॉलेज में मुझे कुछ आता न था। सब कुछ मुश्किल मालूम होता था। अध्यापकों का नहीं, मेरी कमजोरी का ही था। उस समय के शामलदास कॉलेज के अध्यापक तो प्रथम पंक्ति के माने जाते थे। पहला सत्र पूरा करके मैं घर आया।

कुटुम्ब के पुराने मित्र और सलाहकार एक विद्वान, व्यवहार-कुशल ब्राह्मण मावजी दवे थे। पिताजी के स्वर्गवास के बाद भी उन्होंने कुटुम्ब के साथ सम्बन्ध बनाये रखा था। वे छुट्टी के इन दिनों में घर आये। माताजी और बड़े भाई के साथ बातचीत करते हुए उन्होंने मेरी पढ़ाई के बारेमें पूछताछ की। जब सुना कि मैं शामलदास कॉलेज में हूँ, तो बोले: "जमाना बदल गया है। तुम भाईयों में से कोई कबा गांधी की गद्दी संभालना चाहे तो बिना पढ़ाई के वह नहीं होगा। यह लड़का अभी पढ़ रहा हैं, इसलिए गद्दी संभालने का बोझ इससे उठवाना चाहिए। इसे चार-पाँच साल तो अभी बी. ए. होने में लग जाएँगे, और इतना समय देने पर भी इसे ५०-६० रुपये की नौकरी मिलेगी, दीवानगीरी नहीं। और अगर उसके बाद इसे मेरे लड़के की तरह वकील बनायें, तो थोड़े वर्ष और लग जाएँगे| और तब तक तो दीवानगीरी के लिए वकील भी बहुत से तैयार हो चुकेंगे। आपको इसे विलायत भेजना चाहिए। केवलराम (मावजी दवे के लड़के का नाम) कहता है कि वहाँ की पढ़ाई सरल है। तीन साल में पढ़कर लौट आयेगा। खर्च भी चार-पाँच हजार से अधिक नहीं होगा। नये आये हुए बारिस्टरों को देखो, वे कैसे ठाठ से रहते हैं! वे चाहें तो उन्हें दीवानगीरी आज मिल सकती

है। मेरी तो सलाह है कि आप मोहनदास को इसी साल विलायत भेज दीजिए। विलायत में मेरे केवलराम के कई दोस्त हैं; वह उनके नाम सिफारिशी पत्र दे देगा, तो इसे वहाँ कोई कठिनाई नहीं होगी।"

जोशीजी ने (मावजी दवे को हम इसी नाम से पुकारते थे) मेरी तरफ देखकर मुझसे ऐसे लहजे में पूछा, मानो उनकी सलाह के स्वीकृत होने में उन्हें कोई शंका ही न हो:

"क्यों, तुझे विलायत जाना अच्छा लगेगा या यहीं पढ़ते रहना?" मुझे जो भाता था वही वैद्यने बता दिया। मैं कॉलेज की कठिनाईयों से डर तो गया ही था। मैंने कहा, "मुझे विलायत भेजें, तो बहुत ही अच्छा है। मुझे नहीं लगता कि मैं कॉलेज में जल्दी-जल्दी पास हो सकूँगा। पर क्या मुझे डॉक्टरी सीखने के लिए नहीं भेजा जा सकता?"

मेरे भाई बीच में बोले: "पिताजी को यह पसन्द न था। तेरी चर्चा निकलने पर वे यही कहते कि हम वैष्णव होकर हाड़-माँस की चीर-फाड़ का काम न करें। पिताजी तो तुझे वकील ही बनाना चाहते थे।"

जोशीजी ने समर्थन किया: "मुझे गांधीजी की तरह डॉक्टरी के पेशे से अरुचि नहीं है। हमारे शास्त्र इस धंधे की निन्दा नहीं करते। पर डॉक्टर बनकर तू दीवान नहीं बन सकेगा। मैं तो तेरे लिए दीवान-पद अथवा उससे भी अधिक चाहता हूँ। तभी तुम्हारे बड़े परिवार का निर्वाह हो सकेगा। जमाना दिन-पर-दिन बदलता जा रहा है और मुश्किल होता जाता है। इसलिए बारिस्टर बनने में ही बुद्धिमानी है।"

माताजी की ओर मुड़कर उन्होंने कहा: "आज तो मैं जाता हूँ। मेरी बात पर विचार करके देखिये। जब मैं लौटूँगा तो तैयारी के समाचार सुनने की आशा रखूँगा। कोई कठिनाई हो तो मुझसे कहिये।"

जोशीजी गये और मैं हवाई किले बनाने लगा।

बड़े भाई सोच में पड़ गये। पैसा कहाँ से आयेगा? और मेरे जैसे नौजवान को इतनी दूर कैसे भेजा जाएँ!

माताजी को कुछ सूझ न पड़ा। वियोग की बात उन्हें जँची ही नहीं। पर पहले तो उन्होंने यही कहा: “हमारे परिवार में अब बुजुर्ग तो चाचाजी ही रहे हैं। इसलिए पहले उनकी सलाह लेनी चाहिए। वे आज्ञा दें तो फिर हमें सोचना होगा।”

बड़े भाई को दूसरा विचार सूझा: “पोरबन्दर राज्य पर हमारा हक है। लेली साहब एडमिनिस्ट्रेटर हैं। हमारे परिवार के बारेमें उनका अच्छा खयाल

है। चाचाजी पर उनकी खास मेंहरबानी है। सम्भव है, वे राज्य की तरफ से तुझे थोड़ी-बहुत मदद कर दें।'

मुझे यह सब अच्छा लगा। मैं पोरबन्दर जाने के लिए तैयार हुआ। उन दिनों रेल नहीं थी। बैलगाड़ी का रास्ता था। पाँच दिन में पहुँचा जाता था। मैं कह चुका हूँ कि मैं खुद डरपोक था। पर इस बार मेरा डर भाग गया। विलायत जाने की इच्छा ने मुझे प्रभावित किया। मैंने धोराजी तक की बैलगाड़ी की। धोराजी से आगे, एक दिन पहले पहुँचने के विचार से, ऊँट किराये पर लिया। ऊँट की सवारी का भी मेरा यह पहला अनुभव था।

मैं पोरबन्दर पहुँचा। चाचाजी को साष्टांग प्रणाम किया। सारी बात सुनायी। उन्होंने सोचकर जवाब दिया :

“मैं नहीं जानता कि विलायत जाने पर हम धर्म की रक्षा कर सकते हैं या नहीं। जो बातें सुनता हूँ, उनसे तो शक पैदा होता है। मैं जब बड़े बारिस्टरों से मिलता हूँ, तो उनकी रहन-सहन में और साहबों की रहन-सहन में कोई भेद नहीं पाता। खाने-पीने का कोई बंधन उन्हें होता ही नहीं। सिगरेट तो कभी उनके मुँह से छूटती ही नहीं। पोशाक देखो तो वह भी नंगी। यह सब हमारे कुटुम्ब को शोभा न देगा। पर मैं तेरे साहस में बाधा नहीं डालना चाहता। मैं तो कुछ दिनों बाद यात्रा पर जाने वाला हूँ। अब मुझे कुछ ही साल जीना है। मृत्यु के किनारे बैठा हुआ मैं तुझे विलायत जाने की-समुद्र पार करने की-इजाजत कैसे दूँ? लेकिन में बाधक नहीं बनूँगा। सच्ची इजाजत तो तेरी माँ की है। अगर वह तुझे इजाजत दे दे, तो तू खुशी-खुशी जाना। इतना कहना कि मैं तुझे रोकूँगा नहीं। मेरे आशीर्वाद तो तुझे हैं ही।”

मैंने कहा: “इस से अधिक की आशा तो मैं आपसे रख नहीं सकता। अब मुझे अपनी माँ को राजी करना होगा। पर लेली साहब के नाम आप मुझे सिफारिशी पत्र तो देंगे न?'

चाचाजी ने कहा: “सो मैं कैसे दे सकता हूँ ? लेकिन साहब सज्जन हैं, तू पत्र लिख। कुटुम्ब का परिचय देना। वे ज़रूर तुझे मिलने का समय देंगे, और उन्हें रूचेगा तो मदद भी करेंगे।”

मैं नहीं जानता कि चाचाजी ने साहब के नाम सिफारिश का पत्र क्यों नहीं दिया। मुझे धुँधली-सी याद है कि विलायत जाने के धर्म-विरुद्ध कार्य में इस तरह सीधी मदद करने में उन्हें संकोच हुआ।

मैंने लेली साहब को पत्र लिखा। उन्होंने अपने रहने के बंगले पर मुझे मिलने बुलाया। उस बंगले की सीढ़ियों पर चढ़ते-चढ़ते वे मुझसे मिल गये, और मुझे यह कहकर चले गये: “तू बी.ए. कर ले, फिर मुझसे मिलना। अभी कोई मदद नहीं दी जा सकेगी।” मैं बहुत तैयारी करके, कई वाक्य रटकर गया था। नीचे झुककर दोनों हाथो से मैंने सलाम किया था। पर मेरी सारी मेंहनत बेकार हूई! उनकी उदारता की सीमा न थी | उनका प्रेम पिता के समान था |

मेरी दृष्टि पत्नी के गहनों पर गयी। बड़े भाई के प्रति मेरी अपार श्रद्धा थी। उनकी उदारता की सीमा न थी। उनका प्रेम पिता के समान था।

मैं पोरबन्दर से बिदा हुआ। राजकोट आकर सारी बातें उन्हें सुनाईं। जोशीजी के साथ सलाह की। उन्होंने कर्ज करके भी मुझे भेजने की सिफ़ारिश की। मैंने अपनी पत्नी के हिस्से के गहने बेच डालने का सुझाव रखा। उनसे २-३ हजार रूपये से अधिक नहीं मिल सकते थे। भाई ने, जैसे भी बने, रूपयों का प्रबंध करने का बीड़ा उठाया।

माताजी कैसे समझतीं? उन्होंने सब तरह की पूछताछ शुरू कर दी थी। कोई कहता, नौजवान लोग विलायत जाकर बिगड़ जाते हैं; कोई कहता, वे माँसाहार करने लगते हैं; कोई कहता, वहाँ शराब के बिना तो चलता ही नहीं। माताजी ने मुझे ये सारी बातें सुनायीं। मैंने कहा, “पर तू मेरा विश्वास नहीं करेगी ? मैं तुझे धोखा नहीं दूँगा | शपथपूर्वक कहता हूँ कि मैं इन तीनों चीजों से बचूँगा। अगर ऐसा खतरा होता, तो जोशीजी क्यों जाने देते ?”

माताजी बोलीं, “मुझे तेरा विश्वास है। पर दूर देश में क्या होगा ? मेरी तो अक्ल काम नहीं करती। मैं बेचरजी स्वामी से पूछूँगी।”

बेचरजी स्वामी मोढ़ बनियों में से बने हुए एक जैन साधु थे। जोशीजी की तरह वे भी हमारे सलाहकार थे। उन्होंने मदद की। वे बोले: “मैं इस लड़के से इन तीनों चीजों के व्रत

लिवाऊँगा। फिर इसे जाने देने में कोई हानि नहीं होगी।" उन्होंने प्रतिज्ञा लिवायी और मैंने माँस, मदिरा तथा स्त्री-संग से दूर रहने की प्रतिज्ञा की। माताजी ने आज्ञा दी।

हाईस्कूल में सभा हुई। राजकोट का एक युवक विलायत जा रहा है, यह आश्चर्य का विषय बना। मैं जवाब के लिए कुछ लिखकर ले गया था। जवाब देते समय उसे मुश्किल से पढ़ पाया। मुझे इतना याद है कि मेरा सिर घूम रहा था और शरीर काँप रहा था।

बड़ों के आशीर्वाद लेकर मैं बम्बई के लिए रवाना हूआ। बम्बई की यह मेरी पहली यात्रा थी। बड़े भाई साथ आये।

पर अच्छे काम में सौ विघ्न आते हैं। बम्बई का बन्दरगाह जल्दी छूट न सका।

१२. जाति से बाहर

माताजी की आज्ञा और आशीर्वाद लेकर और पत्नी की गोद में कुछ महीनों का बालक छोड़कर मैं उमंगों के साथ बम्बई पहुँचा। पहुँच तो गया, पर वहाँ मित्रों ने भाई को बताया कि जून-जुलाई में हिन्द महासागर में तूफान आते हैं और मेरी यह पहली ही समुद्री यात्रा है, इसलिए मुझे दीवाली के बाद यानी नवम्बर में रवाना करना चाहिए। और किसीने तूफान में किसी अगनबोट के डूब जाने की बात भी कही। इससे बड़े भाई घबराये। उन्होंने ऐसा खतरा उठाकर मुझे तुरन्त रवाना करने से इनकार किया और मुझको बम्बई में अपने मित्र के घर छोडकर खुद वापस नौकरी पर हाजिर होने के लिए राजकोट चले गये। वे एक बहनोई के पास पैसे छोड़ गये और कुछ मित्रों से मेरी मदद करने की सिफारिश करके गये।

बम्बई में मेरे लिए दिन काटना मुश्किल हो गया। मुझे विलायत के ही सपने आते रहते थे।

इस बीच जाति में खलबली मची। जाति की सभा बुलायी गयी। अभी तक कोई मोढ़ बनिया विलायत नहीं गया था। और मैं जा रहा हूँ, इसलिए मुझसे जवाब तलब किया जाना चाहिए। मुझे पंचायत में हाजिर रहने का हुक्म मिला। मैं गया। मैं नहीं जानता कि मुझमें अचानक हिम्मत कहाँ से आ गयी। हाजिर रहने में मुझे न तो संकोच हुआ, न डर लगा। जाति के सरपंच के साथ दूर का कुछ रिश्ता भी था। पिताजी के साथ उनका संबंध अच्छा था। उन्होंने मुझसे कहा:

"जाति का खयाल है कि तूने विलायत जाने का जो विचार किया है वह ठीक नहीं है। हमारे धर्म में समुद्र पार करने की मनाही है, तिस पर यह भी सुना जाता है कि वहाँ धर्म की रक्षा नहीं हो पाती। वहाँ साहब लोगों के साथ खाना-पीना पड़ता हैं।"

मैंने जवाब दिया, "मुझे तो लगता है कि विलायत जाने में लेशमात्र भी अधर्म नहीं है। मुझे तो वहाँ जाकर विद्याध्ययन ही करना है। फिर जिन बातों का आपको डर है, उनसे दूर रहने की प्रतिज्ञा मैंने अपनी माताजी के सम्मुख ली है, इसलिए मैं उनसे दूर रह सकूँगा।"

सरपंच बोले: "पर हम तुझसे कहते हैं कि वहाँ धर्म की रक्षा हो ही नहीं सकती। तू जानता है कि तेरे पिताजी के साथ मेरा कैसा सम्बन्ध था। तुझे मेरी बात माननी चाहिए।"

मैंने जवाब में कहा: "आपके साथ के सम्बन्ध को मैं जानता हूँ। आप पिता के समान हैं। पर इस बारेमें मैं लाचार हूँ। विलायत जाने का अपना निश्चय मैं बदल नहीं सकता। जो विद्वान ब्राह्मण मेरे पिताजी के मित्र और सलाहकार हैं, वे मानते मानते हैं कि मेरे विलायत जाने में कोई दोष नहीं है। मुझे अपनी माताजी और अपने भाई की अनुमति भी मिल चुकी है।"

"पर तू जाति का हुक्म नहीं मानेगा?"

"मैं लाचार हूँ। मेरा खयाल है कि इसमें जाति को दखल नहीं देना चाहिए।"

इस जवाब से सरपंच गुस्सा हुए। मुझे दो-चार बातें सुनायीं। मैं स्वस्थ बैठा रहा। सरपंच ने आदेश दिया:

"यह लड़का आज से जातिच्युत माना जाएगा। जो कोई इसकी मदद करेगा अथवा इसे बिदा करने जाएगा, पंच उससे जवाब तलब करेंगे और उससे सवा रूपया दण्ड का लिया जाएगा।"

मुझ पर इस निश्चय का कोई असर नहीं हुआ। मैंने सरपंच से बिदा ली। अब सोचना यह था कि इस निश्चय का मेरे भाई पर क्या असर होगा। कहीं वे डर गये तो? सौभाग्य से वे दृढ़ रहे और मुझे लिख भेजा कि जाति के निश्चय के बावजूद वे मुझे विलायत जाने से नहीं रोकेंगे।

इस घटना के बाद मैं अधिक बेचैन हो गया? भाई पर दबाव पड़ा तो क्या होगा? दूसरा कोई विघ्न आ गया तो? इस चिन्ता में मैं अपने दिन बिता रहा था कि इतने में खबर मिली कि ४ सितम्बर को रवाना होनेवाले जहाज में जूनागढ़ के एक वकील बारिस्टरी के लिए विलायत जानेवाले हैं। बड़े भाई ने जिन के मित्रों से मेरे बारेमें कह रखा था, उनसे मैं मिला। उन्होंने भी यह साथ न छोड़ने की सलाह दी। समय बहुत कम था। मैंने भाई को तार किया और जाने की इजाजत माँगी। उन्होने इजाजत दे दी। मैंने बहनोई से पैसे माँगे। उन्होंने जाति के हुक्म की चर्चा की। जातिच्युत होना उन्हें पुसाता न था। मैं अपने कुटुम्ब के एक मित्र के

पास पहुँचा औऱ उनसे बिनती की कि वे मुझे किराये वगैरा के लिए आवश्यक रकम दे दें और बाद में भाई से ले लें। उन मित्र ने ऐसा करना कबूल किया, इतना ही नहीं, बल्कि मुझे हिम्मत भी बँधायी। मैंने उनका आभार माना, पैसे लिये और टिकट खरीदा।

विलायत की यात्रा का सारा सामान तैयार करना था। दूसरे एक अनुभवी मित्र ने सामान तैयार करा दिया। मुझे सब अजीब-सा लगा। कुछ रूचा, कुछ बिलकुल नहीं रूचा। जिस नेकटाई को मैं बाद में शौक से लगाने लगा था, वह तो बिलकुल नहीं रूची। वास्कट नंगी पोशाक मालूम हुई। पर विलायत जाने के शौक की तुलना में यह अरूचि कोई चीज न थी। रास्ते में खाने का सामान भी पर्याप्त ले लिया था।

मित्रों ने मेरे लिए जगह भी त्र्यम्बकराय मजमुदार (जूनागढ़ के वकील का नाम) की कोठरी में ही रखी थी। उनसे मेरे विषय में कह भी दिया था। वे तो प्रोढ़ उमर के अनुभवी सज्जन थे। मैं दुनिया के अनुभव से शून्य अठारह साल का नौजवान था। मजमुदारने मित्रों से कहा, “आप इसकी फिक्र न करें।”

इस तरह १९८८ के सितम्बर महीने की ४ तारीख को मैंने बम्बई का बन्दरगाह छोड़ा।

१३. आखिर विलायत पहुँचा

जहाज में मुझे समुद्र का तो जरा भी कष्ट नहीं हुआ। पर जैसे-जैसे दिन बीतते जाते, वैसे-वैसे मैं अधिक परेशान होता जाता था। 'स्टुअर्ड' के साथ बातचीत करने में भी शरमाता था। अंग्रेजी में बातें करने की मुझे आदत ही न थी। मजमुदार को छोड़कर दूसरे सब मुसाफिर अंग्रेज थे। मैं उनके साथ बोल न पाता था। वे मुझसे बोलने का प्रयत्न करते, तो मैं समझ न पाता; और समझ लेता, तो जवाब क्या देना सो सूझता न था। बोलने से पहले हरएक वाक्य को जमाना पड़ता था। काँटे-चम्मच से खाना आता न था, और किस पदार्थ में माँस नहीं हैं, यह पूछने की हिम्मत नहीं होती थी। इसलिए मैं खाने की मेंज पर तो कभी गया ही नहीं। अपनी कोठरी में ही खाता था। अपने साथ खास करके जो मिठाई वगैरा लाया था, उन्हीं से मैंने काम चलाया। मजमुदार को तो कोई संकोच नहीं था। वे सबके साथ घुलमिल गये थे। डेक पर भी आजादी से जाते थे। मैं सारे दिन कोठरी में बैठा रहता था। कभी-कदास, जब डेक पर थोड़े लोग होते, तो कुछ देर वहाँ जाकर बैठ लेता था। मजमुदार मुझे समझाते कि सबके साथ घुलो-मिलो, आजादी से बात-चीत करो; वे मुझसे यह भी कहते कि वकील की जीभ खूब चलनी चाहिए। वकील के नाते वे अपने अनुभव सुनाते और कहते कि अंग्रेजी हमारी भाषा नहीं है, उसमें गलतियाँ तो होंगी ही, फिर भी खुलकर बोलते रहना चाहिए। पर मैं अपनी भीरूता छोड़ न पाता था।

मुझ पर दया करके एक भले अंग्रेज ने मुझसे बातचीत शुरू की। वे उमर में बड़े थे। मैं क्या खाता हूँ, कौन हूँ, कहाँ जा रहा हूँ, किसीसे बात-चीत क्यों नहीं करता, आदि प्रश्न वे पूछते रहते। उन्होंने मुझे खाने की मेंज पर जाने की सलाह दी। माँस न खाने के मेरे आग्रह की बात सुनकर वे हँसे और मुझ पर तरस खाकर बोले, "यहाँ तो (पोर्टसईद पहुँच ने से पहले तक) ठीक है, पर बिस्के की खाड़ी में पहुँचने पर तुम अपने विचार बदल लोगे। इंग्लैंड में तो इतनी ठंड पडती है कि माँस खाये बिना चलता ही नहीं।'

मैंने कहा, "मैंने सुना है कि वहाँ लोग माँसाहार के बिना रह सकते हैं।"

वे बोले, “इसे गलत समझो। अपने परिचितों में मैं ऐसे किसी आदमी को नहीं जानता, जो माँस न खाता हो। सुनो, मैं शराब पीता हूँ, पर तुम्हें पीने के लिए नहीं कहता। लेकिन मैं समझता हूँ कि तुम्हें माँस तो खाना ही चाहिए।”

मैंने कहा, “इस सलाह के लिए मैं आपका आभार मानता हूँ, पर माँस न खाने के लिए मैं अपनी माताजी से वचन-बद्ध हूँ। इस कारण मैं माँस नहीं खा सकता। अगर उसके बिना ही काम न चला, तो मैं वापस हिन्दुस्तान चला जाऊँगा, पर माँस तो कभी न खाऊँगा।”

बिस्के की खाड़ी आयी। वहाँ भी मुझे न तो माँस की जरुरत मालूम हूई और न मदिरा की। मुझसे कहा गया था कि मैं माँस न खाने के प्रमाणपत्र इकट्ठा कर लूँ। इसलिए इन अंग्रेज मित्र से मैंने प्रमाण-पत्र माँगा। उन्होंने खुशी-खुशी दिया। कुछ समय तक मैं उसे धन की तरह संभाले रहा। बाद में मुझे पता चला कि प्रमाण-पत्र तो माँस खाते हुए भी प्राप्त किये जा सकते हैं। इसलिए उनके बारेमें मेरा मोह नष्ट हो गया। अगर मेरी बात पर भरोसा नहीं है, तो ऐसे मामले में प्रमाण-पत्र दिखाकर मुझे क्या लाभ हो सकता है ?

दुःख-सुख सहते हुए यात्रा समाप्त करके हम साउदेम्प्टन बन्दरगाह पर पहुँचे। मुझे याद है कि उस दिन शनिवार था। जहाज पर मैं काली पोशाक पहनता था। मित्रों ने मेरे लिए सफेद फलालैन के कोट-पतलून भी बनवा दिये थे। उन्हें मैंने विलायत में उतरते समय पहनने का विचार कर रखा था, यह समझकर कि सफेद कपड़े अधिक अच्छे लगेंगे ! मैं फलालैन का सूट पहनकर उतरा। सितम्बर के आखिरी दिन थे| मैंने वहाँ इस पोशाक में एक अपने को ही देखा। मेरी पेटियाँ और उनकी चाबियाँ तो ग्रिण्डले कम्पनी के एजेण्ट ले गये थे। सबकी तरह मुझे भी करना चाहिए, यह समझकर मैंने तो अपनी चाबियाँ भी दे दी थीं !

मेरे पास चार सिफ़ारिशी पत्र थे: डॉक्टर प्राणजीवन मेहता के नाम, दलपतराम शुक्ल के नाम, प्रिंस रणजीतसिंहजी के नाम और दादाभाई नौरोजी के नाम। मैंने साउदेम्प्टन से डॉक्टर मेहता को एक तार भेजा था। जहाज में किसीने सलाह दी थी कि विक्टोरिया होटल में ठहरना चाहिए। इस कारण मजमुदार और मैं उस होटल में पहुँचे। मैं तो अपनी सफेद पोशाक की शरम से ही गड़ा जा रहा था। तिस पर होटल में पहुँचने पर पता चला कि अगले

दिन रविवार होने से ग्रिण्डले के यहाँ से सामान सोमवार तक नहीं आयेगा। इससे मैं परेशान हुआ।

सात-आठ बजे डॉक्टर मेहता आये। उन्होंने प्रेमभरा विनोद किया। मैंने अनजाने रेशमी रोओंवाली उनकी टोपी देखने के खयाल से उठायी और उस पर उलटा हाथ फेरा। इससे टोपी के रोएँ खड़े हो गये। डॉक्टर मेहता ने देखा, मुझे तुरन्त ही रोका। पर अपराध तो हो चुका था। उनके रोकने का नतीजा तो यही निकल सकता था कि दुबारा वैसा अपराध न हो।

समझिये कि यहीं से यूरोप के रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में मेरी शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। डॉक्टर मेहता हँसते-हँसते बहुत-सी बातें समझाते जाते थे। किसीकी चीज छूनी नहीं चाहिए; किसीसे जान-पहचान होने पर जो प्रश्न हिन्दुस्तान में यों ही पूछे जा सकते हैं, वे यहाँ नहीं पूछे जा सकते; बातें करते समय ऊँची आवाज से नहीं बोल सकते; हिन्दुस्तान में अंग्रेजों से बात करते समय 'सर' कहने का जो रिवाज है, वह यहाँ अनावश्यक है; 'सर' तो नौकर अपने मालिक से अथवा बड़े अफसर से कहता है। फिर उन्होंने होटल में रहने के खर्च की भी चर्चा की और सुझाया कि किसी निजी कुटुम्ब में रहने की जरूरत पड़ेगी। इस विषय में अधिक विचार सोमवार पर छोड़ा गया। कई सलाहें देकर डॉक्टर मेहता बिदा हुए।

होटल में तो हम दोनों को यही लगा कि यहाँ कहाँ आ फँसे। होटल महँगा भी था। माल्टा से एक सिन्धी यात्री जहाज पर सवार हुए थे। मजमुदार उनसे अच्छे घुलमिल गये थे। ये सिन्धी यात्री लंदन के अच्छे जानकार थे। उन्होंने हमारे लिए दो कमरे किराये पर लेने की जिम्मेदारी उठायी। हम सहमत हुए और सोमवार को जैसे ही सामान मिला, बिल चुकाकर उक्त सिन्धी सज्जन द्वारा ठीक किये कमरों में हमने प्रवेश किया।

मुझे याद है कि मेरे हिस्से का होटल का बिल लगभग तीन पौंड का हुआ था। मैं तो उसे देखकर चकित ही रह गया। तीन पौंड देने पर भी भूखा रहा। होटल की कोई चीज मुझे रूचती नहीं थी | एक चीज ली और वह नहीं रूचि; दूसरी ली; पर दाम तो दोनों के ही चुकाने चाहिए। यह कहना ठीक होगा कि अभी तो मेरा काम बम्बई से लाये हुए पाथेय से ही चल रहा था।

इस कमरे में भी मैं बहुत परेशान रहा। देश की याद खूब आती थी। माता का प्रेम मूर्तिमान होता था। रात पड़ती और मैं रोना शुरु करता। घर की अनेक स्मृतियों की चढ़ाई के कारण नींद तो आ ही कैसे सकती थी ? इस दुःख की चर्चा किसीसे की भी नहीं जा सकती थी; करने से लाभ भी क्या था ? मैं स्वयं नहीं जानता था कि किस उपाय से मुझे आश्वासन मिलेगा। यहाँ के लोग विचित्र, रहन-सहन विचित्र, घर भी विचित्र, घरों में रहने का ढंग भी विचित्र ! क्या कहने और क्या करने से यहाँ शिष्टाचार के नियमों का उल्लंघन होगा, इसकी जानकारी भी मुझे बहुत कम थी। तिस पर खाने-पीने का परहेज; और खाने योग्य आहार सूखा तथा नीरस लगता था। इस कारण मेरी दशा सरौते के बीच सुपारी जैसी हो गयी। विलायत में रहना मुझे अच्छा नहीं लगता था और देश को लौटा नहीं जा सकता था। विलायत पहुँच जाने पर तो तीन साल वहाँ पूरे करने का मेरा आग्रह था।

१४. मेरी पसन्द

डॉक्टर मेहता सोमवार को मुझसे मिलने विक्टोरिया होटल पहुँचे । वहाँ उन्हें हमारा नया पता मिला; इससे वे नयी जगह आकर मिले । मेरी मूर्खता के कारण जहाज में मुझे दाद हो गयी थी । जहाज में खारे पानी से नहाना होता था । उसमें साबुन घुलता न था । लेकिन मैंने तो साबुन का उपयोग करने में सभ्यता समझी । इससे शरीर साफ होने के बदले चीकट हो गया । उससे दाद हो गयी । डॉक्टर को दिखायी । उन्होंने मुझे जलाने वाली दवा-एसेटिक एसिड-दी । इस दवाने मुझे रूलाया था । डॉक्टर मेहता ने हमारे कमरे वगैरा देखे और सिर हिलाया; "यह जगह काम की नहीं । इस देश में आकर पढ़ने की अपेक्षा यहाँ के जीवन और रीति-रिवाज सिखाये; का अनुभव प्राप्त करना ही अधिक महत्त्व का है । इसके लिए किसी परिवार में रहना ज़रूरी हैं । पर अभी तो मैंने सोचा है कि तुम्हें कुछ तालीम मिल सके, इसके लिए मेरे मित्र के घर रहो । मैं तुम्हें वहाँ ले जाऊँगा ।"

मैंने आभारपूर्वक उनका सुझाव मान लिया । मैं मित्र के घर पहुँचा । उनके स्वागत-सत्कार में कोई कमी नहीं थी । उन्होंने मुझे अपने सगे भाई की तरह रखा, अंग्रेजी रीति-रिवाज सिखाये; यह कह सकता हूँ कि अंग्रेजी में थोड़ी बातचीत करने की आदत उन्हींने डलवाई ।

मेरे भोजन का प्रश्न बहुत विकट हो गया । बिना नमक और मसालों वाली साग-सब्जी रूचती नहीं थी । घर की मालकिन मेरे लिए कुछ बनावे तो क्या बनावे ? सवेरे तो ओटमील (जई का आटा) की लपसी बनती । उससे पेट कुछ भर जाता। पर दोपहर और शाम को मैं हमेंशा भूखा रहता । मित्र मुझे रोज माँस खाने के लिए समझाते । मैं प्रतिज्ञा की आड़ लेकर चुप हो जाता । उनकी दलीलों का जवाब देना मेरे बस का न था । दोपहर को सिर्फ रोटी, पत्तों वाली एक भाजी और मुरब्बे पर गुजर करता था । यही खुराक शाम के लिए भी थी । मैं देखता कि रोटी के तो दो-तीन टुकड़े ही लेने की रीत है । इससे अधिक माँगते शरम लगती थी । मुझे डटकर खाने की आदत थी । भूख तेज थी और खूब खुराक चाहती थी । दोपहर या शाम को दूध नहीं मिलता था । मेरी यह हालत देखकर एक दिन मित्र चिढ़ गये और बोले: "अगर तुम मेरे सगे भाई होते, तो मैं तुम्हें निश्चय ही वापस भेज देता। यहाँ की हालत

जाने बिना निरक्षर माता के सामने की गयी प्रतिज्ञा का मूल्य ही क्या ? वह तो प्रतिज्ञा ही नहीं कहीं जा सकती। मैं तुमसे कहता हूँ कि कानून इसे प्रतिज्ञा नहीं मानेगा। ऐसी प्रतिज्ञा से चिपटे रहना तो निरा अंधविश्वास कहा जाएगा। और ऐसे अंधविश्वास में फँसे रहकर तुम इस देश से अपने देश में कुछ भी न ले जा सकोगे। तुम तो कहते हो कि तुमने माँस खाया है। तुम्हें वह अच्छा भी लगा है। जहाँ खाने की ज़रूरत नहीं थी वहाँ खाया, और जहाँ खाने की खास ज़रूरत है वहाँ छोड़ा। यह कैसा आश्चर्य हैं !"

मैं टस से मस नहीं हुआ।

ऐसी बहस रोज हुआ करती। मेंरे पास छत्तीस रोगों को मिटाने वाल एक नन्ना ही था। मित्र मुझे जितना समझाते, मेरी ढृढ़ता उतनी ही बढ़ती जाती। मैं रोज भगवान से रक्षा की याचना करता और मुझे रक्षा मिलती। मैं नहीं जानता था कि ईश्वर कौन है। पर रम्भा की दी हुई श्रद्धा अपना काम कर रही थी।

एक दिन मित्र ने मेंरे सामने बेन्थम का ग्रंथ पढ़ना शुरू किया। उपयोगितावाद वाला अध्याय पढ़ा। मैं घबराया। भाषा ऊँची थी। मैं मुश्किल से समझ पाता। उन्होंने उसका विवेचन किया। मैंने उत्तर दिया:

"मैं आपसे माफी चाहता हूँ। मैं ऐसी सूक्ष्म बातें समझ नहीं पाता। मैं स्वीकार करता हूँ कि माँस खाना चाहिए, पर मैं अपनी प्रतिज्ञा का बन्धन तोड़ नहीं सकता। उसके लिए मैं कोई दलील नहीं दे सकता। मुझे विश्वास है कि दलील में मैं आपको कभी जीत नहीं सकता। पर मूर्ख समझकर अथवा हठी समझकर इस मामले में मुझे छोड़ दीजिए। मैं आपके प्रेम को समझता हूँ। आपका आशय समझता हूँ| आपको मैं अपना परम हितैषी मानता हूँ। मैं यह भी देख रहा हूँ कि आपको दुःख होता है, इसीसे आप इतना आग्रह करते हैं। पर मैं लाचार हूँ। मेरी प्रतिज्ञा नहीं टूट सकती।"

मित्र देखते रहे। उन्होंने पुस्तक बन्द कर दी। "बस, अब मैं बहस नहीं करूँगा," कहकर वे चुप हो गये। मैं खुश हुआ। इसके बाद उन्होंने बहस करना छोड़ दिया।

पर मेंरे बारेमें उनकी चिन्ता दूर न हुई। वे बीड़ी पीते थे, शराब पीते थे। लेकिन मुझसे कभी नहीं कहा कि इनमें से एक का भी मैं सेवन करूँ। उलटे, वे मना ही करते रहे। उन्हें चिन्ता

यह थी कि माँसाहार के अभाव में मैं कमजोर हो जाऊँगा और इंग्लैंड में निश्चिन्ततापूर्वक रह न सकूँगा।

इस तरह एक महीने तक मैंने नौसिखुए के रूप में उम्मीदवारी की। मित्र का घर रिचमन्ड में था, इसलिए मैं हफ्ते में एक या दो बार ही लन्दन जा पाता था। डॉक्टर मेहता और भाई दलपतराम शुक्ल ने सोचा कि अब मुझे किसी कुटुम्ब में रहना चाहिए। भाई शुक्ल ने वेस्ट केन्सिंग्टन में एक एंग्लो-इण्डिनना घर खोज निकाला और मुझे वहाँ रखा | घर की मालकिन एक विधवा थी। उससे मैंने माँस-त्याग की बात कही। बुढ़िया ने मेरी सार-संभाल की जिम्मेदारी ली। मैं वहाँ रहने लगा।

वहाँ भी मुझे रोज भूखा रहना पड़ता था। मैंने घर से मिठाई वगैरा खाने की चीजें मँगाई थीं, पर वे अभी आयी नहीं थीं। सब कुछ फीका लगता था। बुढ़िया हमेंशा पूछती; पर वह करे क्या ? तिस पर मैं अभी तक शरमाता था। बुढ़िया के दो लड़कियाँ थीं। वे आग्रह करके थोड़ी अधिक रोटी देतीं। पर वे बेचारी क्या जानें कि उनकी समूची रोटी खाने पर ही मेरा पेट भर सकता था ?

लेकिन अब मैं होशियारी पकड़ने लगा था। अभी पढ़ाई शुरू नहीं हुई थी। मुश्किल से समाचारपत्र पढ़ने लगा था। यह भाई शुक्ल का प्रताप था। हिन्दुस्तान में मैंने समाचारपत्र कभी पढ़े नहीं थे। पर बराबर पढ़ते रहने के अभ्यास से उन्हें पढ़ने का शौक मैं पैदा कर सका था। 'डेली न्यूज़', 'डेली टेलीग्राफ' और 'पेलमेंल गजेट'-इन पत्रों को सरसरी निगाह से देख जाता था। पर शुरू-शुरू में तो इसमें मुश्किल से एक घंटा खर्च होता होगा।

मैंने घुमना शुरू किया। मुझे निरामिष अर्थात् अन्नाहार देने वाले भोजनगृह की खोज करनी थी। घर की मालकिन ने भी कहा था कि खास लन्दन में ऐसे गृह मौजूद हैं। मैं रोज दस-बारह मील चलता था। किसी मामूली से भोजन-गृह में जाकर पेटभर रोटी खा लेता था। पर उससे संतोष न होता था। इस तरह भटकता हुआ एक दिन मैं फैरिंग्डन स्ट्रीट पहुँचा और वहाँ 'वेजिटेरियन रेस्टरां' (अन्नाहारी भोजनालय) का नाम पढ़ा। मुझे वह आनन्द हुआ, जो बालक को मनचाही चीज मिलने से होता है। हर्ष-विभोर होकर अन्दर घुसने से पहले मैंने दरवाजे के पासकी शीशेवाली खिड़की में बिक्री की पुस्तकें देखीं। उनमें मुझे सॉल्ट की

'अन्नाहार की हिमायत' नामक पुस्तक दीखी। एक शिलिंग में मैंने वह खरीद ली और फिर भोजन करने बैठा। विलायत आने के बाद यहाँ पहली बार भरपेट भोजन मिला। ईश्वर ने मेरी भूख मिटायी।

सॉल्ट की पुस्तक पढ़ी। मुझ पर उसकी अच्छी छाप पड़ी। इस पुस्तक को पढ़ने के दिन से मैं स्वेच्छापूर्वक, अर्थात् विचार-पूर्वक, अन्नाहार में विश्वास करने लगा। माता के निकट की गयी प्रतिज्ञा अब मुझे विशेष आनन्द देने लगी। और जिस तरह अब तक मैं यह मानता था कि सब माँसाहारी बने तो अच्छा हो, और पहले केवल सत्य की रक्षा के लिए तथा बाद में प्रतिज्ञा-पालन के लिए ही मैं माँस-त्याग करता था और भविष्य में किसी दिन स्वयं आजादी से, प्रकट रूप में, माँस खाकर दूसरों को खाने वालों के दल में सम्मिलित करने की उमंग रखता था, इसी तरह अब स्वयं अन्नाहारी रहकर दूसरों को वैसा बनाने का लोभ मुझमें जागा।

१५. 'सभ्य' पोशाक में

अन्नाहार पर मेरी श्रद्धा दिन पर दिन बढ़ती गयी। सॉल्ट की पुस्तक ने आहार के विषय में अधिक पुस्तकें पढ़ने की मेरी जिज्ञासा को तीव्र बना दिया। जितनी पुस्तकें मुझे मिलीं, मैंने खरीद लीं और पढ़ डालीं। उनमें हावर्ड विलियम्स की 'आहार-नीति' नामक पुस्तक में अलग-अलग युगों के ज्ञानियों, अवतारों और पैगम्बरों के आहार का और आहार-विषयक उनके विचारों का वर्णन किया गया है। पाइथागोरस, ईसामसीह इत्यादि को उसने केवल अन्नाहारी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। डॉक्टर मिसेज एना किंग्सफर्ड की 'उत्तम आहार की रीति' नामक पुस्तक भी आकर्षक थी। साथ ही, डॉ. एलिन्सन के आरोग्यविषयक लेखोंने भी इसमें अच्छी मदद की। वे दवा के बदले केवल आहार के हेरफर से ही रोगी को नीरोग करने की पद्धति का समर्थन करते थे। डॉ. एलिन्सन स्वयं अन्नाहारी थे और बीमारों केवल अन्नाहार की ही सलाह देते थे। इन सब पुस्तकों के अध्ययन का परिणाम यह हुआ कि मेरे जीवन में आहारविषयक प्रयोगों ने महत्त्व का स्थान प्राप्त कर लिया। आरम्भ में इन प्रयोगों में आरोग्य की दृष्टि मुख्य थी। बाद में धार्मिक दृष्टि सर्वोपरी बनी।

इस बीच मेरे उन मित्र को तो मेरी चिन्ता बनी ही रही। उन्होंने प्रेमवश यह माना कि अगर मैं माँस नहीं खाऊँगा, तो कमजोर हो जाऊँगा। यही नहीं, बल्कि मैं बेवकूफ बना रहूँगा, क्योंकि अंग्रेजों के समाज में घुलमिल ही न सकूँगा। वे जानते थे कि मैं अन्नाहार विषयक पुस्तकें पढ़ता रहता हूँ। उन्हें डर लगा था कि इन पुस्तकों के पढ़ने से मैं भ्रमित-चित्त बन जाऊँगा, प्रयोगों में मेरा जीवन व्यर्थ चला जाएगा, मुझे जो करना है उसे मैं भूल जाऊँगा और 'पोथी-पंडित' बन बैठूँगा। इस विचार से उन्होंने मुझे सुधारने का एक आखिरी प्रयत्न किया। उन्होंने मुझे नाटक दिखाने के लिए न्योता। वहाँ जाने से पहले मुझे उनके साथ हॉबर्न भोजन-गृह में भोजन करना था। मेरी दृष्टि में यह गृह एक महल था। विक्टोरिया होटल छोड़ने के बाद ऐसे गृह में जाने का मेरा यह पहला अनुभव था। विक्टोरिया होटल का अनुभव तो निकम्मा था; क्योंकि ऐसा मानना होगा कि वहाँ मैं बेहोशी की हालत में था। सैकड़ों के बीच हम दो मित्र एक मेंज के सामने बैठे। मित्र ने पहली ‘प्लेट मँगाई। वह

'सूप' की थी। मैं परेशान हुआ। मित्र से क्या पूछता? मैंने तो परोसने वाले को अपने पास बुलाया।

मित्र समझ गये। चिढ़कर मुझसे पूछा: "क्या हैं?"

मैंने धीरे से संकोचपूर्वक कहा: "मैं जानना चाहता हूँ कि इसमें माँस है या नहीं?"

"ऐसे गृह में यह जंगलीपन नहीं चल सकता। अगर तुम्हें अब भी यही किच-किच करनी हो तो तुम बाहर जाकर किसी छोटे से भोजन-गृह में खा लो और बाहर ही मेरी राह देखो।"

मैं इस प्रस्ताव से खुश होकर उठा और दूसरे भोजनलय की खोज में निकला। पास ही एक अन्नाहार वाला भोजन-गृह था। पर वह तो बन्द हो चुका था। मुझे समझ न पड़ा कि अब क्या करना चाहिए। मैं भूखा रहा। हम नाटक देखने गये। मित्रने उक्त घटना के बारेमें एक शब्द मुँह से न निकाला। मेरे पास तो कहने को था ही क्या?

लेकिन यह हमारे बीच का अन्तिम मित्र-युद्ध था। न हमारा सम्बन्ध टूटा, न उसमें कटुता आयी। उनके सारे प्रयत्नों के मूल में रहें हुए प्रेम को मैं पहचान सका था। इस कारण विचार और आचार की भिन्नता रहते हुए भी उनके प्रति मेरा आदर बढ़ गया।

पर मैंने सोचा कि मुझे उनका डर दूर करना चाहिए। मैंने निश्चय किया कि मैं जंगली नहीं रहूँगा। सभ्य के लक्षण ग्रहण करूँगा और दुसरे प्रकार से समाज में समरस होने योग्य बनकर अन्नाहार की अपनी विचित्रता को छिपा लूँगा।

मैंने 'सभ्यता' सीखने के लिए अपनी सामर्थ्य से परेका और छिछला रास्ता पकड़ा।

विलायती होने पर भी बम्बई के कटे-सिले कपड़े अच्छे अंग्रेज समाज में शोभा नहीं देंगे, इस विचार से मैंने 'आर्मी और नेवी' के स्टोर में कपड़े सिलवाये। उन्नीस शिलिंग की (उस जमाने के लिहाज से तो यह कीमत बहुत ही कही जाएगी) 'चिमनी' टोपी सिर पर पहनी। इतने से संतोष न हुआ तो बॉण्ड स्ट्रीट में, जहाँ शौकीन लोगों के कपड़े सिलते थे, दस पौण्ड पर बत्ती रखकर शाम की पोशाक सिलवायी। भोले और बादशाही दिल वाले बड़े भाई से मैंने दोनों जेबों में लटका ने लायक सोने की एक बढ़िया चेन मँगवायी और वह मिल भी गयी। बँधी-बँधायी टाई पहनना शिष्टाचार में शुमार न था, इसलिए टाई बाँधने की कला हस्तगत

की । देश में आईना हजामत के दिन ही देखने को मिलता था, पर यहाँ तो बड़े आइने के सामने खड़े रहकर ठीक से टाई बाँधने में और बालों में पट्टी डालकर सीधी माँग निकालने में रोज लगभग दस मिनिट तो बरबाद होते ही थे । बाल मुलायम नहीं थे, इसलिए उन्हें अच्छी तरह मुड़े हुए रखने के लिए ब्रश (झाड़ू ही समझिए!) के साथ रोज लड़ाई चलती थी । और टोपी पहनते तथा निकालते समय हाथ तो मानो माँग को सहेजने के लिए सिर पर पहुँच ही जाता था और बीच-बीच में, समाज में बैठे-बैठे, माँग पर हाथ फिराकर बालों को व्यवस्थित रखने की एक और सभ्य क्रिया बराबर चलती ही रहती थी ।

पर इतनी टीमटाम ही काफी न थी । अकेली सभ्य पोशाक से सभ्य थोड़े ही बना जा सकता था? मैंने सभ्यता के दूसरे कई बाहरी गुण भी जान लिये थे और मैं उन्हें सीखना चाहता था । सभ्य पुरूष को नाचना जानना चाहिए । उसे फ्रेंच अच्छी तरह जान लेनी चाहिए; क्योंकि फ्रेंच इंग्लैंड के पड़ोसी फ्रांस की भाषा थी, और सारे यूरोप की राष्ट्रभाषा भी थी । और, मुझे यूरोप में घुमने की इच्छा थी । इसके अलावा, सभ्य पुरुष को लच्छेदार भाषण करना भी आना चाहिए । मैंने नृत्य सिखने का निश्चय किया । एक कक्षा में भरती हुआ । एक सत्र के करीब तीन पौण्ड जमा किये । कोई तीन हफ्तों में करीब छह सबक सीखे होंगे । पैर ठीक से तालबद्ध पड़ते न थे । पियानो बजता था, पर वह क्या कह रहा है, कुछ समझमें न आता था । 'एक, दो, तीन' चलता, पर उसके बीच का अन्तर तो वह बाजा ही बताता था, जो मेरे लिए अगम्य था । तो अब क्या किया जाए? अब तो बाबाजी की बिल्लीवाला किस्सा हुआ । चुहों को भगाने के लिए बिल्ली, बिल्ली के लिए गाय, यों बाबाजी का परिवार बढ़ा; उसी तरह मेरे लोभ का परिवार भी बढ़ा । वायोलिन बजाना सीख लूँ, तो सुर और ताल का खयाल हो जाए । तीन पौण्ड वायोलिन खरीदने में गँवाये और कुछ उसकी शिक्षा के लिए भी दिये । भाषण करना सीखने के लिए एक तीसरे शिक्षक का घर खोजा । उन्हें भी एक गिन्नी तो भेंट की ही । बेल की 'स्टैण्डर्ड एलोक्युशनिस्ट' पुस्तक खरीदी । पिट का एक भाषण शुरू किया ।

इन बेल साहब ने मेरे कान ने घंटी (बेल) बजायी । मैं जागा ।

मुझे कौन इंग्लैण्ड में जीवन बिताना है? लच्छेदार भाषण करना सीखकर मैं क्या करूँगा? नाच-नाचकर मैं सभ्य कैसे बनूँगा? वायोलिन तो देश में भी सीखा जा सकता है। मैं तो विद्यार्थी हूँ। मुझे विद्या-धन बढ़ाना चाहिए। मुझे अपने पेशे से सम्बन्ध रखने वाली तैयारी करनी चाहिए। मैं अपने सदाचार से सभ्य समझा जाऊँ तो ठीक है, नहीं तो मुझे यह लोभ छोड़ना चाहिए।

इन विचारों की धुन में मैंने उपर्युक्त आशय के उद्‌गारों वाला पत्र भाषण-शिक्षक को भेज दिया। उनसे मैंने दो या तीन पाठ पढ़े थे। नृत्य-शिक्षिका को भी ऐसा ही पत्र लिखा। वायोलिन शिक्षिका के घर वायोलिन लेकर पहुँचा। उन्हें जिस दाम भी वह बिके, बेच डालने की इजाजत दे दी। उनके साथ कुछ मित्रता का-सा सम्बन्ध हो गया था। इस कारण मैंने उनसे अपने मोह की चर्चा की। नाच आदि के जंजाल में से निकल जाने की मेरी बात उन्होंने पसन्द की।

सभ्य बनने की मेरी यह सनक लगभग तीन महीने तक चली होगी। पोशाक की टीमटाम तो बरसों चली। पर अब मैं विद्यार्थी बना।

१६. फेरफार

कोई यह न माने कि नाच आदि के मेरे प्रयोग उस समय की मेरी स्वच्छन्दता के सूचक हैं। पाठकों ने देखा होगा कि उनमें कुछ समझदारी थी। मोह के इस समय में भी मैं एक हद तक सावधान था। पाई-पाई का हिसाब रखता था। खर्च का अंदाज रखता था। मैंने हर महीने पन्द्रह पौण्ड से अधिक खर्च न करने का निश्चिय किया था। मोटर में आने-जाने का अथवा डाक का खर्च भी हमेंशा लिखता था, और सोने से पहले हमेंशा अपनी रोकड़ मिला लेता था। यह आदत अन्त तक बनी रही। और मैं जानता हूँ कि इससे सार्वजनिक जीवन में मेरे हाथों लाखों रूपयों का जो उलट-फेर हुआ है, उसमें मैं उचित किफायतशारी से काम ले सका हूँ। और आगे मेरी देखरेख में जितने आन्दोलन चले, उनमें मैंने कभी कर्ज नहीं किया, बल्कि हरएक में कुछ न कुछ बचत ही रही। यदि हरएक नवयुवक उसे मिलने वाले थोड़े रुपयों का भी हिसाब खबरदारी के साथ रखेगा, तो उसका लाभ वह भी उसी तरह अनुभव करेगा, जिस तरह भविष्य में मैंने और जनताने किया।

अपनी रहन-सहन पर मेरा कुछ अंकुश था, इस कारण मैं देख सका कि मुझे कितना खर्च करना चाहिए। अब मैंने खर्च आधा कर डालने का निश्चय किया। हिसाब जाँचने से पता चला कि गाडी-भाड़े का मेरा खर्च काफी होता था। फिर कुटुम्ब में रहने से हर हफ्ते कुछ खर्च तो होता ही था। किसी दिन कुटुम्ब के लोगों को बाहर भोजन के लिए ले जाने का शिष्टाचार बरतना ज़रूरी था। कभी उनके साथ दावत में जाना पड़ता, तो गाड़ी-भाड़े का खर्च लग ही जाता था। कोई लड़की साथ हो, तो उसका खर्च चुकाना ज़रूरी हो जाता था। जब बाहर जाता, तो खाने के लिए घर न पहुँच पाता। वहाँ तो पैसे पहले से ही चुकाये रहते और बाहर खाने के पैसे और चुकाने पड़ते। मैंने देखा कि इस तरह के खर्चों से बचा जा सकता है। महज शरम की वजह से होने वाले खर्चों से बचने की बात भी समझमें आयी।

अब तक मैं कुटुम्बों में रहता था, उसके बदले अपना ही कमरा लेकर रहने का मैंने निश्चय किया, और यह भी तय किया कि काम के अनुसार औऱ अनुभव प्राप्त करने के लिए अलग-अलग मुहल्लों में घर बदलता रहूँगा। घर मैंने ऐसी जगह पसन्द किये कि जहाँ से काम की

जगह पर आधे घंटे में पैदल पहुँचा जा सके और गाड़ी-भाड़ा बचे। इससे पहले जहाँ जाना होता वहाँ का गाड़ी-भाड़ा हमेंशा चुकाना पड़ता और घूमने के लिए अलग से समय निकालना पड़ता था। अब काम पर जाते हुए ही घूमने की व्यवस्था जम गयी, और इस व्यवस्था के कारण मैं रोज आठ-दस मील तक आसानी से घूम लेता था। खासकर इस एक आदत के कारण मैं विलायत में शायद ही कभी बीमार पड़ा होऊँगा। मेरा शरीर काफी कस गया। कुटुम्ब में रहना छोड़कर मैंने दो कमरे किराये पर लिये। एक सोने के लिए और दूसरा बैठक के रूपमें। यह फेरफार की दूसरी मंजिल कही जा सकती है। तीसरा फेरफार अभी होना शेष था।

इस तरह आधा खर्च बचा। लेकिन समय का क्या हो ? मैं जानता था कि बारिस्टरी की परीक्षा के लिए बहुत पढ़ना ज़रूरी नहीं हैं; इसलिए मुझे बेफिकरी थी। पर मेरी कच्ची अंग्रेजी मुझे दुःख देती थी। लेली साहब के शब्द-'तुम बी.ए. हो जाओ, फिर आना'-मुझे चुभते थे। मैंने सोचा मुझे बारिस्टर बनने के अलावा कुछ और भी पढ़ना चाहिए। ऑक्सफर्ड केम्ब्रिज की पढ़ाई का पता लगाया। कई मित्रों से मिला। मैंने देखा कि वहाँ जाने से खर्च बहुत बढ़ जाएगा और पढ़ाई लम्बी चलेगी। मैं तीन साल से अधिक रह नहीं सकता था। किसी मित्र ने कहा, “अगर तुम्हें कोई कठिन परीक्षा ही देनी हो, तो तुम लन्दन की मैंट्रिक्युलेशन पास कर लो। उसमें मेंहनत काफी करनी पड़ेगी और साधारण ज्ञान बढ़ेगा। खर्च बिलकुल नहीं बढ़ेगा।” मुझे यह सुझाव अच्छा लगा। पर परीक्षा के विषय देखकर मैं चौंका। लेटिन और दूसरी एक भाषा अनिवार्य थी। लेटिन कैसे सीखी जाय ? पर मित्रने सुझाया: “वकील के लिए लेटिन बहुत उपयोगी है। लेटिन जानने वाले के लिए कानूनी किताबें समझना आसान हो जाता है, और ‘रोमन लॉ की परीक्षा में एक प्रश्नपत्र तो केवल लेटिन भाषा में ही होता है। इसके सिवाय, लेटिन जानने से अंग्रेजी भाषा पर प्रभुत्व बढ़ता है।” इन सब दलीलों का मुझ पर असर हुआ। मैंने सोचा, मुश्किल हो चाहे न हो, पर लेटिन तो सीख ही लेनी है। फ्रेंच की शुरू की हुई पढ़ाई को पूरा करना है। इसलिए निश्चय किया कि दूसरी भाषा फ्रेंच हो। मैंट्रिक्युलेशन का एक प्राईव्हेट वर्ग चलता था। उसमें भरती हो गया | हर छठे महीने परीक्षा होती थी। मेंरे पास मुश्किल से पाँच महीने का समय था। यह काम मेंरे बूते के बाहर था। परिणाम यह हुआ कि सभ्य बनने की जगह मैं अत्यन्त उद्यमी

विद्यार्थी बन गया। समय-पत्रक बनाया। एक-एक मिनट का उपयोग किया। पर मेरी बुद्धि या समरण-शक्ति ऐसी नहीं थी कि दूसरे विषयों के अतिरिक्त लेटिन और फ्रेंच की तैयारी कर सकूँ। परीक्षा में बैठा। लेटिन में फेल हो गया | दुःख तो हुआ, पर हिम्मत नहीं हारा। लेटिन में रूचि पैदा हो गयी थी। मैंने सोचा कि दूसरी बार परीक्षा में बैठने से फ्रेंच अधिक अच्छी हो जाएगी और विज्ञान में नया विषय ले लूँगा। प्रयोगों के अभाव में रसायनशास्त्र मुझे रूचता ही न था। यद्यपि अब देखता हूँ कि उसमें खूब रस आना चाहिए था। देश में तो यह विषय सीखा ही था, इसलिए लन्दन की मैंट्रिक के लिए भी पहली बार इसी को पसन्द किया था। इस बार प्रकाश और उष्णता (Light और Heat) का विषय लिया। यह विषय आसान माना जाता था। मुझे भी आसान प्रतित हुआ।

पुनः परीक्षा देने की तैयारी के साथ ही रहन-सहन में अधिक सादगी लाने का प्रयत्न शुरू किया। मैंने अनुभव किया कि अभी मेंरे कुटुम्ब की गरीबी के अनुरूप मेरा जीवन सादा नहीं बना है। भाई की तंगी के और उनकी उदारता के विचारों ने मुझे व्याकुल बना दिया। जो लोग हर महीने १५ पौण्ड या ८ पौण्ड खर्च करते थे, उन्हें तो छात्रवृत्तियाँ मिलती थीं। मैं देखता था कि मुझसे भी अधिक सादगी से रहने वाले लोग हैं। मैं ऐसे गरीब विद्यार्थियों के संपर्क में ठीक-ठीक आया था। एक विद्यार्थी लन्दन की गरीब बस्ती में हफ्ते के दो शिलिंग देकर एक कोठरी में रहता था, और लोकार्ट की कोको की सस्ती दुकान में दो पेनी का कोको और रोटी खाकर गुजारा करता था। उससे स्पर्धा करने की तो मेरी शक्ति नहीं थी, पर मैंने अनुभव किया कि मैं अवश्य ही दो के बदले एक कमरे में रह सकता हूँ और आधी रसोई अपने हाथ से भी बना सकता हूँ। इस प्रकार मैं हर पर महीने चार या पाँच पौण्ड में अपना निर्वाह कर सकता हूँ। सादी रहन-सहन पर पुस्तकें भी पढ़ चुका था। दो कमरे छोड़ दिये और हफ्ते के आठ शिलिंग पर एक कमरा किराये से लिया। एक अंगीठी खरीदी और सुबह का भोजन हाथ से बनाना शुरू किया। इसमें मुश्किल से बीस मिनट खर्च होते थे। ओटमील की लपसी बनाने और कोको के लिए पानी उबालने में कितना समय लगता ? दोपहर का भोजन बाहर कर लेता और शाम को फिर कोको बनाकर रोटी के साथ खा लेता। इस तरह मैं एक से सवा शिलिंग के अन्दर रोज के अपने भोजन की व्यवस्था करना सीख

गया। यह मेरा अधिक से अधिक पढ़ाई का समय था। जीवन सादा बन जाने से समय अधिक बचा। दूसरी बार परीक्षा में बैठा और पास हुआ।

पर पाठक यह न मानें कि सादगी से मेरा जीवन नीरस बना होगा। उलटे, इन फेरफारों के कारण मेरी आन्तरिक और बाह्य स्थिति के बीच एकता पैदा हूई, कौटुम्बिक स्थिति के साथ मेरी रहन-सहन का मेंल बैठा, जीवन अधिक सारमय बना और मेंरे आत्मानन्द का पार न रहा।

१७. खुराक के प्रयोग

जैसे-जैसे मैं जीवन की गहराई में उतरता गया, वैसे-वैसे मुझे बाहर और भीतर के आचरण में फेरफार करने की ज़रूरत मालूम होती गयी। जिस गति से रहन-सहन और खर्च में फेरफार हुए, उसी गति से अथवा उससे भी अधिक वेग से मैंने खुराक में फेरफार करना शुरू किया। मैंने देखा कि अन्नाहार विषयक अंग्रेजी पुस्तकों में लेखकों ने बहुत सूक्ष्मता से विचार किया था। उन्होंने धार्मिक, वैज्ञानिक, व्यावहारिक और वैद्यक दृष्टि से अन्नाहार की छानबीन की थी। नैतिक दृष्टि से उन्होंने यह सोचा था कि मनुष्य को पशु-पक्षियों पर जो प्रभुत्व प्राप्त हुआ है, वह उन्हें मारकर खाने के लिए नहीं, बल्कि उनकी रक्षा के लिए हैं; अथवा जिस प्रकार मनुष्य एक-दूसरे का उपयोग करते हैं, पर एक-दूसरे को खाते नहीं, उसी प्रकार पशु-पक्षी भी उपयोग के लिए हैं, खाने के लिए नहीं। और, उन्होंने देखा कि खाना भोग के लिए नहीं, बल्कि जीने के लिए ही है। इस कारण कईयोंने आहार में माँस का ही नहीं बल्कि अंडों और दूध का भी त्याग सुझाया और किया। विज्ञान की दृष्टि से और मनुष्य की शरीर-रचना को देखकर कई लोग इस परिणाम पर पहुँचे कि मनुष्य को भोजन पकाने की आवश्यकता ही नहीं हैं; वह वनपक्व (झाड़ पर कुदरती तौर पर पके हुए फल) फल ही खाने के लिए पैदा किया गया है। दूध उसे केवल माता का ही पीना चाहिए। दाँत निकलने के बाद उसको चबा सकने योग्य खुराक ही लेनी चाहिए। वैद्यक दृष्टि से उन्होंने मिर्च-मसालों का त्याग सुझाया और व्यावहारिक अथवा आर्थिक दृष्टि से उन्होंने बताया कि कम से कम खर्चवाली खुराक अन्नाहार ही हो सकती है। मुझ पर इन चारों दृष्टियों का प्रभाव पड़ा, और अन्नाहार देनेवाले भोजन-गृह में मैं चारो दृष्टि वाले व्यक्तियों से मिलने लगा। विलायत में इनका एक मण्डल था और एक साप्ताहिक भी निकलता था। मैं साप्ताहिक का ग्राहक बना और मण्डल का सदस्य। कुछ ही समय में मुझे उसकी कमेंटी में ले लिया गया | यहाँ मेरा परिचय ऐसे लोगों से हुआ, जो अन्नाहारियों में स्तम्भरूप माने जाते थे। मैं प्रयोगों में व्यस्त हो गया।

घर से मिठाई-मसाले वगैरा जो मँगाये थे, सो लेने बन्द कर दिये, और मन ने दूसरा मोड़ पकड़ा। इस कारण मसालों का प्रेम कम पड़ गया, और जो सब्जी रिचमंड में मसाले के

अभाव में बेस्वाद मालूम होती थी, वह अब सिर्फ उबाली हूई स्वादिष्ट लगने लगी। ऐसे अनेक अनुभवों से मैंने सीखा कि स्वाद का सच्चा स्थान जीभ नहीं, पर मन है।

आर्थिक दृष्टि तो मेंरे सामने थी ही। उन दिनों एक पंथ ऐसा था, जो चाय-कॉफी को हानिकारक मानता था और कोको का समर्थन करता था। मैं यह समझ चुका था कि केवल उन्हीं वस्तुओं का सेवन करना योग्य है, जो शरीर-व्यापार के लिए आवश्यक हैं। इस कारण मुख्यतः मैंने चाय और कॉफी का त्याग किया और कोको को अपनाया।

भोजन-गृह के दो विभाग थे। एक में जितने पदार्थ खाओ उतने पैसे देने होते थे। इनमें एक बार में शिलिंग-दो शिलिंग को भी खर्च हो जाता था। इस विभाग में अच्छी स्थिति के लोग जाते थे। दूसरे विभाग में छह पेनी में तीन पदार्थ और डबल-रोटी का एक टुकड़ा मिलता था। जिन दिनों मैंने खूब किफायतशारी शुरू की थी, उन दिनों मैं अकसर छह पेनीवाले विभाग में जाता था।

ऊपर के प्रयोगों के साथ उप-प्रयोग तो बहुत हुए। कभी स्टार्चवाला आहार छोड़ा, कभी सिर्फ डबल-रोटी और फल पर ही रहा, और कभी पनीर, दूध और अंडो का ही सेवन किया।

यह आखिरी प्रयोग उल्लेखनीय है। यह पन्द्रह दिन भी नहीं चला। स्टार्च-रहित आहार का समर्थन करने वालों ने अंडो की खूब स्तुति की थी और यह सिद्ध किया था कि अंडे माँस नहीं हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि अंडे खाने में किसी जीवित प्राणी को दुःख नहीं पहुँचता। इस दलील के भुलावे में आकर मैंने माताजी के सम्मुख की हुई प्रतिज्ञा के रहते भी अंडे खाये, पर मेरा वह मोह क्षणिक था। प्रतिज्ञा का नया अर्थ करने का मुझे कोई अधिकार न था। अर्थ तो प्रतिज्ञा कराने वाले का ही माना जा सकता था। माँस न खाने की प्रतिज्ञा कराने वाली माता को अंडो का तो खयाल ही नहीं हो सकता था, इसे मैं जानता था। इस कारण प्रतिज्ञा के रहस्य का बोध होते ही मैंने अंडे छोड़े और प्रयोग भी छोड़ा।

यह एक सूक्ष्म रहस्य है और ध्यान में रखने योग्य है। विलायत में मैंने माँस की तीन व्याख्यायें पढ़ी थी। एक के अनुसार माँस का अर्थ पशुपक्षी का माँस था। अतएव ये व्याख्याकार उसका त्याग करते थे, पर मछली खाते थे; अंडे तो खाते ही थे। दूसरी व्याख्या के अनुसार साधारण मनुष्य जिसे जीव के रूप में जानता है, उसका त्याग किया जाता था।

इसके अनुसार मछली त्याज्य थी, पर अंडे ग्राह्य थे। तीसरी व्याख्या में साधारणतया जितने भी जीव माने जाते हैं, उनके और उनसे उत्पन्न होने वाले पदार्थों के त्याग की बात थी। इस व्याख्या के अनुसार अंड़ो का और दूध का भी त्याग बन्धनकारक था। यदि मैं इनमें से पहली व्याख्या को मानता, तो मछली भी खा सकता था। पर मैं समझ गया था कि मेरे लिए तो माताजी की व्याख्या ही बन्धनकारक है। अतएव यदि मुझे उनके सम्मुख ली गयी प्रतिज्ञा का पालन करना हो, तो अंडे खाने ही न चाहिए। इस कारण मैंने अंड़ो का त्याग किया। पर मेरे लिए यह बहुत कठिन हो गया, क्योंकि बारीकी से पूछताछ करने पर पता चला कि अन्नाहार वाले भोजन-गृह में भी अंडो वाली बहुत चीजें बनती थीं। तात्पर्य यह कि वहाँ भी भाग्यवश मुझे तब कर परोस ने वालों से पूछताछ करनी पड़ी थी, जब तक कि मैं अच्छा जानकार न हो गया; क्योंकि कई तरह के 'पुडिंग' में और कई तरह के 'केक' में तो अंडे होते ही थे। इस कारण एक तरह से तो मैं जंजाल से छूटा, क्योंकि थोड़ी और बिलकुल सादी चीजें ही ले सकता था। दूसरी तरफ थोड़ा आघात भी लगा, क्योंकि जीभ से लगी हुई कई चीजों का मुझे त्याग करना पड़ा था। पर वह आघात क्षणिक था। प्रतिज्ञा-पालन का स्वच्छ, सूक्ष्म और स्थायी स्वाद उस क्षणिक स्वाद की तुलना में मुझे अधिक प्रिय लगा।

पर सच्ची परीक्षा तो आगे होने वाली थी, और वह एक दूसरे व्रत के निमित्त से। जिसे राम रखे, उसे कौन चखे ?

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले प्रतिज्ञा के अर्थ के विषय में कुछ कहना ज़रूरी है। मेरी प्रतिज्ञा माता के सम्मुख किया हुआ एक करार था। दुनिया में बहुत से झगडे केवल करार के अर्थ के कारण उत्पन्न होते हैं। इकरारनामा कितनी ही स्पष्ट भाषा में क्यों न लिखा जाए, तो भी भाषाशास्त्री 'राई का पर्वत' कर देंगे। इसमें सभ्य-असभ्य का भेद नहीं रहता। स्वार्थ सबको अन्धा बना देता है। राजा से लेकर रंक तक सभी लोग करारों के खुद को अच्छे लगने वाले अर्थ करके दुनिया को, खुद को और भगवान को धोखा देते हैं। इस प्रकार पक्षकार लोग जिस शब्द अथवा वाक्य का अपने अनुकूल पड़ने वाला अर्थ करते हैं, न्यायशास्त्र में उसे द्वि-अर्थी मध्यपद कहा गया है। सुवर्ण न्याय तो यह है कि विपक्ष ने हमारी बात का जो अर्थ माना हो, वही सच माना जाये; हमारे मन में जो हो वह खोटा अथवा अधूरा है। और ऐसा ही दूसरा सुवर्ण न्याय यह है कि जहाँ दो अर्थ हो सकते हों वहाँ दुर्बल

पक्ष जो अर्थ करे, वही सच माना जाना चाहिए। इन दो सुवर्ण मार्गों का त्याग होने से ही अकसर झगड़े होते हैं और अधर्म चलता है। और इस अन्याय की जड़ असत्य है। जिसे सत्य के ही मार्ग पर जाना है, उसे सुवर्ण मार्ग सहज भाव से मिल जाता है। उसे शास्त्र नहीं खोजने पड़ते। माता ने 'माँस' शब्द का जो अर्थ माना और जिसे मैं उस समय समझा, वही मेरे लिए सच्चा था। वह अर्थ नहीं जिसे मैं अपने अधिक अनुभव से या अपनी विद्वत्ता के मद में सीखा-समझा था।

इस समय तक के मेरे प्रयोग आर्थिक और आरोग्य की दृष्टि से होते थे। विलायत में उन्होंने धार्मिक स्वरूप ग्रहण नहीं किया था। धार्मिक दृष्टि से मेरे कठिन प्रयोग दक्षिण अफ्रीका में हुए, जिन की छान-बीन आगे करनी होगी। पर कहा जा सकता है कि उनका बीज विलायत में बोया गया था।

जो आदमी नया धर्म स्वीकार करता है, उसमें उस धर्म के प्रचार का जोश उस धर्म में जन्मे हुए लोगों की अपेक्षा अधिक पाया जाता है। विलायत में तो अन्नाहार एक नया धर्म ही था औऱ मेरे लिए भी वह वैसा ही माना जाएगा, क्योंकि बुद्धि से तो मैं माँसाहार का हिमायती बनने के बाद ही विलायत गया था। अन्नाहार की नीति को ज्ञानपूर्वक तो मैंने विलायत में ही अपनाया था। अतएव मेरी स्थिति नये धर्म में प्रवेश करने-जैसी बन गयी थी, और मुझमें नवधर्मी का जोश आ गया था। इस कारण उस समय मैं जिस बस्ती में रहता था, उसमें मैंने अन्नाहारी मण्डल की स्थापना करने का निश्चय किया। इस बस्ती का नाम बेजवॉटर था। इसमें सर एडविन आर्नल्ड रहते थे। मैंने उन्हें उपसभापति बनने को निमंत्रित किया। वे बने। डॉ. ओल्डफील्ड सभापति बने। मैं मंत्री बना। यह संस्था कुछ समय तक तो अच्छी चली; पर कुछ महीनों के बाद इसका अन्त हो गया, क्योंकि मैंने अमुक मुद्दत के बाद अपने रिवाज के अनुसार वह बस्ती छोड़ दी। पर इस छोटे और अल्प अवधि के अनुभव से मुझे संस्थाओं का निर्माण करने और उन्हें चलाने का कुछ अनुभव प्राप्त हुआ।

१८. लज्जाशीलता-मेरी ढाल

अन्नाहारी मण्डल की कार्यकारिणी में मुझे चुन तो लिया गया था और उसमें मैं हर बार हाजिर भी रहता था, पर बोलने के लिए जीभ खुलती ही न थी। डॉ. औल्डफील्ड मुझसे कहते, "मेरे साथ तो तुम काफी बाक कर लेते हो, पर समिति की बैठक में कभी जीभ ही नहीं खोलते। तुम्हें नर-मक्खी की उपमा दी जानी चाहिए।" मैं इस विनोद को समझ गया। मक्खियाँ निरन्तर उद्यमी रहती हैं, पर नर-मक्खी बराबर खाती-पीती रहती है और काम बिलकुल नहीं करती। यह बड़ी अजीब बात थी कि जब दूसरे सब समिति में अपनी-अपनी सम्मति प्रकट करते, तब मैं गूंगा बनकर ही बैठा रहता था। मुझे बोलने की इच्छा न होती हो सो बात नहीं, पर बोलता क्या ? मुझे सब सदस्य अपने से अधिक जानकार मालूम होते थे। फिर किसी विषय में बोलने की ज़रूरत मालूम होती और मैं कुछ कहने की हिम्मत करने जाता, इतने में दूसरा विषय छिड़ जाता।

यह चीज बहुत समय तक चली। इस बीच समिति में एक गंभीर विषय उपस्थित हुआ। उसमें भाग न लेना मुझे अन्याय होने देने जैसा लगा। गूँगे की तरह मत देकर शान्त रहने में नामर्दगी मालूम हुई। 'टेम्स आयर्न वर्क्स' के मालिक मि. हिल्स मण्डल के सभापति थे। वे निति के कट्टर हिमायती थे | कहा जा सकता है कि मण्डल उनके पैसे से चल रहा था। समिति के कई सदस्य तो उनके ही आसरे निभ रहे थे। समिति में डॉ. एलिन्सन भी थे। उन दिनों सन्तानोत्पत्ति पर कृत्रिम उपायों के अंकुश रखने का आन्दोलन चल रहा था। डॉ. एलिन्सन उन उपायों के समर्थक थे और मजदूरों में उनका प्रचार करते थे। मि. हिल्स को ये उपाय नीति-नाशक प्रतीत हुए। उनके विचार में अन्नाहारी मण्डल केवल आहार के ही सुधार के लिए नहीं था, बल्कि वह एक नीति-वर्धक मण्डल भी था। इसलिए उनकी राय थी कि डॉ. एलिन्सन के समान समाज-घातक विचार रखने वाले लोग उस मण्डल में नहीं रहने चाहिए। इसलिए डॉ. एलिन्सन को समिति से हटाने का एक प्रस्ताव आया। मैं इस चर्चा में दिलचस्पी रखता था। डॉ. एलिन्सन के कृत्रिम उपायों-सम्बन्धी विचार मुझे भयंकर मालूम हुए थे, उनके खिलाफ मि. हिल्स के विरोध को मैं शुद्ध नीति मानता था। मेरे मन में उनके

प्रति बड़ा आदर था । उनकी उदारता के प्रति भी आदरभाव था । पर अन्नाहार-संवर्धक मण्डल में से शुद्ध नीति के नियमों को ने मानने वाले का, उसकी अश्रद्धा के कारण, बहिस्कार किया जाए, इसमें मुझे साफ अन्याय दिखायी दिया । मेरा खयाल था कि अन्नाहारी मण्डल के स्त्री-पुरूष-सम्बन्ध-विषयक मि. हिल्स के विचार उनके अपने विचार थे । मण्डल के सिद्धान्त के साथ उनका कोई सम्बन्ध न था । मण्डल का उद्देश्य केवल अन्नाहार का प्रचार करना था; दूसरी नीति का नहीं । इसलिए मेरी यह राय थी कि दूसरी अनेक नीतियों का अनादर करने वाले के लिए भी अन्नाहारी मण्डल में स्थान हो सकता है ।

समिति में मेंरे विचार के दूसरे सदस्य भी थे । पर मुझे अपने विचार व्यक्त करने का जोश चढ़ा था । उन्हें कैसे व्यक्त किया जाए, यह एक महान प्रश्न बन गया । मुझमें बोलने की हिम्मत नहीं थी, इसलिए मैंने अपने विचार लिखकर सभापति के सम्मुख रखने का निश्चय किया । मैं अपना लेख ले गया। जैसा कि मुझे याद है, मैं उसे पढ़ जाने की हिम्मत भी नहीं कर सका । सभापतिजी ने उसे दूसरे सदस्य से पढ़वाया । डॉ. एलिन्सन का पक्ष हार गया । अतएव इस प्रकार के अपने इस पहले युद्ध में मैं पराजित पक्ष में रहा । पर चूँकि मैं उस पक्ष को सच्चा मानता था, इसलिए मुझे सम्पूर्ण संतोष रहा । मेरा कुछ ऐसा खयाल है कि उसके बाद मैंने समिति से इस्तिफा दे दिया था ।

मेरी लज्जाशीलता विलायत में अन्त तक बनी रही । किसीसे मिलने जाने पर भी, जहाँ पाँच-सात मनुष्यों की मण्डली इकट्ठा होती वहाँ मैं गूँगा बन जाता था ।

एक बार मैं बेंटनर गया था । वहाँ मजमुदार भी थे । वहाँ के एक अन्नाहार घर में हम दोनों रहते थे । 'एथिक्स ऑफ डायेट' के लेखक इसी बन्दरगाह में रहते थे । हम उनसे मिले । वहाँ अन्नाहार को प्रोत्साहन देने के लिए एक सभा की गयी । उसमें हम दोनों को बोलने का निमंत्रण मिला । दोनों ने उसे स्वीकार किया । मैंने जान लिया था कि लिखा हुआ भाषण पढ़ने में कोई दोष नहीं माना जाता । मैं देखता था कि अपने विचारों को सिलसिले से और संक्षेप में प्रकट करने के लिए बहुत से लोग लिखा हुआ पढ़ते थे । मैंने अपना भाषण लिख लिया । बोलने की हिम्मत नहीं थी । जब मैं पढ़ने खड़ा हुआ, तो पढ़ न सका । आँखो के सामने अंधेरा छा गया और हाथ-पैर काँपने लगे । मेरा भाषण मुश्किल से फुलस्केप का एक

पृष्ठ रहा होगा। मजमुदार ने उसे पढ़कर सुनाया। मजमुदार का भाषण तो अच्छा हुआ। श्रोतागण उनकी बातों का स्वागत तालियों की गड़गड़ाहट से करते थे। मैं शरमाया और बोलने की अपनी असमर्थता के लिए दुःखी हुआ।

विलायत में सार्वजनिक रूप से बोलने का अंतिम प्रयत्न मुझे विलायत छोड़ते समय करना पड़ा था। विलायत छोड़ ने से पहले मैंने अन्नाहारी मित्रों को हॉबर्न-भोजन-गृह में भोज के लिए निमंत्रित किया था। मैंने सोचा कि अन्नाहारी भोजन-गृहों में तो अन्नाहार मिलता ही है, पर जिस भोजन-गृह में माँसाहार बनता हो वहाँ अन्नाहार का प्रवेश हो तो अच्छा। यह विचार करके मैंने इस गृह के व्यवस्थापक के साथ विशेष प्रबन्ध करके वहाँ भोज दिया। यह नया प्रयोग अन्नाहारियों में प्रसिद्धि पा गया। पर मेरी तो फजीहत ही हुई। भोजमात्र भोग के लिए ही होते हैं। पर पश्चिम में इनका विकास एक कला के रूप में किया गया है। भोज के समय विशेष सजावट और विशेष आडम्बर की व्यवस्था रहती है। बाजे बजते हैं, भाषण किये जाते हैं। इस छोटे से भोज में भी यह सारा आडम्बर था ही। मेरे भाषण का समय आया। मैं खड़ा हुआ। खूब सोचकर बोलने की तैयारी की थी। मैंने कुछ ही वाक्यों की रचना की थी, पर पहले वाक्य से आगे न बढ़ सका। एडीसन के विषय में पढ़ते हुए मैंने उसके लज्जाशील स्वभाव के बारेमें पढ़ा था। लोकसभा (हाउस ऑफ कॉमन्स) के उसके पहले भाषण के बारेमें यह कहा जाता है कि उसने "मेरी धारणा है", "मेरी धारणा है", "मेरी धारणा है", यों तीन बार कहा, पर बाद में वह आगे न बढ़ सका। जिस अंग्रेजी शब्द का अर्थ 'धारणा' है, उसका अर्थ 'गर्भ धारण करना' भी है। इसलिए जब एडीसन आगे न बढ़ सका, तो लोकसभा का एक मसखरा सदस्य कह बैठा कि "इन सज्जन ने तीन बार गर्भ धारण किया, पर ये कुछ पैदा तो कर ही न सके!" मैंने यह कहानी सोच रखी थी और एक छोटा-सा विनोदपूर्ण भाषण करने का मेरा इरादा था। इसलिए मैंने अपने भाषण का आरंभ इस कहानी से किया, पर गाड़ी वहीं अटक गयी। सोचा हुआ सब भूल गया और विनोदपूर्ण तथा गूढ़ार्थभरा भाषण करने की कोशिश में मैं स्वयं विनोद का पात्र बन गया। अन्त में "सज्जनो, आपने मेरा निमंत्रण स्वीकार किया, इसके लिए मैं आपका आभार मानता हूँ," इतना कहकर मुझे बैठ जाना पड़ा!

मैं कह सकता हूँ कि मेरा यह शरमीला स्वभाव दक्षिण अफ्रीका पहुँचने पर ही दूर हुआ । बिलकुल दूर हो गया, ऐसा तो आज भी नहीं कहा जा सकता। बोलते समय सोचना तो पड़ता ही है । नये समाज के सामने बोलते हुए मैं सकुचाता हूँ । बोलने से बचा जा सके, तो ज़रूर बच जाता हूँ । और यह स्थिति तो आज भी नहीं है कि मित्र-मण्डली के बीच बैठा होने पर कोई खास बात कर ही सकूँ अथवा बात करने की इच्छा होती हो । अपने इस शरमीले स्वभाव के कारण मेरी फजीहत तो हुई, पर मेरा कोई नुकसान नहीं हुआ; बल्कि अब तो मैं देख सकता हूँ कि मुझे फायदा हुआ है। पहले बोलने का यह संकोच मेरे लिए दुःखकर था, अब वह सुखकर हो गया है । एक बड़ा फायदा तो यह हुआ कि मैं शब्दों का मितव्यय करना सीखा । मुझे अपने विचारों पर काबू रखने की आदत सहज ही पड़ गयी । मैं अपने-आपको यह प्रमाण-पत्र दे सकता हूँ कि मेरी जबान या कलम से बिना सोचे-विचारे या बिना तौले शायद ही कोई शब्द कभी निकलता है । याद नहीं पड़ता कि अपने किसी भाषण या लेख के किसी अंश के लिए मुझे कभी शरमाना या पछताना पड़ा हो । मैं अनेक संकटों से बच गया हूँ और मुझे अपना बहुत-सा समय बचा लेने का लाभ मिला है ।

अनुभव ने मुझे यह भी सिखाया है कि सत्य के प्रत्येक पुजारी के लिए मौन का सेवन इष्ट है । मनुष्य जाने-अनजाने भी प्रायः अतिशयोक्ति करता है, अथवा जो कहने योग्य है उसे छिपाता है, या दूसरे ढंग से कहता है । ऐसे संकटों से बचने के लिए भी मितभाषी होना आवश्यक है । कम बोलने वाला बिना विचारे नहीं बोलेगा; वह अपने प्रत्येक शब्द को तौलेगा । अकसर मनुष्य बोलने के लिए अधीर हो जाता है । 'मैं भी बोलना चाहता हूँ', इस आशय की चिट्ठी किस सभापति को नहीं मिलती होगी? फिस उसे जो समय दिया जाता है, वह उसके लिए पर्याप्त नहीं होता । वह अधिक बोलने देने की माँग करता है और अन्त में बिना अनुमति के भी बोलता रहता है । इन सब लोगों के बोलने से दुनिया को लाभ होता हो, ऐसा क्वचित् ही पाया जाता है । पर उतने समय की बरबादी तो स्पष्ट ही देखी जा सकती है । इसलिए यद्यपि आरम्भ में मुझे अपनी लज्जाशीलता दुःख देती थी, लेकिन आज उसके स्मरण से मुझे आनन्द होता है। यह लज्जाशीलता मेरी ढ़ाल थी । उससे मुझे परिपक्व बनने का लाभ मिला । सत्य की अपनी पूजा में मुझे उससे सहायता मिली ।

१९. असत्यरूपी विष

चालिस साल पहले विलायत जाने वाले हिन्दुस्तानी विद्यार्थी आज की तुलना में कम थे। स्वयं विवाहित होने पर भी अपने को कुँआरा बताने का उनमें रिवाज-सा पड़ गया था। उस देश में स्कूल या कॉलेज में पढ़ने वाले कोई विद्यार्थी विवाहित नहीं होते। विवाहित के लिए विद्यार्थी-जीवन नहीं होता। हमारे यहाँ तो प्राचीन काल में विद्यार्थी ब्रह्मचारी ही कहलाता था। बाल-विवाह की प्रथा तो इस जमाने में ही पड़ी है। कह सकते हैं कि विलायत में बाल-विवाह जैसी कोई चीज है ही नहीं। इसलिए भारत के युवकों को यह स्वीकार करते हुए शरम मालूम होती है कि वे विवाहित हैं। विवाह की बात छिपाने का दूसरा एक कारण यह है कि अगर विवाह प्रकट हो जाए, तो जिस कुटुम्ब में रहते हैं उसकी जवान लड़कियों के साथ घूमने-फिरने और हँसी-मजाक करने का मौका नहीं मिलता। यह हँसी-मजाक अधिकतर निर्दोष होता है। माता-पिता इस तरह की मित्रता पसन्द भी करते हैं। वहाँ युवक और युवतियों के बीच ऐसे सहवास की आवश्यकता भी मानी जाती है, क्योंकि वहाँ तो प्रत्येक युवक को अपनी सहधर्मचारिणी स्वयं खोज लेनी होती है। अतएव विलायत में जो सम्बन्ध स्वाभाविक माना जाता है, उसे हिन्दुस्तान का नवयुवक विलायत पहुँचते ही जोड़ना शुरू कर दे, तो परिणाम भयंकर ही होगा। कई बार ऐसे परिणाम प्रकट भी हुए हैं। फिर भी हमारे नवयुवक इस मोहिनी माया में फँसे पड़े थे। हमारे नवयुवकों ने उस मोहबत के लिए असत्याचरण पसन्द किया, जो अंग्रेजों की दृष्टि से कितनी ही निर्दोष होते हुए भी हमारे लिए त्याज्य है। इस फँदे में मैं भी फँस गया। पाँच-छह साल से विवाहित और एक लड़के का बाप होते हुए भी मैंने अपने आपको कुँआरा बताने में संकोच नहीं किया! पर इसका स्वाद मैंने थोड़ा ही चखा। मेरे शरमीले स्वभाव ने, मेरे मौन ने, मुझे बहुत कुछ बचा लिया। जब मैं बोल ही न पाता था, तो कौन लड़की ठाली बैठी थी जो मुझसे बात करती ? मेरे साथ घूमने के लिए भी शायद ही कोई लड़की निकलती।

मैं जितना शरमीला था उतना ही डरपोक भी था। बेंटनर में जिस परिवार में मैं रहता था, वैसे परिवार में घर की बेटी हो तो वह, सभ्यता के विचार से ही सही, मेरे समान विदेशी को घूमने

ले जाती । सभ्यता के इस विचार से प्रेरित होकर इस घर की मालकिन की लड़की मुझे बेंटनर के आसपास की सुन्दर पहाड़ियों पर ले गयी। वैसे मेरी चाल कुछ धीमी नहीं थी, पर उसकी चाल मुझसे भी तेज थी । इसलिए मुझे उसके पीछे-पीछे घसिटना पड़ा । वह तो रास्तेभर बातों के फव्वारे उड़ाती चली, जब कि मेंरे मुँह से कभी 'हाँ' या कभी 'ना' की आवाज भर निकलती थी। बहुत हुआ तो 'कितना सुन्दर हैं!' कह देता। इससे ज्यादा बोल न पाता। वह तो हवा में उड़ती जाती और मैं यह सोचता रहता कि वापस घर कब पहुँचूँगा। फिर भी यह कहने की हिम्मत न पड़ती कि 'चलो, अब लौट चलें।' इतने में हम एक पहाड़ की चोटी पर जा खड़े हुए। पर अब उतरा कैसे जाए? अपने ऊँची एड़ीवाले बूटो के बावजूद बीस-पचीस साल की वह रमणी बिजली की तरह ऊपर से नीचे उतर गयी, जब कि मैं शरमिंदा होकर अभी यही सोच रहा था कि ढाल कैसे उतरा जाए! वह नीचें खड़ी हँसती है; मुझे हिम्मत बँधाती है; ऊपर आकर हाथ का सहारा देकर नीचे ले जाने को कहती है! मैं इतना पस्तहिम्मत तो कैसे बनता? मुश्किल से पैर जमाता हुआ, कहीं कुछ बैठता हुआ, मैं नीचे उतरा । उसने मजाक में 'शा..ब्बा..श!' कहकर मुझ शरमाये हुए को और अधिक शरमिंदा किया। इस तरह के मजाक से मुझे शरमिंदा करने का उसे हक था।

लेकिन हर जगह मैं इस तरह कैसे बच पाता? ईश्वर मेंरे अन्दर से असत्य का विष निकालना चाहता था। बेंटनर की तरह ही ब्राइटन भी समुद्र-किनारे हवाखोरी का मुकाम है। एक बार मैं वहाँ गया था । जिस होटल में मैं ठहरा था, उसमें साधारण खुशहाल स्थिति की एक विधवा बुढ़िया भी हवाखोरी केलिए आकर टीकी थी। यह मेरा पहले वर्ष का समय था-बेंटनर के पहले का। यहाँ सूची में खाने की सभी चीजों के नाम फ्रेंच भाषा में लिखे थे। मैं उन्हें समझता न था। मैं बुढ़ियावाली मेंज पर ही बैठा था। बुढ़ियाने देखा कि मैं अजनबी हूँ और कुछ परेशानी में भी हूँ। उसने बातचीत शुरू की|

"तुम अजनबी-से मालूम होते हो। किसी परेशानी में भी हो। अभी तक कुछ खाने को भी नहीं मँगाया है!'

मैं भोजन के पदार्थों की सूची पढ़ रहा था और परोसने वाले से पूछने की तैयारी कर रहा था। इसलिए मैंने उस भद्र महिला को धन्यवाद दिया और कहा, "यह सूची मेरी समझ में नहीं

आ रही है। मैं अन्नाहारी हूँ। इसलिए यह जानना ज़रूरी है कि इनमें से कौनसी चीजें निर्दोष हैं।"

उस महिलाने कहा, "तो लो, मैं तुम्हारी मदद करती हूँ और सूची समझा देती हूँ। तुम्हारे खाने लायक चीजें मैं तुम्हें बता सकूँगी।"

मैंने धन्यवादपूर्वक उसकी सहायता स्वीकार की। यहाँ से हमारा जो सम्बन्ध जुड़ा, सो मेरे विलायत में रहने तक और उसके बाद भी बरसों तक बना रहा। उसने मुझे लन्दन का अपना पता दिया और हर रविवार को अपने घर भोजन के लिए आने को न्योता। वह दूसरे अवसरों पर भी मुझे अपने यहाँ बुलाती थी, प्रयत्न करके मेरा शरमीलापन छुड़ाती थी, जवान स्त्रियों से जान-पहचान कराती थी और उनसे बातचीत करने को ललचाती थी। उसके घर रहने वाली एक स्त्री के साथ बहुत बातें करवाती थी। कभी-कभी हमें अकेला भी छोड़ देती थी।

आरम्भ में मुझे यह सब बहुत कठिन लगा। बात करना सूझता न था। विनोद भी क्या किया जाए! पर वह बुढ़िया मुझे प्रवीण बनाती रही। मैं तालीम पाने लगा। हर रविवार की राह देखने लगा। उस स्त्री के साथ बाते करना भी मुझे अच्छा लगने लगा।

बुढ़िया भी मुझे लुभाती जाती। उसे इस संग में रस आने लगा। उसने तो हम दोनों का हित ही चाहा होगा।

अब मैं क्या करूँ? मैंने सोचा: 'क्या ही अच्छा होता, अगर मैं इस भद्र महिला से अपने विवाह की बात कह देता? उस दशा में क्या वह चाहती कि किसीके साथ मेरा ब्याह हो? अब भी देर नहीं हुई है। मैं सच-सच कह दूँ, तो अधिक संकट से बच जाउँगा।' यह सोचकर मैंने उसे एक पत्र लिखा। अपनी स्मृति के आधार पर नीचे उसका सार देता हूँ:

"जब से हम ब्राइटन में मिले, आप मुझ पर प्रेम रखती रही हैं। माँ जिस तरह अपने बटे की चिन्ता रखती है, उसी तरह आप मेरी चिन्ता रखती हैं। आप तो यह भी मानती हैं कि मुझे ब्याह करना चाहिए, और इसी खयाल से आप मेरा परिचय युवतियों से कराती हैं। ऐसे सम्बन्ध के अधिक आगे बढ़ने से पहले ही मुझे आपसे यह कहना चाहिए कि मैं आपके प्रेम के योग्य नहीं हूँ। मैं आपके घर आने लगा तभी मुझे आपसे यह कह देना चाहिए था कि मैं

विवाहित हूँ। मैं जानता हूँ कि हिन्दुस्तान के जो विद्यार्थी विवाहित होते हैं, वे इस देश में अपने ब्याह की बात प्रकट नहीं करते। इससे मैंने भी उस रिवाज का अनुकरण किया। पर अब मैं देखता हूँ कि मुझे अपने विवाह की बात बिलकुल छिपानी नहीं चाहिए थी। मुझे साथ में यह भी कह देना चाहिए कि मेरा ब्याह बचपन में हुआ है और मेरा एक लड़का भी है। आपसे इस बात को छिपाने का अब मुझे बहुत दुःख होता है; पर अब भगवान ने सच कह देने की हिम्मत दी है, इससे मुझे आनन्द होता है। क्या आप मुझे माफ करेंगी? जिस बहन के साथ आपने मेरा परिचय कराया है, उसके साथ मैंने कोई अनुचित छूट नहीं ली, इसका विश्वास मैं आपको दिलाता हूँ। मुझे इस बात का पूरा-पूरा खयाल है कि मुझे ऐसी छूट नहीं लेनी चाहिए। पर आप तो स्वाभाविक रूप से यह चाहती हैं कि किसीके साथ मेरा सम्बन्ध जुड़ जाए। आपके मन में यह बात आगे न बढे, इसके लिए भी मुझे आपके सामने सत्य प्रकट कर देना चाहिए।

"यदि इस पत्र के मिलने पर आप मुझे अपने यहाँ आने के लिए अयोग्य समझेंगी, तो मुझे उससे जरा भी बुरा नहीं लगेगा। आपकी ममता के लिए तो मैं आपका चिरऋणी बन चुका हूँ। मुझे स्वीकार करना चाहिए कि अगर आप मेरा त्याग न करेंगी, तो मुझे खुशी होगी। यदि अब भी आप मुझे अपने घर आने योग्य मानेंगी, तो उसे मैं आपके प्रेम की एक नयी निशानी समझूँगा और उस प्रेम के योग्य बनने का सदा प्रयत्न करता रहूँगा।"

पाठक समझ लें कि यह पत्र मैंने क्षणभर में नहीं लिख डाला था। न जाने कितने मसविदे तैयार किये होंगे। पर यह पत्र भेजकर मैंने अपने सर का एक बड़ा बोझ उतार डाला।

लगभग लोटती डाक से मुझे उस विधवा बहन का उत्तर मिला। उसने लिखा था :

"खुले दिल से लिखा तुम्हार पत्र मिला। हम दोनों खुश हुईं और खूब हसीं। तुमने जिस असत्य से काम लिया, वह तो क्षमा के योग्य ही है। पर तुमने अपनी सही स्थिति प्रकट कर दी यह अच्छा ही हुआ। मेरा न्योता कायम है। अगले रविवार को हम अवश्य तुम्हारी राह देखेंगी, तुम्हारे बाल-विवाह की बातें सुनेंगी और तुम्हार मजाक उड़ाने का आनन्द भी लूटेंगी। विश्वास रखो कि हमारी मित्रता तो जैसी थी वैसी ही रहेगी।"

इस प्रकार मैंने अपने अन्दर घुसे हुए असत्य के विष को बाहर निकाल दिया, और फिर तो अपने विवाह आदि की बात करने में मुझे कही घबराहट नहीं हुई।

२०. धर्मों का परिचय

विलायत में रहते मुझे कोई एक साल हुआ होगा। इस बीच दो थियॉसॉफिस्ट मित्रों से मेरी पहचान हुई। दोनों सगे भाई थे और अविवाहित थे। उन्होंने मुझसे गीताजी की चर्चा की। वे एडविन आर्नल्ड का गीताजी का अनुवाद पढ़ रहे थे। पर उन्होंने मुझे अपने साथ संस्कृत में गीता पढ़ने के लिए न्योता। मैं शरमाया, क्योकि मैंने गीता संस्कृत में या मातृभाषा में पढ़ी ही नहीं थी। मुझे उनसे कहना पड़ा कि मैंने गीता पढ़ी ही नहीं है, पर मैं उसे आपके साथ पढ़ने को तैयार हूँ। संस्कृत का मेरा अभ्यास भी नहीं के बराबर ही है। मैं उसे इतना ही समझ पाऊँगा कि अनुवाद में कोई गलत अर्थ होगा. तो उसे सुधार सकूँगा। इस प्रकार मैंने उन भाईयों के साथ गीता पढ़ना शुरू किया। दूसरे अध्याय के अंतिम श्लोकों में से

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोत्तभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(विषयों का चिन्तन करने वाले पुरूष को उन विषयों में आसक्ति पैदा होती है। फिर आसक्ति से कामना पैदा होती है और कामना से क्रोध पैदा होता है, क्रोध से मूढ़ता पैदा होती है, मूढ़ता से स्मृति-लोप होता है और स्मृति-लोप से बुद्धि नष्ट होती है। और जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, उसका खुद का नाश हो जाता है।)

इन श्लोकों का मेरे मन पर गहरा असर पड़ा। उनकी भनक मेरे कान में गूँजती ही रही। उस समय मुझे लगा कि भगवद्गीता अमूल्य ग्रंथ है। यह मान्यता धीरे-धीरे बढ़ती गयी, और आज तत्त्वज्ञान के लिए मैं उसे सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ। निराशा के समय में इस ग्रन्थ ने मेरी अमूल्य सहायता की है। मैं इसके लगभग सभी अंग्रेजी अनुवाद पढ़ गया हूँ। पर एडविन आर्नल्ड का अनुभव मुझे श्रेष्ठ प्रतीत होता है। उसमें मूल ग्रन्थ के भाव की रक्षा की गयी है,

फिर भी वह ग्रन्थ अनुवाद-जैसा नहीं लगता। इस बार मैंने भगवद्गीता का अध्ययन किया, ऐसा तो मैं कह ही नहीं सकता। मेरे नित्यपाठ का ग्रन्थ तो वह कई वर्षो के बाद बना।

इन्हीं भाईयों ने मुझे सुझाया कि मैं आर्नल्ड का 'बुद्ध-चरित' पढ़ूं। उस समय तक तो मुझे सर एडविन आर्नल्ड के गीता के अनुवाद का ही पता था। मैंने बुद्ध-चरित भगवद्गीता से भी अधिक रस-पूर्वक पढ़ा। पुस्तक हाथ में लेने के बाद समाप्त करके ही छोड़ सका।

एक बार ये भाई मुझे ब्लैवट्स्की लॉज में भी ले गये। वहाँ मैंडम ब्लैवट्स्की के और मिसेज एनी बेसेंट के दर्शन कराये। मिसेज बेसेंट हाल ही थियॉसॉफिकल सोसाइटी में दाखिल हुई थीं। इससे समाचारपत्रों में इस सम्बन्ध की जो चर्चा चलती थी, उसे मैं दिलचस्पी के साथ पढ़ा करता था। इन भाईयों ने मुझे सोसायटी में दाखिल होने का भी सुझाव दिया। मैंने नम्रतापूर्वक इनकार किया और कहा, "मेरा धर्मज्ञान नहीं के बराबर है, इसलिए मैं किसी भी पंथ में सम्मिलित होना नहीं चाहता।" मेरा कुछ ऐसा खयाल है कि इन्हीं भाईयों के कहने से मैंने मैंडम ब्लैवट्स्की की पुस्तक 'की टु थियॉसॉफी' (थियॉसॉफी की कुंजी) पढ़ी थी। उससे हिन्दू धर्म की पुस्तकें पढ़ने की इच्छा पैदा हुई और पादरियों के मुँह से सुना हुआ यह खयाल दिल से निकल गया कि हिन्दू धर्म अन्धविश्वासों से ही भरा हुआ है।

इन्हीं दिनों एक अन्नाहारी छात्रावास में मुझे मैंचेस्टर के एक ईसाई सज्जन मिले। उन्होंने मुझसे धर्म की चर्चा की। मैंने उन्हें राजकोट का अपना संस्मरण सुनाया। वे सुनकर दुःखी हुए। उन्होंने कहा, "मैं स्वयं अन्नाहारी हूँ। मद्यपान भी नहीं करता। यह सच है कि बहुत से ईसाई माँस खाते हैं और शराब पीते है; पर इस धर्म में दो में से एक भी वस्तु का सेवन करना कर्तव्य-रूप नहीं है। मेरी सलाह है कि आप बाइबल पढ़ें।" मैंने उनकी यह सलाह मान ली। उन्होंने बाइबल खरीद कर मुझे दी। मेरा कुछ ऐसा खयाल है कि वे भाई खुद ही बाइबल बेचते थे। उन्होंने नकशों और विषय-सूची आदि से युक्त बाइबल मुझे बेची। मैंने उसे पढ़ना शुरू किया, पर मैं 'पुराना इकरार' (ओल्ड टेस्टामेंट) तो पढ़ ही न सका। 'जेनेसिस'-सृष्टि-रचना- के प्रकरण के बाद तो पढ़ते समय मुझे नींद ही आ जाती। मुझे याद है कि 'मैंने बाइबल पढ़ी है' यह कह सकने के लिए मैंने बिना रस के और बिना समझे दूसरे प्रकरण बहुत कष्ट-पूर्वक पढ़े थे। 'नम्बर्स' नामक प्रकरण पढ़ते-पढ़ते मेरा जी उचट गया था।

पर जब 'नये इकरार' (न्यू टेस्टामेंट) पर आया, तो कुछ और ही असर हुआ। ईसा के 'गिरि-प्रवचन' का मुझ पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। उसे मैंने हृदय में बसा लिया। बुद्धि ने गीताजी के साथ उसकी तुलना की। 'जो तुझसे कुर्ता माँगे उसे अंगरखा भी दे दे', 'जो तेरे दाहिने गाल पर तमाचा मारे, बायाँ गाल भी उसके सामने कर दे'-यह पढ़कर मुझे अपार आनन्द हुआ। शामळ भट् (यह छप्पय प्रकरण 10 के अन्त में दिया गया हैं। शामळ भट् 18वीं सदी में गुजराती के एक प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। छप्पय पर उनका जो प्रभुत्व था, उसके कारण गुजरात में यह कहावत प्रचलित हो गयी हैं कि 'छप्पय तो शामळ के') के छप्पय की याद आ गयी। मेंरे बालमन ने गीता, आर्नल्ड-कृत बुद्ध चरित और ईसा के वचनों का एकीकरण किया। मन को यह बात जँच गयी कि त्याग में धर्म है।

इस वाचन से दूसरे धर्माचार्यों की जीवनियाँ पढ़ने की इच्छा हुई। किसी मित्र ने कार्लाइल की 'विभूतियाँ और विभूति-पूजा' (हीरोज़ एंड हीरोवर्शिप) पढ़ने की सलाह दी। उसमें से मैंने पैगम्बर (हजरत मुहम्मद) का प्रकरण पढ़ा और मुझे उनकी महानता, वीरता और तपश्चर्या का पता चला।

मैं धर्म के इस परिचय से आगे न बढ़ सका। अपनी परीक्षा की पुस्तकों के अलावा दूसरा कुछ पढ़ने की फुरसत मैं नहीं निकाल सका। पर मेंरे मनने यह निश्चय किया कि मुझे धर्म-पुस्तकें पढ़नी चाहिए और सब मुख्य धर्मों का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

नास्तिकता के बारेमें भी कुछ जाने बिना काम कैसे चलता? ब्रेडला का नाम तो सब हिन्दुस्तानी जानते ही थे। ब्रेडला नास्तिक माने जाते थे। इसलिए उनके सम्बन्ध की एक पुस्तक पढ़ी। नाम मुझे याद नहीं रहा। मुझ पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। मैं नास्तिकता-रूपी सहारे के रेगिस्तान को पार कर गया। मिसेज बेसेंट की ख्याति तो उस समय भी खूब थी। वे नास्तिक से आस्तिक बनी हैं, इस चीज ने भी मुझे नास्तिकवाद के प्रति उदासीन बना दिया। मैंने मिसेज बेसेंट की 'मैं थियॉसॉफिस्ट कैसे बनी?' पुस्तिका पढ़ ली थी। उन्हीं दिनों ब्रेडला का देहान्त हुआ था। वोकिंग में उनका अंतिम संस्कार किया गया था। मैं भी वहाँ पहुँच गया था। मेरा खयाल है कि वहाँ रहने वाले हिंन्दुस्तानियों में से तो एक भी बाकी नहीं बचा होगा। कई पादरी भी उनके प्रति अपना सम्मान प्रकट करने के

लिए आये थे। वापस लौटते हुए हम सब एक जगह रेलगाडी की राह देखते खड़े थे। वहाँ उस दल में से किसी पहलवान नास्तिक ने इन पादरियों में से एक के साथ जिरह शुरू की:

"क्यो साहब, आप कहते हैं न कि ईश्वर हैं?"

उन भद्र पुरूष ने धीमी आवाज में उत्तर दिया: "हाँ, मैं कहता तो हूँ।"

वह हँसा और मानो पादरी को मात दे रहा हो इस ढंग से बोला: "अच्छा, आप यह तो स्वीकार करते हैं न कि पृथ्वी की परिधि २८,००० मील है?"

"अवश्य|"

"तो कहिए, ईश्वर का कद कितना होगा और वह कहाँ रहता होगा?"

"अगर हम समझें तो वह हम दोनों के हृदय में वास करता है।"

"बच्चों को फुसलाइए, बच्चों को", कहकर उस योद्धा ने अपने आस-पास खड़े हुए हम लोगों की तरफ विजय की दृष्टि से देखा। पादरी नम्रतापूर्वक मौन रहे। इस संवाद के कारण नास्तिकवाद के प्रति मेरी अरूचि और बढ़ गयी।

२१. 'निर्बल के बल राम'

धर्मशास्त्र का और दुनिया के धर्मों का कुछ भान तो मुझे हुआ, पर उतना ज्ञान मनुष्य को बचाने के लिए काफी नहीं होता। संकट के समय जो चीज मनुष्य को बचाती है, उसका उसे उस समय न तो भान होता है, न ज्ञान। जब नास्तिक बचता है तो वह कहता है कि मैं संयोग से बच गया। ऐसे समय आस्तिक कहेगा कि मुझे ईश्वर ने बचाया। परिणाम के बाद वह यह अनुमान कर लेता है कि धर्मों के अभ्यास से, संयम से ईश्वर उसके हृदय में प्रकट होता है। उसे ऐसा अनुमान करने का अधिकार है। पर बचते समय वह नहीं जानता कि उसे उसका संयम बचाता है या कौन बचाता है। जो अपनी संयम-शक्ति का अभिमान रखता है, उसके संयम को धूल में मिलते किसने नहीं जाना है? ऐसे समय शास्त्रज्ञान तो छूछे-जैसा प्रतित होता है।

बौद्धिक धर्मज्ञान के इस मिथ्यापन का अनुभव मुझे विलायत में हुआ। पहले भी मैं ऐसे संकटों में से बच गया था, पर उनका पृथक्करण नहीं किया जा सकता। कहना होगा कि उस समय मेरी उमर बहुत छोटी थी।

पर अब तो मेरी उमर 20 साल की थी। मैं गृहस्थाश्रम का ठीक-ठीक अनुभव ले चुका था।

बहुत करके मेरे विलायत-निवास के आखिरी साल में, यानि १८९० के साल में पोर्टस्मथ में अन्नाहारियों का एक संमेंलन हुआ था। उसमें मुझे और एक हिंन्दुस्तानी मित्र को निमंत्रित किया गया था। हम दोनों वहाँ पहुँचे। हमें एक महिला के घर ठहराया गया था।

पोर्टस्मथ खलासियों का बन्दरगाह कहलाता है। वहाँ बहुतेरे घर दुराचारिणी स्त्रियों के होते हैं। वे स्त्रियाँ वेश्या नहीं होतीं, न निर्दोष ही होती हैं। ऐसे ही एक घर में हम लोग टिके थे। इसका यह मतलब नहीं कि स्वागत-समिति ने जान-बूझकर ऐसे घर ठीक किये थे। पर पोर्टस्मथ-जैसे बन्दरगाह में जब यात्रियों को ठहराने के लिए डेरों की तलाश होती है, तो यह कहना मुश्किल ही हो जाता है कि कौन से घर अच्छे हैं और कौन से बुरे।

रात पड़ी। हम सभा से घर लौटे। भोजन के बाद ताश खेलने बैठे। विलायत में अच्छे भले घरों में भी इस तरह गृहिणी मेंहमानों के साथ ताश खेलने बैठती है। ताश खेलते हुए निर्दोष विनोद तो सब कोई करते हैं। लेकिन यहाँ तो बीभत्स विनोद शुरू हुआ। मैं नहीं जानता था कि मेंरे साथी इसमें निपुण हैं। मुझे इस विनोद में रस आने लगा। मैं भी इसमें शरीक हो गया। वाणी में से क्रिया में उतरने की तैयारी थी। ताश एक तरफ धरे ही जा रहे थे। लेकिन मेंरे भले साथी के मन में राम बसे। उन्होंने कहा, "अरे, तुम में यह कलियुग कैसा! तुम्हारा यह काम नहीं है। तुम यहाँ से भागो।"

मैं शरमाया। सावधान हुआ। हृदय में उन मित्र का उपकार माना। माता के सम्मुख की हुई प्रतिज्ञा याद आयी। मैं भागा। काँपता-काँपता अपनी कोठरी में पहुँचा। छाती धड़क रही थी। कातिल के हाथ से बचकर निकले हुए शिकार की जैसी दशा होती है वैसी ही मेरी हुई।

मुझे खयाल है कि पर-स्त्री को देखकर विकारवश होने और उसके साथ रंगरेलियाँ करने की इच्छा पैदा होने का मेंरे जीवन में यह पहला प्रसंग था। उस रात मैं सो नहीं सका। अनेक प्रकार के विचारों ने मुझ पर हमला किया। घर छोड़ दूँ? भाग जाऊँ? मैं कहाँ हूँ? अगर मैं सावधान न रहूँ, तो मेरी क्या गत हो? मैंने खूब चौकन्ना रहकर बरतने का निश्चय किया। यह सोच लिया कि घर तो नहीं छोड़ना है, पर जैसे भी बने पोर्टस्मथ जल्दी छोड़ देना है। संमेंलन दो दिन से अधिक चलने वाला न था। इसलिए, जैसा कि मुझे याद है, मैंने दूसरे ही दिन पोर्टस्मथ छोड़ दिया। मेंरे साथी पोर्टस्मथ में कुछ दिन के लिए रूके।

उन दिनों मैं यह बिलकुल नहीं जानता था कि धर्म क्या है, ईश्वर क्या है, और वह हममें किस प्रकार काम करता है। उस समय तो लौकिक दृष्टि से मैं यह समझा कि ईश्वर ने मुझे बचा लिया है। पर मुझे विविध क्षेत्रों में ऐसे अनुभव हुए हैं। मैं जानता हूँ कि 'ईश्वर ने बचाया' वाक्य का अर्थ आज मैं अच्छी तरह समझने लगा हूँ। पर साथ ही मैं यह भी जानता हूँ कि इस वाक्य की पूरी कीमत अभी तक मैं आँक नहीं सका हूँ। वह तो अनुभव से ही आँकी जा सकती है। पर मैं कह सकता हूँ कि कई आध्यात्मिक प्रसंगों में, वकालत के प्रसंगो में, संस्थाएँ चलाने में, राजनीति में 'ईश्वर ने मुझे बचाया है।' मैंने यह अनुभव किया है कि जब हम सारी आशा छोड़कर बैठ जाते हैं, हमारे दोनों हाथ टिक जाते हैं, तब कहीं-न-कहीं से

मदद आ पहुँचती है । स्तुति, उपासना, प्रार्थना वहम नहीं है, बल्कि हमारा खाना-पीना, चलना-बैठना जितना सच है, उससे भी अधिक सच यह चीज है । यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं कि यही सच है, और सब झूठ हैं।

ऐसी उपासना, ऐसी प्रार्थना, निरा वाणी-विलास नहीं होती। उसका मूल कण्ठ नहीं, हृदय है। अतएव यदि हम हृदय की निर्मलता को पा लें, उसके तारों को सुसंगठित रखें, तो उनमें से जो सुर निकलते हैं, वे गगनगामी होते हैं। मुझे इस विषय में कोई शंका ही नहीं हैं कि विकार रूपी मलों की शुद्धि के लिए हार्दिक उपासना एक रामबाण औषधि है। पर इस प्रसादी के लिए हममें संपूर्ण नम्रता होनी चाहिए।

२२. नारायण हेमचन्द्र

इन्हीं दिनों स्व. नारायण हेमचन्द्र विलायत आये थे। लेखक के रूप में मैंने उनका नाम सुन रखा था। मैं उनसे नेशनल इंडियन एसोसियेशन की मिस मैंनिग के घर मिला। मिस मैंनिंग जानती थीं कि मैं सब के साथ हिलमिल नहीं पाता। जब मैं उनके घर जाता, तो मुँह बन्द करके बैठा रहती। कोई बुलवाता तभी बोलता।

उन्होंने नारायण हेमचन्द्र से मेरी पहचान करायी।

नारायण हेमचन्द्र अंग्रेजी नहीं जानते थे। उनकी पोशाक अजीब थी। बेडौल पतलून पहने हुए थे। ऊपर सिकुड़नोंवाला, गले पर मैंला, बादामी रंग का कोट था। नेकटाई या कॉलर नहीं थे। कोट पारसी तर्ज का, पर बेढंगा था। सिर पर ऊनकी गूँथी हुई झब्बेदार टोपी थी। उन्होंने लंबी दाढ़ी बढ़ा रखी थी।

कद इकहरा और ठिंगना कहा जा सकता था। मुँह पर चेचक के दाग थे। चेहरा गोल। नाक न नुकीली, न चपटी। दाढ़ी पर उनका हाथ फिरता रहता। सारे सजे-धजे लोगों के बीच नारायण हेमचन्द्र विचित्र लगते थे और सबसे अलग पड़ जाते थे।

"मैंने आपका नाम बहुत सुना है। आपके कुछ लेख भी पढ़े हैं। क्या आप मेरे घर पधारेंगे?"

नारायण हेमचन्द्र की आवाज कुछ मोटी थी। उन्होंने मुस्कराते हुए जवाब दिया: "आप कहाँ रहते हैं?"

"स्टोर स्ट्रीट में।"

"तब तो हम पड़ोसी हैं। मुझे अंग्रेजी सीखनी है। आप मुझे सिखायेंगे?"

मैंने उत्तर दिया, "अगर मैं आपकी कुछ मदद कर सकूँ, तो मुझे खुशी होगी। मैं अपनी शक्तिभर प्रयत्न अवश्य करूँगा। आप कहें तो आपके स्थान पर आ जाया करूँ।"

"नहीं, नहीं, मैं ही आपके घर आऊँगा। मेरे पास पाठमाला है। उसे लेता आऊँगा।"

हमने समय निश्चित किया। हमारे बीच मजबूत स्नेह-गाँठ बँध गयी।

नारायण हेमचन्द्र को व्याकरण बिलकुल नहीं आता था। वे 'घोड़ा' को क्रियापद बना देते और 'दौडना' को संज्ञा। ऐसे मनोरंजक उदाहरण तो मुझे कई याद हैं। पर नारायण हेमचन्द्र तो मुझे घोटकर पी जानेवालों में थे। व्याकरण के मेरे साधारण ज्ञान से मुग्ध होने वाले नहीं थे। व्याकरण न जानने की उन्हें कोई शरम ही नहीं थी।

“तुम्हारी तरह मैं किसी स्कूल में नहीं पढ़ा हूँ। उपने विचार प्रकट करने में मुझे व्याकरण की आवश्यकता मालूम नहीं हुई | बोलो, तुम बंगला जानते हो? मैं तो बंगला जानता हूँ | मैं बंगाल में घूमा हूँ। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर की पुस्तकों के अनुवाद गुजराती जनता को मैंने ही दिये हैं। मैं गुजराती जनता को कई भाषाओं के अनुवाद देना चाहता हूँ। अनुवाद करते समय मैं शब्दार्थ से नहीं चिपकता, भावार्थ दे कर संतोष मान लेता हूँ। मेरे बाद दूसरे भले ही अधिक देते रहें। मैं बिना व्याकरण के भी मराठी जानता हूँ, हिन्दी जानता हूँ, और अब अंग्रेजी भी जानने लगा हूँ। मुझे तो शब्द-भंडार चाहिए। तुम यह न समझो कि अकेली अंग्रेजी से मुझे संतोष हो जाएगा। मुझे फ्रांस जाना है | और फ्रेंच भी सीख लेनी है। मैं जानता हूँ कि फ्रेंच-साहित्य विशाल है। संभव हुआ तो मैं जर्मनी भी जाऊँगा और जर्मन भाषा सीख लूँगा।”

नारायण हेमचन्द्र की वाग्धारा इस प्रकार चलती ही रही। भाषाएँ सीखने और यात्रा करने के उनके लोभ की कोई सीमा न थी।

“तब आप अमरीका तो ज़रूर ही जाएँगे?”

“ज़रूर। उस नयी दुनिया को देखे बिना मैं बापस कैसे लौट सकता हूँ?”

“पर आपके पास इतने पैसे कहाँ हैं?”

“मुझे पैसों से क्या मतलब? मुझे कौन तुम्हारी तरह टीमटाम से रहना है? मेरा खाना कितना है और पहनना कितना है? अपनी पुस्तकों से मुझे जो थोड़ा मिलता है और मित्र जो थोड़ा देते हैं, वह काफी हो जाता है। मैं तो सब कहीं तीसरे दर्जे में ही जाता हूँ। अमेरीका डेक में जाऊँगा।”

नारायण हेमचन्द्र की सादगी तो उनकी अपनी ही चीज थी। उनकी निखालिसता भी वैसी ही थी। अभिमान उन्हें छू तक नहीं गया था। लेकिन लेखक के रूप में अपनी शक्ति पर उन्हें आवश्यकता से अधिक विश्वास था।

हम रोज मिला करते थे। हममें विचार और आचार की पर्याप्त समानता थी। दोनों अन्नाहारी थे। दुपहर का भोजन अकसर साथ ही करते थे। यह मेरा वह समय था, जब मैं हफ्ते के सत्रह शिलिंग में अपना निर्वाह करता और हाथ से भोजन बनाता था। कभी मैं उनके मुकाम पर जाता, तो किसी दिन वे मेरे घर आते थे। मैं अंग्रेजी ढंग की रसोई बनाता था। उन्हें देशी ढंग के बिना संतोष ही न होता था। दाल तो होनी ही चाहिए। मैं गाजर वगैरा का झोल (सूप) बनाता, तो इसके लिए वे मुझ पर तरस खाते। वे कहीं से मूँग खोजकर ले आये थे। एक दिन मेरे लिए मूँग पकाकर लाये और मैंने उन्हें बड़े चाव से खाया। फिर तो लेन-देन का हमारा यह व्यवहार बढ़ा। मैं अपने बनाये पदार्थ उन्हें चखाता और वे अपनी चीजें मुझे चखाते।

उन दिनों कार्डिनल मैंनिंग का नाम सब की जबान पर था। डक के मजदूरों की हड़ताल थी। जॉन बर्न्स और कार्डिनल मैंनिंग के प्रयत्न से हड़ताल जल्दी ही खुल गयी। कार्डिनल मैंनिंग की सादगी के बारेमें डिज़रायेली ने जो लिखा था, सो मैंने नारायण हेमचन्द्र को सुनाया।

"तब तो मुझे इन साधु पुरूष से मिलना चाहिए।"

"वे बहुत बडे आदमी हैं। आप कैसे मिलेंगे ?"

"जैसे मैं बतलाता हूँ। तुम मेरे नाम से उन्हें पत्र लिखो। परिचय दो कि मैं लेखक हूँ और उनके परोपकार के कार्य का अभिनन्दन करने के लिए स्वयं उनसे मिलना चाहता हूँ। यह भी लिखो की मुझे अंग्रेजी बोलना नहीं आता, इसलिए मुझे तुम को दुभाषिये के रूप में ले जाना होगा।"

मैंने इस तरह का पत्र लिखा। दो-तीन दिन में कार्डिनल मैंनिंग का जवाब एक कार्ड में आया। उन्होंने मिलने का समय दिया था।

हम दोनों गये। मैंने प्रथा के अनुसार मुलाकाती पोशाक पहन ली थी। पर नारायण हेमचन्द्र तो जैसे रहते थे वैसे ही रहे। वही कोट और वही पतलून। मैंने मजाक किया। मेरी बात को उन्होंने हँसकर उड़ा दिया और बोले:

"तुम 'सभ्य' लोग सब डरपोक हो। महापुरूष किसी की पोशाक नहीं देखते। वे तो उसका दिल परखते हैं।"

हमने कार्डिनल के महल में प्रवेश किया। घर महल ही था। हमारे बैठते ही एक बहुत दुबले-पतले, बूढ़े, ऊँचे पुरूष ने प्रवेश किया। हम दोनों के साथ हाथ मिलाये। नारायण हेमचन्द्र का स्वागत किया।

"मैं आपका समय नहीं लूँगा। मैंने आपके बारेमें सुना था। हड़ताल में आपने जो काम किया, उसके लिए आपका उपकार मानना चाहता हूँ। संसार के साधु पुरूषों के दर्शन करने का मेरा नियम है, इस कारण मैंने आपको इतना कष्ट दिया।" नारायण हेमचन्द्र ने मुझसे कहा कि मैं इन वाक्यों का उल्था कर दूँ।

आपके आने से मुझे खुशी हुई है। आशा है यहाँ आप सुखपूर्वक रहेंगे और यहाँ के लोगों का परिचय प्राप्त करेंगे। ईश्वर आपका कल्याण करे।" यह कहकर कार्डिनल खड़े हो गये।

एक बार नारायण हेमचन्द्र मेरे यहाँ धोती-कुरता पहनकर आये। भली घर-मालकिन में दरवाजा खोला और उन्हें देखकर डर गयी। मेरे पास आकर (पाठकों को याद होगा कि मैं अपने घर तो बदलता ही रहता था। इसलिए यह मालकिन नारायण हेमचन्द्र को नहीं जानती थी।) बोली: "कोई पागल-सा आदमी तुमसे मिलना चाहता है" मैं दरवाजे पर गया, तो नारायण हेमचन्द्र को खड़ा पाया। मैं दंग यह गया। पर उनके मुँह पर तो सदा की हँसी के सिवा और कुछ न था।

"क्या लड़कों ने आपको तंग नहीं किया?"

जवाब में वे बोले: "मेरे पीछे दौड़ते रहे। मैंने कुछ ध्यान नहीं दिया, इसलिए वे चुप हो गये।"

नारायण हेमचन्द्र कुछ महीने विलायत रहकर पेरिस गये। वहाँ फ्रेंच का अध्ययन शुरू किया और फ्रेंच पुस्तकों का अनुवाद करने लगे। उनके अनुवाद को जाँचने लायक फ्रेंच मैं जानता

था, इसलिए उन्होंने उसे देख जाने को कहा। मैंने देखा कि वह अनुवाद नहीं था, केवल भावार्थ था।

आखिर उन्होंने अमेंरिका जाने का अपना निश्चय पूरा किया। बड़ी मुश्किल से डेक का या तीसरे दर्जे का टिकट पा सके थे। अमेरीका में धोती-कुरता पहनकर निकलने के कारण 'असभ्य पोशाक पहनने' के अपराध में वे पकड़ लिये गये थे। मुझे याद पड़ता है कि बाद में वे छूट गये थे।

२३. महाप्रदर्शनी

सन् १८९० में पेरिस में एक बड़ी प्रदर्शनी हुई थी। उसकी तैयारियों के बारेमें मैं पढ़ता रहता था। पेरिस देखने की तीव्र इच्छा तो थी ही। मैंने सोचा कि यह प्रदर्शनी देखने जाऊँ, तो दोहरा लाभ होगा। प्रदर्शनी में एफिल टॉवर देखने का आकर्षण बहुत था। यह टॉवर सिर्फ लोहे का बना है। एक हजार फुट ऊँचा है। इसके बनने से पहले लोगों की यह कल्पना थी कि एक हजार फुट ऊँचा मकान खड़ा ही नहीं रह सकता। प्रदर्शनी में और भी बहुत कुछ देखने जैसा था।

मैंने पढ़ा था कि पेरिस में एक अन्नाहारवाला भोजन-गृह है। उसमें एक कमरा मैंने ठीक किया। गरीबी से यात्रा करके पेरिस पहुँचा। सात दिन रहा। देखने योग्य सब चीजें अधिकतर पैदल घूमकर ही देखीं। साथ में पेरिस की और उस प्रदर्शनी की 'गाइड' तथा नकशा ले लिया था। उसके सहारे रास्तों का पता लगाकर मुख्य-मुख्य चीजें देख लीं।

प्रदर्शनी की विशालता और विविधता के सिवा उसकी और कोई बात मुझे याद नहीं है। एफिल टॉवर पर तो दो-तीन बार चढ़ा था, इसलिए उसकी मुझे अच्छी तरह याद है। पहली मंजिल पर खाने-पीने का प्रबंध था। यह कह सकने के लिए कि इतनी ऊँची जगह पर भोजन किया था, मैंने साढ़े सात शिलिंग फूँककर वहाँ खाना खाया।

पेरिस के प्राचीन गिरजाघरों की याद बनी हुई है। उनकी भव्यता और उनके अन्दर मिलने वाली शांति भूलायी नहीं जा सकती। नोत्रदाम की कारीगरी और अन्दर की चित्रकारी को

मैं आज भी भूला नहीं हूँ। उस समय मन में यह खयाल आया था कि जिन्होंने लाखों रूपये खर्च करके ऐसे स्वर्गीय मन्दिर बनवाये हैं, उनके दिल की गहराई में ईश्वर-प्रेम तो रहा ही होगा।

पेरिस की फैशन, पेरिस के स्वेच्छाचार और उसके भोग-विलास के विषय में मैंने काफी पढ़ा था। उसके प्रमाण गली-गली में देखने को मिलते थे। पर ये गिरजाघर उन भोग-विलासों से बिलकुल अलग दिखायी पड़ते थे। गिरजों में घुसते ही बाहर की अशान्ति भूल जाती है। लोगों का व्यवहार बदल जाता है। लोग अदब से पेश आते हैं। वहाँ कोलाहल नहीं होता। कुमारी मरियम की मूर्ति के सम्मुख कोई-न-कोई प्रार्थना करता ही रहता है। यह सब वहम नहीं हैं, बल्कि हृदय की भावना है, ऐसा प्रभाव उस समय मुझ पर पड़ा था और बढ़ता ही गया है। कुमारिका की मूर्ति के सम्मुख घुटनों के बल बैठकर प्रार्थना करनेवाले उपासक संगमरमर के पत्थर को नहीं पूजते थे, बल्कि उसमें मानी हुई अपनी कल्पित शक्ति को पूजते थे। ऐसा करके वे ईश्वर की महिमा को घटाते नहीं बल्कि बढ़ाते थे, यह प्रभाव मेरे मन पर उस समय पड़ा था, जिसकी धुँधली याद मुझे आज भी है।

एफिल टॉवर के बारेमें दो शब्द कहना आवश्यक है। मैं नहीं जानता कि आज एफिल टॉवर का क्या उपयोग हो रहा है। प्रदर्शनी में जाने के बाद प्रदर्शनी संबंधी बातें तो पढ़ने में आती ही थीं। उसमें उसकी स्तुति भी पढ़ी और निन्दा भी। मुझे याद है कि निन्दा करनेवालों में टॉल्स्टॉय मुख्य थे। उन्होंने लिखा था कि एफिल टॉवर मनुष्य की मूर्खता का चिह्न है, उसके ज्ञान का परिणाम नहीं। अपने लेख में उन्होंने बताया था कि दुनिया में प्रचलित कई तरह के नशों में तम्बाकू का व्यसन एक प्रकार से सबसे ज्यादा खराब है। कुकर्म करने की जो हिम्मत मनुष्य में शराब पीने से नहीं आती, वह बीड़ी पीने से आती है। शराब पीनेवाला पागल हो जाता है, जब कि बीड़ी पीने वाले की अक्ल पर धुँआ छा जाता है, और इस कारण वह हवाई किले बनाने लगता है। टॉल्स्टॉय ने अपनी सम्मति प्रकट की थी कि एफिल टॉवर ऐसे ही व्यसन का परिणाम है।

एफिल टॉवर में सौन्दर्य तो कुछ है ही नहीं। ऐसा नहीं कह सकते कि उसके कारण प्रदर्शनी की शोभा में कोई वृद्धि हुई। एक नई चीज है, बडी चीज है, इसलिए हजारों लोग उसे देखने

के लिए उस पर चढ़े। यह टॉवर प्रदर्शनी का एक खिलौना था। और जब तक हम मोहवश हैं तब तक हम भी बालक हैं, यह चीज इस टाँवर द्वारा भलीभाँति सिद्ध होती है। मानना चाहें तो इतनी उपयोगिता उसकी मानी जा सकती है।

२४. बारिस्टर तो बने - लेकिन आगे क्या ?

मैं जिस काम के लिए (बारिस्टर बनने) विलायत गया था, उसका मैंने क्या किया, इसकी चर्चा मैंने अब तक छोड़ रखी थी। अब उसके बारेमें कुछ लिखने का समय आ गया है।

बारिस्टर बनने के लिए दो बातों की ज़रूरत थीं। एक थी, 'टर्म पूरी करना' अर्थात् सत्र में उपस्थित रहना। वर्ष में चार सत्र होते थे। ऐसे बारह सत्रों में हाजिर रहना था। दूसरी चीज थी, कानून की परीक्षा देना। सत्रों में उपस्थिति का मतलब था, 'दावतें खाना' ; यानि हरएक सत्र में लगभग चोवीस दावतें होती थीं, उनमें छह में सम्मिलित होना। दावतों में भोजन करना ही चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं था; परन्तु निश्चित समय पर उपस्थित रहकर भोज की समाप्ति तक वहाँ बैठे रहना ज़रूरी था। आम तौर पर तो सब खाते-पीते ही थे। खाने में अच्छी-अच्छी चीजें होती थीं और पीने के लिए बढ़िया मानी जानेवाली शराब। अलबत्ता, उसके दाम चुकाने होते थे। यह रकम ढाई से साढ़े तीन शिलिंग होती थी; अर्थात् दो-तीन रूपये का खर्च हुआ। वहाँ यह कीमत बहुत कम मानी जाती थी, क्योंकि बाहर के होटल में ऐसा भोजन करनेवालों को लगभग इतने पैसे तो शराब के ही लग जाते थे। खाने के खर्च की अपेक्षा शराब पीने वाले को पीने खर्च अधिक होता है। हिन्दुस्तान में हमको-यदि हम 'सभ्य' न हुए तो-इस पर आश्चर्य हो सकता है। मुझे तो विलायत जाने पर यह सब जानकर बहुत आघात पहुँचा था। और मेरी समझ में नहीं आता था कि शराब पीने के पीछे इतना पैसा बरबाद करने की हिम्मत लोग कैसे करते हैं। बाद में समझना सीखा ! इन दावतों में शुरू के दिनों में कुछ भी न खाता था, क्योंकि मेरे काम की चीजों में वहाँ सिर्फ रोटी, उबले आलू और गोभी ही होती थी। शुरू में तो ये रूचे नहीं, इससे खाये नहीं। बाद में जब उनमें स्वाद अनुभव किया, तब तो दूसरी चीजें भी प्राप्त करने की शक्ति मुझमें आ गयी थी।

विद्यार्थियों के लिए एक प्रकार के भोजन की और 'बेंचरों' (विद्या मन्दिर के बड़ो) के लिए अलग से अमीरी भोजन की व्यवस्था रहती थी। मेरे साथ एक पारसी विद्यार्थी थे। वे भी अन्नाहारी बन गये थे। हम दोनो ने अन्नाहार के प्रचार के लिए 'बेंचरों' के भोजन में से अन्नाहारी के खाने लायक चीजों की माँग की। माँग कबूल हुई | इससे हमें 'बेंचरों' की मेंज पर से फल वगैरा और दूसरी शाक-सब्जियाँ मिलने लगीं।

शराब तो मेरे काम की नहीं थी। चार आदमियों के बीच शराब की दो बोतलें मिलती थीं। इसलिए अनेक चौकड़ियों में मेरी माँग रहती थी। मैं पीता नहीं था, इसलिए बाकी तीन को दो बोतलें जो 'उड़ाने' को मिल जाती थीं | इसके अलावा, इन सत्रों में 'महारात्रि' (ग्रैंड नाइट) होती थी। उस दिन 'पोर्ट' और 'शेरी' के अलावा 'शेम्पेन' शराब भी मिलती थी। 'शेम्पन' की लज्जत कुछ और ही मानी जाती है। इसलिए इस 'महारात्रि' के दिन मेरी कीमत बढ़ जाती और उस रात हाजिर रहने का न्योता भी मुझे मिलता।

इस खान-पान से बारिस्टरी में क्या वृद्धि हो सकती है, इसे मैं न तब समझ सका, न बादमें। एक समय ऐसा अवश्य था कि जब इन भोजों में थोड़े ही विद्यार्थी सम्मिलित होते थे और उनके तथा 'बेंचरों' के बीच वार्तालाप होता तथा भाषण भी होते थे। इससे उन्हें व्यवहार-ज्ञान प्राप्त हो सकता था। वे अच्छी हो चाहे बुरी, पर एक प्रकार की सभ्यता सीखते थे और भाषण करने की शक्ति बढ़ाते थे। मेरे समय में तो यह सब असंभव ही था। बेंचर तो दूर, एक तरफ, अस्पृश्य बनकर बैठे रहते थे। इस पुरानी प्रथा का बाद में कोई मतलब नहीं रह गया। फिर भी प्राचीनता के प्रेमी-धीमें-इंग्लैण्ड में वह बनी रही।

कानून की पढाई सरल थी। बारिस्टर मजाक में 'डिनर (भोज के) बारिस्टर' ही कहलाते थे। सब जानते थे कि परीक्षा का मूल्य नहीं के बराबर है। मेरे समय में दो परीक्षायें होती थीं: रोमन लॉ की और इंग्लैण्ड के कानून की। दो भागों में दी जानेवाली इस परीक्षा की पुस्तकें निर्धारित थीं। पर उन्हें शायद ही कोई पढ़ता था। रोमन लॉ पर लिखे संक्षिप्त 'नोट मिलते थे। उन्हें पन्द्रह दिन में पढ़कर पास होने वालों को मैंने देखा था। यही चीज इंग्लैण्ड के कानून के बारेमें भी थी। उस पर लिखे नोटों को दो-तीन महीनों में पढ़कर तैयार होने वाले विद्यार्थी भी मैंने देखे थे। परीक्षा के प्रश्न सरल, परीक्षक उदार। रोमन लॉ में पंचानवे से निन्यानवे

प्रतिशत तक लोग उत्तीर्ण होते थे, और अंतिम परीक्षा में पचहत्तर प्रतिशत या उससे भी अधिक। इस कारण अनुत्तीर्ण होने का डर बहुत कम रहता था। फिर परीक्षा वर्ष में एक बार नहीं, चार बार होती थी। ऐसी सुविधा वाली परीक्षा किसीके लिए बोझरूप हो ही नहीं सकती थी।

पर मैंने उसे बोझ बना लिया। मुझे लगा कि मुझे मूल पुस्तकें पढ़ ही जानी चाहिए। न पढ़ने में मुझे धोखेबाजी लगी। इसलिए मैंने मूल पुस्तकें खरीदने पर काफी खर्च किया। मैंने रोमन लॉ को लेटिन में पढ़ डालने का निश्चय किया। विलायत की मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा में मैंने लेटिन सीखी थी, वह यहाँ उपयोगी सिद्ध हुई | यह पढ़ाई व्यर्थ नहीं गयी। दक्षिण अफ्रीका में रोमन-डच-लॉ (कानून) प्रमाणभूत माना जाता है। उसे समझने में जस्टिनियन का अध्ययन मेरे लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

इंग्लैण्ड के कानून का अध्ययन मैं नौ महीनों में काफी मेंहनत के बाद समाप्त कर सका, क्योंकि ब्रुम के 'कॉमन लॉ' नामक बड़े परन्तु दिलचस्प ग्रंथ का अध्ययन करने में ही काफी समय लग गया। स्नेल की 'इक्विटी' को रसपूर्वक पढ़ा, पर उसे समझने में मेरा दम निकल गया। व्हाइट और टयूडर के प्रमुख मुकदमों में से जो पढ़ने योग्य थे, उन्हें पढ़ने में मुझे मजा आया और ज्ञान भी प्राप्त हुआ। विलियम्स और एडवर्ड्ज़ की स्थावर सम्पत्ति-विषयक पुस्तक और गुडिव की जंगम सम्पत्ति पर लिखी पुस्तक मैं रस पूर्वक पढ़ सका था। विलियम्स की पुस्तक तो मुझे उपन्यास-सी लगी। उसे पढ़ते समय जी जरा भी नहीं ऊबा। कानून की पुस्तकों में इतनी ही रूचि के साथ हिन्दुस्तान आने के बाद मैंने मेंइन का 'हिन्दु लॉ' पढ़ा था। पर हिन्दुस्तान के कानून की बात यहाँ नही करूँगा।

परीक्षायें पास करके मैं १० जून, १८९१ के दिन बारिस्टर कहलाया। ११ जून को ढ़ाई शिलिंग देकर इंग्लैण्ड के हाईकोर्ट में अपना नाम दर्ज कराया और १२ जून को हिन्दुस्तान के लिए रवाना हुआ। पर मेरी निराशा और मेंरे भय की कोई सीमा न थी। मैंने अनुभव किया कि कानून तो मैं निश्चय ही पढ़ चुका हूँ, पर ऐसी कोई भी चीज मैंने सीखी नहीं हैं, जिससे मैं वकालत कर सकूँ।

मेरी इस व्यथा के वर्णन के लिए स्वतंत्र प्रकरण आवश्यक है।

२५. मेरी परेशानी

बारिस्टर कहलाना आसान मालूम हुआ, पर बारिस्टरी करना मुश्किल लगा। कानून पढ़े, पर वकालत करना न सीखा। कानून में मैंने कई धर्मसिद्धांत पढ़े, जो अच्छे लगे। पर यह समझ में न आया कि इस पेशे में उनका उपयोग कैसे किया जा सकेगा। 'अपनी सम्पत्ति का उपयोग तुम इस तरह करो कि जिससे दूसरे की सम्पत्ति को हानि न पहुँचे'-यह एक धर्म-वचन है। पर मैं यह न समझ सका कि वकालत का पेशा करते हुए मुवक्किल के मामले में इसका उपयोग कैसे किया जा सकता होगा। जिन मुकदमों में इस सिद्धान्त का उपयोग हुआ था, उन्हें मैं पढ़ गया। पर उससे मुझे इस सिद्धान्त का उपयोग करने की युक्ति मालूम न हुई।

इसके अलावा, पढ़े हुए कानूनों में हिन्दुस्तान के कानून का तो नाम तक न था। मैं यह जान ही न पाया कि हिन्दु शास्त्र और इस्लामी कानून कैसे हैं। न मैंने अर्जी-दावा तैयार करना सीखा। मैं बहुत परेशान हुआ। फीरोजशाह मेहता का नाम मैंने सुना था। वे अदालतों में सिंह की तरह गर्जना करते थे। विलायत में उन्होंने यह कला कैसे सीखी होगी ? उनके जितनी होशियारी तो इस जीवन में आ नहीं सकती। पर एक वकील के नाते आजीविका प्राप्त करने की शक्ति पाने के विषय में भी मेरे मन में बड़ी शंका उत्पन्न हो गयी।

यह उलझन उसी समय से चल रही थी, जब मैं कानून का अध्ययन करने में लगा था। मैंने अपनी कठिनाईयाँ एक-दो मित्रों के सामने रखीं। उन्होंने सुझाया कि मैं दादाभाई नौरोजी की सलाह लूँ। यह तो मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि दादाभाई के नाम एक पत्र मेरे पास था। उस पत्र का उपयोग मैंने देर में किया। ऐसे महान पुरूष से मिलने जाने का मुझे क्या अधिकार था ? कहीं उनका भाषण होता, तो मैं सुनने जाता और एक कोने में बैठकर आँख और कान को तृप्त करके लौट आता। विद्यार्थियों से सम्पर्क रखने के लिए उन्होंने एक मण्डल की भी स्थापना की थी। मैं उसमें जाता रहता था। विद्यार्थियों के प्रति दादाभाई की चिन्ता देखकर और उनके प्रति विद्यार्थियों का आदर देखकर मुझे आनन्द होता था। आखिर मैंने उन्हें अपने पास का सिफ़ारिशी पत्र देने की हिम्मत की। मैं उनसे मिला। उन्होंने मुझसे कहा था: "तुम मुझसे मिलना चाहो और कोई सलाह लेना चाहो तो ज़रूर मिलना।"

पर मैंने उन्हें कभी कोई कष्ट नहीं दिया। किसी भारी कठिनाई के सिवा उनका समय लेना मुझे पाप जान पड़ा। इसलिए उक्त मित्र की सलाह मानकर दादाभाई के सम्मुख अपनी कठिनाईयाँ रखने की मेरी हिम्मत न पड़ी।

उन्हीं मित्र ने या किसी और ने मुझे सुझाया कि मैं मि. फ्रेडरिक पिंकट से मिलूँ। मि. पिंकट कंजर्वेटिव (अनुदार) दल के थे। पर हिन्दुस्तानियों के प्रति उनका प्रेम निर्मल और निःस्वार्थ था। कई विद्यार्थी उनसे सलाह लेते थे। अतएव उन्हें पत्र लिखकर मैंने मिलने का समय माँगा। उन्होंने समय दिया। मैं उनसे मिला। इस मुलाकात को मैं कभी भूल नहीं सका। वे मुझसे मित्र की तरह मिले। मेरी निराशा को तो उन्होने हँसकर ही उड़ा दिया। "क्या तुम यह मानते हो कि सबके लिए फीरोजशाह मेहता बनना ज़रूरी है? फीरोजशाह मेहता या बदरूद्दीन तैयबजी तो एक-दो ही होते हैं। तुम निश्चय समझो कि साधारण वकील बनने के लिए बहुत अधिक होशियारी की ज़रूरत नहीं होती। साधारण प्रामाणिकता और लगन से मनुष्य वकालत का पेशा आराम से चला सकता है। सब मुकदमें उलझनों वाले नहीं होते। अच्छा, यह तो बताओ कि तुम्हारा साधारण वाचन क्या है?"

जब मैंने अपनी पढ़ी हुई पुस्तकों की बात की, तो मैंने देखा कि वे थोड़े निराश हुए। पर वह निराशा क्षणिक थी। तुरन्त ही उनके चेहरे पर हँसी छा गयी और वे बोले:

'"अब मैं तुम्हारी मुश्किल को समझ गया हूँ। साधारण विषयों की तुम्हारी पढ़ाई बहुत कम हैं। तुम्हें दुनिया का ज्ञान नही है। इसके बिना वकील का काम नहीं चल सकता। तुमने तो हिन्दुस्तान का इतिहास भी नहीं पढ़ा है। वकील को मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान होना चाहिए। उसे चेहरा देखकर मनुष्य को परखना आना चाहिए। साथ ही, हरएक हिन्दुस्तानी को हिन्दुस्तान के इतिहास का भी ज्ञान होना चाहिए। वकालत के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, पर तुम्हें इसकी जानकारी होनी चाहिए। मैं देख रहा हूँ कि तुमने के और मेंलेसन की १८५७ के गदर की किबात भी नहीं पढ़ी है। उसे तो तुम फौरन पढ़ डालो और जिन दो पुस्तकों के नाम देता हूँ, उन्हें मनुष्य की परख के खयाल से पढ़ जाना।" यों कहकर उन्होंने लेवेटर और शेमलपेनिक की मुख-सामुद्रिक-विद्या (फीजियोग्नॉमी) विषयक पुस्तकों के नाम लिख दिये।

मैंने उन वयोवृद्ध मित्र का बहुत आभार माना। उनकी उपस्थिति में तो मेरा भय क्षणभर के लिए दूर हो गया। पर बाहर निलकने के बाद तुरन्त ही मेरी घबराहट फिर शुरू हो गयी। चेहरा देखकर आदमी को परखने की बात को रटता हुआ और उन दो पुस्तकों का विचार करता हुआ मैं घर पहुँचा। दूसरे दिन लेवेटर की पुस्तक खरीदी। शेमलपेनिक की पुस्तक उस दुकान पर नहीं मिली। लेवेटर की पुस्तक पढ़ी, पर वह तो स्नेल से भी अधिक कठिन जान पड़ी। रस भी नहीं के बराबर ही मिला। शेक्सपियर के चेहरे का अध्ययन किया। पर लंदन की सड़कों पर चलने वाले शेक्सपियरों को पहचाने की शक्ति तो मिली ही नहीं।

लेवेटर की पुस्तक से मुझे कोई ज्ञान नहीं मिला। मि. पिंकट की सलाह का सीधा लाभ मुझे कम ही मिला, पर उनके स्नेह का बड़ा लाभ मिला। उनके हँसमुख और उदार चेहरे की याद बनी रही। मैंने उनके इन वचनों पर श्रद्धा रखी कि वकालत करने के लिए फीरोजशाह मेहता की होशियारी औऱ याददाश्त वगैरा की ज़रूरत नहीं है; प्रामाणिकता और लगन से काम चल सकेगा। इन दो गुणों की पूँजी तो मेरे पास काफी मात्रा में थी। इसलिए दिल में कुछ आशा जागी।

के. और मेंलेसन की पुस्तक मैं विलायत में पढ़ नहीं पाया। पर मौका मिलते ही उसे पढ़ डालने का निश्चय कर लिया था। यह इच्छा दक्षिण अफ्रीका में पूरी हुई।

इस प्रकार निराशा में तनिक-सी आशा का पुट लेकर मैं काँपते पैरों 'आसाम' जहाज से बम्बई के बन्दरगाह पर उतरा। उस समय बन्दरगाह में समुद्र क्षुब्ध था, इस कारण लान्च (बड़ी नाव) में बैठकर किनारे पर आना पड़ा।

दूसरा भाग

१. रायचन्दभाई

पिछले प्रकरण में मैंने लिखा था कि बम्बई के बन्दर में समुद्र तूफानी था। जून-जुलाई में हिन्द महासागर के लिए वह आश्चर्य की बात नहीं मानी जा सकती। अदन से ही समुद्र का यह हाल था। सब लोग बीमार थे, अकेला मैं मौज में था। तूफान देखने के लिए डेक पर खड़ा रहता। भीग भी जाता। सुबह के नाश्ते के समय मुसाफिरों में हम एक या दो ही मौजूद रहते। जई की लपसी हमें रकाबी को गोद में रख कर खानी पड़ती थी, वरना हालत ऐसी थी कि लपसी ही गोद में फैल जाती !

मेरे विचार में बाहर का यह तूफान मेरे अन्दर के तूफान के चिह्नरूप था। पर जिस तरह बाहरी तूफान के रहते मैं शान्त रह सका, मुझे लगता है कि अन्दर के तूफान के लिए भी वही बात कही जा सकती है। जाति का प्रश्न तो था ही। धंधे की चिंता के विषय में भी मैं लिख चुका हूँ। इसके अलावा, सुधारक होने के कारण मैंने मन में कई सुधारों की कल्पना कर रखी थी। उनकी भी चिन्ता थी। कुछ दूसरी चिन्तायें अनसोची उत्पन्न हो गयीं।

मैं माँ के दर्शनों के लिए अधीर हो रहा था। जब हम घाट पर पहुँचे, मेरे बड़े भाई वहाँ मौजूद ही थे। उन्होंने डॉ. मेहता से और उनके बड़े भाई से पहचान कर ली थी। डॉ. मेहता का आग्रह था कि मैं उनके घर ही ठहरूँ, इसलिए मुझे वहीं ले गये। इस प्रकार जो सम्बन्ध विलायत में जुड़ा था वह देश में कायम रहा और अधिक दृढ़ बनकर दोनों कुटुम्बों में फैल गया।

माता के स्वर्गवास का मुझे कुछ पता न था। घर पहुँचने पर इसकी खबर मुझे दी गयी और स्नान कराया गया। मुझे यह खबर विलायत में ही मिल सकती थी, पर आघात को हलका करने के विचार से बम्बई पहुँचने तक मुझे इसकी कोई खबर न देने का निश्चय बड़े भाई ने कर रखा था। मैं अपने दुःख पर पर्दा डालना चाहता हूँ। पिता की मृत्यु से मुझे जो आघात पहुँचा था, उसकी तुलना में माता की मृत्यु की खबर से मुझे बहुत अधिक आघात पहुँचा। मेरे बहुतेरे मनोरथ मिट्टी में मिल गये। पर मुझे याद है कि इस मृत्यु के समाचार सुनकर मैं

फूट-फूटकर रोया न था। मैं अपने आँसुओं को भी रोक सका था, और मैंने अपना रोज का कामकाज इस तरह शुरू कर दिया था, मानो माता की मृत्यु हुई ही न हो।

डॉ. मेहता ने अपने घर जिन लोगों से मेरा परिचय कराया, उनमें से एक का उल्लेख किये बिना काम चल ही नहीं सकता। उनके भाई रेवाशंकर जगजीवन तो मेरे आजन्म मित्र बन गये। पर मैं जिनकी चर्चा करना चाहता हूँ, वे हैं कवि रायचन्द अथवा राजचन्द्र। वे डॉक्टर के बड़े भाई के जामाता थे और रेवाशंकर जगजीवन की पेढ़ी के साक्षी तथा कर्ता-धर्ता थे। उस समय उनकी उमर पचीस साल से अधिक नहीं थी। फिर भी अपनी पहली ही मुलाकात में मैंने यह अनुभव किया था कि वे चरित्रवान और ज्ञानी पुरूष हैं। वे शतावधानी माने जाते थे | डॉ. मेहता ने मुझे शतावधान का नमूना देखने को कहा। मैंने भाषा-ज्ञान का अपना भण्डार खाली कर दिया और कवि ने मेरे कहे हुए शब्दों को उसी क्रम से सुना दिया, जिस क्रम में वे कहे गये थे ! उनकी इस शक्ति पर मुझे ईर्ष्या हुई, लेकिन मैं उस पर मुग्ध न हुआ। मुझे मुग्ध करनेवाली वस्तु का परिचय तो बाद में हुआ। वह था उनका व्यापक शास्त्रज्ञान, उनका शुद्ध चारित्र्य और आत्मदर्शन करने का उनका उत्कट उत्साह। बाद में मुझे पता चला कि वे आत्मदर्शन के लिए ही अपना जीवन बिता रहे थे:

हसतां रमतां प्रगट हरि देखुं रे,
मारूं जीव्युं सफल तव लेखुं रे;
मुक्तानन्दनो नाथ विहारी रे,
ओधा जीवनदोरी हमारी रे।

(जब हँसते-खेलते हर काम में मुझे हरि के दर्शन हों तभी मैं अपने जीवन को सफल मानूँगा। मुक्तानन्द कहते हैं, मेरे स्वामी तो भगवान हैं और वे ही मेरे जीवन की डोर हैं।)

मुक्तानन्द का यह वचन उनकी जीभ पर तो था ही, पर वह उनके हृदय में भी अंकित था।

वे स्वयं हजारों का व्यापार करते, हीरे-मोती की परख करते, व्यापार की समस्याएँ सुलझाते, पर यह सब उनका विषय न था। उनका विषय-उनका पुरूषार्थ तो था आत्म-परिचय-हरिदर्शन। उनकी गद्दी पर दूसरी कोई चीज हो चाहे न हो, पर कोई न कोई धर्मपुस्तक और डायरी तो अवश्य रहती थी। व्यापार की बात समाप्त होते ही धर्मपुस्तक खुलती अथवा

उनकी डायरी खुलती थी । उनके लेखों का जो संग्रह प्रकाशित हुआ है, उसका अधिकांश इस डायरी से लिया गया है । जो मनुष्य लाखों के लेन-देन की बात करके तुरन्त ही आत्म-ज्ञान की गूढ़ बाते लिखने बैठ जाए, उसकी जाति व्यापारी की नहीं, बल्कि शुद्ध ज्ञानी की है । उनका ऐसा अनुभव मुझे एक बार नही, कई बार हुआ था । मैंने कभी उन्हें मूर्च्छा की स्थिति में नहीं पाया । मेरे साथ उनका कोई स्वार्थ नहीं था। मैं उनके बहुत निकट सम्पर्क में रही हूँ। उस समय मैं एक भिखारी बारिस्टर था । पर जब भी मैं उनकी दुकान पर पहुँचता, वे मेरे साथ धर्म-चर्चा के सिवा दूसरी कोई बात ही न करते थे । यद्यपि उस समय मैं अपनी दिशा स्पष्ट नहीं कर पाया था; यह भी नहीं कह सकता कि साधारणतः मुझे धर्म-चर्चा में रस था; फिर भी रायचन्दभाई की धर्म-चर्चा मैं रूचिपूर्वक सुनता था । उसके बाद मैं अनेक धर्माचार्यों के सम्पर्क में आया हूँ । मैंने हरएक धर्म के आचार्यों से मिलने का प्रयत्न किया है। पर मुझ पर जो छाप रायचन्दभाई ने डाली, वैसी दूसरा कोई न डाल सका। उनके बहुतेरे वचन मेरे हृदय में सीधे ऊतर जाते थे। मैं उलकी बुद्धि का सम्मान करता था । उनकी प्रामाणिकता के लिए भी मेरे मन में उतना ही आदर था । इसलिए मैं जानता था कि वे मुझे जान-बूझकर गलत रास्ते नहीं ले जाएँगे और जो उनके मन में होगा वही कहेंगे। इस कारण अपने आध्यात्मिक संकट के समय मैं उनका आश्रय लिया करता था।

रायचन्दभाई के प्रति इतना आदर रखते हुए भी मैं उन्हें धर्मगुरू के रूप में अपने हृदय में स्थान न दे सका । मेरी वह खोज तो आज भी चल रही है ।

हिन्दू धर्म में गुरूपद को जो महत्त्व प्राप्त है, उसमें मैं विश्वास रखता हूँ। 'गुरू बिन ज्ञान न होय', इस वचन में बहुत-कुछ सच्चाई है । अक्षरज्ञान देनेवाले अपूर्ण शिक्षक से काम चलाया जा सकता है, पर आत्म-दर्शन करानेवाले अपूर्ण शिक्षक से तो चलाया ही नहीं जा सकता । गुरूपद सम्पूर्ण ज्ञानी को ही दिया जा सकता है । गुरू की खोज में ही सफलता निहित है, क्योंकि शिष्य की योग्यता के अनुसार ही गुरू मिलता है । इसका अर्थ यह है कि योग्यता-प्राप्ति के लिए प्रत्येक साधक को सम्पूर्ण प्रयत्न करने का अधिकार है, और इस प्रयत्न का फल ईश्वराधीन है ।

तात्पर्य यह कि यद्यपि मैं रायचन्दभाई को अपने हृदय का स्वामी नहीं बना सका, तो भी मुझे समय-समय पर उनका सहारा किस प्रकार मिला है, इसे अब हम आगे देखेंगे । यहाँ तो इतना कहना काफी होगा कि मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव डालनेवाले आधुनिक पुरूष तीन हैं: रायचन्दभाई ने अपने सजीव सम्पर्क से, टॉलस्टॉय ने 'वैकुण्ठ तेरे हृदय में है' नामक अपनी पुस्तक से और रसिकन ने 'अन्टु धिस लास्ट'-सर्वोदय-नामक पुस्तक से मुझे चकित कर दिया । पर इन प्रसंगों की चर्चा आगे यथास्थान होगी ।

२. संसार-प्रवेश

बड़े भाई ने मुझ पर बड़ी-बड़ी आशायें बाँध रखी थी। उनको पैसे का, कीर्ति का और पद का लोभ बहुत था। उनका दिल बादशाही था। उदारता उन्हें फिजूलखर्ची की हद तक ले जाती थी। इस कारण और अपने भोले स्वभाव के कारण उन्हें मित्रता करने में देर न लगती थी। इस मित्र-मण्डली की मदद से वे मेरे लिए मुकदमें लानेवाले थे। उन्होंने यह भी मान लिया था कि मैं खूब कमाऊँगा, इसलिए घरखर्च बढ़ा रखा था। मेरे लिए वकालत का क्षेत्र तैयार करने में भी उन्होंने कोई कसर नहीं रखी थी।

जाति का झगड़ा मौजूद ही था। उसमें दो तड़ें पड़ गयी थीं। एक पक्षने मुझे तुरन्त जाति में ले लिया। दूसरा पक्ष न लेने पर डटा रहा। जाति में लेनेवाले पक्ष को संतुष्ट करने के लिए राजकोट ले जाने से पहले भाई मुझे नासिक ले गये। वहाँ गंगा-स्नान कराया और राजकोट पहुँचने पर जातिभोज दिया।

मुझे इस काम में कोई रूचि न थी। बड़े भाई के मन में मेरे लिए अगाध प्रेम था। मैं मानता हूँ कि उनके प्रति मेरी भक्ति भी वैसी ही थी। इसलिए उनकी इच्छा को आदेश मानकर मैं यंत्र की भाँति बिना समझे उनकी इच्छा का अनुसरण करता रहा। जाति का प्रश्न इससे हल हो गया।

जाति की जिस तड़ से मैं बहिस्कृत रहा, उसमें प्रवेश करने का प्रयत्न मैंने कभी नहीं किया, न मैंने जाति के किसी मुखिया के प्रति मन में कोई रोष रखा। उनमें मुझे तिरस्कार से देखने वाले लोग भी थे। उनके साथ मैं नम्रता का बरताव करता था। जाति के बहिस्कार-सम्बन्धी कानून का मैं सम्पूर्ण आदर करता था। अपने सास-ससुर के घर अथवा अपनी बहन के घर मैं पानी तक न पीता था। वे छिपे तौर पर पिलाने को तैयार भी होते, पर जो काम खुले तीर से न किया जा सके, उसे छिपकर करने के लिए मेरा मन ही तैयार न होता था।

मेरे इस व्यवहार का परिणाम यह हुआ कि जाति की ओर से मुझे कभी कोई कष्ट नहीं दिया गया। यहीं नहीं, बल्कि आज भी मैं जाति के एक विभाग में विधिवत् बहिष्कृत माना जाता हूँ, फिर भी उनकी ओर से मैंने सम्मान और उदारता का ही अनुभव किया है। उन्होंने मेरे

कार्य में मुझे मदद भी दी है, और मुझसे यह आशा तक नहीं रखी कि जाति के लिए मैं कुछ-न-कुछ करूँ। मैं ऐसा मानता हूँ कि यह मधुर फल मेरे अप्रतिकार का ही परिणाम है। यदि मैंने जाति में सम्मिलित होने की खटपट की होती, अधिक तड़ें पैदा करने का प्रयत्न किया होता, जातिवालों को छेड़ा-चिढ़ाया होता, तो वे अवश्य मेरा विरोध करते और मैं विलायत से लौटते ही उदासीन और अलिप्त रहने के स्थान पर खटपट के फन्दे में फँस जाता और केवल मिथ्यात्व का पोषण करनेवाला बन जाता।

पत्नी के साथ मेरा सम्बन्ध अब भी जैसा मैं चाहता था वैसा बना नहीं था। विलायत जाकर भी मैं अपने ईर्ष्यालू स्वभाव को छोड़ नहीं पाया था। हर बात में मेरा छिद्रान्वेषण और मेरा संशय वैसा ही बना रहा। इससे मैं अपनी मनोकामनाएँ पूरी न कर सका | पत्नी को अक्षर-ज्ञान तो होना ही चाहिए। मैंने सोचा था कि यह काम मैं स्वयं करूँगा, पर मेरी विषयासक्ति ने मुझे यह काम करने ही न दिया और अपनी इस कमजोरी का गुस्सा मैंने पत्नी पर उतारा। एक समय तो ऐसा भी आया जब मैंने उसे उसके मायके ही भेज दिया और अतिशय कष्ट देने के बाद ही फिर से अपने साथ रखना स्वीकार किया। बाद में मैंने अनुभव किया कि इसमें मेरी नादानी के सिवा कुछ नहीं था।

बच्चों की शिक्षा के विषय में भी मैं सुधार करना चाहता था। बड़े भाई के बालक थे और मैं भी एक लड़का छोड़ गया था, जो अब चार साल का हो रहा था। मैंने सोचा था कि इन बालकों से कसरत कराउँगा, इन्हें मजबूत बनाऊँगा और इन्हें अपने सहवास में रखूँगा। इसमें भाई की सहानभूति थी। इसमें मैं थोड़ी-बहुत सफलता प्राप्त कर सका था। बच्चों का साथ मुझे बहुत रूचा और उनसें हँसी-मजाक करने की मेरी आदत अब तक बनी हुई है। तभी से मेरा यह विचार बना है कि मैं बच्चों के शिक्षक का काम अच्छी तरह कर सकता हूँ।

खाने-पीने में भी सुधार करने की आवश्यकता स्पष्ट थी। घर में चाय-कॉफी को जगह मिल चुकी थी। बड़े भाई ने सोचा कि मेरे विलायत से घर लौटने के पहले घर में विलायत की कुछ हवा तो दाखिल हो ही जानी चाहिए। इसलिए चीनी मिट्टी के बरतन, चाय आदि जो चीजें पहले घर में केवल दवा के रूप में और 'सभ्य' मेंहमानों के लिए काम आती थीं, वे अब सबके लिए बरती जाने लगीं। ऐसे वातावरण में मैं अपने 'सुधार' लेकर पहुँचा।

ओटमील पॉरिज (जई की लपसी) को घर में जगह मिली, चाय-कॉफी के बदले कोको शुरू हुआ। पर यह परिवर्तन तो नाममात्र को ही था, चाय-कॉफी के साथ कोको और बढ़ गया। बूट-मोजे घर में घुस ही चुके थे। मैंने कोट-पतलून से घर को पुनीत किया !

इस तरह खर्च बढ़ा | नवीनतायें बढ़ी। घर पर सफेद हाथी बँध गया। पर यह खर्च लाया कहाँ से जाय ? राजकोट में तुरन्त धन्धा शुरू करता हूँ, तो हँसी होती है। मेंरे पास ज्ञान तो इतना भी न था कि राजकोट में पास हुए वकील के मुकाबले में खड़ा हो सकूँ, तिस पर फीस उससे दस गुनी लेने का दावा ! कौन मूर्ख मुवक्किल मुझे काम देता ? अथवा कोई ऐसा मूर्ख मिल भी जाए, तो क्या मैं अपने अज्ञान में धृष्टता और विश्वासघात की वृद्धि करके अपने ऊपर संसार का ऋण और बढ़ा लूँ ?

मित्रों की सलाह यह रही कि मुझे कुछ समय के लिए बम्बई जाकर हाईकोर्ट की वकालत का अनुभव प्राप्त करना और हिन्दुस्तान के कानून का अध्ययन करना चाहिए और कोई मुकदमा मिल सके तो उसके लिए कोशिश करनी चाहिए। मैं बम्बई के लिए रवाना हुआ।

वहाँ घर बसाया। रसोईया रखा। रसोइया मेंरे जैसा ही था | ब्राह्मण था। मैंने उसे नौकर की तरह कभी रखा ही नहीं। यह ब्राह्मण नहाता था, पर धोता नहीं था। उसकी धोती मैंली, जनेऊ मैंला। शास्त्र के अभ्यास से उसे कोई सरोकार नहीं। लेकिन अधिक अच्छा रसोईया कहाँ से लाता ?

"क्यों रविशंकर (उसका नाम रविशंकर था), तुम रसोई बनाना तो जानते नहीं, पर सन्ध्या आदि का क्या हाल है ?"

"क्या बताऊँ भाईसाहब, हल मेरा सन्ध्या-तर्पण है और कुदाल खटकरम है। अपने राम तो ऐसे ही बाम्हन हैं। कोई आप जैसा निबाह ले तो निभ जाएँ, नहीं तो आखिर खेती तो अपनी है ही।"

मैं समझ गया। मुझे रविशंकर का शिक्षक बनना होगा। समय मेंरे पास बहुत था | आधी रसोई रविशंकर बनाता और आधी मैं। मैंने विलायत की अन्नाहारवाली खुराक के प्रयोग यहाँ शुरू किये। एक स्टोव खरीदा। मैं स्वयं तो पंक्ति-भेद को मानता ही न था। रविशंकर को भी उसका आग्रह न था। इसलिए हमारी पटरी ठीक जम गयी। शर्त या मुसीबत, जो

कहो सो यह थी कि रविशंकर ने मैंल से नाता न तोड़ने और रसोई साफ रखने की सौगन्ध ले रखी थी !

लेकिन मैं चार-पाँच महीने से अधिक बम्बई में रह ही न सकता था, क्योंकि खर्च बढता जाता था और आमदनी कुछ भी न थी!

इस तरह मैंने संसार में प्रवेश किया। बारिस्टरी मुझे अखरने लगी। आडम्बर अधिक, कुशलता कम। जवाबदारी का खयाल मुझे दबोच रहा था।

३. पहला मुकदमा

बम्बई में एक ओर मेरी कानून की पढ़ाई शुरू हुई, दुसरी ओर मेरे आहार के प्रयोग चले और उनमें वीरचन्द गांधी मेरे साथ हो गये । तीसरी तरफ भाई ने मेरे लिए मुकदमें खोजने की कोशिश शुरू की ।

कानून की पढ़ाई का काम धीमी चाल से चला । जाब्ता दीवानी (सिविल प्रोसीजर कोड) किसी भी तरह गले न उतरता था । एविडेन्स एक्ट (कानून शहादत) की पढ़ाई ठीक चली । वीरचन्द गांधी सॉलिसिटर बनने की तैयारी कर रहे थे । इसलिए वे वकीलों के बारेमें बहुत-कुछ कहते रहते थे । "फीरोजशाह मेहता की होशियारी का कारण उनका अगाध कानूनी ज्ञान है । 'एविडेन्स एक्ट' (कानून शहादत) तो उनको जबानी याद है । धारा ३२ के हरएक मुकदमें की उन्हे जानकारी है । बदरूद्दीन तैयबजी की होशियारी ऐसी है कि न्यायाधीश भी उनके सामने चौंधिया जाते हैं । बहस करने की उनकी शक्ति अद्भुत है ।"

इधर मैं इन महारथियों की बातें सुनता और उधर मेरी घबराहट बढ़ जाती। वे कहते, "पाँच-सात साल तक बारिस्टर का अदालत में जूतियाँ तोड़ते रहना आश्चर्यजनक नहीं माना जाता । इसीलिए मैंने सॉलिसिटर बनने का निश्चय किया है । कोई तीन साल के बाद भी तुम अपना खर्च चलाने लायक कमा लो, तो कहना होगा कि तुमने खूब प्रगति कर ली ।"

हर महीने खर्च बढ़ता जाता था । बाहर बारिस्टर की तख्ती लटकाये रहना और घर में बारिस्टरी करने की तैयारी करना ! मेरा मन इन दो के बीच कोई मेंल नहीं बैठा पाता था । इसलिए कानून की मेरी पढ़ाई व्यग्र चित से होती थी। शहादत के कानून में कुछ रूचि पैदा होने की बात तो ऊपर कह चुका हूँ । मेंइन का 'हिन्दू लॉ' मैंने बहुत रूचिपूर्वक पढ़ा, पर मुकदमा लड़ने की हिम्मत न आयी। अपना दुःख किसे सुनाऊँ ? मेरी दशा ससुराल गयी हुई नई बहूकी-सी हो गयी !

इतने में मुझे ममीबाई का मुकदमा मिला । स्मॉल कॉज कोर्ट (छोटी अदालत) में जाना था । मुझसे कहा गया, "दलाल को कमीशन देना पड़ेगा!" मैंने साफ इनकार कर दिया।

“पर फौजदारी अदालत के सुप्रसिद्ध वकील श्री...., जो हर महीने तीन-चार हजार कमाते हैं, भी कमीशन तो देते हैं।”

“मुझे कौन उनकी बराबरी करनी है ? मुझको तो हर महीने 300 रुपये मिल जाएँ तो काफी है। पिताजी को कौन इससे अधिक मिलते थे?”

“पर वह जमाना बलद गया। बम्बई का खर्च बड़ा है। तुम्हें व्यवहार की दृष्टि से भी सोचना चाहिए।”

मैं टस-से-मस न हुआ। कमीशन मैंने नहीं ही दिया। फिर भी ममीबाई का मुकदमा तो मुझे मिला। मुकदमा आसान था। मुझे ब्रीफ (मेंहनताने के) रू. ३० मिले। मुकदमा एक दिन से ज्यादा चलनेवाला न था।

मैंने पहली बार स्मॉल कॉज कोर्ट में प्रवेश किया। मैं प्रतिवादी की तरफ से था, इसलिए मुझे जिरह करनी थी। मैं खड़ा तो हुआ, पर पैर काँपने लगे। सिर चकराने लगा। मुझे ऐसा लगा, मानों अदालत घुम रही हैं। सवाल कुछ सुझते ही न थे। जज हँसा होगा। वकीलों को तो मजा आया ही होगा। पर मेरी आँखो के सामने तो अंधेरा था-मैं देखता क्या ?

मैं बैठ गया। दलाल से कहा, “मुझसे यह मुकदमा नहीं चल सकेगा। आप पटेल को सौंपिये। मुझे दी हुई फीस वापस ले लीजिए।”

पटेल को उसी दिन के ५१ रूपये देकर वकील किया गया। उनके लिए तो वह बच्चों का खेल था।

मैं भागा। मुझे याद नहीं कि मुवक्किल जीता या हारा। मैं शरमाया। मैंने निश्चय किया कि जब तक पूरी हिम्मत न आ जाय, कोई मुकदमा न लूँगा; और फिर दक्षिण अफ्रीका जाने तक कभी अदालत में गया ही नहीं। इस निश्चय में कोई शक्ति न थी। ऐसा कौन बेकार बैठा था, जो हारने के लिए अपना मुकदमा मुझे देता ? इसलिए मैं निश्चय न करता तो भी कोई मुझे अदालत में जाने की तकलीफ देने वाला न था !

पर बम्बई में मुझे अभी एक और मुकदमा मिलनेवाला था। इस मुकदमें में अर्जी-दावा तैयार करना था। एक गरीब मुसलमान की जमीन पोरबन्दर में जब्त हुई थी। मेंरे पिताजी का नाम जानकर वह उनके बारिस्टर बेटे के पास आया था। मुझे उसका मामला लचर लगा। पर मैंने

अर्जी-दावा तैयार कर देना कबूल कर लिया। छपाई का खर्च मुवक्किल को देना था। मैंने अर्जी-दावा तैयार कर लिया। मित्रों को दिखाया। उन्होंने पास कर दिया और मुझे कुछ-कुछ विश्वास हुआ कि मैं अर्जी-दावे लिखने लायक तो ज़रूर बन सकूँगा-असल में मैं इस लायक था भी।

मेरी काम बढ़ता गया। मुफ्त में अर्जियाँ लिखने का धंधा करता तो अर्जियाँ लिखने का काम तो मिलता, पर उससे दाल-रोटी की व्यवस्था कैसे होती ?

मैंने सोचा कि मैं शिक्षक का काम तो अवश्य ही कर सकता हूँ। मैंने अंग्रेजी का अभ्यास काफी किया था। अतएव मैंने सोचा कि यदि किसी हाईस्कूल में मैंट्रिक की कक्षा में अंग्रेजी सिखाने का काम मिल जाए तो कर लूँ। खर्च का गड्ढ़ा कुछ तो भरे !

मैंने अखबारों में विज्ञापन पढ़ा: "आवश्यकता है, अंग्रेजी शिक्षक की; प्रतिदिन एक घंटे के लिए। वेतन रू. ७५।" यह एक प्रसिद्ध हाईस्कूल का विज्ञापन था। मैंने प्रार्थना-पत्र भेजा। मुझे प्रत्यक्ष मिलने की आज्ञा हुई। मैं बड़ी उमंगों के साथ मिलने गया। पर जब आचार्य को पता चला कि मैं बी. ए. नहीं हूँ, तो उन्होंने मुझे खेदपूर्वक बिदा कर दिया।

"पर मैंने लन्दन की मैंट्रिक्युलेशन परीक्षा पास की है। लेटिन मेरी दूसरी भाषा थी।" मैंने कहा।

"सो ठीक हैं, पर हमें तो ग्रेज्युएट की ही आवश्यकता है।"

मैं लाचार हो गया। मेरी हिम्मत छूट गयी। बड़े भाई भी चिन्तित हुए। हम दोनों ने सोचा कि बम्बई में अधिक समय बिताना निरर्थक है। मुझे राजकोट में ही जमना चाहिए। भाई स्वयं छोटे वकील थे। मुझे अर्जी-दावे लिखने का कुछ-न-कुछ काम तो दे ही सकते थे। फिर राजकोट में तो घर का खर्च चलता ही था। इसलिए बम्बई का खर्च कम कर डालने से बड़ी बचत हो जाती। मुझे यह सुझाव जँचा। यों कुल लगभग छह महीने रहकर बम्बई का घर मैंने समेंट लिया।

जब तक बम्बई में रहा,मैं रोज हाईकोर्ट जाता था। पर मैं यह नहीं कह सकता कि वहाँ मैंने कुछ सीखा सीखने लायक समझ ही मुझमें न थी। कभी-कभी तो मुकदमा समझ में न आता और उसकी कार्रवाई में रूचि न रहती, तो बैठा-बैठा झपकियाँ भी लेता रहता। यों झपकियाँ

लेने वाले दूसरे साथी भी मिल जाते थे। इससे मेरी शरम का बोझ हलका हो जाता था। आखिर मैं यह समझने लगा कि हाईकोर्ट में बैठकर ऊँघना फैशन के खिलाफ नहीँ हैं। फिर तो शरम की कोई वजह ही न रह गयी।

यदि इस युग में भी मेंरे समान कोई बेकार बारिस्टर बम्बई में हो, तो उनके लिए अपना एक छोटा-सा अनुभव यहाँ मैं लिख देता हूँ।

घर गिरगाँव में होते हुए भी मैं शायद ही कभी गाड़ीभाड़े का खर्च करता था। ट्राम में भी क्वचित् ही बैठता था। अकसर गिरगाँव से हाईकोर्ट तक प्रतिदिन पैदल ही जाता था। इसमें पूरे ४५ मिनट लगते थे और वापसी में तो बिना चूके पैदल ही घर आता था | दिन में धूप लगती थी, पर मैंने उसे सहन करने की आदत डाल ली थी। इस तरह मैंने काफी पैसे बचाये। बम्बई में मेंरे साथी बीमार पड़ते थे, पर मुझे याद नहीं हैं कि मैं एक दिन भी बीमार पड़ा होऊँ। जब मैं कमाने लगा तब भी इस तरह पैदल ही दफ्तर जाने की आदत मैंने आखिर तक कायम रखी। इसका लाभ मैं आज तक उठा रहा हूँ।

४. पहला आघात

बम्बई से निराश होकर मैं राजकोट पहुँचा। वहाँ अलग दफ्तर खोला। गाड़ी कुछ चली। अर्जियाँ लिखने का काम मिलने लगा और हर महीने औसत रु. ३०० की आमदानी होने लगी। अर्जी-दावे लिखने का यह काम मुझे मेरी होशियारी के कारण नहीं मिलने लगा था, कारण था वसीला। बड़े भाई के साथ काम करनेवाले वकील की वकालत जमी हुई थी। उनके पास जो बहुत महत्त्व के अर्जी-दावे आते अथवा जिन्हें वे महत्त्व का मानते, उनका काम तो बड़े बारिस्टर के पास ही जाता था। उनके गरीब मुवक्किलों के अर्जी-दावे लिखने का काम मुझे मिलता था।

बम्बई में कमीशन नहीं देने की मेरी जो टेक थी, मानना होगा कि वह यहाँ कायम न रही। मुझे दोनो स्थितियों का भेद समझाया गया था। वह यों था: बम्बई में सिर्फ दलाल को पैसे देने की बात थी; यहाँ वकील को देने हैं। मुझसे कहा गया था कि बम्बई की तरह यहाँ भी सब बारिस्टर बिना अपवाद के अमुक प्रतिशत कमीशन देते हैं। अपने भाई की इस दलील का कोई जवाब मेरे पास न था: "तुम देखते हो कि मैं दूसरे वकील का साझेदार हूँ। हमारे पास आनेवाले मुकदमों में से जो तुम्हें देने लायक होते हैं, वे तुम्हें देने की मेरी वृत्ति तो रहती ही है। पर यदि तुम मेरे मेंहनताने का हिस्सा मेरे साझी को न दो, तो मेरी स्थिति कितनी विषम हो जाय? हम साथ रहते हैं, इसलिए तुम्हारे मेंहनताने का लाभ मुझे तो मिल ही जाता है। पर मेरे साझी का क्या हो ? अगर वही मुकदमा वे दूसरे को दें, तो उसके मेंहनताने में उन्हें ज़रूर हिस्सा मिलेगा।" मैं इस दलील के भुलावे में आ गया और मैंने अनुभव किया कि अगर मुझे बारिस्टरी करनी है, तो ऐसे मामलों में कमीशन न देने का आग्रह मुझे नहीं रखना चाहिए। मैं ढीला पड़ा। मैंने अपने मन को मना लिया, अथवा स्पष्ट शब्दों में कहूँ तो धोखा दिया। पर इसके सिवा दूसरे किसी भी मामले में कमीशन देने की बात मुझे याद नहीं है।

यद्दपि मेरा आर्थिक व्यवहार चल निकला, पर इन्हीं दिनों मुझे अपने जीवन का पहला आघात पहुँचा। अंग्रेज अधिकारी कैसे होते हैं, इसे मैं कानों से तो सुनता था, पर आँखों से देखने का मौका मुझे अब मिला।

पोरबन्दर के भूतपूर्व राणा साहब को गद्दी मिलने से पहले मेंरे भाई उनके मंत्री और सलाहकार थे। उन पर इस आशय का आरोप लगाया गया था कि उन दिनों उन्होंने राणा साहब को गलत सलाह दी थी। उस समय के पोलिटिकल एजेंट के पास यह शिकायत पहुँची थी और मेंरे भाई के बोरेमें उनका खयाल खराब हो गया था। इस अधिकारी से मैं विलायत में मिला था। कह सकता हूँ कि वहाँ उन्होंने मुझसें अच्छी दोस्ती कर ली थी। भाई ने सोचा कि इस परिचय का लाभ उठाकर मुझे पोलिटिकल एजेंट से दो शब्द कहने चाहिए और उन पर जो खराब असर पड़ा है, उसे मिटाने की कोशिश करनी चाहिए। मुझे बात बिलकुल अच्छी न लगी। मैंने सोचा: मुझको विलायत के न-कुछ- से परिचय का लाभ नहीं उठाना चाहिए। अगर मेंरे भाई ने कोई बुरा काम किया है, तो सिफ़ारिश से क्या होगा? अगर नहीं किया है, तो विधिवत् प्रार्थना-पत्र भेजें अथवा अपनी निर्दोषता पर विश्वास रखकर निर्भय रहें। यह दलील भाई के गले न उतरी। उन्होंने कहा, "तुम काठियावाड़ को नहीं जानते। दुनियादारी अभी तुम्हें सीखनी है। यहाँ तो वसीले से सारे काम चलते हैं। तुम्हारे समान भाई अपने परिचित अधिकारी से सिफ़ारिश के दो शब्द कहने का मौका आने पर दूर हट जाए, तो यह उचित नहीं कहा जाएगा।"

मैं भाई की इच्छा को टाल नहीं सका। अपनी मर्जी के खिलाफ मैं गया। अफसर के पास जाने का मुझे कोई अधिकार न था। मुझे इसका खयाल था कि जाने में मेरा स्वाभिमान नष्ट होगा। फिर भी मैंने उससे मिलने का समय माँगा | मुझे समय मिला और मैं मिलने गया। पुराने परिचय का स्मरण कराया, पर मैंने तुरन्त ही देखा कि विलायत और काठियावाड़ में फर्क है। अपनी कुर्सी पर बैठे हुए अफसर और छुट्टी पर गये हुए अफसर में भी फर्क होता है। अधिकारीने परिचय की बात मान ली, पर इसके साथ ही वह अधिक अकड़ गया। मैंने उसकी अकड़ में देखा और आँखों में पढ़ा, मानो वे कह रहीं हो कि 'उस परिचय का लाभ उठाने के लिए तो तुम नहीं आये हो न?' यह समझते हुए भी मैंने अपनी बात शुरू की। साहब अधीर हो गये। बोले, "तुम्हारे भाई प्रपंची हैं। मैं तुमसे ज्यादा बातें सुनना नहीं

चाहता। मुझे समय नहीं हैं। तुम्हारे भाई को कुछ कहना हो तो वे विधिवत् प्रार्थना-पत्र दें।" यह उत्तर पर्याप्त था यथार्थ था। पर गरज तो बावली होती है न ? मैं अपनी बात कहे जा रहा था। साहब उठे, "अब तुम्हे जाना चाहिए।"

मैंने कहा, "पर मेरी बात तो पूरी सुन लीजिये।"

साहब खूब चिढ़ गये। "चपरासी, इसे दरवाजा दिखाओ।"

'हजूर' कहता हुआ चपरासी दौड़ा आया। मैं तो अब भी कुछ बड़बड़ा ही रहा था। चपरासी ने मुझे हाथ से धक्का देकर दरवाजे के बाहर कर दिया।

साहब गये। चपरासी गया। मैं चला, अकुलाया, खीझा। मैंनें तुरन्त एक पत्र घसीटा: "आपने मेरा अपमान किया है। चपरासी के जरीये मुझ पर हमला किया है। आप माफी नहीं माँगेंगे, तो मैं आप पर मानहानि का विधिवत् दावा करूँगा।" मैंने यह चिट्ठी भेजी। थोड़ी देर में साहब का सवाल जवाब दे गया। उसका सार यह था:

"तुमने मेरे साथ असभ्यता का व्यवहार किया। जाने के लिए कहने पर भी तुम नहीं गये, इससे मैंने ज़रूर अपने चपरासी को तुम्हें दरवाजा दिखाने के लिए कहा। चपरासी के कहने पर भी तुम दफ्तर से बाहर नहीं गये, तब उसने तुम्हें दफ्तर से बाहर कर देने के लिए आवश्यक बलका उपयोग किया। तुम्हें जो करना हो सो करने के लिए तुम स्वतन्त्र हो।"

यह जवाब जेब में ड़ालकर मैं मुँह लटकाये घर लौटा। भाई को सारा हाल सुनाया। वे दुःखी हुए। पर वे मुझे क्या तसल्ली देते ? मैंने वकील मित्रों से चर्चा की। मैं कौन दावा दायर करना जानता था? उन दिनों सर फिरोजशाह मेहता अपने किसी मुकदमें के सिलसिले में राजकोट आये हुए थे। मेरे जैसा नया बारिस्टर उनसे कैसे मिल सकता था ? पर उन्हें बुलानेवाले वकील के द्वारा पत्र भेजकर मैंने उनकी सलाह पुछवायी। उनका उत्तर था: "गांधी से कहिये, ऐसे अनुभव तो सब वकील-बारिस्टरों को हुए होंगे। तुम अभी नये ही हो। विलायत की खुमारी अभी तुम पर सवार है। तुम अंग्रेज अधिकारियों को पहचानते नहीं हो। अगर तुम्हें सुख से रहना हो और दो पैसे कमाने हों, तो मिली हुई चिट्ठी फाड़ डालो और जो अपमान हुआ है उसे पी जाओ। मामला चलाने से तुम्हें एक पाई का भी लाभ न होगा। उलटे, तुम बर्बाद हो जाओगे। तुम्हें अभी जीवन का अनुभव प्राप्त करना है।"

मुझे यह सिखावन जहर की तरह कड़वी लगी, पर उस कड़वी घूँट को पी जाने के सिवा और कोई उपाय न था। मैं अपमान को भूल तो न सका, पर मैंने उसका सदुपयोग किया। मैंने नियम बना लिया: "मैं फिर कभी अपने को ऐसी स्थिति में नहीं पड़ने दूँगा, इस तरह किसीकी सिफ़ारिश न करूँगा।" इस नियम का मैंने कभी उल्लंघन नहीं किया। इस आघात ने मेरे जीवन की दिशा बदल दी।

५. दक्षिण अफ्रीका की तैयारी

मेरा उक्त अधिकारी के यहाँ जाना अवश्य दोषयुक्त था । पर अधिकारी का अधीरता, उसके रोष और उद्धतता के सामने मेरा दोष छोटा हो गया । दोष का दण्ड चपरासी का धक्का न था । मैं उसके पास पाँच मिनट भी न बैठा होउँगा। उसे तो मेरा बोलना भी असह्य मालूम हुआ । वह मुझसे शिष्टातापूर्वक जाने को कह सकता था, पर उसके अधिकार के मद की कोई सीमा न थी । बाद में मुझे पता चला कि इस अधिकारी के पास धीरज नाम की कोई चीज थी ही नहीं। अपने यहाँ आनेवाले का अपमान करना उसके लिए साधारण बात थी । मर्जी के खिलाफ कोई बात मुँह से निकलते ही साहब का मिजाज़ बिगड़ जाता था ।

मेरा ज्यादातर काम तो उसी की अदालत में रहता था । खुशामद मैं कर ही नहीं सकता था । मैं इस अधिकारी को अनुचित रीत से रिझाना नहीं चाहता था। उसे नालिश की धमकी देकर मैं नालिश न करूँ और उसे कुछ भी न लिखूँ, यह भी मुझे अच्छा न लगा ।

इस बीच मुझे काठियावाड़ के रियासती षड्यंत्रों का भी कुछ अनुभव हुआ। काठियावाड़ अनेक छोटे-छोटे राज्यों का प्रदेश है । यहाँ मुत्सद्दियों का बड़ा समाज होना स्वाभाविक ही था । राज्यों के बीच सूक्ष्म षड्यंत्र चलते, पदों की प्राप्ति के लिए साजिशें होतीं, राजा कच्चे कान का और परवश रहता । साहबों के अर्दलियों तक की खुशामद की जाती । सरिश्तेदार तो साहब से भी सवाया होता; क्योंकि वही तो साहब की आँख, कान और दुभाषिये का काम करता था । सरिश्तेदार की इच्छा ही कानून थी । सरिश्तेदार की आमदनी साहब की आमदनी से ज्यादा मानी जाती थी । संभव हैं, इसमें अतिशयोक्ति हो, पर सरिश्तेदार के अल्प वेतन की तुलना में उसका खर्च अवश्य ही अधिक होता था।

यह वातावरण मुझे विष-सा प्रतीत हुआ । मैं अपनी स्वतंत्रता की रक्षा कैसे कर सकूँगा, इसकी चिन्ता बराबर बनी रहती । मैं उदासीन हो गया । भाई ने मेरी उदासीनता देखी । एक विचार यह आया कि कहीं नौकरी कर लूँ, तो मैं इन खटपटों से मुक्त रह सकता हूँ । पर बिना खटपट के दीवान का या न्यायधीश का पद कैसे मिल सकता था ?

वकालत करने में साहब के साथ का झगड़ा बाधक बनता था ।

पोरबन्दर में एडमिनिस्ट्रेशन-नाबालिगी शासन-था। वहाँ राणा साहब के लिए कुछ सत्ता प्राप्त करने का प्रयत्न करना था। मेंर लोगों से लगान उचित से अधिक वसूल किया जाता था। इसके सिलसिले में भी मुझे वहाँ एडमिनिस्ट्रेटर से मिलना था। मैंने देखा कि एडमिनिस्ट्रेटर यद्यपि हिन्दुस्तानी हैं, तथापि उनका रोब-दाब तो साहब से भी अधिक है। वे होशियार थे, पर उनकी होशियारी का लाभ जनता को अधिक मिला हो, यह मैं देख न सका। राणा साहब को थोड़ी सत्ता मिली। कहना होगा कि मेंर लोगों को तो कुछ भी न मिला। उनके मामले की पूरी जाँच हो, ऐसा भी मैंने अनुभव नहीं किया।

इसलिए यहाँ भी मैं थोड़ा निराश ही हुआ। मैंने अनुभव किया कि न्याय नहीं मिला। न्याय पाने के लिए मेंरे पास कोई साधन न था। बहुत करें तो बड़े साहब के सामने अपील की जा सकती है। वे राय देंगे, "हम इस मामले में दखल नहीं दे सकते।" ऐसे फैसलों के पीछे कोई कानून-कायदा हो, तब तो कुछ आशा भी की जा सके। पर यहाँ तो साहब की मर्जी ही कानून है!

मैं अकुलाया।

इसी बीच भाई के पास पोरबन्दर की एक मेंमन फर्म का संदेशा आया: "दक्षिण अफ्रीका में हमारा व्यापार है। हमारी फर्म बड़ी है। वहाँ हमारा एक बड़ा मुकदमा चल रहा है। चालीस हजार पौंड का दावा है। मामला बहुत लम्बे समय से चल रहा है। हमारे पास अच्छे-से-अच्छे वकील-बारिस्टर हैं। अगर आप अपने भाई को भेजें, तो वे हमारी मदद करें और उन्हें भी कुछ मदद मिल जाए। वे हमारा मामला हमारे वकील को अच्छी तरह समझा सकेंगे। इसके सिवा वे नया देश देखेंगे और कई नये लोगों से उनकी जान-पहचान होगी।"

भाई ने मुझसे चर्चा की। मैं इस सबका अर्थ समझ न सका। मैं यह जान न सका कि मुझे सिर्फ वकील को समझाने का ही काम करना पड़ेगा या अदालत में भी जाना होगा। फिर भी मैं ललचाया।

दादा अब्दुल्ला के साझी मरहूम सेठ अब्दुल करीम झवेरी से भाई ने मेरी मुलाकात करायी। सेठने कहा, "आपको ज्यादा मेंहनत नहीं करनी होगी। बड़े-बड़े साहबों से हमारी दोस्ती है। उनसे आपकी जान-पहचान होगी। आप हमारी दुकान में भी मदद कर सकेगे। हमारे यहाँ

अंग्रेजी पत्र-व्यवहार बहुत होता है। आप उसमें भी मदद कर सकेंगे। आप हमारे बंगले में ही रहेंगे। इससे आप पर खर्च का बिलकुल बोझ नहीं पड़ेगा।"

मैंने पूछा, "आप मेरी सेवायें कितने समय के लिए चाहते हैं ? आप मुझे वेतन क्या देंगे ?"

"हमें एक साल से अधिक आपकी ज़रूरत नहीं रहेगी। आपको पहले दर्जे का मार्गव्यय देगें और निवास तथा भोजन-खर्च के अलावा १०५ पौंड देंगे।"

इसे वकालत नहीं कह सकते। यह नौकरी थी। पर मुझे तो जैसे भी बने हिन्दुस्तान छोड़ना था। नया देश देखने को मिलेगा और अनुभव प्राप्त होगा सो अलग। भाई को १०५ पौंड भेजूँगा तो घर का खर्च चलाने में कुछ मदद होगी। यह सोचकर मैंने वेतन के बारेमें बिना कुछ झिक-झिक किये ही सेठ अब्दुल करीम का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और मैं दक्षिण अफ्रीका जाने के लिए तैयार हो गया।

६. नेटाल पहुँचा

विलायत जाते समय वियोग के विचार से जो दुःख हुआ था, वह दक्षिण अफ्रीका जाते समय न हुआ । माता तो चल ही बसी थीं । मैंने दुनिया का और यात्रा का अनुभव प्राप्त किया था । राजकोट और बम्बई के बीच तो आना-जाना बना ही रहता था । इसलिए इस बार वियोग केवल पत्नी का ही दुःखदायी था । विलायत से आने के बाद एक और बालक की प्राप्ति हुई थी । हमारे बीच के प्रेम में अभी विषय-भोग का प्रभाव तो था ही, फिर भी उसमें निर्मलता आने लगी थी । मेरे विलायत से लौटने के बाद हम दोनों बहुत कम साथ रह पाये थे। और, शिक्षक की तरह मेरी योग्यता जो भी रही हो, परन्तु मैं पत्नी का शिक्षक बना था इसलिए और पत्नी में जो कई सुधार मैंने कराये थे उन्हें निबाहने के लिए भी हम दोनों साथ रहने की आवश्यकता अनुभव करते थे । पर अफ्रीका मुझे अपनी तरफ खींच रहा था । उसने वियोग को सह्य बना दिया। "एक साल के बाद तो हम फिर मिलेंगे ही न ?" पत्नी को यह कहकर और सान्त्वना देकर मैंने राजकोट छोड़ा और मैं बम्बई पहुँचा|

मुझे दादा अब्दुल्ला के बम्बईवाले एजेण्ट के जरिये टिकट खरीदना था । पर स्टीमर में कोई केबिन खाली न थी । हालत यह थी कि अगर इस मौके को चूक जाता तो मुझे एक महीने तक बम्बई की हवा खानी पड़ती । एजेण्ट ने कहा, "हमने कोशिश तो बहुत की, पर हमें टिकट नहीं मिल सका । आप डेक में जाएँ तो जा सकते हैं । भोजन की व्यवस्था सलून में हो सकेगी ।" वह जमाना मेरे लिए पहले दर्जे की यात्रा का था । क्या बारिस्टर डेक का यात्री बन कर जाय? मैंने डेक में जाने से इनकार कर दिया । मुझे एजेण्ट पर शक हुआ। मैं यह मान न सका कि पहले दर्जे का टिकट मिल ही नहीं सकता । एजेण्ट की अनुमति लेकर मैंने ही टिकट प्राप्त करने का प्रयत्न किया । मैं स्टीमर पर पहुँचा । बड़े अधिकारी से मिला । पूछताछ करने पर उसने सरल भाव से उत्तर दिया: "हमारे यहाँ इतनी भीड़ शायद ही कभी होती है । पर इस स्टीमर से मोजाम्बिक के गवर्नर-जनरल जा रहे हैं, इससे सारी जगहें भर गयी हैं ।"

"तो आप मेरे लिए किसी तरह जगह निकाल ही नहीं सकते ?"

अफसर ने मेरी तरफ देखा। फिर वह हँसा और बोला: “एक उपाय है। मेरे केबिन में एक बर्थ खाली रहती है। उसमें हम यात्री को को नहीं लेते, पर आपको मैं वह जगह देने के लिए तैयार हूँ।” मैं खुश हुआ। अफसर का आभार माना | सेठ से बात करके टिकट कटाया, और १८९३ के अप्रैल महीने में उमंगों से भरा मैं दक्षिण अफ्रीका में अपना भाग्य आजमाने के लिए रवाना हो गया।

पहला बन्दर लामू पड़ता था। वहाँ पहुँचने में करीब तेरह दिन लगे। रास्ते में कप्तान से अच्छी मित्रता हो गयी कप्तान को शतरंज खेलने का शौक था, पर वह अभी नौसिखुआ ही था। उसे अपने से कमजोर खेलनेवाले साथी की ज़रूरत थी। इसलिए उसने मुझे खेलने के लिए न्योता। मैंने शतरंज का खेल कभी देखा न था। उसके विषय में सुना काफी था। खेलनेवाले कहते थे कि इस खेल में बुद्धि का खासा उपयोग होता है। कप्तान ने कहा कि वह खुद मुझे सिखायेगा। मैं उसे अच्छा शिष्य मिला, क्योंकि मुझमें धैर्य था। मैं हारता ही रहता था। इससे कप्तान का सिखाने का उत्साह बढ़ता जाता था। मुझे शतरंज का खेल पसन्द पड़ा, पर मेरा यह शौक कभी जहाज के नीचे न उतरा। उसमें मेरी गति राजा-रानी आदि की चाल जान लेने से अधिक न बढ़ सकी।

लामू बन्दर आया। स्टीमर वहाँ तीन-चार घंटे ठहरनेवाला था। मैं बन्दर देखने नीचे उतरा। कप्तान भी गया था। उसने मुझसे कहा, “यहाँ का बन्दर दगाबाज है। तुम जल्दी लौट आना।”

गाँव तो बिलकुल छोटा-सा था। वहाँ के डाकखाने में गया, तो हिन्दुस्तानी नौकर दिखायी दिये। इससे मुझे खुशी हूई। मैंने उनसे बातचीत की। हब्शियों से मिला। उनकी रहन-सहन में रूचि पैदा हुई। इसमें थोड़ा समय चला गया। डेक के दूसरे भी कई यात्री थे। मैंने उनसे जान-पहचान कर ली थी। वे रसोई बनाने और आराम से भोजन करने के लिए नीचे उतरे थे। मैं उनकी नाव में बैठा। बन्दर में ज्वार काफी था। हमारी नाव में बोझ ज्यादा था। प्रवाह का जोर इतना अधिक था कि नाव की रस्सी स्टीमर की सीढ़ी के साथ किसी तरह बँध ही नहीं पाती थी। नाव सीढ़ी के पास पहुँचती और हट जाती। स्टीमर खुलने की पहली सीटी बजी। मैं घबराया। कप्तान ऊपर से देख रहा था। उसने स्टीमर को पाँच मिनट के लिए

रूकवाया। स्टीमर के पास ही एक छोटीसी नाव थी। एक मित्रने उसे दस रूपये देकर मेंरे लिए ठीक किया, और इस छोटी नावने मुझे उस नाव में से उठा लिया। स्टीमर की सीढी उठ चुकी थी | मुझे रस्सीसे ऊपर खींच लिया गया और स्टीमर चल दिया ! दूसरे यात्री रह गये। कप्तान की दी हुई चेतावनी का अर्थ अब मेरी समझ में आया।

लामू से मुम्बासा और वहाँ से जंजीबार पहुँचा। जंजीबार में तो काफी ठहरना था आठ या दस दिन। वहाँ नये स्टीमर पर सवार होना था।

मुझ पर कप्तान के प्रेम का पार न था। इस प्रेम ने मेंरे लिए उलटा रूप धारण किया। उसने मुझे अपने साथ सैर के लिए न्योता। एक अंग्रेज मित्र को भी न्योता था। हम तीनो कप्तान की नाव पर सवार हुए। मैं इस सैर का मर्म बिलकुल नहीं समझ पाया था। कप्तान को क्या पता कि मैं ऐसे मामलों में निपट अजान हूँ। हम लोग हब्शी औरतों की बस्ती में पहुँचे। एक दलाल हमें वहाँ ले गया। हममें से हरएक एक-एक कोठरी में घुस गया। पर मैं तो शरम का मारा वहाँ गुमसुम ही बैठा रहा। बेचारी उस स्त्री के मन में क्या विचार उठे होंगे, सो तो वही जाने। कप्तान ने आवाज दी। मैं जैसा अन्दर घुसा था वैसा ही बाहर निकला। कप्तान मेंरे भोलेपन को समझ गया। पहले तो मैं बहुत ही शरमिंदा हुआ। पर मैं यह काम किसी भी दशा में पसन्द नहीं कर सकता था, इसलिए मेरी शरमिन्दगी तुरन्त ही दूर हो गयी, और मैंने इसके लिए ईश्वर का उपकार माना कि उस बहन को देखकर मेंरे मन में तनिक भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ। मुझे अपनी इस दुर्बलता पर धृणा हुई कि मैं कोठरी में घुसने से ही इनकार करने का साहस न दिखा सका।

मेंरे जीवन की ऐसी यह तीसरी परीक्षा थी। कितने ही नवयुवक शुरू में निर्दोष होते हुए भी झूठी शरम के कारण बुराई में फँस जाते होंगे। मैं अपने पुरूषार्थ के कारण नहीं बचा था। अगर मैंने कोठरी में घुसने से साफ इन्कार किया होता, तो वह मेरा पुरूषार्थ माना जाता। मुझे तो अपनी रक्षा के लिए केवल ईश्वर का ही उपकार मानना चाहिए। पर इस घटना के कारण ईश्वर में मेरी श्रद्धा बढ़ी और झूठी शरम छोड़ने की कुछ हिम्मत भी मुझेमें आयी।

जंजीबार में एक हफ्ता बिताना था, इसलिए एक घर किराये से लेकर मैं शहर में रहा। शहर को खूब घूम-घूमकर देखा। जंजीबार की हरियाली की कल्पना मलाबार को देखकर ही हो

सकती है। वहाँ के विशाल वृक्ष और वहाँ के बड़े-बडे फल वगैरा देखकर मैं तो दंग ही रह गया।

जंजीबार से मैं मोजाम्बिक और वहाँ से लगभग मई के अन्त में नेटाल पहुँचा।

७. अनुभवों की बानगी

नेटाल के बन्दरगाह को डरबन कहते हैं और वह नेटाल बन्दर के नाम से भी पहचाना जाता है। मुझे लेने के लिए अब्दुल्ला सेठ आये थे। स्टीमर के घाट (डक) पर पहुँचने पर जब नेटाल के लोग अपने मित्रों को लेने स्टीमर पर आये, तभी मैं समझ गया कि यहाँ हिन्दुस्तानियों की अधिक इज्जत नहीं है। अब्दुल्ला सेठ को पहचाननेवाले उनके साथ जैसा बरताव करते थे, उसमें भी मुझे एक प्रकार की असभ्यता दिखायी पड़ी थी, जो मुझे व्यथित करती थी। अब्दुल्ला सेठ इस असभ्यता को सह लेते थे। वे उसके आदी बन गये थे। मुझे जो देखते वे कुछ कुतूहल की दृष्टि से देखते थे। अपनी पोशाक के कारण मैं दूसरे हिन्दुस्तानियों से कुछ अलग पड़ जाता था। मैंने उस समय 'फ्रोक कोट' वगैरा पहने थे और सिर पर बंगाली ढंग की पगड़ी पहनी थी।

अब्दुल्ला सेठ मुझे घर ले गये। उनके कमरे की बगल में एक कमरा था, वह उन्होंने मुझे दिया। न वे मुझे समझते, और न मैं उन्हें समझता। उन्होंने अपने भाई के दिये हुए पत्र पढ़े और वे ज्यादा घबराये। उन्हें जान पड़ा कि भाई ने तो उनके घर एक सफेद हाथी ही बाँध दिया है। मेरी साहबी रहन-सहन उन्हें खर्चीली मालूम हुई। उस समय मेरे लिए कोई खास काम न था। उनका मुकदमा तो ट्रान्सवाल में चल रहा था। मुझे तुरन्त वहाँ भेजकर क्या करते ? इसके अलावा, मेरी होशियारी या ईमानदारी का विश्वास भी किस हद तक किया जाए ? प्रिटोरिया में वे मेरे साथ रह नहीं सकते थे। प्रतिवादी प्रिटोरिया में रहता था। मुझ पर उसका अनुचित प्रभाव पड़ जाए तो क्या हो ? यदि वे मुझे इस मुकदमें का काम न सौंपे, तो दुसरे काम तो उनके कारकुन मुझसे बहुत अच्छा कर सकते थे। कारकुनों से गलती हो तो उन्हें उलाहना दिया जा सकता था, पर मैं गलती करूँ तो ? काम या तो मुकदमें का था या

फिर मुहर्रिर का था। इनके अलावा तीसरा कोई काम न था। अतएव यदि मुकदमें का काम न सौंपा जाता, तो मुझे घर बैठे खिलाने की नौबत आती।

अब्दुल्ला सेठ बहुत कम पढ़े-लिखे थे, पर उनके पास अनुभव का ज्ञान बहुत था। उनकी बुद्धि तीव्र थी और स्वयं उन्हें इसका भान था। रोज के अभ्यास से उन्होंने सिर्फ बातचीत करने लायक अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। पर अपनी इस अंग्रेजी के द्वारा वे अपना सब काम निकाल लेते थे। वे बैंक के मैंनेजरों से बातचीत करते थे, यूरोपियन व्यापारियों के साथ सौदे कर लेते थे और वकीलो को अपने मामले समझा सकते थे। हिन्दुस्तानी उनकी बहुत इज्जत करते थे। उन दिनों इनकी फर्म हिन्दुस्तानियों की फर्मों में सबसे बड़ी, अथवा बड़ी फर्मों में एक तो थी ही। अब्दुल्ला सेठ का स्वभाव वहमी था।

उन्हें इस्लाम का अभिमान था। वे तत्त्वज्ञान की चर्चा के शौकीन थे। अरबी नहीं जानते थे, फिर भी कहना होगा कि उन्हें कुरान-शरीफ की और आम तौर पर इस्लाम के धार्मिक साहित्य की अच्छी जानकारी थी। दृष्टान्त तो उन्हें कण्ठाग्र ही थे। उनके सहवास से मुझे इस्लाम का काफी-व्यावहारिक ज्ञान हो गया। हम एक-दूसरे को पहचानने लगे। उसके बाद तो वे मेंरे साथ खूब धर्म-चर्चा करते थे।

वे दूसरे या तीसरे दिन मुझे डरबन की अदालत दिखाने ले गये। वहाँ कुछ जान-पहचान करायी। अदालत में मुझे अपने वकील के पास बैठाया। मजिस्ट्रेट मुझे बार-बार देखता रहा। उसने मुझे पगड़ी उतारने के लिए कहा। मैंने इनकार किया और अदालत छोड़ दी।

मेंरे भाग्य में यहाँ भी लड़ाई ही बदी थी।

अब्दुल्ला सेठने मुझे पगड़ी उतारने का रहस्य समझाया: मुसलमानी पोशाक पहना हुआ आदमी अपनी मुसलमानी पगड़ी पहन सकता है। पर दूसरे हिन्दुस्तानियों को अदालत में पैर रखते ही अपनी पगड़ी उतार लेनी चाहिए।

इस सूक्ष्म भेद को समझाने के लिए मुझे कुछ तथ्यों की जानकारी देनी होगी।

इन दो-तीन दिनों में ही मैंने देख लिया था कि हिन्दुस्तानी अफ्रीका में अपने-अपने गुट बनाकर बैठ गये थे। एक भाग मुसलमान व्यापारियों का था-वे अपने को 'अरब' कहते थे।

दूसरा भाग हिन्दु या पारसी कारकुनों, मुनीमों या गुमाश्तों का था। हिन्दू कारकुन अधर में लटकते थे। कोई 'अरब' में मिल जाते थे। पारसी अपना परिचय परसियन के नाम से देते थे। व्यापार के अलावा भी इन तीनों का आपस में थोड़ा-बहुत सम्बन्ध अवश्य था। एक चौथा और बड़ा समुदाय तामिल, तेलुगु और उत्तर हिन्दुस्तान के गिरमिटिया तथा गिरमिट-मुक्त हिन्दुस्तानियों का था। गिरमिट का अर्थ है वह इकरार-यानि 'एग्रिमेंण्ट', जिसके अनुसार उन दिनों गरीब हिन्दुस्तानी पाँच साल तक मजदूरी करने के लिए नेटाल जाते थे। गिरमिट 'एग्रिमेंण्ट' का ही अपभ्रंश है और उसीसे गिरमिटिया शब्द बना है। इस वर्ग के साथ दूसरों का व्यवहार केवल काम की दृष्टि से ही रहता था। अंग्रेज इन गिरमिटवालों को 'कुली' के नाम से पहचानते थे; और चूँकि वे संख्या में अधिक थे, इसलिए दूसरे हिन्दुस्तानियों को भी 'कुली' कहते थे। कुली के बदले 'सामी' भी कहते। 'सामी' ज्यादातर तामिल नामों के अन्त में लगनेवाला प्रत्यय है। 'सामी' अर्थात् स्वामी। स्वामी का मतलब तो मालिक हुआ। इसलिए जब कोई हिन्दुस्तानी सामी शब्द से चिढ़ता और उसमें कुछ हिम्मत होती, तो वह अपने को 'सामी' कहनेवाले अंग्रेज से कहता: "तुम मुझे 'सामी' कहते हो, पर जानते हो कि 'सामी' का मतलब मालिक होता है ? मैं तुम्हारा मालिक तो हूँ नहीं।" यह सुनकर कोई अंग्रेज शरमा जाता, कोई चिढ़ कर ज्यादा गालियाँ देता और कोई-कोई मारता भी सही; क्योंकि उसकी दृष्टि से तो 'सामी' शब्द निन्दासूचक ही हो सकता था। उसका अर्थ मालिक करना तो उसे अपमानित करने के बराबर ही हो सकता था।

इसलिए मैं 'कुली बारिस्टर' कहलाया। व्यापारी 'कुली व्यापारी' कहलाते थे। कुली का मूल अर्थ मजदूर तो भुला दिया गया। मुसलमान व्यापारी यह शब्द सुनकर गुस्सा होता और कहता: "मैं कुली नहीं हूँ। मैं तो अरब हूँ।" कोई थोड़ा विनयशील अंग्रेज होता तो यह सुनकर माफी भी माँग लेता।

ऐसी दशा में पगड़ी पहनने का प्रश्न एक महत्त्व का प्रश्न बन गया। पगड़ी उतारने का मतलब था अपमान सहन करना। मैंने तो सोचा कि मैं हिन्दुस्तानी पगड़ी को बिदा कर दूँ और अंग्रेजी टोपी पहन लूँ, ताकि उसे उतारने में अपमान न जान पड़े और मैं झगड़े से बच जाऊँ।

पर अब्दुल्ला सेठ को यह सुझाव अच्छा न लगा। उन्होंने कहा: “अगर आप इस वक्त यह फेरफार करेगें, तो उससे अनर्थ होगा। जो दुसरे लोग देश की ही पगड़ी पहनना चाहेंगे, उनकी स्थिति नाजुक बन जाएगी। इसके अलावा, आपको तो देशी पगड़ी ही शोभा देगी। आप अंग्रेजी टोपी पहनेंगे तो आपकी गिनती ‘वेटरों’ में होगी।”

इन वाक्यों में दुनियावी समझदारी थी, देशभिमान था और थोड़ी संकुचितता भी थी। दुनियावी समझदारी तो स्पष्ट ही है। देशाभिमान के बिना पगड़ी का आग्रह नहीं हो सकता; और संकुचितता के बिना ‘वेटर’ की टीका संभव नहीं। गिरमिटिया हिन्दुस्तानी हिन्दू, मुसलमान और ईसाई इन तीन भागों में बँटे हूए थे। जो गिरमिटिया हिन्दुस्तानी ईसाई बन गये, उनकी संतान ईसाई कहलायी। सन् १८९३ में भी ये बड़ी संख्या में थे। वे सब अंग्रेजी पोशाक ही पहनते थे। उनका एक खासा हिस्सा होटलों में नौकरी करके अपनी आजीविका चलाता था। अब्दुल्ला सेठ के वाक्यों में अंग्रेजी टोपी की जो टीका थी, वह इन्हीं लोगों को लक्ष्य में रखकर ली गयी थी। इसके मूल में मान्यता यह थी कि होटल में ‘वेटर’ का काम करना बुरा है। आज भी यह भेद बहुतों के मन में बसा हुआ है।

कुल मिलाकर अब्दुल्ला सेठ की दलील मुझे अच्छी लगी। मैंने पगड़ी के किस्से को लेकर अपने और पगड़ी के बचाव में समाचारपत्रों के नाम एक पत्र लिखा। अखबारों में मेरी पगड़ी की खूब चर्चा हुई। 'अनवेलकम विजिटर'-अवांछित अतिथि-शीर्षक से अखबारों में मेरी पगड़ी की खूब चर्चा हुई | और तीन-चार दिन के अंदर ही मैं अनायास दक्षिण अफ्रीका में प्रसिद्धि पा गया। किसीने मेरा पक्ष लिया औऱ किसीने मेरी धृष्टता की खूब निन्दा की।

मेरी पगड़ी तो लगभग अन्त तक बनी रही। कब गई सो हम अन्तिम भाग में देखेंगे।

८. प्रिटोरिया जाते हुए

मैं डरबन में रहनेवाले ईसाई हिन्दुस्तानियों के सम्पर्क में भी तुरन्त आ गया। वहाँ की अदालत के दुभाषिया मि. पॉल रोमन कैथोलिक थे। उनसे परिचय किया और प्रोटेस्टेंट मिशन के शिक्षक स्व. मि. सुभान गॉडफ्रे से भी परिचित हुआ। इन्हीं के पुत्र जेम्स गॉडफ्रे यहाँ दक्षिण अफ्रीका के भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल में पिछले साल आये थे। इन्हीं दिनों स्व. पारसी रूस्तमजी से परिचय हुआ, और तभी स्व. आदमजी मियाँखान के साथ जान पहचान हुई। ये सब भाई अभी तक काम के सिवा एक-दूसरे से मिलते न थे, लेकिन जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, बाद में ये एक-दूसरे के काफी नजदीक आये।

मैं इस प्रकार जान-पहचान कर रहा था कि इतने में फर्म के वकील की तरफ से पत्र मिला कि मुकदमें की तैयारी की जानी चाहिए और खुद अब्दुल्ला सेठ को प्रिटोरिया जाना चाहिए अथवा किसीको वहाँ भेजना चाहिए।

अब्दुल्ला सेठने वह पत्र मुझे पढ़ने को दिया और पूछा, "आप प्रिटोरिया जाएँगे?" मैंने कहा, "मुझे मामला समझाइये, तभी कुछ कह सकूँगा। अभी तो मैं नहीं जानता कि मुझे वहाँ क्या करना होगा।" उन्होंने अपने मुनीमों से कहा कि वे मुझे मामला समझा दें।

मैंने देखा कि मुझे ककहरे से शुरू करना होगा। जब मैं जंजीबार में उतरा था तो वहाँ की अदालत का काम देखने गया था। एक पारसी वकील किसी गवाह के बयान ले रहे थे और जमा-नामें के सवाल पूछ रहे थे। मैं तो जमा-नामें में कुछ समझता ही न था। बही-खाता न तो मैंने हाईस्कूल में सीखा था और न विलायत में।

मैंने देखा कि इस मामले का दार-मदार बहियों पर है। जिसे बही-खाते की जानकारी हो वही इस मामले को समझ और समझा सकता है। जब मुनीम नामें की बात करता, तो मैं परेशान होता। मैं पी. नोट का मतलब नहीं जानता था। कोश में यह शब्द मिलता न था। जब मैंने मुनीम के सामने अपना अज्ञान प्रकट किया जब उससे पता चला कि पी. नोट का मतलब प्रामिसरी नोट है। मैंने बही-खाते की पुस्तक खरीदी और पढ़ डाली। कुछ आत्म विश्वास अत्पन्न हुआ। मामला समझ में आया। मैंने देखा कि अब्दुल्ला सेठ बही-खाता लिखना

नहीं जानते थे। पर उन्होंने व्यावहारिक ज्ञान इतना अधिक प्राप्त कर लिया था कि वे बही-खाते की गुत्थियाँ फौरन सुलझा सकते थे। मैंने उनसे कहा, "मैं प्रिटोरिया जाने को तैयार हूँ।" सेठ ने पूछा, "आप कहाँ उतरेंगे ?"

मैंने जवाब दिया, "जहाँ आप कहें।"

"तो मैं अपने वकील को लिखूँगा। वे आपके लिए ठहरने का प्रबंध करेंगे। प्रिटोरिया में मेरे मेंमन दोस्त हैं। उन्हें मैं अवश्य लिखूँगा, पर उनके यहाँ आपका ठहरना ठीक न होगा। वहाँ हमारे प्रतिपक्षी की अच्छी रसाई है। आपके नाम मेरे निजी कागज-पत्र पहुँचे और उनमें से कोई उन्हें पढ़ ले, तो हमारे मुकदमें को नुकसान पहुँच सकता है। उनके साथ जितना कम सम्बन्ध रहे उतना ही अच्छा है।"

मैंने कहा, "आपके वकील जहाँ रखेंगे वहीं मैं रहूँगा, अथवा मैं कोई अलग घर खोज लूँगा। आप निश्चिन्त रहिये, आपकी एक भी व्यक्तिगत बात बाहर न जाएगी। पर मैं मिलता-जुलता तो सभी से रहूँगा। मुझे तो प्रतिपक्षी से मित्रता कर लेनी है। मुझसे बन पड़ा तो मैं इस मुकदमें को आपस में निबटाने की भी कोशिश करूँगा। आखिर तैयब सेठ आपके रिश्तेदार ही तो हैं न ?"

प्रतिपक्षी स्व. तैयब हाजी खानमहम्मद अब्दुल्ला सेठ के निकट सम्बन्धी थे। मैंने देखा कि मेरी इस बात पर अब्दुल्ला सेठ कुछ चौंके। पर उस समय तक मुझे डरबन पहुँचे छह-सात दिन हो चुके थे। हम एक-दूसरे को जानने और समझने लग गये थे। मैं अब 'सफेद हाथी' लगभग नहीं रहा था। वे बोले:

"हाँ.. आ.. आ, यदि समझौता हो जाए, तो उसके जैसी भली बात तो कोई है ही नहीं। पर हम रिश्तेदार हैं, इसलिए एक-दूसरे को अच्छी तरह पहचानते हैं। तैयब सेठ जल्दी माननेवाले नहीं हैं। हम भोलापन दिखायें तो वे हमारे पेट की बात निकालवा लें और फिर हमको फँसा लें। इसलिए आप जो कुछ करें सो होशियार रहकर कीजिए।"

मैं सातवें या आठवें दिन डरबन से रवाना हुआ। मेरे लिए पहले दर्जे का टिकट कटाया गया। वहाँ रेल में सोने की सुविधा के लिए पाँच शिलिंग का अलग टिकट कटाना होता था।

अब्दुल्लासेठ ने उसे कटाने का आग्रह किया, पर मैंने हठवश, अभिमानवश और पाँच शिलिंग बचाने के विचार से बिस्तर का टिकट काटने से इनकार कर दिया।

अब्दुल्ला सेठने मुझे चेताया, "देखिये, यह देश दूसरा है, हिन्दुस्तान नहीं है। खुदा की मेंहरबानी है। आप पैसे की कंजूसी न कीजिए। आवश्यक सुविधा प्राप्त कर लीजिए।"

मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और निश्चिन्त रहने को कहा।

ट्रेन लगभग नौ बजे नेटाल की राजधानी मेंरित्सबर्ग पहुँची। यहाँ बिस्तर दिया जाता था। रेलवे के किसी नौकर ने आकर पूछा, "आपको बिस्तर की ज़रूरत है ?"

मैंने कहा, "मेरे पास अपना बिस्तर है।"

वह चला गया। इस बीच एक यात्री आया। उसने मेरी तरफ देखा। मुझे भिन्न वर्ण का पाकर वह परेशान हुआ, बाहर निकला और एक-दो अफसरों को लेकर आया। किसीने मुझे कुछ न कहा। आखिर एक अफसर आया। उसने कहा, "इधर आओ। तुम्हें आखिरी डिब्बे में जाना है।"

मैंने कहा, "मेरे पास पहले दर्जे का टिकट है।"

उसने जबाव दिया, "इसकी कोई बात नहीं। मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हें आखिरी डिब्बे में जाना है।"

"मैं कहता हूँ कि मुझे इस डिब्बे में डरबन से बैठाया गया है और मैं इसी में जाने का इरादा रखता हूँ।"

अफसर ने कहा, "यह नही हो सकता | तुम्हें उतरना पडेगा, और न उतरे तो सिपाही उतारेगा।"

मैंने कहा, "तो फिर सिपाही भले उतारे, मैं खुद तो नहीं उतरूँगा।"

सिपाही आया। उसने मेरा हाथ पकड़ा और मुझे धक्का देकर नीचे उतारा। मेरा सामान उतार लिया | मैंने दूसरे डिब्बे में जाने से इनकार कर दिया। ट्रेन चल दी। मैं वेटिंग रूम में बैठ गया। अपना 'हैण्ड बैग' साथ में रखा। बाकी सामान को हाथ न लगाया। रेलवेवालों ने उसे

कहीं रख दिया । सरदी का मौसम था । दक्षिण अफ्रीका की सरदी ऊँचाईवाले प्रदेशों में बहुत तेज होती है । मेंरित्सबर्ग इसी प्रदेश में था । इससे ठंड खूब लगी । मेरा ओवर-कोट मेंरे सामान में था । पर सामान माँगने की हिम्मत न हुई । फिर अपमान हो तो ? ठंड से मैं काँपता रहा । कमरे में दीया न था । आधी रात के करीब एक यात्री आया । जान पड़ा कि वह कुछ बात करना चाहता है, पर मैं बात करने की मनःस्थिति में न था ।

मैंने अपने धर्म का विचार किया: 'या तो मुझे अपने अधिकारों के लिए लड़ना चाहिए या लौट जाना चाहिए, नहीं तो जो अपमान हों उन्हें सहकर प्रिटोरिया पहुँचना चाहिए और मुदकमा खत्म करके देश लौट जाना चाहिए । मुकदमा अधूरा छोड़कर भागना तो नामर्दी होगी । मुझे जो कष्ट सहना पड़ा है, सो तो ऊपरी कष्ट है । वह गहराई तक पैठे हुए महारोग का लक्षण है । यह महारोग हैं रंग-द्वेष । यदि मुझमें इस गहरे रोग को मिटाने की शक्ति हो, तो उस शक्ति का उपयोग मुझे करना चाहिए । ऐसा करते हुए स्वयं जो कष्ट सहने पड़ें सो सब सहने चाहिए और उनका विरोध रंग-द्वेष को मिटाने की दृष्टि से ही करना चाहिए।'

यह निश्चय करके मैंने दूसरी ट्रेनमें, जैसे भी हो, आगे ही जाने का फैसला किया।

सबेरे ही सबरे मैंने जनरल मैंनेजर को शिकायत का लम्बा तार भेजा । दादा अब्दुल्ला को भी खबर भेजी । अब्दुल्ला सेठ तुरन्त जनरल मैंनेजर से मिले । जनरल मैंनेजर ने अपने आदमियों के व्यवहार का बचाव किया, पर बतलाया कि मुझे बिना किसी रूकावट के मेंरे स्थान तक पहुँचाने के लिए स्टेशन-मास्टर को कह दिया गया है । अब्दुल्ला सेठ ने मेंरित्सबर्ग के हिन्दू व्यापारियों को भी मुझसे मिलने और मेरी सुख-सुविधा का खयाल रखने का तार भेजा और दूसरे स्टेशनों पर भी इसी आशय के तार रवाना किये । इससे व्यापारी मुझे मिलने स्टेशन पर आये । उन्होंने अपने ऊपर पड़नेवाले कष्टों की कहानी मुझे सुनायी और मुझ से कहा कि आप पर जो बीती है, उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है । जब हिन्दुस्तानी लोग पहले या दूसरे दर्जे में सफर करते हैं, तो अधिकारियों और यात्रियों की तरफ से रूकावट खड़ी होती ही है । दिन ऐसी ही बातें सुनने में बीता । रात पड़ी । ट्रेन आयी | मेंरे लिए जगह तैयार ही थी । बिस्तर का जो टिकट मैंने डरबन में काटने से इनकार किया था, वह मेंरित्सबर्ग में कटाया । ट्रेन मुझे चार्ल्सटाउन की ओर ले चली ।

९. अधिक परेशानी

ट्रेन सुबह चार्ल्सटाउन पहुँचती थी। उन दिनों चार्ल्सटाउन से जोहानिस्बर्ग पहुँचने के लिए ट्रेन नहीं थी, घोड़ों की सिकरम थी और बीच में एक रात स्टैंडरटन में रूकना पड़ता था। मेरे पास सिकरम का टिकट था। मेरे एक दिन देर से पहुँचने के कारण वह टिकट रद्द नहीं होता था। इसके सिवा, अब्दुल्ला सेठ ने सिकरमवाले के नाम चार्ल्सटाउन के पते पर तार भी कर दिया था। पर उसे तो बहाना ही खोजना था, इसलिए मुझे निरा अजनबी समझकर उसने कहा, "आपका टिकट तो रद्द हो चुका है।" मैंने उचित उत्तर दिया। पर टिकट रद्द होने की बात तो मुझे दूसरे ही कारण से कही गयी थी। यात्री सब सिकरम के अन्दर ही बैठते थे। लेकिन मैं तो 'कुली' की गिनती में था। अजनबी दिखाई पड़ता था। इसलिए सिकरमवाले की नीयत यह थी कि मुझे गोरे यात्रियों के पास न बैठाना पड़े तो अच्छा हो। सिकरम के बाहर, अर्थात् कोचवान की बगल में दायें-बायें, दो बैठकें थीं। उनमें से एक पर सिकरम-कम्पनी का एक गोरा मुखिया बैठता था। वह अन्दर बैठा और मुझे कोचवान की बगल में बैठाया। मैं समझ गया कि यह निरा अन्याय है-अपमान है। पर मैंने इस अपमान को पी जाना उचित समझा। मैं जोर-जबरदस्ती से अन्दर बैठ सकूँ, ऐसी स्थिति थी ही नहीं। अगर तकरार में पड़ूँ तो सिकरम चली जाए और मेरा एक दिन और टूट जाए; और फिर दूसरे दिन क्या हो, सो तो दैव ही जाने! इसलिए मैं समझदारी से काम लेकर बाहर बैठ गया। पर मन में तो बहुत झुँझलाया।

लगभग तीन बजे सिकरम पारडीकोप पहुँची। अब उस गोरे मुखियाने चाहा कि जहाँ मैं बैठा था वहाँ वह बैठे। उसे सिगरेट पीनी थी। थोड़ी हवा भी खानी होगी। इसलिए उसने एक मैंला-सा बोरा, जो वहीं कोचवान के पास पड़ा था, उठा लिया और पैर रखने के पटिये पर बिछाकर मुझसे कहा, "सामी, तू यहाँ बैठ। मुझे कोचवान के पास बैठना है।" मैं इस अपमान को सहने में असमर्थ था। इसलिए मैंने डरते-डरते उससे कहा, "तुमने मुझे यहाँ बैठाया और मैंने वह अपमान सह लिया। मेरी जगह तो अन्दर थी, पर तुम अन्दर बैठ गये और मुझे यहाँ बैठाया। अब तुम्हें बाहर बैठने की इच्छा हुई है और सिगरेट पीनी है, इसलिए

तुम मुझे अपने पैरो के पास बैठाना चाहते हो। मैं अन्दर जाने को तैयार हूँ, पर तुम्हारे पैरों के पास बैठने को तैयार नहीं।"

मैं मुश्किल से इतना कह पाया था कि मुझ पर तमाचों की वर्षा होने लगी, और वह गोरा मेरी बाँह पकड़कर मुझे नीचे खींचने लगा। बैठक के पास ही पीतल के सीखचे थे। मैंने भूत की तरह उन्हें पकड़ लिया और निश्चय किया कि कलाई चाहे उखड़ जाएँ पर सीखचे न छोडूँगा। मुझ पर जो बीत रही थी उसे अन्दर बैठे हुए यात्री देख रहे थे। वह गोरा मुझे गालियाँ दे रहा था, खींच रहा था, मार भी रहा था। पर मैं चुप था। वह बलवान था और मैं बलहीन। यात्रियों में से कईयों को दया आयी और उनमें से कुछ बोल उठे: "अरे भाई, उस बेचारे को वहाँ बैठा रहने दो। उसे नाहक मारो मत। उसकी बात सच है। वहाँ नहीं तो उसे हमारे पास अन्दर बैठने दो।" गोरेने कहा: "हरगिज नहीं।" पर थोड़ा शरमिन्दा वह ज़रूर हुआ। अतएव उसने मुझे मारना बन्द कर दिया और मेरी बाँह छोड़ दी। दो-चार गालियाँ तो ज्यादा दीं, पर एक होटेंणटाट नौकर दूसरी तरफ बैठा था, उसे अपने पैरों के सामने बैठाकर खुद बाहर बैठा। यात्री अन्दर बैठ गये। सीटी बजी। सिकरम चली। मेरी छाती तो धड़क रही थी | मुझे शक हो रहा था कि मैं जिन्दा मुकाम पर पहुँच सकूँगा या नहीं। वह गोरा मेरी ओर बराबर घूरता ही रहा। अँगुली दिखाकर बड़बड़ाता रहा: "याद रख, स्टैंडरटन पहुँचने दे, फिर तुझे मजा चखाऊँगा।" मैं तो गूँगा ही बैठा रहा और भगवान से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करता रहा।

रात हुई। स्टैंडरटन पहुँचे। कई हिन्दुस्तानी चेहरे दिखाई दिये। मुझे कुछ तसल्ली हुई। नीचे उतरते ही हिन्दुस्तानी भाईयों ने कहा: "हम आपको ईसा सेठ की दुकान पर ले जाने के लिए ही खड़े हैं। हमें दादा अब्दुल्ला का तार मिला है।" मैं बहुत खुश हुआ। उनके साथ सेठ ईसा हाजी सुमार की दुकान पर पहुँचा। सेठ और उनके मुनीम-गुमाश्तों ने मुझे चारों ओर से घेर लिया। मैंने अपनी बीती उन्हें सुनायी। वे बहुत दु:खी हुए और अपने कड़वे अनुभवों का वर्णन करके उन्होंने मुझे आश्वस्त किया। मैं सिकरम-कम्पनी के एजेंट को अपने साथ हुए व्यवहार की जानकारी देना चाहता था। मैंने एजेंट के नाम चिट्ठी लिखी। उस गोरेने जो धमकी दी थी उसकी चर्चा की और यह आश्वासन चाहा कि सुबह आगे की यात्रा शुरू होने पर मुझे दूसरे यात्रियों के पास अन्दर ही जगह दी जाए। चिट्ठी एजेंट को भेज दी। एजेंट ने

मुझे संदेशा भेजा: "स्टैंडरटन से बड़ी सिकरम जाती है और कोचवान वगैरा बदल जाते हैं। जिस आदमी के खिलाफ आपने शिकायत की है, वह कल नहीं रहेगा। आपको दूसरे यात्रियों के पास ही जगह मिलेगी।" इस संदेशे से मुझे थोड़ी बेफिकरी हुई। मुझे मारनेवाले उस गोरे पर किसी तरह का कोई मुकदमा चलाने का तो मैंने विचार ही नहीं किया था। इसलिए मार का यह प्रकरण यहीं समाप्त हो गया। सबेरे ईसा सेठ के लोग मुझे सिकरम पर ले गये, मुझे मुनासिब जगह मिली और बिना किसी हैरानी के मैं उस रात जोहानिस्बर्ग पहुँच गया।

स्टैंडरटन छोटा-सा गाँव है। जोहानिस्बर्ग विशाल नगर है। अब्दुल्ला सेठ ने तार तो वहाँ भी दे ही दिया था। मुझे मुहम्मद कासिम कमरूद्दीन की दुकान का नाम-पता भी दिया था। उनका आदमी सिकरम के पड़ाव पर पहुँचा था, पर न मैंने उसे देखा और न वह मुझे पहचान सका। मैंने होटल में जानेका विचार किया | दो-चार होटलों के नाम जान लिये थे। गाड़ी की। गाड़ीवाले से कहा कि ग्राण्ड नैशनल होटल में ले चलो। वहाँ पहुँचने पर मैंनेजर के पास गया। जगह माँगी। मैंनेजरने क्षणभर मुझे निहारा, फिर शिष्टाचार की भाषा में कहा, "मुझे खेद है, सब कमरे भरे पड़े हैं।" और मुझे बिदा किया। इसलिए मैंने गाड़ीवाले से मुहम्मद कासिम कमरूद्दीन की दुकान पर ले चलने को कहा। वहाँ अब्दुलगनी सेठ मेरी राह देख रहे थे। उन्होंने मेरा स्वागत किया। मैंने होटल की अपनी बीती उन्हे सुनायी। वे खिलखिलाकर हँस पड़े। बोले, "वे हमें होटल में कैसे उतरने देंगे ?"

मैंने पूछा: "क्यों नहीं ?"

"सो तो आप कुछ दिन रहने के बाद जान जाएँगे। इस देश में तो हमीं रह सकते हैं, क्योंकि हमें पैसे कमाने हैं। इसीलिए नाना प्रकार के अपमान सहन करते हैं और पड़े हुए हैं।" यों कहकर उन्होंने ट्रान्सवाल में हिन्दुस्तानियों पर गुजरनेवाले कष्टों का इतिहास कह सुनाया।

इन अब्दुलगनी सेठ का परिचय हमें आगे और भी करना होगा। उन्होंने कहा, "यह देश आपके समान लोगों के लिए नहीं है। देखिये, कल आपको प्रिटोरिया जाना है। वहाँ आपको तीसरे दर्जे में ही जगह मिलेगी। ट्रान्सवाल में नेटाल से अधिक कष्ट हैं। यहाँ हमारे लोगों को पहले या दूसरे दर्जे का टिकट दिया ही नहीं जाता।"

मैंने कहा, "आपने इसके लिए पूरी कोशिश नहीं की होगी।"

अब्दुलगनी सेठ बोले, "हमने पत्र-व्यवहार तो किया है, पर हमारे अधिकतर लोग पहले-दूसरे दर्जे में बैठना भी कहाँ चाहते है ?"

मैंने रेलवे के नियम माँगे। उन्हें पढ़ा। उनमें इस बात की गुंजाइश थी। ट्रान्सवाल के मूल कानून सूक्ष्मतापूर्वक नहीं बनाये जाते थे। रेलवे के नियमों का तो पूछना ही क्या था ? मैंने सेठ से कहा, "मैं तो फर्स्ट क्लास में ही जाऊँगा। और वैसे न जा सका तो प्रिटोरिया यहाँ से ३७ मील ही तो है। मैं वहाँ घोड़ागाड़ी करके चला जाऊँगा।"

अब्दुलगनी सेठने उससे लगनेवाले खर्च और समय की तरफ मेरा ध्यान खींचा। पर मेरे विचार से वे सहमत हुए। मैंने स्टेशन-मास्टर को पत्र भेजा। उसमें मैंने अपने बारिस्टर होने की बात लिखी; यह भी सूचित किया कि मैं हमेंशा पहले दर्जे में ही सफर करता हूँ; प्रिटोरिया तुरन्त पहुँचने की आवश्यकता की तरफ भी उनका ध्यान खींचा, और उन्हें लिखा कि उनके उत्तर की प्रतीक्षा करने जितना समय मेरे पास नहीं रहेगा, अतएव पत्र का जवाब पाने के लिए मैं खुद ही स्टेशन पर पहुँचूँगा और पहले दर्जे का टिकट पाने की आशा रखूँगा।

इसमें मेरे मन में थोड़ा पेच था। मेरा यह खयाल था कि स्टेशन-मास्टर लिखित उत्तर तो 'ना' का ही देगा। फिर, कुली बारिस्टर कैसे रहते होंगे, इसकी भी वह कोई कल्पना न कर सकेगा। इसलिए अगर मैं पूरे साहबी ठाठ में उसके सामने जाकर खड़ा रहूँगा और उससे बात करूँगा, तो वह समझ जाएगा और शायद मुझे टिकट दे देगा। अतएव मैं फ्राँक कोट, नेकटाई वगैरा डाटकर स्टेशन पहुँचा। स्टेशन-मास्टर के सामने मैंने गिन्नी निकालकर रखी और पहले दर्जे का टिकट माँगा।

उसने कहा आपने ने ही मुझे चिट्ठी लिखी है ?"

मैंने कहा, "जी हाँ। यदि आप मुझे टिकट देंगे, तो मैं आपका एहसान मानूँगा। मुझे आज प्रिटोरिया पहुँचना ही चाहिए।"

स्टेशन-मास्टर हँसा। उसे दया आयी। वह बोला, "मैं ट्रान्सवालर नहीं हूँ। मैं हॉलैंडर हूँ। आपकी भावना को मैं समझ सकता हूँ। आपके प्रति मेरी सहानुभूति है। मैं आपको टिकट

देना चाहता हूँ। पर एक शर्त है-अगर रास्ते में गार्ड आपको उतार दे और तीसरे दर्जे में बैठाये तो आप मुझे फाँसिये नहीं; यानी आप रेलवे कंपनी पर दावा न कीजिए। मैं चाहता हूँ कि आपकी यात्रा निर्विघ्न पूरी हो। आप सज्जन हैं, यह तो मैं देख ही सकता हूँ।" यों कहकर उसने टिकट काट दिया। मैंने उसका उपकार माना और उसे निश्चिंत किया। अब्दुलगनी सेठ मुझे बिदा करने आये थे। यह कौतुक देखकर वे प्रसन्न हुए, उन्हें आश्चर्य हुआ। पर मुझे चेताया: "आप भलीभाँति प्रिटोरिया पहुँच जाएँ, तो समझूँगा कि बेड़ा पार हुआ। मुझे डर है कि गार्ड आपको पहले दर्जे में आराम से बैठने नहीं देगा; और गार्डने बैठने भी दिया, तो यात्री नहीं बैठने देंगे।"

मैं तो पहले दर्जे के डिब्बे में बैठा। ट्रेन चली। जर्मिस्टन पहुँचने पर गार्ड टिकट जाँचने आया। मुझे देखते ही खीझ उठा। अंगुली से इशारा करके मुझसे कहा, "तीसरे दर्जे में जाओ।" मैंने पहले दर्जे का अपना टिकट दिखाया। उसने कहां, "कोई बात नहीं; जाओ, तीसरे दर्जे में।"

इस डिब्बे में एक ही अंग्रेज यात्री था। उसने गार्ड को आड़े हाथों लिया: "तुम इन भले आदमी को क्यों परेशान करते हो? देखते नहीं हो, इनके पास पहले दर्जे का टिकट है ? मुझे इनके बैठने से तनिक भी कष्ट नहीं है।"

यों कहकर उसने मेरी तरफ देखा और कहा: "आप इतमीनान से बैठे रहिये।"

गार्ड बड़बडाया: "आपको कुली के साथ बैठना है, तो मेरा क्या बिगड़ता है?" और चल दिया।

रात करीब आठ बजे ट्रेन प्रिटोरिया पहुँची।

१०. प्रिटोरिया में पहला दिन

मुझे आशा थी कि प्रिटोरिया पर दादा अब्दुल्ला के वकील की ओर से कोई आदमी मुझे मिलेगा। मैं जानता था कि कोई हिन्दुस्तानी तो मुझे लेने आया ही न होगा, और किसी भी हिन्दुस्तानी के घर न रहने के वचन से मैं बँधा हुआ था। वकील ने किसी आदमी को स्टेशन पर भेजा न था। बाद में मुझे पता चला कि मेरे पहुँचने के दिन रविवार था, इसलिए थोडी असुविधा उठाये बिना वे किसीको भेज नहीं सकते थे। मैं परेशान हुआ। सोचने लगा कहाँ जाऊँ ? डर था कि कोई होटल मुझे जगह न देगा। सन् १८९३ का प्रिटोरिया स्टेशन 1914 के प्रिटोरिया स्टेशन से बिलकुल भिन्न था। धीमी रोशनीवाली बत्तियाँ जल रही थीं। यात्री भी अधिक नहीं थे। मैंने सब यात्रियों को जाने दिया और सोचा कि टिकट कलेक्टर को थोड़ी फुरसत होने पर अपना टिकट दूँगा और यदि वह मुझे किसी छोटे-से होटल का या ऐसे मकान का पता देगा तो वहाँ चला जाऊँगा, या फिर रात स्टेशन पर ही पड़ा रहूँगा। इतना पूछने के लिए भी मन बढ़ता न था, क्योंकि अपमान होने का डर था।

स्टेशन खाली हुआ। मैंने टिकट-कलेक्टर को टिकट देकर पूछताछ शुरू की। उसने सभ्यता से उत्तर दिये, पर मैंने देखा कि वह मेरी अधिक मदद नहीं कर सकता था। उसकी बगल में एक अमेंरिकन हब्शी सज्जन खड़े थे। उन्होंने मुझसे बातचीत शुरू की:

"मैं देख रहा हूँ कि आप बिलकुल अजनबी हैं और यहाँ आपका कोई मित्र नहीं है। अगर आप मेरे साथ चलें, तो मैं आपको एक छोटे-से होटल में ले चलूँगा। उसका मालिक अमेंरिकन है और मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ। मेरा खयाल है कि वह आपको टिका लेगा।"

मुझे थोड़ा शक तो हुआ, पर मैंने इन सज्जन का उपकार माना और उनके साथ जाना स्वीकार किया। वे मुझे जॉन्स्टन फेमिली होटल में ले गये। पहले उन्होंने मि. जॉन्स्टन को एक ओर ले जाकर थोड़ी बात की। मि. जॉन्स्टन ने मुझे एक रात के लिए टिकाना कबूल किया, और वह भी इस शर्त पर कि भोजन मेरे कमरे में पहुँचा देंगे।

मि. जॉन्स्टन ने कहा, "मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे मन में तो काले-गोरे का कोई भेद नहीं है, पर मेरे ग्राहक सब गोरे ही हैं। यदि मैं आपको भोजन-गृह में भोजन कराऊँ, तो मेरे ग्राहक बुरा मानेंगे और शायद वे चले जाएँगे।"

मैंने जवाब दिया, "आप मुझे एक रात के लिए रहने दे रहे हैं, इसे भी मैं आपका उपकार मानता हूँ। इस देश की स्थिति से मैं कुछ-कुछ परिचित हो चुका हूँ। मैं आपकी कठिनाई को समझ सकता हूँ। मुझे आप खुशी से मेरे कमरे में खाना दीजिए। कल तक मैं दूसरा प्रबंध कर लेने की आशा रखता हूँ।"

मुझे कमरा दिया गया। मैंने उसमें प्रवेश किया। एकान्त मिलने पर भोजन की राह देखता हुआ मैं विचारों में डूब गया। इस होटल में अधिक यात्री नहीं रहते थे। कुछ देर बाद भोजन के साथ वेटर को आता देखने के बदले मैंने मि. जॉन्स्टन को देखा। उन्होंने कहा, "मैंने आपको कमरे में खाना देने की बात कही थी। पर मैंने उसमें शरम महसूस की, इसलिए अपने ग्राहकों से आपके विषय में बातचीत करके उनकी राय जानी। आप भोजन गृह में बैठकर भोजन करें, तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। इसके अलावा, आप यहाँ जितने दिन भी रहना चाहें रहें, उनकी ओर से कोई रूकावट नहीं होगी। इसलिए अब आप चाहें तो भोजन-गृह में आइये और जब तक जी चाहे यहाँ रहिये।"

मैंने फिर उनका उपकार माना और मैं भोजन-गृह में गया। निश्चिंत होकर भोजन किया।

दूसरे दिन सबेरे में वकील के घर गया। उनका नाम था, ए. डब्ल्यू. बेकर। उनसे मिला। अब्दुल्ला सेठने मुझे उनके बारेमें कुछ बता दिया था। इसलिए हमारी पहली मुलाकात से मुझे कोई आश्चर्य न हूआ। वे मुझसे प्रेमपूर्वक मिले और मेरे बारेमें कुछ बातें पूछीं, जो मैंने उन्हें बतला दीं। उन्होंने कहा, "बारिस्टर के नाते तो आपका यहाँ कोई उपयोग हो ही न सकेगा। इस मुकदमें के लिए हमने अच्छे-से-अच्छे बारिस्टर कर रखे हैं। मुकदमा लम्बा है और गुत्थियों से भरा हुआ हैं। इसलिए आपसे मैं आवश्यक तथ्य आदि प्राप्त करने का ही काम ले सकूँगा। पर इतना फायदा अवश्य होगा कि अपने मुवक्किल के साथ पत्र-व्यवहार करने में मुझे अब आसानी हो जाएगी, और तथ्यादि की जो जानकारी मुझे प्राप्त करनी होगी, वह मैं आपके द्वारा मँगवा सकूँगा। आपके लिए अभी तक मैंने कोई मकान तो तलाश नहीं

किया है। सोचा था कि आपको देखने के बाद खोज लूँगा। यहाँ रंगभेद बहुत है इसलिए घर मिलना आसान नहीं है। पर मैं एक बहन को जानता हूँ। वह गरीब है, भटियारे की स्त्री है। मेरा खयाल है कि वह आपको टिका लेगी। उसे भी कुछ मदद हो जाएगी। चलिये, हम उसके यहाँ चलें।

यों कहकर वे मुझे वहाँ ले गये। मि. बेकर ने उस बहन को एक ओर ले जाकर उससे कुछ बातें कीं, और उसने मुझे टिकाना स्वीकार किया। हफ्ते के पैंतीस शिलिंग देने का निश्चय हुआ।

मि. बेकर वकील थे और कट्टर पादरी भी थे। वे अभी जीवित हैं, और आजकल केवल पादरी का ही काम करते हैं। वकालत उन्होंने छोड़ दी है। रूपये-पैसे से सुखी हैं। उन्होंने मेरे साथ अब तक पत्र-व्यवहार जारी रखा है। पत्रों का विषय एक ही होता है। वे अपने पत्रों में अलग-अलग ढंग से ईसाई धर्म की उत्तमता की चर्चा करते हैं, और इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि ईसा को ईश्वर का एकमात्र पुत्र और तारनहार माने बिना परम शांति नहीं मिल सकती।

हमारी पहली ही मुलाकात में मि. बेकर ने धर्म-संबंधी मेरी मनःस्थिति जान ली। मैंने उन्हें बता दिया: "मैं जन्म से हिन्दू हूँ। इस धर्म का भी मुझे अधिक ज्ञान नहीं है। दूसरे धर्मों का ज्ञान भी कम ही है। मैं कहाँ हूँ, क्या मानता हूँ, मुझे क्या मानना चाहिए, यह सब मैं नहीं जानता। अपने धर्म का अध्ययन मैं गंभीरता से करना चाहता हूँ। दूसरे धर्मों का अध्ययन भी यथाशक्ति करने का मेरा इरादा है।

यह सब सुनकर मि. बेकर खुश हुए और बोले, "मैं स्वयं 'साउथ अफ्रीका जनरल मिशन' का एक डायरेक्टर हूँ। मैंने अपने खर्चे से एक गिरजाघर बनवाया है। उसमें समय-समय पर धर्म-संबंधी व्याख्यान दिया करता हूँ। मैं रंगभेद को नहीं मानता। मेरे साथ काम करने वाले कुछ साथी भी हैं। हम प्रतिदिन एक बजे कुछ मिनट के लिए मिलते हैं और आत्मा की शांति तथा प्रकाश (ज्ञान के उदय) के लिए प्रार्थना करते हैं। उसमें आप आएँगे, तो मुझे खुशी होगी। वहाँ मैं अपने साथियों से भी आपकी पहचान करा दूँगा। वे सब आपसे मिलकर प्रसन्न होंगे। और मुझे विश्वास है कि उनका समागम आपको भी अच्छा लगेगा।

मैं आपको कुछ धार्मिक पुस्तकें भी पढने के लिए दूँगा, पर सच्ची पुस्तक तो बाइबल ही है। मेरी सलाह है कि आप उसे अवश्य पढ़िये।"

मैंने मि. बेकर को धन्यवाद दिया और अपने बसभर रोज एक बजे उनके मंडल में प्रार्थना के लिए पहुँचना स्वीकार किया।

"तो कल एक ही बजे यहीं आइयेगा। हम साथ ही प्रार्थना-मन्दिर चलेंगे।"

हम जुदा हुए। अधिक विचार करने की अभी मुझे फुरसत नहीं थी। मैं मि. जॉन्स्टन के पास गया। बिल चुकाया। नये घर में पहुँचा। वहाँ भोजन किया | घर-मालकिन भली स्त्री थी। उसने मेरे लिए अन्नाहार तैयार किया था। इस कुटुम्ब से घुलमिल जाने में मुझे देर न लगी। भोजन से निबटकर मैं उन मित्र से मिलने गया, जिन के नाम दादा अब्दुल्ला ने मुझे पत्र दिया था। उनसे जान-पहचान हुई। हिन्दुस्तानियों की दुर्दशा की विशेष बातें उनसे जानने को मिलीं। उन्होंने मुझसे अपने घर रहने का आग्रह किया। मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और मेरे लिए जो व्यवस्था हो चुकी थी उसकी बात कही। उन्होंने मुझसे आग्रहपूर्वक कहा कि जिस चीज की आवश्यकता हो, मैं उनसे माँग लूँ।

शाम हुई। ब्यालू की और मैं तो अपने कमरे में जाकर विचारों के चक्कर में पड़ गया। मैंने अपने लिए तुरंत कोई काम नहीं देखा। अब्दुल्ला सेठ को इसकी सूचना भेज दी। मि. बेकर की मित्रता का क्या अर्थ हो सकता है ? उनके धर्मबन्धुओं से मुझे क्या मिल सकेगा ? ईसाई धर्म का अध्ययन मुझे किस हद तक करना चाहिए ? हिन्दु धर्म का साहित्य कहाँ से प्राप्त किया जाए ? मैं एक ही निर्णय कर सका: मुझे जो भी पढ़ने को मिले, उसे मैं निष्पक्ष भाव से पढ़ूँ और मि. बेकरके समुदाय को, भगवान जिस समय जो सुझा दे, सो जवाब दूँ। जब तक मैं अपने धर्म को पूरी तरह समझ न लूँ, तब तक मुझे दूसरे धर्मों को अपनाने का विचार नहीं करना चाहिए। इस तरह सोचता हुआ मैं निद्रावश हो गया।

११. ईसाईयों से संपर्क

दूसरे दिन एक बजे मैं मि. बेकरके प्रार्थना-समाज में गया। वहाँ मिस हेरिस, मिस गेब, मि. कोट्स आदि से परिचय हुआ। सबने घुटनों के बल बैठकर प्रार्थना की। मैंने भी उनका अनुकरण किया। प्रार्थना में जिसकी जो इच्छा होती, सो ईश्वर से माँगता। दिन शांति से बीते, ईश्वर हमारे हृदय के द्वार खोले, इत्यादि बातें तो होती ही थीं। मेरे लिए भी प्रार्थना की गई: 'हे प्रभु, हमारे बीच जो नये भाई आये हैं उन्हें तू मार्ग दिखा। जो शांति तूने हमें दी है, वह उन्हें भी दे। जिस ईसा ने हमें मुक्त किया हैं, वह उन्हें भी मुक्त करे। यह सब हम ईसा के नाम पर माँगते हैं।" इस प्रार्थना में भजन-कीर्तन नहीं था। वे लोग ईश्वर से कोई भी एक चीज माँगते और विखर जाते। यह समय सबके दोपहर के भोजन का होता था, इसलिए प्रार्थना करके सब अपने-अपने भोजन के लिए चले जाते थे। प्रार्थना में पाँच मिनट से अधिक नहीं लगते थे।

मिस हेरिस और मिस गेब दोनों पौढ़ अवस्था की कुमारिकायें थी। मि. कोट्स क्वेकर थे। ये दोनों कुमारिकायें साथ रहती थीं। उन्होंने मुझे हर रविवार को चार बजे की चाय के लिए अपने घर आनेका निमंत्रण दिया। मि. कोट्स जब मिलते तो मुझे हर रविवार को उन्हें हफ्तेभर की अपनी धार्मिक डायरी सुनाती पड़ती। कौन-कौन सी पुस्तकें मैंने पढ़ीं, मेरे मन पर उनका क्या प्रभाव पड़ा, इसकी चर्चा होती। वे दोनों बहनें अपने मीठे अनुभव सुनातीं औऱ अपने को प्राप्त हुई परम शांति की बातें करतीं।

मि. कोट्स एक साफ दिलवाले चुस्त नवजवान क्वेकर थे। उनके साथ मेरा गाढ़ संबंध हो गया था। हम बहुत बार एकसाथ घूमने भी जाया करते थे। वे मुझे दूसरे ईसाईयों के घर भी ले जाते थे।

मि. कोट्स ने मुझे पुस्तकों से लाद दिया। जैसे जैसे वे मुझे पहचानते जाते, वैसे वैसे उन्हें अच्छी लगनेवाली पुस्तकें वे मुझे पढ़ने को देते रहते। मैंने भी केवल श्रद्धावश ही उन पुस्तकों को पढ़ना स्वीकार किया। इन पुस्तकों की हम आपस में चर्चा भी किया करते थे।

सन् १८९३ के वर्ष में मैंने ऐसी पुस्तकें बहुत पढ़ीं । उन सबके नाम तो मुझे याद नहीं हैं, लेकिन उनमें सिटी टेम्पलवाले डॉ. पारकर की टीका, पियर्सन की 'मेंनी इनफॉलिबल प्रुफ्स', बटलर की 'एनॉलोजी' इत्यादि पुस्तकें थीं । इनमें का कुछ भाग तो समझ में न आता, कुछ रूचता और कुछ न रूचता । मैं मि. कोट्स को ये सारी बातें सुनाता रहता । 'मेंनी इनफॉलिबल प्रुफ्स' का अर्थ है, कई अचूक प्रमाण-अर्थात् लेखक की राय में बाइबल में जिस धर्म का वर्णन है, उसके समर्थन के प्रमाण । मुझ पर इस पुस्तक का कोई प्रभाव नहीं पड़ा । पारकर की टीका नीतिवर्धक मानी जा सकती है, पर ईसाई धर्म की प्रचलित मान्यताओं के विषय में शंका रखनेवाले को उससे कोई मदद नहीं मिल सकती थी । बटलर की 'एनॉलोजी' बहुत गंभीर और कठिन पुस्तक प्रतीत हुई । उसे अच्छी तरह समझने के लिए पाँच-सात बार पढ़ना चाहिए। वह नास्तिक को आस्तिक बनाने की पुस्तक जान पड़ी। उसमें ईश्वर के अस्तित्व के बारेमें दी गयी दलीलें मेरे किसी काम की न थीं, क्योंकि वह समय मेरी नास्तिकता का नहीं था । पर ईसा के अद्वितीय अवतार के बारेमें और उनके मनुष्य तथा ईश्वर के बीच संधि करनेवाला होने के बारेमें जो दलीलें दी गयी थीं, उनकी मुझ पर कोई छाप नही पड़ी ।

पर मि. कोट्स हारनेवाले आदमी नहीं थे । उनके प्रेम का पार न था । उन्होंने मेंरे गले में बैष्णवी कण्ठी देखी । उन्हें यह वहम जान पड़ा और वे दु:खी हुए । बोले, “यह वहम तुम जैसों को शोभा नहीं देता। लाओ, इसे तोड़ दूँ।”

“यह कण्ठी नहीं टूट सकती; माताजी की प्रसादी है ।”

“पर क्या तुम इसमें विश्वास करते हो ?”

“मैं इसका गूढ़ार्थ नहीं जानता । इसे न पहनने से मेरा अकल्याण होगा, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता । पर माता जी ने जो माला मुझे प्रेमपूर्वक पहनायी है, जिसे पहनाने में उन्होंने मेरा कल्याण माना है, उसका त्याग मैं बिना कारण नहीं करूँगा । समय पाकर यह जीर्ण हो जाएगी और टूट जाएगी, तो दूसरी प्राप्त करके पहनने का लोभ मुझे नहीं रहेगा । पर यह कण्ठी टूट नहीं सकती|”

मि. कोट्स मेरी इस दलील की कद्र नहीं कर सके, क्योंकि उन्हें तो मेरे धर्म के प्रति अनास्था थी। वे मुझे अज्ञान-कूप में से उबार लेने की आशा रखते थे। वे मुझे यह बताना चाहते थे कि दूसरे धर्मों में भले ही कुछ सत्य हो, पर पूर्ण सत्यरूप ईसाई धर्म को स्वीकार किये बिना मोक्ष मिल ही नहीं सकता; ईसा की मध्यस्थता के बिना पाप धुल ही नहीं सकते और सारे पुण्यकर्म निरर्थक हो जाते हैं। मि. कोट्स ने जिस प्रकार मुझे पुस्तकों का परिचय कराया, उसी प्रकार जिन्हें वे धर्मप्राण ईसाई मानते थे उनसे भी मेरा परिचय कराया।

इन परिचयों में एक परिचय 'प्लीमथ ब्रदरन' से सम्बन्धित एक कुटुम्ब का था। प्लीमथ ब्रदरन नाम का एक ईसाई सम्प्रदाय है। कोट्स के कराये हुए बहुत से परिचय मुझे अच्छे लगे। वे लोग मुझे ईश्वर से डरनेवाले जान पड़े। पर इस कुटुम्ब में एक भाई ने मुझसे दलील की: "आप हमारे धर्म की खूबी नहीं समझ सकते। आपकी बातों से हम देखते हैं कि आपको क्षण-क्षण में अपनी भूलों का विचार करना होता है। उन्हें सदा सुधारना होता है। न सुधारने पर आपको पश्चाताप करना पड़ता है, प्रायश्चित करना होता है। इस क्रियाकांड से आपको मुक्ति कब मिल सकती है ? शांति तो आपको मिल ही नहीं सकती। आप यह तो स्वीकार करते ही हैं कि हम पापी हैं। अब हमारे विश्वास की परिपूर्णता देखिये। हमारा प्रयत्न व्यर्थ है। फिर भी मुक्ति की आवश्यकता तो है ही। पाप का बोझ कैसे उठे ? हम उसे ईसा पर डाल दें। वह ईश्वर का एकमात्र निष्पाप पुत्र है। उसका वरदान है कि जो ईश्वर को मानते हैं उनके पाप धो देता है। ईश्वर की यह अगाध उदारता है। ईसा की इस मुक्ति-योजना को हमने स्वीकार किया है, इसलिए हमारे पाप हमसे चिपटते नहीं। पाप तो मनुष्य से होते ही हैं। इस दुनिया में निष्पाप कैसे रहा जा सकता है ? इसीसे ईसा ने सारे संसार के पापों का प्रायश्चित एक ही बार में कर डाला। जो उनके महा बलिदान का स्वीकार करना चाहते हैं, वे वैसा करके शांति प्राप्त कर सकते हैं। कहाँ आपकी अशांति और कहाँ हमारी शांति ?"

यह दलील मेरे गले बिलकुल न उतरी। मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया: "यदि सर्वमान्य ईसाई धर्म यही है, तो वह मेरे काम का नहीं है। मैं पाप के परिणाम से मुक्ति नहीं चाहता, मैं तो पाप-वृत्ति से, पाप-कर्म से मुक्ति चाहता हूँ। जब तक वह मुक्ति नहीं मिलती, तब तक अपनी यह अशांति मुझे प्रिय रहेगी।"

प्लीमथ ब्रदर ने उत्तर दिया: "मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आपका प्रयत्न व्यर्थ है। मेरी बात पर आप फिर सोचियेगा।"

औऱ, इन भाई ने जैसा कहा वैसा अपने व्यवहार द्वारा करके भी दिखा दिया-जान-बूझकर अनीति कर दिखायी।

पर सब ईसाईयों की ऐसी मान्यता नहीं होती, यह तो मैं इन परिचयों से पहले ही जान चुका था। मि. कोट्स स्वयं ही पाप से डरकर चलनेवाले थे। उनका हृदय निर्मल था। वे हृदय-शुद्धि की शक्यता में विशवास रखते थे। उक्त बहनें भी वैसी ही थीं। मेरे हाथ पड़नेवाली पुस्तकों में से कई भक्तिपूर्ण थीं। और उन्हें विश्वास दिलाया कि एक प्लीमथ ब्रदर की अनुचित धारणा के कारन मैं ईसाई धर्म के बारेमें गलत राय नहीं बना सकता। मेरी कठिनाईयाँ तो बाइबल के बारेमें और उसके रूढ़ अर्थ के बारेमें थी।

१२. हिन्दुस्तानियों से परिचय

ईसाई-सम्बन्धों के बारेमें अधिक लिखने से पहले उसी समय के दूसरे अनुभवों का उल्लेख करना आवश्यक है।

नेटाल में जो स्थान दादा अब्दुल्ला का था, प्रिटोरिया में वही स्थान सेठ तैयब हाजी खानमहम्मद का था। उनके बिना एक भी सार्वजनिक काम चल नहीं सकता था। उनसे मैंने पहले ही हफ्ते में जान-पहचान कर ली। मैंने उन्हें बताया कि मैं प्रिटोरिया के प्रत्येक हिन्दुस्तानी के सम्पर्क में आना चाहता हूँ। मैंने हिन्दुस्तानियों की स्थिति का अध्ययन करने की अपनी इच्छा प्रकट की और इन सारे कामों में उनकी मदद चाही। उन्होंने खुशी से मदद देना कबूल किया।

मेरा पहला कदम तो सब हिन्दुस्तानियों की एक सभा करके उनके सामने सारी स्थिति का चित्र खड़ा कर देना था। सेठ हाजी महम्मद हाजी जूसब के यहाँ यह सभा हुई, जिन के नाम मेरे पास एक शिफ़ारिशी पत्र था। इस सभा में मेंमन व्यापारी विशेष रूप से आये थे। कुछ हिन्दू भी थे। प्रिटोरिया में हिन्दुओं की आबादी बहुत कम थी।

यह मेरे जीवन का पहला भाषण माना जा सकता है। मैंने काफी तैयारी की थी। मुझे सत्य पर बोलना था। मैं व्यापारियों के मुँह से यह सुनता आ रहा था कि व्यापार में सत्य नहीं चल सकता। इन बात को मैं तब भी नहीं मानता था, आज भी नहीं मानता। यह कहनेवाले व्यापारी मित्र आज भी मौजूद हैं कि व्यापार के साथ सत्य का मेंल नहीं बैठ सकता। वे व्यापार को व्यवहार कहते हैं, सत्य को धर्म कहते हैं और दलील यह देते हैं कि व्यवहार एक चीज है, धर्म दूसरी। उनका यह विश्वास है कि व्यवहार में शुद्ध सत्य चल ही नहीं सकता; उसमें तो सत्य यथाशक्ति ही बोला-बरता जा सकता है | अपने भाषण में मैंने इस स्थिति का डटकर विरोध किया और व्यापारियों को उनके दोहरे कर्तव्य का स्मरण कराया। परदेश में आने से उनकी जिम्मेदारी देश की अपेक्षा अधिक हो गयी है, क्योंकि मुट्ठीभर हिन्दुस्तानियों की रहन-सहन से हिन्दुस्तान के करोड़ो लोगों को नापा-तोला जाता है।

अंग्रेजो की रहन-सहन की तुलना में हमारी रहन-सहन गन्दी है, इसे मैं देख चुका था। मैंने इसकी ओर भी उनका ध्यान खींचा। हिन्दु, मुसलमान, पारसी, ईसाई अथवा गुजराती, मद्रासी, पंजाबी, सिन्धी, कच्छी, सूरती आदि भेदों को भुला देने पर जोर दिया।

अन्त में मैंने यह सुझाया कि एक मंडल की स्थापना करके हिन्दुस्तानियों के कष्टों और कठिनाईयों का इलाज अधिकारियों से मिलकर और अर्जियाँ भेजकर करना चाहिए, और यह सूचित किया कि मुझे जितना समय मिलेगा उतना इस काम के लिए मैं बिना वेतन के दूँगा।

मैंने देखा कि सभा पर मेरी बातों का अच्छा प्रभाव पड़ा।

मेरे भाषण के बाद चर्चा हुई। कईयोंने मुझे तथ्यों की जानकारी देने को कहा। मेरी हिम्मत बढ़ी। मैंने देखा कि इस सभा में अंग्रेजी जाननेवाले कुछ ही लोग थे। मुझे लगा कि ऐसे परदेश में अंग्रेजी का ज्ञान हो तो अच्छा है। इसलिए मैंने सलाह दी कि जिन्हें फुरसत हो वे अंग्रेजी सीख लें। मैंने यह भी कहा कि अधिक उमर हो जाने पर भी पढ़ा जा सकता है, और इस तरह पढ़नेवालों के उदाहरण भी दिये। और कोई क्लास खुले तो उसे अथवा छुट-फुट पढ़नेवाले मिलें तो उन्हें पढ़ाने की जिम्मेदारी मैंने खुद अपने सिर ली। क्लास तो नहीं खुला, पर तीन आदमी अपनी सुविधा से और उनके घर जाकर पढ़ाने की शर्त पर पढ़ने के लिए तैयार हुए। इनमें दो मुसलमान थे। दो में से एक हज्जाम था | और एक कारकुन था। एक हिन्दु छोटा दुकानदार था। मैंने सबकी बात मान ली। पढ़ाने की अपनी शक्ति के विषय में तो मुझे कोई अविश्वास था ही नहीं। मेरे शिष्यों को थका मानें तो वे थके कहे जा सकते हैं, पर मैं नहीं थका। कभी ऐसा भी होता कि मैं उनके घर जाता और उन्हें फुरसत न होती। पर मैंने धीरज न छोड़ा। इनमें से किसीको अंग्रेजी का गहरा अध्ययन तो करना ही न था। पर दो ने करीब आठ महीनों में अच्छी प्रगति कर ली, ऐसा कहा जा सकता है। दो ने हिसाब-किताब रखना और साधारण पत्र-व्यवहार करना सीख लिया। हज्जाम को तो अपने ग्राहकों के साथ बातचीत कर सकने लायक ही अंग्रेजी सीखनी थी। दो व्यक्तियों ने अपनी इस पढ़ाई के कारण ठीक-ठीक कमाने की शक्ति भी प्राप्त कर ली थी।

सभा के परिणाम से मुझे संतोष हुआ। निश्चय हुआ कि ऐसी सभा हर महीने या हर हफ्ते की जाय। यह सभा न्यूनाधिक नियमित रूप से होती थी, और उसमें विचारों का आदान-प्रदान होता रहता था। नतीजा यह हुआ कि प्रिटोरिया में शायद ही कोई ऐसा हिन्दुस्तानी रहा होगा, जिसे मैं पहचानने न लगा होऊँ अथवा जिसकी स्थिति से मैं परिचित न हो गया होऊँ। हिन्दुस्तानियों की स्थिति का ऐसा ज्ञान प्राप्त करने का परिणाम यह आया कि मुझे प्रिटोरिया में रहनेवाले ब्रिटिश एजेंट से परिचय करने की इच्छा हुई। मैं मि. जेकोब्स डि-वेट से मिला। उनकी सहानुभूति हिन्दुस्तानियों के साथ थी। उनका प्रभाव कम था, पर उन्होंने यथासम्भव मदद करने और मिलना हो तब आकर मिल जाने के लिए कहा। रेलवे के अधिकारियों से मैंने पत्र-व्यवहार शुरू किया और बतलाया कि उन्हींके कायदों के अनुसार हिन्दुस्तानियों को ऊँचे दर्जे में यात्रा करने से रोका नहीं जा सकता। इसके परिणाम-स्वरूप यह पत्र मिला कि अच्छे कपड़े पहने हुए हिन्दुस्तानियों को ऊँचे दर्जे के टिकट दिये जाएँगे। इससे पूरी सुविधा नहीं मिली, क्योंकि अच्छे कपड़े किसने पहने हैं, इसका निर्णय तो स्टेशन-मास्टर को ही करना था न ?

ब्रिटिश एजेंट ने मुझे हिन्दुस्तानियों के बारेमें हुए पत्र-व्यवहार-सम्बन्धी कई कागज पढ़ने को दिये। तैयब सेठ ने भी दिये थे। उनसे मुझे पता चला कि ऑरेंज फ्री स्टेट से हिन्दुस्तानियों को किस निर्दयता के साथ निकाल बाहर किया गया था। सारांश यह कि ट्रान्सवाल और ऑरेंज फ्री स्टेट के हिन्दुस्तानियों की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का गहरा अध्ययन मैं प्रिटोरिया में कर सका। इस अध्ययन का आगे चल कर मेरे लिए पूरा उपयोग होनेवाला है, इसकी मुझे जरा भी कल्पना नहीं थी। मुझे तो एक साल के अन्त में अथवा मुकदमा पहले समाप्त हो जाए तो उससे पहले ही स्वदेश लौट जाना था।

पर ईश्वर ने कुछ और ही सोच रखा था।

१३. कुलीपन का अनुभव

ट्रान्सवाल और ऑरेन्ज फ्री स्टेट के हिन्दुस्तानियों की स्थिति का पूरा चित्र देने का यह स्थान नहीं है। उसकी जानकारी चाहनेवाले को 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' पढ़ना चाहिए। पर यहाँ उसकी रूपरेखा देना आवश्यक हैं|

ऑरेन्ज फ्री स्टेट में तो एक कानून बनाकर सन् १८८८ में या उससे पहले हिन्दुस्तानियों के सब हक छीन लिये गये थे। वहाँ हिन्दुस्तानियों के लिए सिर्फ होटल के वेटर के रूप में काम करने या ऐसी कोई दूसरी मजदूरी करने की ही गुंजाइश रह गयी थी। जो व्यापारी हिन्दुस्तानी थे, उन्हें नाममात्र का मुआवजा देकर निकाल दिया गया था। हिन्दुस्तानी व्यापारियों ने अर्जियाँ वगैरा भेजीं, पर वहाँ उनकी तूती की आवाज कौन सुनता ?

ट्रान्सवाल में सन् १८८५ में एक कड़ा कानून बना। १८८६ में उसमें कुछ सुधार हुआ। उसके फलस्वरूप यह तय हुआ कि हरएक हिन्दुस्तानी को प्रवेश- फीस के रूप में तीन पौंड जमा कराने चाहिए। उनके लिए अलग छोड़ी गयी जगह में ही वे जमीन-मालिक हो सकते थे। पर वहाँ भी उन्हें व्यवहार में जमीन का स्वामित्व नहीं मिला। उन्हें मताधिकार भी नहीं दिया गया था। ये तो खास एशियावासियों के लिए बने कानून थे। इसके अलावा, जो कानून काले रंग के लोगों को लागू होते थे, वे भी एशियावासियों पर लागू होते थे। उनके अनुसार हिन्दुस्तानी लोग पटरी (फुटपाथ) पर अधिकार-पूर्वक चल नहीं सकते थे और रात नौ बजे के बाद परवाने के बिना बाहर नहीं निकल सकते थे। इस अंतिम कानून का अमल हिन्दुस्तानियों पर न्यूनाधिक प्रमाण में होता था। जिनकी गिनती अरबों में होती थी, वे बतौर मेंहरबानी के इस नियम से मुक्त समझे जाते थे। मतलब यह कि इस तरह की राहत देना पुलिस की मर्जी पर रहता था।

इन दोनों नियमों का प्रभाव स्वयं मुझ पर क्या पड़ेगा, इसकी जाँच मुझे करानी पड़ी थी। मैं अक्सर मि. कोट्स के साथ रात को घूमने जाया करता था। कभी-कभी घर पहुँचने में दस बज जाते थे। अतएव पुलिस मुझे पकड़े तो ? यह डर जितना स्वयं मुझे था उससे अधिक मि. कोट्स को था। अपने हब्शियों को तो वे ही परवाने देते थे। लेकिन मुझे परवाना कैसे दे

सकते थे ? मालिक अपने नौकर को ही परवाना देने का अधिकारी था। मैं लेना चाहूँ और मि. कोट्स देने को तैयार हो जाएँ, तो भी वह नहीं दिया जा सकता था, क्योंकि वैसा करना विश्वासघात माना जाता।

इसलिए मि. कोट्स या उनके कोई मित्र मुझे वहाँ के सरकारी वकील डॉ. क्राउजे के पास ले गये। हम दोनों एक ही 'इन' के बारिस्टर निकले। उन्हें यह बात असह्य जान पड़ी कि रात नौ बजे के बाद बाहर निकलने के लिए मुझे परवाना लेना चाहिए। उन्होंने मेरे प्रति सहानुभूति प्रकट की। मुझे परवाना देने के बदले उन्होंने अपनी तरफ से एक पत्र दिया। उसका आशय यह था कि मैं चाहे जिस समय चाहे जहाँ जाऊँ, पुलिस को उसमें दखल नहीं देना चाहिए। मैं इस पत्र को हमेंशा अपने साथ रखकर घूमने निकलता था। कभी उसका उपयोग नहीं करना पड़ा। लेकिन इसे तो केवल संयोग ही समझना चाहिए।

डॉ. क्राउजे ने मुझे अपने घर आनेका निमंत्रण दिया। मैं यह कह सकता हूँ कि हमारे बीच मित्रता हो गयी थी। मैं कभी-कभी उनके यहाँ जाने लगा। उनके द्वारा उनके अधिक प्रसिद्ध भाई के साथ मेरी पहचान हुई। वे जोहानिस्बर्ग में पब्लिक प्रोसिक्युटर नियुक्त हुए थे। उन पर बोअरयुद्ध के समय अंग्रेज अधिकारी का खून कराने का षड़यंत्र रचने के लिए मुकदमा भी चला था और उन्हें सात साल के कारावास की सजा मिली थी। बेंचरों ने उनकी सनद भी छीन ली थी। लड़ाई समाप्त होने पर डॉ. क्राउजे जेल से छूटे, सम्मानपूर्वक ट्रान्सवाल की अदालत में फिर से प्रविष्ट हुए और अपने धन्धे से लगे। बाद में सम्बन्ध मेरे लिए सार्वजनिक कार्यों में उपयोगी सिद्ध हुए थे और मेरे कई सार्वजजनिक काम इनके कारण आसान हो गये थे।

पटरी पर चलने का प्रश्न मेरे लिए कुछ गंभीर परिणामवाला सिद्ध हुआ। मैं हमेंशा प्रेसिडेंट स्ट्रीट के रास्ते एक खुले मैंदान में घूमने जाया करता था। इस मुहल्ले में प्रेसिडेंट क्रूगर का घर था। यह घर सब तरह के आडंबरों से रहित था। इसके चारों ओर कोई अहाता भी नहीं था। आस-पास के दूसरे घरों में और इसमें कोई फरक नहीं मालूम होता था। प्रिटोरिया में कई लखपतियों के घर इसकी तुलना में बहुत बडे, शानदार और अहातेवाले थे। प्रेसिडेंट की सादगी प्रसिद्ध थी। घर के सामने पहरा देनेवाले संतरी को देखकर ही पता चलता था

कि यह किसी अधिकारी का घर है। मैं प्रायः हमेंशा ही इस सिपाही के बिलकुल पास से होकर निकलता था, पर वह मुझे कुछ नहीं कहता था। सिपाही समय-समय पर बदला करते थे। एक बार एक सिपाहीने बिना चेताये, बिना पटरी पर से उतर जाने को कहे, मुझे धक्का मारा, लात मारी और नीचे उतार दिया। मैं तो गहरे सोच में पड़ गया। लात मारने का कारण पूछने से पहले ही मि. कोट्स ने, जो उसी समय घोड़े पर सवार होकर उधर से गुजर रहे थे, मुझे पुकारा और कहा:

"गांधी, मैंने सब देखा है। आप मुकदमा चलाना चाहें तो मैं गवाही दूँगा। मुझे इस बात का बहुत खेद है कि आप पर इस तरह हमला किया गया।"

मैंने कहा: "इसमें खेद का कोई कारण नहीं। सिपाही बेचारा क्या जाने ? उसके लिए तो काले-काले सब एक से ही हैं। वह हब्शियों को इसी तरह पटरी पर से उतारता होगा। इसलिए उसने मुझे भी धक्का मारा। मैंने तो नियम ही बना लिया है कि मुझ पर जो बीतेगी, उसके लिए मैं कभी अदालत में नही जाऊँगा। इसलिए मुझे मुकदमा नहीं चलाना है।"

"यह तो आपने अपने स्वभाव के अनुरूप ही बात कही है। पर आप इस पर फिर से सोचिये। ऐसे आदमी को कुछ सबक तो देना ही चाहिए।"

इतना कहकर उन्होंने उस सिपाही से बात की और उसे उलाहना दिया। मैं सारी बात तो समझ नहीं सका। सिपाही डच था और उसके साथ उनकी बातें डच भाषा में हुईं। सिपाही ने मुझसे माफी माँगी। मैं तो उसे पहले ही माफ कर चुका था।

लेकिन उस दिन से मैंने वह रास्ता छोड़ दिया। दूसरे सिपाहियों को इस घटना का क्या पता होगा ? मैं खुद होकर फिर लात किसलिए खाऊँ ? इसलिए मैंने घूमने जाने के लिए दूसरा रास्ता पसन्द कर लिया।

इस घटना ने प्रवासी भारतीयों के प्रति मेरी भावना को अधिक तीव्र बना दिया। इन कायदों के बारेमें ब्रिटिश एजेंट से चर्चा करके प्रसंग आने पर इसके लिए एक 'टेस्ट' केस चलाने की बात मैंने हिन्दुस्तानियों से की।

इस तरह मैंने हिन्दुस्तानियों की दुर्दशा का ज्ञान पढ़कर, सुनकर और अनुभव करके प्राप्त किया। मैंने देखा कि स्वाभिमान की रक्षा चाहनेवाले हिन्दुस्तानियों के लिए दक्षिण अफ्रीका उपयुक्त देश नहीं है। यह स्थिति किस तरह बदली जा सकती है, इसके विचार में मेरा मन अधिकाधिक व्यस्त रहने लगा। किन्तु अभी मेरा मुख्य धर्म तो दादा अब्दुल्ला के मुकदमें को ही सम्भालने का था।

१४. मुकदमें की तैयारी

प्रिटोरिया में मुझे जो एक वर्ष मिला, वह मेरे जीवन का अमूल्य वर्ष था। सार्वजनिक काम करने की अपनी शक्ति का कुछ अंदाज मुझे यहाँ हुआ। उसे सीखने का अवसर यहीं मिला। मेरी धार्मिक भावना अपने-आप तीव्र होने लगी। और कहना होगा कि सच्ची वकालत भी मैं यहीं सीखा। नया बारिस्टर पुराने बारिस्टर के दफ्तर में रहकर जो बातें सीखता है, सो मैं यहीं सीख सका। यहाँ मुझमें यह विश्वास पैदा हुआ कि वकील के नाते मैं बिलकुल नालायक नहीं रहूँगा। वकील बनने की कुंजी भी यहीं मेरे हाथ लगी।

दादा अब्दुल्ला का मुकदमा छोटा न था। चालीस हजार पौंड का यानी छह लाख रूपयों का दावा था। दावा व्यापार के सिलसिले में था, इसलिए उसमें बही-खाते की गुत्थियाँ बहुत थीं। दावे का आधार कुछ तो प्रामिसरी नोट पर और कुछ प्रामिसरी नोट लिख देने का वचन पलवाने पर था। बचाव यह था कि प्रामिसरी नोट धोखा देकर लिखवाये गये थे और उनका पूरा मुआवजा नहीं मिला था। इसमें तथ्य और कानून की गलतीयाँ काफी थीं। बही-खाते की उलझनें भी बहुत थीं।

दोनों पक्षोंने अच्छे-से-अच्छे सॉलिसिटर और बारिस्टर किये थे, इसलिए मुझे उन दोनों के काम का अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिला। सॉलिसिटर के लिए वादी का मुकदमा तैयार करने और तथ्य संग्रह करने का सारा बोझ मुझ पर था। उसमें से सॉलिसिटर कितना रखता है और सॉलिसिटर द्वारा तैयार की गयी सामग्री में से बारिस्टर कितनी सामग्री का उपयोग करता है, सो मुझे देखने को मिलता था। मैं समझ गया कि इस केस को तैयार करने में मुझे अपनी ग्रहण-शक्ति का और व्यवस्था-शक्ति का ठीक अंदाज हो जाएगा।

मैंने केस में पूरी दिलचस्पी ली । मैं उसमें तन्मय हो गया । आगे-पीछे के सब कागज-पत्र पढ़ गया । मुवक्किल के विश्वास की और उसकी होशियारी की सीमा न थी । इससे मेरा काम बहुत आसान हो गया । मैंने बारीकी से बही-खाते का अध्ययन कर लिया । बहुत से पत्र गुजराती में थे । उनका अनुवाद भी मुझे ही करना पड़ता था । इससे मेरी अनुवाद करने की शक्ति बढी।

मैंने कड़ा परिश्रम किया । जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूँ, धार्मिक चर्चा आदि में और सार्वजनिक काम में मुझे खूब दिलचस्पी थी और मैं उसमें समय भी देता था, तो भी वह मेरे निकट गौण थी । मुकदमें की तैयारी को मैं प्रधानता देता था । इसके लिए कानून का या दूसरी पुस्तकों का अध्ययन आवश्यक होता, तो मैं उसे हमेंशा पहले कर लिया करता था । परिणाम यह हुआ कि मुकदमें के तथ्यों पर मुझे इतना प्रभुत्व प्राप्त हो गया जिनता कदाचित् वादी-प्रतिवादी को भी नहीं था, क्योंकि मेरे पास तो दोनों के ही कागज-पत्र रहते थे।

मुझे स्व. मि. पिंकट के शब्द याद आये । उनका अधिक समर्थन बाद में दक्षिण अफ्रीका के सुप्रसिद्ध बारिस्टर स्व. मि. लेनर्ड ने एक अवसर पर किया था । मि. पिंकट का कथन था, “तथ्य तीन-चौथाई कानून हैं ।” एक मुकदमें में मैं जानता था कि न्याय तो मुवक्किल की ओर ही है, पर कानून विरूद्ध जाता दीखा । मैं निराश हो गया और मि. लेनर्ड की मदद लेने दौड़ा । तथ्य की दृष्टि से केस उन्हें भी मजबूत मालूम हुआ । उन्होंने कहा, 'गांधी, मैं एक बात सीखा हूँ, और वह यह कि यदि हम तथ्यों पर ठीक-ठीक अधिकार कर लें, तो कानून अपने-आप हमारे साथ हो जाएगा । इस मुकदमें के तथ्य हम समझ लें ।” यों कहकर उन्होंने मुझे एक बार फिर तथ्यों को पढ़-समझ लेने और बाद में मिलने की सलाह दी । उन्हीं तथ्यों को फिर जाँचने पर, उनका मनन करने पर, मैंने उन्हें भिन्न रूप में समझा और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले एक पुराने मुकदमें का भी पता चला, जो दक्षिण अफ्रीका में चला था । मैं हर्ष-विभोर होकर मि. लेनर्ड के यहाँ पहुँचा । वे खुश हुए और बोले: “अच्छा, यह मुकदमा हम ज़रूर जीतेंगे। जरा इसका ध्यान रखना होगा कि मामला किस जज के सामने चलेगा ।”

दादा अब्दुल्ला के केसकी तैयारी करते समय मैं तथ्य की महिमा को इस हद तक नहीं पहचान सका था। तथ्य का अर्थ है, सच्ची बात। सचाई पर डटे रहने से कानून अपने-आप हमारी मदद पर आ जाते हैं।

अन्त में मैंने दादा अब्दुल्ला के केस में यह देख लिया कि उनका पक्ष मजबूत है। कानून को उनकी मदद करनी ही चाहिए।

पर मैंने देखा कि मुकदमा लड़ने में दोनों पक्ष, जो आपस में रिश्तेदार हैं और एक ही नगर के निवासी हैं, बरबाद हो जाएँगे। कोई कह नहीं सकता था कि मुकदमें का अन्त कब होगा। अदालत में चलता रहे, तो उसे जितना चाहो उतना लम्बा किया जा सकता था। मुकदमें को लम्बा करने में दो में से किसी एक पक्ष का भी लाभ न होता। इसलिए संभव हो तो दोनों पक्ष मुकदमें का शीघ्र अन्त चाहते थे।

मैंने तैयब सेठ से बिनती की। झगड़े को आपस में ही निबटा लेने की सलाह दी। उन्हें अपने वकील से मिलने को कहा। यदि दोनों पक्ष अपने विश्वास के किसी व्यक्ति को पंच चुन लें, तो मामला झटपट निबट जाए। वकीलों का खर्च इतना अधिक बढ़ता जा रहा था कि उसमें उनके जैसे बड़े व्यापारी भी बरबाद हो जाते। दोनों इतनी चिन्ता के साथ मुकदमा लड़ रहे थे कि एक भी निश्चिन्त होकर दूसरा कोई काम नहीं कर सकता था। इस बीच आपस में बैर भी बढ़ता ही जा रहा था। मुझे वकील के धंधे से धृण हो गयी। वकील के नाते तो दोनों वकीलों को अपने-अपने मुवक्किल को जीतने के लिए कानून की गलियाँ ही खोज कर देनी थीं। इस मुकदमें में पहले-पहल मैंने यह जाना कि जीतनेवाले को पूरा खर्च कभी मिल ही नहीं सकता। दूसरे पक्ष से कितना खर्च वसूल किया जा सकता है, इसकी एक मर्यादा होती है, जब कि मुवक्किल का खर्च उससे कहीं अधिक होता है। मुझे यह सब असह्य मालूम हुआ। मैंने तो अनुभव किया कि मेरा धर्म दोनों की मित्रता साधना और दोनों रिश्तेदारों में मेंल करा देना है। मैंने समझौते के लिए जी-तोड़ मेंहनत की। तैयब सेठ मान गये। आखिर पंच नियुक्त हुए। उनके सामने मुकदमा चला। मुकदमें में दादा अब्दुल्ला जीते।

पर इतने से मुझे संतोष नही हुआ। यदि पंच के फैसले पर अमल होता, तो तैयब हाजी खानमहम्मद इतना रूपया एकसाथ दे ही नहीं सकते थे। दक्षिण अफ्रीका में बसे हुए

पोरबन्दर के मेंमनों में आपस का ऐसा एक अलिखित नियम था कि खुद चाहे मर जाएँ, पर दिवाला न निकालें। तैयब सेठ सैंतीस हजार पौंड और मुक़दमें का खर्च एक मुश्त दे ही नहीं सकते थे। उन्हें न तो एक दमड़ी कम देनी थी और न दिवाला ही निकालना था। रास्ता एक ही था कि दादा अब्दुल्ला उन्हें काफी लम्बी मोहलत दें। दादा अब्दुल्लाने उदारता से काम लिया और खूब लम्बी मोहलत दे दी। पंच नियुक्त कराने में मुझे जितनी मेंहनत पड़ी, उससे अधिक मेंहनत यह लम्बी अवधि निश्चित कराने में पड़ी। दोनों पक्षों को प्रसन्नता हुई। दोनों की प्रतिष्ठा बढ़ी। मेंरे संतोष की सीमा न रही। मैं सच्ची वकालत सीखा, मनुष्य के अच्छे पहलू को खोजना सीखा और मनुष्य-हृदय में प्रवेश करना सीखा। मैंने देखा कि वकील का कर्तव्य दोनों पक्षों के बीच खुदी हुई खाई को पाटना है। इस शिक्षा ने मेंरे मन में ऐसी जड़ जमायी कि बीस साल की अपनी वकालत का मेरा अधिकांश समय अपने दफ्तर में बैठकर सैकड़ों मामलों को आपस में सुलझाने में ही बीता। उसमें मैंने कुछ खोया नहीं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मैंने पैसा खोया। आत्मा तो खोयी ही नहीं।

१५. धार्मिक मन्थन

अब फिर ईसाई मित्रों के साथ अपने सम्पर्क पर विचार करने का समय आया हैं।

मेंरे भविष्य के बारेमें मि.बेकर की चिन्ता बढ़ती जा रही थी । वे मुझे वेलिंग्टन कन्वेन्शन में ले गये । प्रोटेस्टेंट ईसाइयों में कुछ वर्षों के अन्तर से धर्म-जागृति अर्थात् आत्मशुद्धि के लिए प्रयत्न विशेष किये जाते हैं । इसे धर्म की पुन:प्रतिष्ठा अथवा धर्म के पुनरूद्धार का नाम दे सकते हैं | ऐसा एक सम्मेलन वेलिंग्टन में था । उसके सभापति वहाँ के प्रसिद्ध धर्मनिष्ठ पादरी रेवरेंड एंड्रूमरे थे । मि. बेकर को यह आशा थी कि इस सम्मेलन में होनेवाली जागृति, वहाँ आनेवाले लोगों के धार्मिक उत्साह और उनकी शुद्धता की मेंरे हृदय पर ऐसी गहरी छाप पड़ेगी कि मैं ईसाई बने बिना रह न सकूँगा ।

फिर मि. बेकर का अन्तिम आधार था प्रार्थना की शक्ति । प्रार्थना में उन्हें खूब श्रद्धा थी । उनका विश्वास था कि अन्तःकरण पूर्वक की गयी प्रार्थना को ईश्वर सुनता ही है । प्रार्थना से ही मूलर (एक प्रसिद्ध श्रद्धालु ईसाई) जैसे व्यक्ति अपना व्यवहार चलाते है, इसके दृष्टान्त भी वे मुझे सुनाते रहते थे । प्रार्थना की महिमा के विषय में मैंने उनकी सारी बातें तटस्थ भाव से सुनीं । मैंने उनसे कहा कि यदि ईसाई बनने का अन्तर्नाद मेंरे भीतर उठा, तो उसे स्वीकार करने में कोई भी वस्तु मेंरे लिए बाधक न हो सकेगी । अन्तर्नाद के वश होना तो मैं इसके कई वर्ष पहले सीख चुका था । उसके वश होने में मुझे आनन्द आता था । उसके विरूद्ध जाना मेंरे लिए कठिन और दुखःद था ।

हम वेलिंग्टन गये । मुझ 'साँवले साथी' को साथ में रखना मि. बेकर के लिए भारी पड़ गया । मेंरे कारण उन्हें कई बार अड़चनें उठानी पड़ती थीं । रास्ते में हमें पड़ाव करना था, क्योंकि मि. बेकर का संघ रविवार को यात्रा न करता था और बीच में रविवार पड़ता था । मार्ग में और स्टेशन पर पहले तो मुझे प्रवेश देने से ही इनकार किया गया, और झक-झक के बाद जब प्रवेश मिला तो होटल के मालिक ने भोजन-गृह में भोजन कराने से इनकार कर दिया। पर मि. बेकर यों आसानी से झुकनेवाले नहीं थे । वे होटल में ठहरनेवाले के हक पर डटे रहे । लेकिन मैं उनकी कठिनाईयों को समझ सका था । वेलिंग्टन में भी मैं उनके साथ ही ठहरा

था। वहाँ भी उन्हें छोटी-छोटी अड़चनों का सामना करना पड़ता था। अपने सदभाव में वे उन्हें छिपाने का प्रयत्न करते थे, फिर भी मैं उन्हें देख ही लेता था।

सम्मेलन में श्रद्धालु ईसाइयों का मिलाप हुआ। उनकी श्रद्धा को देखकर मैं प्रसन्न हुआ। मैं मि. मरे से मिला। मैंने देखा कि कई लोग मेंरे लिए प्रार्थना कर रहे हैं। उनके कई भजन मुझे बहुत मीठे मालूम हुए।

सम्मेलन तीन दिन चला। मैं सम्मेलन में आनेवालों की धार्मिकता को समझ सका, उसकी सराहना कर सका। पर मुझे अपने विश्वासमें-अपने धर्ममें-परिवर्तन करने का कारण न मिला। मुझे यह प्रतीति न हुई कि ईसाई बनकर ही मैं स्वर्ग जा सकता हूँ अथवा मोक्ष पा सकता हूँ। जब यह बात मैंने अपने भले ईसाई मित्रों से कही तो उनको चोट तो पहुँची, पर मैं लाचार था।

मेरी कठिनाइयाँ गहरी थीं। "एक ईसामसीह ही ईश्वर के पुत्र हैं। उन्हें जो मानता है वह तर जाता है"-यह बात मेंरे गले उतरती न थी। यदि ईश्वर के पुत्र हो सकते हैं, तो हम सब उसके पुत्र हैं। यदि ईसा ईश्वर-तुल्य हैं, ईश्वर ही हैं, तो मनुष्य-मात्र ईश्वर के समान है; ईश्वर बन सकता है। ईसा की मृत्यु से और उनके रक्त से संसार के पाप धुलते हैं, इसे अक्षरशः सच मानने के लिए बुद्धि तैयार नहीं होती थी। रूपक के रूप में उसमें सत्य चाहे हो। इसके अतिरिक्त, ईसाईयों का यह विश्वास है कि मनुष्य के ही आत्मा है, दूसरे जीवों के नहीं, और देह के नाश के साथ उनका संपूर्ण नाश हो जाता है, जब कि मेरा विश्वास इसके विरूद्ध था। मैं ईसा को एक त्यागी, महात्मा, दैवी शिक्षक के रूप में स्वीकार कर सकता था, पर उन्हें अद्वितीय पुरूष के रूप में स्वीकार करना मेंरे लिए शक्य न था। ईसा की मृत्यु से संसार को एक महान उदाहरण प्राप्त हुआ। पर उनकी मृत्यु में कोई गूढ़ चमत्कारपूर्ण प्रभाव था, इसे मेरा दृदय स्वीकार नहीं कर सकता था। ईसाइयों के पवित्र जीवन में मुझे ऐसी कोई चीज नहीं मिली, जो अन्य धर्मावलम्बियों के जीवन में न मिली हो। उनमें होनेवाले परिवर्तनों जैसे परिवर्तन मैंने दूसरों के जीवन में भी होते देखे थे। सिद्धान्त की दृष्टि से ईसाई सिद्धान्तो में मुझे कोई अलौकिकता नहीं दिखायी पड़ी। त्याग की दृष्टि से हिन्दू धर्मावलम्बियों का

त्याग मुझे ऊँचा मालूम हुआ। मैं ईसाई धर्म को सम्पूर्ण अथवा सर्वोपरि धर्म के रूप में स्वीकर न कर सका।

अपना यह हृदय-मंथन मैंने अवसर आने पर ईसाई मित्रों के सामने रखा। उसका कोई संतोषजनक उत्तर वे मुझे नहीं दे सके।

पर जिस तरह मैं ईसाई धर्म को स्वीकार न कर सका, उसी तरह हिन्दू धर्म की सम्पूर्णता के विषय में अथवा उसकी सर्वोपरिता के विषय में भी मैं उस समय निश्चय न कर सका। हिन्दू धर्म की त्रुटियाँ मेरी आँखों के सामने तैरा करती थीं। यदि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का अंग है, तो वह सड़ा हुआ और बाद में जुड़ा हुआ अंग जान पड़ा। अनेक सम्प्रदायों की, अनेक जात-पाँतों की हस्ती को मैं समझ न सका। अकेले वेदों के ईश्वर-प्रणीत होने का अर्थ क्या हैं ? यदि वेद ईश्वर-प्रणित हैं, तो बाइबल और कुरान क्यों नहीं ?

जिस तरह ईसाई मित्र मुझे प्रभावित करने के लिए प्रयत्नशील थे, उसी तरह मुसलमान मित्र भी प्रयत्न करते रहते थे। अब्दुल्ला सेठ मुझे इस्लाम का अध्ययन करने के लिए ललचा रहे थे। उसकी खूबियों की चर्चा तो वे करते ही रहते थे।

मैंने अपनी कठिनाईयाँ रायचंदभाई के सामने रखीं। हिन्दुस्तान के दूसरे धर्मशास्त्रियों के साथ भी पत्र-व्यवहार शुरू किया। उनकी ओर से उत्तर मिले। रायचंदभाई के पत्र से मुझे बड़ी शांति मिली। उन्होंने मुझे धीरज रखने और हिन्दू धर्म का गहरा अध्ययन करने की सलाह दी। उनके एक वाक्य का भावार्थ यह था: “निष्पक्ष भाव से विचार करते हुए मुझे यह प्रतीति हुई है कि हिन्दू धर्म में जो सूक्ष्म और गूढ़ विचार हैं, आत्मा का निरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्मों में नहीं है।'

मैंने सेल का कुरान खरीदा और पढ़ना शुरू किया। कुछ दूसरी इस्लामी पुस्तकें भी प्राप्त कीं। विलायत में ईसाई मित्रों से पत्र-व्यवहार शुरू किया। उनमें से एक ने एडवर्ड मेंटलैंड से मेरा परिचय कराया। उनके साथ मेरा पत्र-व्यवहार चलता रहा। उन्होंने एना किंग्सफर्ड के साथ मिलकर 'परफेक्ट वे' (उत्तम मार्ग) नामक पुस्तक लिखी थी। वह मुझे पढ़ने के लिए भेजी। उसमें प्रचलित ईसाई धर्म का खंड़न था। उन्होंने मेरे नाम 'बाइबल का नया अर्थ' नामक पुस्तक भी भेजी। ये पुस्तकें मुझे पसन्द आयीं। इनसे हिन्दू मत की पुष्टि हुई।

टॉलस्टॉय की 'वैकुंठ तेरे हृदय में है' नामक पुस्तकने मुझे अभिभूत कर लिया। मुझ पर उसकी बहुत गहरी छाप पड़ी। इस पुस्तक की स्वतंत्र विचार-शैली, इसकी प्रोढ़ नीति और इसके सत्य के सम्मुख मि. कोट्स द्वारा दी गयी सब पुस्तकें मुझे शुष्क प्रतीत हुई।

इस प्रकार मेरा अध्ययन मुझे ऐसी दिशा में ले गया, जो ईसाई मित्रों की इच्छा के विपरीत थी। एडवर्ड मेंटलैंड के साथ मेरा पत्र-व्यवहार काफी लम्बे समय तक चला। कवि (रायचंदभाई) के साथ तो अन्त तक बना रहा। उन्होंने कई पुस्तकें मेरे लिए भेजीं। मैं उन्हें भी पढ़ गया। उनमें 'पंचीकरण', 'मणिरत्नमाला', योगवसिष्ठ का 'मुमुक्षु-प्रकरण', हरिभद्रसूरि का 'षड्दर्शन-सम्मुचय' इत्यादि पुस्तकें थीं।

इस प्रकार यद्यपि मैंने ईसाई मित्रों की धारणा से भिन्न मार्ग पकड़ लिया था, फिर भी उनके समागम ने मुझमें जो धर्म-जिज्ञासा जाग्रत की, उसके लिए तो मैं उनका सदा के लिए ऋणी बन गया | अपना यह सम्बन्ध मुझे हमेंशा याद रहेगा। ऐसे मधुर और पवित्र सम्बन्ध भविष्य में बढ़ते ही गये, घटे नहीं।

१६. को जाने कल की ?

"खबर नहीं इस जुग में पल की
समझ मन! को जाने कल की ?"

मुकदमें के खतम होने पर मेंरे लिए प्रिटोरिया में रहने का कोई कारण न रहा। मैं डरबन गया। वहाँ पहुँचकर मैंने हिन्दुस्तान लौटने की तैयारी की। अब्दुल्ला सेठ मुझे बिना मान-सम्मान के जाने दें, यह संभव न था। उन्होंने मेंरे निमित्त से सिडनहैम में एक सामूहिक भोज का आयोजन किया। पूरा दिन वहीं बिताना था।

मेंरे पास कुछ अखबार पड़े थे। मैं उन्हें पढ़ रहा था। एक अखबार के एक कोने में मैंने एक छोटा-सा संवाद देखा। उसका शीर्षक था : 'इंडियन फ्रेंचाइज़' यानी हिन्दुस्तानी मताधिकार। इस संवाद का आशय यह था कि हिन्दुस्तानियों को नेटाल की धारासभा के लिए सदस्य चुनने का जो अधिकार है वह छीन लिया जाए। धारासभा में इससे संबंध रखने वाले कानून पर बहस चल रही थी। मैं इस कानून से अपरिचित था। भोज में सम्मिलित सदस्यों में से किसी को भी हिन्दुस्तानियों का अधिकार छीनने वाले इस बिल की कोई खबर न थी।

मैंने अब्दुल्ला सेठ से पूछा। उन्होने कहा, 'इस बात के हम क्या जाने? व्यापार पर कोई संकट आवे तो हमें उसका चलता हैं। देखिये न, ऑरेंज फ्री स्टेट में हमारे व्यापार की जड़ उखड गयी। उसके लिए हमने मेंहनत की, पर हम तो अपंग ठहरे। अखबार पढ़ते है तो उसमें भी सिर्फ भाव-ताव ही समझ पाते हैं। कानूनी बातो का हमें क्या पता चले ? हमारे आँख-कान तो हमारे गोरे वकील हैं।'

मैंने पूछा, 'पर यहाँ पैदा हुए और अंग्रेजी जानने वाले इतने सारे नौजवान हिन्दुस्तानी यहाँ हैं, वे क्या करते हैं ?'

अब्दुल्ला सेठ ने माथे पर हाथ रखकर कहा, 'अरे भाई, उनसे हमें क्या मिल सकता हैं ? वे बेचारे इसमें क्या समझे? वे तो हमारे पास भी नहीं फटकते, और सच पूछो तो हम भी उन्हे

नहीं पहचानते । वे ईसाई हैं, इसलिए पादरियों के पंजे में हैं । और पादरी सब गोरे हैं, जो सरकार के आधीन न हैं।'

मेरी आँखे खुल गयीं । इस समाज को अपनाना चाहिए । क्या ईसाई धर्म का यही अर्थ हैं ? वे ईसाई हैं, इससे क्या हिन्दुस्तानी नहीं रहे ? और परदेशी बन गये ?

किन्तु मुझे तो वापस स्वदेश जाना था, इसलिए मैंने उपर्युक्त विचारों को प्रकट नहीं किया । मैंने अब्दुल्ला सेठ से कहा, 'लेकिन अगर यह कानून इसी तरह पास हो गया, तो आप सबको मुश्किल में डाल देगा । यह तो हिन्दुस्तानियों की आबादी को मिटाने का पहला कदम हैं । इसमें हमारे स्वाभिमान की हानि हैं।'

'हो सकती हैं । परन्तु मैं आपको फरेंचाइज़ (इस तरह अंग्रेजी भाषा के कई शब्द अपनी रुप बदलकर देशवासियों में रुढ़ हो गये थे । मातधिकार कहो तो कोई समझता ही नही।) का इतिहास सुनाऊँ । हम तो इसमें कुछ भी नहीं समझते । पर आप तो जानते ही है कि हमारे बड़े वकील मि. एस्कम्ब हैं । वे जबरदस्त लड़वैया हैं । उनके और यहाँ के जेटी-इंजीनियर के बीच खासी लड़ाई चलती हैं । मि. एस्कम्ब के धारासभा में जाने में यह लड़ाई बाधक होती थी । उन्होने हमें अपनी स्थिति का भाल कराया । उनके कहने से हमने अपने नाम मतदाता-सूची में लिखवाये और अपने सब मत मि. एस्कम्ब को दिये । अब आप देखेंगे कि हमने अपने इन मतो का मूल्य आपकी तरह क्यो नहीं आँका । लेकिन अब हम आपकी बात समझ सकते हैं । अच्छा तो कहिये, आप क्या सलाह देते हैं ?'

दूसरे मेहमान इस चर्चा को ध्यानपूर्वक सुन रहे थे । उनमें से एक ने कहा, 'मैं आपसे सच बात कहूँ? अगर आप इस स्टीमर से न जाये औऱ एकाध महीना रुक जाये, तो आप जिस तरह कहेगे, हम लड़ेंगे ।'

दूसरे सब एक साथ बोल उठे, 'यह बात सच हैं । अब्दुल्ला सेठ, आप गांधी भाई को रोक लीजिये ।'

अब्दुल्ला सेठ उस्ताद ठहरे । उन्होने कहा, 'अब उन्हे रोकने का मुझे कोई अधिकार नहीं, अथवा जितना मुझे है, उतना ही आपको भी है । पर आप जो कहते है सो ठीक हैं । हम सब उन्हे रोक लेय़ पर ये तो बारिस्टर हैं । इनकी फीस का क्या होगा ?'

मैं दुःखी हुआ और बात काटकर बोला, 'अब्दुल्ला सेठ, इसमें मेरी फीस की बात ही नही उठती। सार्वजनिक सेवा की फीस कैसी ? मैं ठहरूँ तो एक सेवक के रुप में ठहर सकता हूँ। मैं इन सब भाईयों को ठीक से पहचानता नही। पर आपको भरोसा हो कि ये सब मेंहनत करेंगे, तो मैं एक महीना रुक जाने को तैयार हूँ। यह सच है कि आपको कुछ नही देना होगा, फिर भी ऐसे काम बिल्कुल बिना पैसे के तो हो नहीं सकते। हमें तार करने होगे, कुछ साहित्य छपाना पड़ेगा जहाँ-तहाँ जाना होगा उसका गाड़ी-किराया लगेगा। सम्भव हैं, हमें स्थानीय वकीलों की भी सलाह लेनी पड़े। मैं यहाँ के कानूनों से परिचित नहीं हूँ। मुझे कानून की पुस्तके देखनी होगी। इसके सिवा, ऐसे काम एक हाथ से नहीं होते, बहुतो को उनमें जुटना चाहिए।'

बहुत-सी आवाजें एकसाथ सुनायी पड़ी, 'खुदा की मेंहरबानी हैं। पैसे इकट्ठा हो जायेंगे, लोग भी बहुत हैं। आप रहना कबूल कर ले तो बस हैं।'

सभा सभा न रहीं। उसने कार्यकारिणी समिति का रुप ले लिया। मैंने सलाह दी कि भोजन से जल्दी निबटकर घर पहुँचना चाहियें। मैंने मन में लड़ाई की रुप रेखा तैयार कर ली। मताधिकार कितनो को प्राप्त हैं, सो जान लिया। और मैंने एक महीना रुक जाने का निश्चय किया।

इस प्रकार ईश्वर ने दक्षिण अफ्रीका में मेंरे स्थायी निवास की नींव डाली और स्वाभिमान की लड़ाई का बीज रोपा गया।

१७. नेटाल में बस गया

सन् 1893 में सेठ हाजी मुहम्मद हाजी दादा नेटाल के हिन्दुस्तानी समाज के अग्रगण्य नेता माने जाते थे । साम्पत्तिक स्थिति में सेठ अब्दुल्ला हाजी आदम मुख्य थे, पर वे और दूसरे लोग भी सार्वजनिक कामों में सेठ हाजी मुहम्मद को ही पहला स्थान देते थे । अतएव उनके सभापतित्व में अब्दुल्ला सेठ के घर एक सभा हुई । उसमें फ्रेंजाइज़ बिल का विरोध करने का निश्चय किया गया । स्वयंसेवकों के नाम लिखे गये । इस सभा में नेटाल में पैदा हुए हिन्दुस्तानियों को अर्थात् ईसाई नौजवानों को इकट्ठा किया गया था । मि. पॉल डरबन की अदालत में दुभाषिये थे । मि. सुभान गॉडफ्रे मिशन के स्कूल के हेडमास्टर थे । वे भी सभा में उपस्थित रहे थे और उनके प्रभाव से उस समाज के नौजवान अच्छी संख्या में आये थे । ये सब स्वयंसेवक बन गये । व्यापारी तो अधिकतर थे ही । उनमें से जानने योग्य नाम हैं, सेठ दाऊद मुहम्मद, मुहम्मद कासिम कमरुद्दीन, सेठ आदमजी मियाँखान, ए. कोलन्दावेल्लू पिल्लै सी. लच्छीराम, रंगस्वामी पड़ियाची, आमद जीवा आदि । पारसी रुस्तमजी तो थे ही । कारकून-समाज में से पारसी माणेकजी, जोशी, नरसीराम वगैरा दादा अब्दुल्ला इत्यादि बड़ी फर्मों के नौकर थे । इन सबको सार्वजनिक काम में सम्मिलित होने का आश्चर्य हुआ । इस प्रकार सार्वजनिक काम के लिए न्योते जाने और उसमें हाथ बटाने का उनका यह पहला अनुभव था । उपस्थित संकट के सामने नीच-ऊँच, छोटे-बडे, मालिक-नौकर, हिन्दू-मूसलमान, पारसी, ईसाई, गुजराती, मद्रासी, सिन्धी आदि भेद समाप्त हो चुके थे । सब भारत की सन्तान और सेवक थे ।

बिल का दूसरा वाचन हो चुका था । उस समय धारासभा में कियें गये भाषणों में यह टीका थी कि इतने कठोर कानून का भी हिन्दुस्तानियों की ओर से कोई विरोध नही हो रहा हैं, यह हिन्दुस्तानी समाज की लापरवाही का और मताधिकार का उपयोग करने की उनकी अयोग्यता का प्रमाण है ।

मैंने सभा को वस्तुस्थिति समझायी । पहला काम तो यह सोचा गया कि धारासभा के अध्यक्ष को ऐसा तार भेजा जाये कि वे बिल पर अधिक विचार करना मुलतवी कर दे । इसी

आशय का तार मुख्यमंत्री सर जॉन रोबिनन्सन को भी भेजा और दूसरा दादा अब्दुल्ला के मित्र के नाते मि. एस्कम्ब को भेजा गया। इस तार के जवाब में अध्यक्ष का तार मिला कि बिल की चर्चा दो दिन तक मुलतवी रहेगी। सब खुश हुए।

प्रार्थना-पत्र तैयार किया गया। उसकी तीन प्रतियाँ भेजनी थी। प्रेस के लिए भी प्रतियाँ तैयार करनी थी। प्रार्थना-पत्र जितनी मिल सके उतनी सहियाँ लेनी थी। यह सारा काम एक रात में पूरा करना था। शिक्षित स्वयंसेवक और दूसरे लोग लगभग सारी रात जागे। उनमें अच्छे अक्षर लिखने वाले मि. आर्थर नाम के एक वृद्ध सज्जन थे। उन्होने सुन्दर अक्षरों में प्रार्थना-पत्र की प्रति तैयार की। दूसरो ने उसकी दूसरी प्रतियाँ तैयार की। एक बोलता जाता और पाँच लिखते जाते थे। यो एक साथ पाँच प्रतियाँ लिखी गयी। व्यापारी स्वयंसेवक अपनी-अपनी गाड़ियाँ लेकर अथवा अपने खर्च से गाड़ियाँ किराये पर लेकर सहियाँ लेने के लिए निकल पड़े।

प्रार्थना-पत्र गया। अखबारों में छपा। उस पर अनुकूल टिकायें हुई। धारासभा पर भी असर हुआ। उसकी चर्चा भी खूब हुई। प्रार्थना-पत्र में दी गयी दलीलो का खंडन करनेवाले उत्तर दिये गये। पर वे देनेवालो को भी लचर जान पड़े। बिल को पास हो गया।

सब जानते थे कि यही नतीजा निकलेगा, पर कौम में नवजीवन का संचार हुआ। सब कोई यह समझे कि हम एक कौम हैं, केवल व्यापार सम्बन्धी अधिकारो के लिए ही नही, बल्कि कौम के अधिकार के लिए भी लड़ना हम सबका धर्म हैं।

उन दिनों लॉर्ड रिपन उपनिवेश-मंत्री थे। उन्हें एक बहुत बड़ी अर्जी भेजने का निश्चय किया गया। इन अर्जी पर यथासम्भव अधिक से अधिक लोगो की सहियाँ लेनी थी। यह काम एक दिन में तो हो ही नहीँ सकता था, स्वयंसेवक नियुक्त हुए और सबने काम निबटाने का जिम्मा लिया।

अर्जी लिखने में मैंने बहुत मेंहनत की। जो साहित्य मुझे मिला, सो सब मैं पढ़ गया। हिन्दुस्तान में हम एक प्रकार के मताधिकार का उपभोग करते हैं, सिद्धांत की इस दलील को और हिन्दुस्तानियों कि आबादी कम हैं, इस व्यावहारिक दलील को मैंने केन्द्र बिन्दु बनाया।

अर्जी पर दस हजार सहियाँ हुई। एक पखवाड़े में अर्जी भेजने लायक सहियाँ प्राप्त हो गयी। इतने समय नेटाल में दस सहियाँ प्राप्त की गयी, इसे पाठक छोटी-मोटी बात न समझे। सहियाँ समूचे नेटाल से प्राप्त करनी थी। लोग ऐसे काम से अपरिचित थे। निश्चय यह था कि सही करने वाला किस बात पर सही कर रहा हैं, इसे जब तक समझ न ले तब तक सही न ली जाये। इसलिए खास तौर पर स्वयंसेवक को भेजकर ही सहियाँ प्राप्त की जा सकती थी। गाँव दूर-दूर थे, इसलिए अधिकतर काम करने वाले लगन से काम करे तभी ऐसा काम शीध्रता-पूर्वक हो सकता था। ऐसा ही हुआ। इसमें सबने उत्साह-पूर्वक काम किया। काम करने वालो में से सेठ दाऊद मुहम्मद, पारसी रुस्तमजी, आदमजी मियाँखान और आदम जीवा की मूर्तियाँ इस समय भी मेरी आँखो के सामने खड़ी हैं। ये खूब सहियाँ लाये थे। दाऊद सेठ अपनी गाड़ी लेकर दिनभर घूमा करते थे। किसी ने जेब खर्च तक नही माँगा।

दादा अब्दुल्ला का घर धर्मशाला अथवा सार्वजनिक दफ्तर सा बन गया। पढे-लिखे भाई तो मेरे पास ही बने रहते थे। उनका और अन्य काम करनेवालो का भोजन दादा अब्दुल्ला के घर ही होता था। इस प्रकार सब बहुत खर्च में उतर गये।

अर्जी गयी। उसकी एक हजार प्रतियाँ छपवायी थी। उस अर्जी के कारण हिन्दुस्तान के आम लोगो को नेटाल का पहली बार परिचय हुआ। मैं जितने अखवारो और सार्वजनिक नेताओ के नाम जानता था उतनो को अर्जी की प्रतियाँ भेजी।

'टाइम्स ऑफ इंडिया' ने उस पर अग्रलेख लिखा और हिन्दुस्तानियो की माँग का अच्छा समर्थन किया। विलायत में भी अर्जी की प्रतियाँ सब पक्षो के नेताओ को भेजी गयी थी। वहाँ लंदन के 'टाइम्स' का समर्थन प्राप्त हुआ। इससे आशा बँधी कि बिल मंजूर न हो सकेगा।

अब मैं नेटाल छोड़ सकूँ ऐसी मेरी स्थिति नहीं रही। लोगो ने मुझे चारो तरफ से घेर लिया और नेटाल में ही स्थायी रुप से रहने का अत्यन्त आग्रह किया। मैंने अपनी कठिनाईयाँ बतायी। मैंने अपने मन में निश्चय कर लिया था कि मुझे सार्वजनिक खर्च पर नहीं रहना चाहिए। मुझे अलग घर बसाने की आवश्यकता जान पड़ी। उस समय मैंने यह माना था कि घर अच्छा और अच्छी बस्ती में लेना चाहिए।

मैंने सोचा कि दूसरे बारिस्टरों की तरह मेरे रहने से हिन्दुस्तानी समाज की इज्जत बढेगी । मुझे लगा ऐसा घर मैं साल में 300 पौंड के खर्च के बिना चला ही न सकूँगा । मैंने निश्चय किया कि इतनी रकम की वकालत की गारंटी मिलने पर ही मैं रह सकता हूँ, और वहाँ वालो को इसकी सूचना दे दी ।

साथियो ने दलील देते हुए कहा, “पर इतनी रकम आप सार्वजनिक काम के लिए ले, यह हमें पुसा सकता हैं, और इसे इकट्ठा करना हमारे लिए आसान हैं । वकालत करते हुए आपको जो मिलें, सो आपका ।'

मैंने जवाब दिया, 'मैं इस तरह पैसे नहीं ले सकता । अपने सार्वजनिक काम की मैं इतनी कीमत नहीं समझता । मुझे उसमें कोई वकालत तो करनी नही हैं । मुझे तो लोगो से काम लेना होगा । उसके पैसे मैं कैसे ले सकता हूँ ? फिर, मुझे सार्वजनिक काम के लिए आपसे पैसे निकलवाने होगे । अगर मैं अपने लिए पैसे लूँ तो आपके पास से बड़ी रकमें निकलवाने में मुझे संकोच होगा और आखिर हमारी नाव अटक जाएगी । समाज से तो मैं हर साल 300 पौंड से अधिक ही खर्च कराऊँगा। '

'पर हम आपको पहचानने लगे हैं । आप कौन अपने लिए पैसे माँगते है ? आपके रहने का खर्च तो हमें देना ही चाहिए न ?”

'यह तो आपका स्नेह और तात्कालिक उत्साह बुलवा रहा हैं । यही उत्साह और यही स्नेह सदा बना रहेगा, यह हम कैसे मान ले ? मौका आने पर मुझे तो कभी-कभी आपको कड़वी बाते भी कहनी पड़ेगी । दशा में भी मैं आपके स्नेह की रक्षा कर सकूँगा या नही, सो तो दैव ही जाने । पर असल बात यह हैं कि सार्वजनिक सेवा के लिए मुझे पैसे लेने ही न चाहिए । आप सब वकालत-सम्बन्धी अपना काम मुझे देने के लिए वचन बद्ध हो जाये, तो उतना मेरे लिए बस हैं । शायद यह भी आपके लिए भारी पड़ेगी । मैं कोई गोरा बारिस्टर नहीं हूँ । कोर्ट मुझे दाद दे या न दे, मैं क्या जानूँ ? मैं तो यह भी नही जानता कि मुझसे कैसी वकालत हो सकेगी । इसलिए मुझे पहले से वकालत का मेंहनताना देने में भी आपको जोखम उठानी हैं । इतने पर भी अगर आप मुझे वकालत का मेंहनताना देंगे तो वह मेरी सार्वजनिक सेवा के कारण ही माना जायेगा न ?'

इस चर्चा का परिणाम यह निकला कि कोई बीस व्यापारियों ने मेरे लिए एक वर्ष का वर्षासन बाँध दिया। इसके उपरान्त, दादा अब्दुल्ला बिदाई के समय मुझे जो भेट देनेवाले थे उसके बदले उन्होने मेरे लिए आवश्यक फर्नीचर खरीद दिया और मैं नेटाल में बस गया।

१८. रंग-भेद

न्यायालय का चिह्न तराजू हैं। एक निष्पक्ष, अंधी परन्तु चतुर बुढिया उसे थामें हुए हैं। विधाता ने उसे अंधी बनाया हैं, जिससे वह मुँह देखकर तिलक न करे, बल्कि जो व्यक्ति गुण में योग्य है उसी को टीका लगाये। इसके विपरीत, नेटाल के न्यायालय से वहाँ की वकील सभा मुँह देखकर तिलक करवाने के लिए तैयार हो गयी थी। परन्तु अदालत ने इस अवसर पर अपने चिह्न की प्रतिष्ठा रख ली।

मुझे वकालत की सनद लेनी थी। मेरे पास बम्बई के हाईकोर्ट का प्रमाण-पत्र था। विलायत का प्रमाण-पत्र बम्बई के हाईकोर्ट के कार्यालय में था। प्रवेश के प्रार्थना पत्र साथ सदाचरण के दो प्रमाण पत्रों की आवश्यकता मानी जाती थी। मैंने सोचा कि ये प्रमाण-पत्र गोरो के होगे तो ठीक रहेगा। इसलिए अब्दुल्ला सेठ के द्वारा मेरे सम्पर्क में आये हुए दो प्रसिद्ध गोरे व्यापारियों के प्रमाण-पत्र मैंने प्राप्त कर लिए थे। प्रार्थना-पत्र किसी वकील के द्वारा भेजा जाना चाहिए था और साधारण नियम यह था कि ऐसा प्रार्थना पत्र एटर्नी जनरल बिना पारिश्रमिक के प्रस्तुत करे। मि. एस्कम्ब एटर्नी जनरल थे। हम यह तो जानते थे कि वे अब्दुल्ला सेठ के वकील थे। मैं उनसे मिला और उन्होने खुशी से मेरा प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करना स्वीकार किया।

इतने में अचानक वकील-सभा की ओर से मुझे नोटिस मिला। नोटिस में न्यायालय में मेरे प्रवेश का विरोध किया था। उसमें एक कारण यह दिया गया था कि वकालत के लिए दिये गये प्रमाण-पत्र के साथ मैंने मूल प्रमाण-पत्र नत्थी नही किया था। पर विरोध का मुख्य मुद्दा यह था कि अदालत में वकीलो की भरती करने के नियम बनाते समय यह सम्भव न माना गया होगा कि कोई काला या पीला आदमी कभी प्रवेश के लिए प्रार्थना-पत्र देगा। नेटाल गोरो के साहस से बना था, इसलिए उसमें गोरो की प्रधानता होनी चाहिए। यदि काले

वकील प्रवेश पाने लगेंगे, तो धीरे-धीरे गोरो की प्रधानता जाती रहेगी और उनकी रक्षा की दीवार नष्ट हो जाएगी।

इस विरोध के समर्थन के लिए वकील-सभा ने एक प्रसिद्ध वकील को नियुक्त किया था। इस वकील का भी दादा अब्दुल्ला के साथ सम्बन्ध था। उन्होंने मुझे उनके मारफत बुलवाया। मेरे साथ शुद्ध भाव से चर्चा की। मेरा इतिहास पूछा। मैंने बताया। इस पर वे बोले, 'मुझे तो आपके विरुद्ध कुछ नही कहना हैं। मुझे डर है कि कही आप यही जन्मे हुए कोई धूर्त तो नही हैं ! दूसरे, आपके पास असल प्रमाण-पत्र नही हैं, इससे मेरे सन्देह को बल मिला। ऐसे भी लोग मौजूद है, जो दूसरो के प्रमाण-पत्रो का उपयोग करते हैं। आपने गोरो के जो प्रमाण-पत्र पेश किये है, उनका मुझ पर कोई प्रभाव नही पड़ा। वे आपको क्या जाने ? आपके साथ उनकी पहचान ही कितनी हैं ?'

मैं बीच में बोला, 'लेकिन यहाँ तो मेरे लिए सभी नये हैं। अब्दुल्ला सेठ ने भी मुझे यहीं पहचाना हैं।'

'ठीक हैं। लेकिन आप तो कहते हैं कि वे आपके पिता वहाँ के दीवान थे। इसलिए आपके परिवार को तो पहचानते ही होंगे न ? आप उनका शपथ-पत्र अगर पेश कर दे, तो फिर मुझे कोई आपत्ति न रह जाएगी। मैं वकील-सभा को लिख दूँगा कि मुझे से आपका विरोध न हो सकेगा।'

मुझे गुस्सा आया, पर मैंने उसे रोक लिया। मैंने सोचा, 'यदि मैंने अब्दुल्ला सेठ का ही प्रमाण-पत्र प्रस्तुत किया होता, तो उसकी अवगणना की जाती और गोरे का परिचय-पत्र माँगा जाता। इसके सिवा मेरे जन्म के साथ वकालत की मेरी योग्यता का क्या सम्बन्ध हो सकता हैं ? यदि मैं दुष्ट अथवा कंगाल माता-पिता का लड़का होऊँ तो मेरी योग्यता की जाँच करते समय मेरे विरुद्ध उसका उपयोग क्यों किया जाय?' पर इन सब विचारो को अंकुश में रखकर मैंने जवाब दिया, 'यद्यपि मैं यह स्वीकार नही करता कि ये सब तथ्य माँगने का वकील-सभा को अधिकार हैं, फिर भी आप जैसा चाहते हैं, वैसा शपथ पत्र प्राप्त करने के लिए मैं तैयार हूँ।'

अब्दुल्ला सेठ का शपथ-पत्र तैयार किया और उसे वकील को दिया। उन्होने संतोष प्रकट किया। पर वकील-सभा को संतोष न हुआ। उसने मेरे प्रवेश के विरुद्ध अपना विरोध न्यायालय के सामने प्रस्तुत किया। न्यायालय ने मि. एस्कम्ब का जवाब सुने बिना ही वकील-सभा का विरोध रद्द कर दिया। मुख्य न्यायाधीश ने कहा, 'प्रार्थी के असल प्रमाण-पत्र प्रस्तुत न करने की दलील में कोई सार नहीं है। यदि उसने झूठी शपथ ली होगी, तो उसके लिए उस पर झूठी शपथ का फौजदारी मुकदमा चल सकेगा और उसका नाम वकीलो की सूची में से निकाल दिया जायेगा। न्यायालय के नियमो में काले गोरे का भेद नही हैं। हमें मि. गांधी को वकालत करने से रोकने का कोई अधिकार नहीं हैं। उनका प्रार्थना पत्र स्वीकार किया जाता हैं। मि. गांधी, आप शपथ ले सकते हैं।'

मैं उठा। रजिस्ट्रार के सम्मुख मैंने शपथ ली। शपथ लेते ही मुख्य न्यायाधीश ने कहा, 'अब आपको पगड़ी उतार देनी चाहिए। एक वकील के नाते वकीलो से सम्बन्ध रखने वाले न्यायालय के पोशाक-विषयक नियम का पालन आपके लिए भी आवश्यक है !'

मैं अपनी मर्यादा समझ गया। डरबन के मजिस्ट्रेट की कटहरी में जिस पगड़ी को पहने रखने का मैंने आग्रह रखा था, उसे मैंने यहाँ उतार दिया। उतारने के विरुद्ध दलील तो थी ही। पर मुझे बड़ी लड़ाईयाँ लड़नी थी। पगड़ी पहने रहने का हठ करने में मुझे लड़ने की अपनी कला समाप्त नही करनी थी। इससे तो शायद उसे बट्टा ही लगता।

अब्दुल्ला सेठ को और दूसरे मित्रो को मेरी यह नरमी (या निर्बलता ?) अच्छी न लगी। उनका ख्याल था कि मुझे वकील के नाते भी पगड़ी पहने रहने का आग्रह रखना चाहिए। मैंने उन्हे समझाने का प्रयत्न किया। 'जैसा देश वैसा भेष' इस कहावत का रहस्य समझया और कहा, 'हिन्दुस्तान में गोरे अफसर या जज पगडी उतारने के लिए विवश करे, तो उसका विरोध किया जा सकता हैं। नेटाल जैसे देश में यहाँ के न्यायालय के एक अधिकारी के नाते न्यायालय की रीति-नीति का ऐसा विरोध करना मुझे शोभा नही देता।'

इस और ऐसी दूसरी दलीलो से मैंने मित्रो को कुछ शान्त तो किया पर मैं नही मानता कि एक ही वस्तु को भिन्न परिस्थिति में भिन्न रीति से देखने का औचित्य मैं इस अवसर पर उन्हे संतोषजनक रीति से समझा सका था। पर मेरे जीवन में आग्रह और अनाग्रह हमेंशा

साथ-साथ ही चलते रहे है । सत्याग्रह में यह अनिवार्य हैं, इसका अनुभव मैंने बाद में कई बार किया हैं । इस समझौता-वृति के कारण मुझे कितनी ही बार अपने प्राणों को संकट में डालना पड़ा हैं और मित्रो का असंतोष सहना पड़ा हैं । पर सत्य वज्र के समान कठिन हैं, और कमल के समान कोमल हैं ।

वकील-सभा के विरोध ने दक्षिण अफ्रीका में मेरे लिए दूसरे विज्ञापन का काम किया । ज्यादातर अखबारो ने मेरे प्रवेश के विरोध की निन्दा की और वकीलो पर ईर्ष्या का दोष लगाया । इस विज्ञापन से मेरा काम किसी हद तक सरल हो गया।

१९. नेटाल इंडियन कॉंग्रेस

वकालत को धंधा मेंरे लिए गौण वस्तु थी और सदा गौण ही रही। नेटाल में अपने निवास को सार्थक करने के लिए तो मुझे सार्वजनिक काम में तन्मय हो जाना था। भारतीय मताधिकार प्रतिबंधक कानून के विरुद्ध केवल प्रार्थना-पत्र भेजकर ही बैठा नहीं जा सकता था। उसके बारे में आन्दोलन चलते रहने से ही उपनिवेश-मंत्री पर उसका असर पड सकता था। इसके लिए एक संस्था की स्थापना करना आवश्यक मालूम हुआ। इस सम्बन्ध में मैंने अब्दुल्ला सेठ से सलाह कीस दूसरे साथियों से मिला, और हमने एक सार्वजनिक संस्था खड़ी करने का निश्चय किया।

उसके नामकरण में थोड़ धर्म-संकट था। इस संस्था को किसी पक्ष के साथ पक्षपात नही करना था। मैं जानता था कि कॉंग्रेस का नाम कंञ्रवेटिव (पुराणपंथी) पक्ष में अप्रिय था। पर कॉंग्रेस हिन्दुस्तान का प्राण थी। उसकी शक्ति तो बढ़नी ही चाहिए। उस नाम को छिपाने में अथवा अपनाते हुए संकोच करने में नामर्दी की गंध आती थी। अतएव मैंने अपनी दलीले पेश करके संस्था का नाम 'कॉंग्रेस' ही रखने का सुझाव दिया, और सन् 1894 के मई महीने की 22 तारीख को नेटाल इंडियन कॉंग्रेस का जन्म हुआ।

दादा अब्दुल्ला ऊपरवाला बड़ा कमरा भर गया था। लोगो ने इस संस्था का उत्साह पूर्वक स्वागत किया। उसका विधान सादा रखा था। चन्दा भारी था। हर महीने कम-से-कम पॉंच शिलिंग देने वाला ही उसका सदस्य बन सकता था। धनी व्यापारियों के रिझा कर उनसे अधिक-से-अधिक जिनता लिया जा सके, लेने का निश्चय हुआ। अब्दुल्ला सेठ से महीने के दो पौंड लिखवाये। दूसरे भी सज्जनों से इतने ही लिखवाये। मैंने सोचा कि मुझे तो संकोच करना ही नहीं चाहिए, इसलिए मैंने महीने का एक पौंड लिखाया। मेंरे लिए यह कुछ बड़ी रकम थी। पर मैंने सोचा कि अगर मेरा खर्च चलने वाला हो, तो मेंरे लिए हर महीने एक पौंड देना अधिक नहीं होगा। ईश्वर ने मेरी गाड़ी चला दी। एक पौंड देने वालो की संख्या काफी रही। दस शिलिंगवाले उनसे भी अधिक। इसके अलावा, सदस्य बने बिना कोई अपनी इच्छा से भेंट के रुप में जो कुछ भी दे सो स्वीकार करना था।

अनुभव से पता चला कि बिना तकाजे के कोई चन्दा नही देता । डरबन से बाहर रहनेवालो के यहाँ बार-बार जाना असंभव था । आरम्भ-शूरता का दोष तुरन्त प्रकट हुआ । डरबन में भी कई बार चक्कर लगाने पर पैसे मिलते थे ।

मैं मंत्री था । पैसे उगाहने का बोझ मेरे सिर था । मेरे लिए अपने मुहर्रिर का लगभग सारा दिन उगाही के काम में ही लगाये रखना जरुरी हो गया । मुहर्रिर भी दिक आ गया । मैंने अनुभव किया कि चन्दा मासिक नहीं, वार्षिक होना चाहिए और वह सबको पेशगी ही देना चाहिए । सभा की गयी । सबने मेरी सूचना का स्वागत किया और कम-से-कम तीन पौंड वार्षिक चन्दा लेने का निश्चय हुआ । इससे वसूली का काम आसान बना ।

मैंने आरम्भ में ही सीख लिया था कि सार्वजनिक काम कभी कर्ज लेकर नही करना चाहिए । दूसरे कामो के बारे में लोगो का विश्वास चाहे किया जाय, पर पैसे के वादे का विश्वास नही किया जा सकता । मैंने देख लिया था कि लिखायी हुई रकम चुकाने का धर्म लोग कहीं भी नियमित रुप से नही पालते । इसमें नेटाल के भारतीय अपवादरुप नहीं थे । अतएव नेटाल इंडियन काँग्रेस ने कभी कर्ज लेकर काम किया ही नही ।

सदस्य बनाने में साथियों ने असीम उत्साह का परिचय दिया था । इसमें उन्हे आनन्द आता था । अनमोल अनुभव प्राप्त होते थे । बहुतेरे लोग खुश होकर नाम लिखाते और तुरन्त पैसे दे देते थे । दूर-दूर के गाँवो में थोड़ी कठिनाई होता थी । लोग सार्वजनिक काम का अर्थ नही समझते थे । बहुत-सी जगहो में तो लोग अपने यहाँ आने का न्योता भेजते और प्रमुख व्यापारी के यहाँ ठहराने की व्यवस्था करते । पर इन यात्राओ में एक जगह शुरु में ही हमें मुश्किल का सामना करना पड़ा । वहाँ एक व्यापारी से छह पौंड मिलने चाहिए थे, पर वह तीन से आगे बढता ही न था । अगर इतनी रकम हम ले लेते, तो फिर दूसरो से अधिक न मिलती । पड़ाव उन्ही के घर था । हम सब भूखे थे । पर जब तक चंदा न मिले, भोजन कैसे करे? उन भाई को खूब समझाया-मनाया । पर वे टस से मस न होते थे । गाँव के दूसरे व्यापारियों में भी उन्हे समझाया । सारी रात झक-झक में बीत गयी । गुस्सा तो कई साथियों को आया, पर किसी ने विनय का त्याग न किया । ठेठ सबेरे वे भाई पिघले और उन्होने छह पौंड दिये । हमें भोजन कराया । यह घटना टोंगाट में घटी थी । इसका प्रभाव उत्तरी किनारे

पर ठेठ स्टेंगर तक और अन्दक की ओर ठेठ चार्ल्सटाउन तक पड़ा। इससे चंदा वस्ली का काम आसान हो गया।

पर हमारा हेतु केवल पैसे इकट्ठे करने का न था। आवश्यकता से अधिक पैसा न रखने का तत्व भी मैं समझ चुका था।

सभा हर हफ्ते या हर महीने आवश्यकता के अनुसार होती थी। उसमें पिछली सभा का विवरण पढ़ा जाता और अनेक प्रकार की चर्चाये होती। चर्चा करने की और थोड़े में मुद्दे की बात कहने की आदत तो लोगो की थी ही नही। लोग खड़े होकर बोलने में झिझकते थे। सभा के नियम समझाये गये।

और लोगो ने उनकी कदर की। इससे होनेवाले अपने लाभ को वे देख सके और जिन्हें पहले कभी सार्वजनिक रुप से बोलने की आदत नही थी, वे सार्वजनिक कामो के विषय में बोलने और विचारने लग गये।

मैं यह भी जानता था कि सार्वजनिक काम करने में छोटे-छोटे खर्च बहुत पैसा खा जाते हैं। शुरु में तो मैंने निश्चय कर लिया था कि रसीद बुक तक न छपायी जाय। मेरे दफ्तर में साइक्लोस्टाइल मशीन थी। उस पर रसीदे छपा ली। रिपोर्ट भी मैं इसी तरह छपा लेता था। जब तिजोरी में काफी पैसा जमा हो गया। सदस्य बढ़े, काम बढ़ा, तभी रसीद आदि छपाना शुरु किया। ऐसी किफायत हर एक संस्था के लिए आवश्यक हैं। फिर भी मैं जानता हूँ कि हमेंशा यह मर्यादा रह नही पाती। इसीलिए इस छोटी-सी उगती हुई संस्था के आरम्भिक निर्माण काल का विवरण देना मैंने उचित समझा हैं। लोग रसीद की परवाह नही करते थे। फिर भी उन्हे आग्रह पूर्वक रसीद दी जाती थी। इसके कारण आरम्भ से ही पाई-पाई का हिसाब साफ रहा, और मैं मानता हूँ कि आज भी नेटाल काँग्रेस के दफ्तर में सन् 1894 के पूरे-पूरे ब्योरेवाले बही-खाते मिलने चाहिए। किसी भी संस्था का बारीकी से रखा गया हिसाब उनकी नाक हैं। इसके अभाव में वह संस्था आखिर गन्दी और प्रतिष्ठा-रहित हो जाती हैं। शुद्ध हिसाब के बिना शुद्ध सत्य की रक्षा असम्भव हैं।

काँग्रेस का दूसरा अंग उपनिवेश में जन्मे हुए पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियो की सेवा करना था। इसके लिए 'कॉलोनियल बॉर्न इंडियन एज्युकेशनल ऐसोसियेशन' की स्थापना की गयी।

नवयुवक ही मुख्यतः उसके सदस्य थे। उन्हें बहुत थोड़ा चंदा देना होता था। इस संस्था के द्वारा उनकी आवश्यकताओ का पता चलता था और उनकी विचार-शक्ति बढती थी। हिन्दुस्तानी व्यापारियों के साथ उनका सम्बन्ध कायम होता था और स्वयं उन्हे भी समाज सेवा करने के अवसर प्राप्त होते थे। यह संस्था वाद-विवाद मंडल जैसी थी। इसकी नियमित सभाये होती थी। उनमें वे लोग भिन्न-भिन्न विषयों पर अपने भाषण करते और निबन्ध पढ़ते थे। इसी निमित्त से एक छोटे से पुस्तकालय की भी स्थापना हुई थी।

काँग्रेस का तीसरा अंग था बाहरी कार्य। इसमें दक्षिण अफ्रीका के अंग्रेजो में और बाहर इंग्लैंड तथा हिन्दुस्तान में नेटाल की सच्ची स्थिति पर प्रकाश डालने का काम होता था। इस उद्देश्य से मैंने दो पुस्तिकाये लिखी। पहली पुस्तिका नाम था 'दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले प्रत्येक अंग्रेज से बिनती'। उसमें नेटाल- निवासी भारतीयो की स्थिति का साधारण दिग्दर्शन प्रमाणों सहित कराया गया था। दूसरी पुस्तक का नाम था 'भारतीय मताधिकार एक बिनती' उसमें भारतीय मताधिकार का इतिहास आंकड़ो और प्रमाणो-सहित दिया गया था। ये दोनो पुस्तिकाये काफी अध्ययन के बाद लिखी गयी थी। इनका व्यापक प्रचार किया गया था। इस कार्य के निमित्त से दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानियो के मित्र पैदा हो गये। इंग्लैंड में तथा हिन्दुस्तान में सब पक्षो की तरफ से मदद मिली, कार्य करने की दिशा प्राप्त हुई और उसने निश्चित रुप धारण किया।

२०. बालासुन्दरम्

जैसी जिसकी भावना वैसी उसका फल, इस नियम को मैंने अपने बारे में अनेक बार घटते होते देखा हैं । जनता की अर्थात् गरीबो की सेवा करने की मेरी प्रबल इच्छा ने गरीबो के साथ मेरा सम्बन्ध हमेंशा ही अनायास जोड़ दिया है ।

यद्यपि नेटाल इंडियन काँग्रेस में उपनिवेश में पैदा हुए हिन्दुस्तानियों ने प्रवेश किया था और मुहर्रिरो का समाज उसमें दाखिल हुआ था, फिर भी मजदूरो ने, गिरमिटिया समाज के लोगो ने उसमें प्रवेश नही किया था । काँग्रेस उनकी नही हुई थी । वे उसमें चंदा देकर और दाखिल होकर उसे अपना नही सके थे । उनके मन में काँग्रेस के प्रति प्रेम तो तभी पैदा हो सकता था, जब काँग्रेस उनकी सेवा करे । ऐसा प्रसंग अपने-आप आ गया और वह भी ऐसे समय आया जब कि मैं स्वयं अथवा काँग्रेस उसके लिए शायद तैयार थी । मुझे वकालत शुरु किये अभी मुश्किल से दो-चार महीने हुए थे । काँग्रेस का भी बचपन था । इतने में एक दिन बालासुन्दरम् नाम का एक मद्रासी हिन्दुस्तानी हाथ में साफा लिये रोता-रोता मेरे सामने आकर खड़ा हो गया । उसके कपड़े फटे हुए थे, वह थर-थर काँप रहा था और उसके आगे के दो दाँत टूटे हुए थे । उसके मालिक ने उसे बुरी तरह मारा था । तामिल समझने वाले अपने मुहर्रिर के द्वारा मैंने उसकी स्थिति जान ली । बालासुन्दरम् एक प्रतिष्ठित गोरे के यहाँ मजदूरी करता था । मालिक किसी वजह से गुस्सा होगा । उसे होश न रहा औऱ उसने बालासुन्दरम् की खूब जमकर पिटाई की । परिणाम-स्वरुप बालासुन्दरम् के दो दाँत टूट गये ।

मैंने उसे डॉक्टर के यहाँ भेजा । उन दिनो गोरे डॉक्टर ही मिलते थे । मुझे चोट-सम्बन्धी प्रमाण-पत्र की आवश्यकता थी । उसे प्राप्त करके मैं बालासुन्दरम् को मजिस्ट्रेट का पास ले गया । वहाँ बालासुन्दरम् का शपथ-पत्र प्रस्तुत किया । उसे पढकर मजिस्ट्रेट मालिक पर गुस्सा हुआ । उसने मालिक के नाम समन जारी करने का हुक्म दिया।

मेरी नीयत मालिक को सजा कराने की नहीं थी । मुझे तो बालासुन्दरम् को उसके पंजे से छुटाना था । मैंने गिकमिटियो से सम्बन्ध रखने वाले कानून की छान-बीन कर ली । यदि साधारण नौकर नौकरी छोडता, तो मालिक उसके खिलाफ दीवानी दावा दायर कर सकता

था, पर उसे फौजदारी में नही ले जा सकता था। गिरमिट में और साधारण नौकरी में बहुत फर्क था । पर खास फर्क यह था कि अगर गिरमिटिया मालिक को छोडे, तो वह फौजदारी गुनाह माना जाता था और उसके लिए उसे कैद भुगतनी होती थी । इसीलिए सर विलियम विल्सम हंटर में इस स्थिति को लगभग गुलामी की सी स्थिति माना था। गुलाम की तरह गिरमिटिया मालिक की मिल्कियत माना जाता था। बालासुन्दरम् को छुटाने के केवल दो उपाय थे, या तो गिरमिटियो के लिए नियुक्त अधिकारी, जो कानून की दृष्टि से उनका रक्षक कहा जाता था, गिरमिट रद्द करे या दूसरे के नाम लिखवा दे, अथवा मालिक स्वयं उसे छोडने को तैयार हो जाये। मैं मालिक से मिला । उससे मैंने कहा, 'मैं आपको सजा नही कराना चाहता। इस आदमी को सख्त मार पडी हैं, सो तो आप जानते ही है, आप इसका गिरमिट दूसरे के नाम लिखाने को राजी हो जाये तो मुझे संतोष होगा।' मालिक यही चाहता था। फिर मैं रक्षक से मिला। उसने भी सहमत होना स्वीकार किया, पर शर्त यह रखी कि मैं बालासुन्दरम् के लिए नया मालिक खोज दूँ।

मुझे नये अंग्रेज मालिक की खोज करनी थी । हिन्दुस्तानियों को गिरमिटिया मजदूर रखने की इजाजत नहीं थी । मैं अभी कुछ ही अंग्रेजो को पहचानता था । उन्होने मुझ पर मेहरबानी करके बालासुन्दरम् को रखना मंजूर कर लिया । मैंने उनकी कृपा को साभार स्वीकार किया । मजिस्ट्रेट में मालिक को अपराधी ठहराकर यह लिख दिया कि उसने बालासुन्दरम् का गिरमिट दूसरे के नाम लिखाना स्वीकार किया हैं ।

बालासुन्दरम् के मामले की बात गिरमिटियों में चारो तरफ फैल गयी और मैं उनका बन्धु मान लिया गया । मुझे यह बात अच्छी लगी । मेरे दफ्तर में गिरमिटियों का ताँता सा लग गया और मुझे उनके सुख-दुःख जानने की बड़ी सुविधा हो गयी ।

बालासुन्दरम् के मामले की भनक ठेठ मद्रास प्रान्त तक पहुँची । इस प्रान्त के जिन-जिन हिस्सों से लोग नेटाल के गिरमिट में जाते, उन्हे गिरमिटिया ही इस मामले की जानकारी देते थे । वैसे यह मामला महत्व का नही था, पर लोगो को यह जानकर आनन्द और आश्चर्य हुआ कि उनके लिए प्रकट रुप से काम करनेवाला कोई आदमी निकल आया हैं । इस बात से उन्हें आश्वासन मिला ।

मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि बालासुन्दरम् अपना साफा उतारकर और उसे अपने हाथ में रखकर मेरे पास आया था। इस घटना में बड़ी करुणा भरी हैं, इसमें हमारी बेइज्जती भी भरी है। पगड़ी उतारने का मेरा किस्सा तो हम जान ही चुके हैं। गिरमिटिया और दूसरे अनजान हिन्दुस्तानी जब किसी भी गोरे के घर में दाखिल होते, तो उसके सम्मान के लिए पगड़ी उतार लिया करते थे फिर वह टोपी हो या बंधी हुई पगड़ी हो या लपेटा हुआ साफा हो। दोनो हाथ से सलाम करना काफी नही था। बालासुन्दरम् ने सोचा कि मेरे सामने भी इसी तरह आना चाहिए। मेरे निकट बालासुन्दरम् का यह दृश्य मेरा पहला अमुभव था। मैं शरमाया। मैंने बालासुन्दरम् को साफा बाँधने के लिए कहा। बड़े संकोच के साथ उसने साफा बाँधा। पर इससे उसे जो खुशी हुई, उसे मैं ताड़ गया। दूसरो को अपमानित करके लोग अपने को सम्मानित समझ सकते हैं, इस पहेली को मैं आज तक हल नही कर सका हूँ।

२१. तीन पौंड का कर

बालासुन्दरम् के किस्से ने गिरमिटिया हिन्दुस्तानियों के साथ मेरा सम्बन्ध जोड़ दिया। परन्तु उनपर कर लगाने का जो आन्दोलन चला, उसके परिणाम-स्वरुप मुझे उनकी स्थिति का गहरा अध्ययन करना पड़ा।

1894 के साल में गिरमिटिया हिन्दुस्तानियों पर हर साल 25 पौंड का अर्थात् 365 रुपये का कर लगाने के कानून की मसविदा नेटाल सरकार ने तैयार किया। उस मसविदे को पढकर मैं तो दिंगूढ़ ही हो गया। मैंने उसे स्थानीय काँग्रेस के सामने रखा। इस मामले में जो आन्दोलन करना उचित था, वह करने का एक प्रस्ताव काँग्रेस ने पास किया।

लगभग 1860 में जब नेटाल में बसे हुए गोरो में देखा कि वहाँ ईख की फसल अच्छी हो सकती हैं, तो उन्होने मजदुरो की खोज शुरु की। मजदूर ने मिले तो न ईख पैदा हो सकती थी और न चीनी ही बन सकती थी। नेटाल के हब्शी यह मजदूरी नही कर सकते थे। इसलिए नेटाल-निवासी गोरो में भारत-सरकार के साथ विचार-विमर्श करके हिन्दुस्तानी मजदूरो को नेटाल जाने देने की अनुमति प्राप्त की। उन्हे पाँच साल तक मजदूरी करने का बंधन रहेगा और पाँच साल के बाद उन्हें स्वतंत्र रीति से नेटाल में बसने की छूट रहेगी। उनको जमीन का मालिक बनने का पूरा अधिकार भी दिया गया था। उस समय गोरे चाहते थे कि हिन्दुस्तानी मजदूर अपने पाँच साल पूरे होने के बाद जमीन जोते और अपने उद्यम का लाभ नेटाल को दे।

हिन्दुस्तानी मजदूरो ने यह लाभ आशा से अधिक दिया। साग-सब्जी खूब बोयी। हिन्दुस्तान की अनेक उत्तम तरकारियाँ पैदा की। जो साग-सब्जियाँ वहाँ पहले से पैदा होती थी उसके दाम सस्ते कर दिये। हिन्दुस्तान से आम लाकर लगाये। पर इसके साथ ही उन्होने व्यापार भी शुरु कर दिया। घर बनाने के लिए जमीन खरीद ली और बहुतेरे लोग मजदूर न रह कर अच्छे जमींदार और मकान-मालिक बन गये। इस तरह मजदूरो में से मकान-मालिक बन जानेवालो के पीछे-पीछे वहाँ स्वतंत्र व्यापारी भी पहुँचे। स्व. सेठ अबूबकर आमद उनसे सबसे पहले पहुँचने वाले थे। उन्होने वहाँ अपना कारोबार खूब जमाया।

गोरे व्यापारी चौके। जब पहले-पहले उन्होने हिन्दुस्तानी मजदूरो का स्वागत किया था, तब उन्हे उनकी व्यापार करने की शक्ति का कोई अन्दाज न था। वे किसान के नाते स्वतंत्र रहें, इस हद तक तो गोरो को उस समय कोई आपत्ति न थी, पर व्यापार में उनकी प्रतिद्वन्द्विता उन्हे असह्य जान पडी।

हिन्दुस्तानियो के साथ उनके विरोध के मूल में यह चीज थी।

उसमें दूसरी चीजे और मिल गयी। हमारी अलग रहन-सहन, हमारी सादगी, हमारा कम नफे से संतुष्ट रहना, आरोग्य के नियमों के बारे में हमारी लापरवाही, घर-आँगन को साफ रखने का आलस्य, उनकी मरम्मत में कंजूसी, हमारे अलग-अलग धर्म ये सारी बाते विरोध को भड़कानेवाली सिद्ध हुई।

यह विरोध प्राप्त मताधिकार को छीन लेने के रुप में और गिरमिटियों पर कर लगाने के कानून के रुप में प्रकट हुआ। कानून के बाहर तो अनेक प्रकार से उन्हे परेशान करना शुरु हो ही चुका था।

पहला सुझाव तो यह था कि गिरमिट पूरा होने के कुछ दिन पहले ही हिन्दुस्तानियों को जबरदस्ती वापस भेज दिया जाय, ताकि उनके इकरारनामें की मुद्दत हिन्दुस्तान में पूरी हो। पर इस सुझाव के भारत-सरकार मानने वाली नही थी। इसलिए यह सुझाव दिया गया कि:

1. मजदूरी का इकरार पूरा हो जाने पर गिरमिटया वापस हिन्दुस्तान चला जाये, अथवा

2. हर दूसरे साल नया गिरमिट लिखवाये और उस हालत में हर बार उसके वेतन में कुछ बढ़ोतरी की जाये ;

3. अगर वह वापस न जाये और मजदूरी का नया इकरारनामा भी न लिखे, तो हर साल 25 पौंड का कर दे।

इन सुझावो को स्वीकार कराने के लिए सर हेनरी बीन्स और मि. मेसन का डेप्युटेशन हिन्दुस्तान भेजा गया। तब लॉर्ड एलविन वायसरॉय थे। उन्होने 25 पौंड का कर तो नामंजूर कर दिया, पर वैसे हरएक हिन्दुस्तानी से 3 पौड़ का कर लेने की स्वीकृति दे दी। मुझे उस समय ऐसा लगा था और अब भी लगता हैं कि वायसरॉय की यह गम्भीर भूल थी। इसमें

उन्होने हिन्दुस्तान के हित का तनिक भी विचार नही किया। नेटाल के गोरो के लिए ऐसी सुविधा कर देना उनका कोई धर्म नहीं था। तीन-चार साल के बाद यह कर हर वैसे (गिरमिट-मुक्त) हिन्दुस्तानी की स्त्री से और उसके हर 16 साल और उससे बड़ी उमर के लड़के और 13 साल या उससे बड़ी उमर की लड़की से भी लेने का निश्चय किया गया। इस प्रकार पति -पत्नी और दो बच्चो वाले कुटुम्ब से, जिसमें पति को अधिक से अधिक 14 शिलिंग प्रतिमास मिलते हो, 12 पौंड अर्थात् 180 रुपयो का कर लेना भारी जुल्म माना जायेगा। दुनिया में कही भी इस स्थिति के गरीब लोगो से ऐसा भारी कर नही लिया जाता था।

इस कर के विरुद्ध जोरो की लड़ाई छिड़ी। यदि नेटाल इंडियन काँग्रेस की ओर से कोई आवाज ही न उठाई जाती तो शायद वायसरॉय 25 पौंड भी मंजूर कर लेते। 25 पौंड के बदले 3 पौड होना भी काँग्रेस के आन्दोलन का ही प्रताप हो, यह पूरी तरह संभव हैं। पर इस कल्पना में मेरी भूल हो सकती है। संभव है कि भारत सरकार में 25 पौंड के प्रस्ताव को शुरु से ही अस्वीकार कर दिया हो, और हो सकता है कि काँग्रेस के विरोध न करने पर भी वह 3 पौंड का कर ही स्वीकार करती। तो भी उसमें हिन्दुस्तान के हित की हानि तो थी ही। हिन्दुस्तान के हित-रक्षक के नाते वाइसरॉय को ऐसी अमानुषी कर कभी स्वीकार नही करना चाहिए था।

25 से 3 पौंड (375 रुपये से 45 रुपये) होने में काँग्रेस क्या यश लेती? उसे तो यही अखरा कि वह गिरमिटियो के हित की पूरी रक्षा न कर सकी। और 3 पौड का कर किसी न किसी दिन हटना ही चाहिए। इस निश्चय को काँग्रेस ने कभी भूलाया नही। पर इस निश्चय को पूरा करने में बीस वर्श बीत गये। इस युद्ध में नेटाल के ही नही, बल्कि समूचे दक्षिण अफ्रीका के हिन्दुस्तानियो को सम्मिलित होना पड़ा। उसमें गोखले को निमित्त बनना पड़ा। गिरमिटिया हिन्दुस्तानियो को पूरी तरह हाथ बँटाना पड़ा। उसके कारण कुछ लोगो को गोलियाँ खाकर मरना पड़ा। दस हजार से अधिक हिन्दुस्तानियो को जेल भुगतनी पड़ी।

पर अन्त में सत्य की जीत हुई। हिन्दुस्तानियो की तपस्या में मूर्तिमान हुआ। इसके लिए अटल श्रद्धा की, अखूट धैर्य की और सतत कार्य करते रहने की आवश्यकता थी। यदि

कौम हार कर बैठ जाती, कॉँग्रेस लड़ाई को भूल जाती और कर को अनिवार्य समझकर उसके आगे झुक जाती तो वह कर आज तक गिरमिटिया हिन्दुस्तानियो से वसूल होता रहता औक इसका कलंक स्थानीय हिन्दुस्तानियो को और समूचे हिन्दुस्तान को लगता।

२२. धर्म निरीक्षण

इस प्रकार मैं हिन्दुस्तानी समाज की सेवा में ओतप्रोत हो गया, उसका कारण आत्म-दर्शन की अभिलाषा थी। ईश्वर की पहचान सेवा से ही होगी, यह मानकर मैंने सेवा-धर्म स्वीकार किया था। मैं हिन्दुस्तान की सेवा करता था, क्योकि वह सेवा मुझे अनायस प्राप्त हुई थी। मुझे उसे खोजने नही जाना पड़ा था। मैं तो यात्रा करने, काठियावाड़ के पडयंत्रो से बचने और आजीविका खोजने के लिए दक्षिण अफ्रीका गया था। पर पड़ गया ईश्वर की खोज में आत्म-दर्शन के प्रयत्न में। ईसाई भाइयों ने मेरी जिज्ञासा को बहुत तीव्र कर दिया था। वह किसी भी तरह शान्त होनेवाली न थी। मैं शान्त होना चाहता तो भी ईसाई भाई-बहन मुझे शान्त होने न देते। क्योकि डरबन में मि. स्पेन्सर वॉल्टन ने, जो दक्षिण अफ्रीका के मिशन के मुखिया थे, मुझे खोज निकाला। उनके घर में मैं कुटुम्बी-जैसा हो गया। इस सम्बन्ध का मूल प्रिटोरिया में हुआ समागम था। मि. वॉल्टन की रीति-नीति कुछ दूसरे प्रकार की थी। उन्होने मुझे ईसाई बनने को कहा हो सो याद नही। पर अपना जीवन उन्होने मेरे सामने रख दिया और अपनी प्रवृतियाँ - कार्यकलाप मुझे देखने दी। उनकी धर्मपत्नी बहुत नम्र परन्तु तेजस्वी महिला थी।

मुझे इस दम्पती की पद्धति अच्छी लगती थी। अपने बीच के मूलभूत मतभेदो को हम दोनो जानते थे। ये मतभेद आपसी चर्चा द्वारा मिटने वाले नही थे। जहाँ उदारता, सहिष्णुता और सत्य होता है, वहाँ मतभेद भी लाभदायक सिद्ध होते है। मुझे इस युगल की नम्रता, उद्यमशीलता और कार्यपरायणता प्रिय थी। इसलिए समय-समय पर मिलते रहते थे।

इस सम्बन्ध ने मुझे जाग्रत रखा। धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन के लिए जो फुरसत थी, अब असम्भव थी। पर जो थोड़ा समय बचता उसका उपयोग मैं वैसे अध्ययन में करता था। मेरा पत्र-व्यवहार जारी था। रायचन्दभाई मेरा मार्गदर्शन कर रहे थे। किसी मित्र ने मुझे नर्मदाशंकर की 'धर्म विचार' पुस्तक भेजी। उसकी प्रस्तावना मेरे लिए सहायक सिद्ध हुई। मैंने नर्मदाशंकर के विलासी जीवन की बाते सुनी थी। प्रस्तावना में उनके जीवन में हुए

परिवर्तनो का वर्णन था। उसने मुझे आकर्षित किया और इस कारण उस पुस्तक के प्रति मेरे मन में आदर उत्पन्न हुआ। मैं उसे ध्यानपूर्वक पढ गया।

मैंसमूलर की 'हिन्दुस्तान क्या सिखाता हैं?' पुस्तक मैंने बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ी। थियॉसॉफिकल सोसायटी द्वारा प्रकाशित उपनिषदो का भाषान्तर पढ़ा। इससे हिन्दू धर्म के प्रति आदर बढ़ा। उसकी खूबियाँ मैं समझने लगा। पर दूसरे धर्मो के प्रति मेरे मन में अनादर उत्पन्न नही हुआ। वाशिंग्टन अरविंग कृत मुहम्मद का चरित्र और कार्लाइल की मुहम्मद-स्तुति पढ़ी। मुहम्मद पैगम्बर के प्रति मेरा सम्मान बढ़ा। 'जरथुस्त के वचन' नामक पुस्तक भी मैंने पढ़ी।

इस प्रकार मैंने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त किया। मेरा आत्म-निरीक्षण बढ़ा। जो पढ़ा और पसंद किया, उसे आचरण में लाने की आदत पक्की हुई। अतएव हिन्दू धर्म से सूचित प्राणायाम-सम्बन्धी कुछ क्रियायें, जितनी पुस्तक की मदद से समझ सका उतनी मैंने शुरु की। पर वे मुझे संधी नही। मैं उनमें आगे न बढ़ सका। सोचा था कि वापस हिन्दुस्तान जाने पर उनका अभ्यास किसी शिक्षक की देखरेख में करुँगा। पर वह विचार कभी पूरा नही हो सका।

टॉल्सटॉय की पुस्तकों का अध्ययन मैंने बढ़ा लिया। उनकी 'गॉस्पेल्स इन ब्रीफ' (नये करार का सार), 'व्हॉट टु डू' (तब क्या करें?) आदि पुस्तको ने मेरे मन में गहरी छाप डाली। विश्व-प्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता हैं, इसे मैं अधिकाधिक समझने लगा।

इसी समय एक दूसरे ईसाई कुटुम्ब के साथ मेरा सम्बन्ध जुडा। उसकी इच्छा से मैं हर रविवार को वेरिलयन गिरजे में जाया करता था। अक्सर हर रविवार की शाम को मुझे उनके घर भोजन भी करना पड़ता था। वेरिलयन गिरजे का मुझ पर अच्छा असर नहीं पड़ा। वहाँ जो प्रवचन होते थे, वे मुझे शुष्क जान पड़े। प्रेक्षकों में भक्तिभाव के दर्शन नहीं हुए। यह ग्यारह बजे का समाज मुझे भक्तो का नही, बल्कि दिल बहलाने और कुछ रिवाज पालने के लिए आये हुए संसारी जीवो का समाज जान पड़ा। कभी कभी तो इस सभा में मुझे बरबस नींद के झोंके आ जाते। इससे मैं शरमाता। पर अपने आसपास भी किसी को ऊँधते देखता

तो मेरी शरम कुछ कम हो जाती । अपनी यह स्थिति मुझे अच्छी नही लगी । आखिर मैंने इस गिरजे में जाना छोड दिया ।

मैं जिस परिवार में हर रविवार को जाता था, कहना होगा कि वहाँ से तो मुझे छुट्टी ही मिल गयी । घर की मालकिन भोली, परन्तु संकुचित मन की मालूम हुई । हर बार उनके साथ कुछ न कुछ धर्मचर्चा तो होती ही रहती थी । उन दिनों मैं घर पर 'लाइट ऑफ एशिया' पढ़ रहा था । एक दिन हम ईसा और बुद्ध के जीवन की तुलना करने लगे । मैंने कहा,'गौतम की दया देखिये। वह मनुष्य-जाति को लाँधकर दुसरे प्राणियों तक पहुँच गयी थी । उनके कंधे पर खेलते हुए मेंमने का चित्र आँखो के सामने आते ही क्या आपका हृदय प्रेम से उमड़ नही पड़ता ? प्राणीमात्र के प्रति ऐसा प्रेम मैं ईसा के चरित्र में नहीं देख सका ।'

उस बहन का दिल दुखा । मैं समझ गया । मैंने अपनी बात आगे न बढ़ायी । हम भोजनालय में पहुँचे । कोई पाँच वर्ष का उनका हँसमुख बालक भी हमारे साथ था । मुझे बच्चे मिल जाये तो फिर और क्या चाहिए ? उसके साथ मैंने दोस्ती तो कर ही ली थी । मैंने उसकी थाली में पड़े माँस के टुकडे का मजाक किया और उपनी रकाबी में सजे हुए सेव की स्तुति की । निर्दोष बालक पिघल गया और सेव की स्तुति में सम्मिलित हो गया ।

पर माता ? वह बेचारी दुखी हुई । मैं चता । चुप्पी साध गया । मैंने चर्चा का विषय बदल दिया ।

दूसरे हफ्ते सावधान रहकर मैं उनके यहाँ गया तो सही, पर मेंरे पाँव भारी हो गये थे । मुझे यह न सूझा कि मैं खुद ही वहाँ जाना बन्द कर दूँ और न ऐसा करना उचित जान पड़ा । पर उस भली बहन ने मेरी कठिनाई दूर कर दी । वे बोली, 'मि. गांधी, आप बुरा न मानियेगा, पर मुझे आप से कहना चाहिए कि मेंरे बालक पर आपकी सोहब्बत का बुरा असर होने लगा हैं। अब रोज माँस खाने में आनाकानी करता हैं । और आपकी उस चर्चा का याद दिलाकर फल माँगता हैं । मुझसे यह न निभ सकेगा । मेरा बच्चा माँसाहार छोडने से बीमार चाहे न पड़े, पर कमजोर तो हो ही जायेगा । इसे मैं कैसे सह सकती हूँ ? आप जो चर्चा करते हैं, वह हम सयानो के बीच शोभा दे सकती हैं । लेकिन बालको पर तो उसका बुरा ही असर हो सकता हैं ।'

'मिसेज... मुझे दुःख है। माता के नाते मैं आपकी भावना को समझ सकता हूँ। मेरे भी बच्चे हैं। इस आपत्ति का अन्त सरलता से हो सकता हैं। मेरे बोलने का जो असर होगा, उसकी अपेक्षा मैं जो खाता हूँ या नही खाता हूँ, उसे देखने का असर बालक पर बहुत अधिक होगा। इसलिए अच्छा रास्ता तो यह है कि अब से आगे मैं रविवार को आपके यहाँ न आऊँ। इससे हमारी मित्रता में कोई बाधा न पहुँचेगी।'

बहन में प्रसन्न होकर उत्तर दिया, 'मैं आपका आभार मानती हूँ।'

२३. घर की व्यवस्था

मैं बम्बई में और विलायत में घर बसा चुका था, पर उसमें और नेटाल में घर की व्यवस्था जमाने में फर्क था। नेटाल में कुछ खर्च मैंने केवल प्रतिष्ठा के लिए चला रखा था। मैंने मान लिया था कि नेटाल में हिन्दुस्तानी बारिस्टर के नाते और हिन्दुस्तानियों के प्रतिनिधि के रुप में मुझे काफी खर्च करना चाहिए, इसलिए मैंने अच्छे मुहल्ले में अच्छा घर लिया था। घर को अच्छी तरह सजाया भी था। भोजन सादा था पर अंग्रेज मित्रो को न्योतना होता था और हिन्दुस्तानी साथियों की भी न्योतता था, इस कारण स्वभावतः वह खर्च भी बढ़ गया था।

नौकर की कमी तो सब कहीं जान पड़ती थी। किसी को नौकर के रुप में रखना मुझे आया ही नहीं।

एक साथी मेरे साथ रहता था। एक रसोइया रखा था। वह घर के आदमी जैसा बन गया था। दफ्तर में जो मुहर्रिर रखे थे, उनमें से भी जिन्हे रख सकता था, मैंने घर में रख लिया था।

मैं मानता हूँ कि यह प्रयोग काफी सफल रहा। पर उसमें से मुझे संसार के कड़वे अनुभव भी हुए।

मेरा वह साथी बहुत होशियार था और मेरे ख्याल के मुताबिक मेरे प्रति वफादार था। पर मैं उसे पहचान न सका। दफ्तर के एक मुहर्रिर को मैंने घर में रख लिया था। उसके प्रति इस साथी के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। साथी ने ऐसा जाल रचा कि मैं मुहर्रिर पर शक करने लगा। यह मुहर्रिर बहुत स्वतंत्र स्वभाव का था। उसने घर और दफ्तर दोनों छोड़ दिये। मुझे दुःख हुआ। कही उसके साथ अन्याय तो नही हुआ ? यह विचार मुझे कुरेदने लगा।

इसी बीच मैंने जिस रसोइये को रखा था, उसे किसी कारण से दुसरी जगह जाना पड़ा। मैंने उसे मित्र की सार-संभाल के लिए रखा था। इसलिए उसके बदले दूसरा रसोइया लगाया। बाद में मुझे पता चला कि वह आदमी उड़ती चिड़िया भाँपने वाला था। पर मेरे लिए वह इस तरह उपयोगी सिद्ध हुआ, मानो मुझे वैसे ही आदमी की जरुरत हो !

इस रसोइये को रखे मुश्किल से दो या तीन दिन हुए होगे । इस बीच उसने मेरे घर में मेरे अनजाने चलनेवाले अनाचार को देख लिया और मुझे चेताने का निश्चय्र किया । लोगो की यह धारणा बन गयी थी कि मैं विश्वासशील और अपेक्षाकृत भला आदमी हूँ । इसलिए इस रसोइये को मेरे ही घर में चलनेवाला भ्रष्टातार भयानक प्रतीत हुआ ।

मैं दोपहर के भोजन के लिए दफ्तर से एक बजे घर जाया करता था । एक दिन कोई बारह बजे होंगे । इतने में यह रसोइया हाँफता-हाँफता आया और मुझसे कहने लगा, 'आप को कुछ देखना हो तो खडे पैरो घर चलिये।'

मैंने कहा, 'इसका अर्थ क्या हैं ? तुम्हे मुझे बताना चाहिए कि काम क्या हैं । ऐसे समय मुझे घर चलकर क्या देखना हैं ?'

रसोइया बोला, 'न चलेंगे तो आप पछतायेंगे । मैं आपको इससे अधिक कहना नहीं चाहता।'

उसकी ढृढता से मैं आकर्षित हुआ । मैं अपने मुर्हरिर को साथ लेकर घर गया । रसोइया आगे चला ।

घर पहुँचने पर वह मुझे दूसरी मंजिल पर ले गया । जिस कमरे में वह साथी रहता था, उसे दिखा कर बोला, 'इस कमरे को खोलकर देखिये ।'

अब मैं समझ गया । मैंने कमरे का दरवाजा खटखटाया ।

जवाब क्यो मिलता ? मैंने बहुत जोर से दरवाजा खटखटाया । दीवार काँप उठी । दरवाजा खुला । अन्दर एक बदचलन औरत को देखा । मैंने उससे कहा, 'बहन, तुम तो यहाँ से चली ही जाओ। अब फिर कभी इस घर में पैर न रखना ।'

साथी से कहा, 'आज से तुम्हारा और मेरा सम्बन्ध समाप्त होता हैं। मैं खूब ठगाया और मूर्ख बना । मेरे विश्वास का यहबदला तो न मिलना चाहिए था ।'

साथी बिगड़ा । उसने मेरा सारा पर्दाफाश करने की धमकी दी ।

'मेरे पास कोई छिपी चीज हैं ही नही । मैंने जो कुछ किया हैं, उसे तुम खुशी से प्रकट करो । पर तुम्हारे साथ मेरा सम्बन्ध तो अब समाप्त हुआ ।'

साथी और गरमाया । मैंने नीचे खड़े मुहर्रिर से कहा, 'तुम जाओ । पुलिस सुपरिंटेंडेट से मेरा सलाम बोलो और कहो कि मेरे एक साथी ने मुझे धोखा दिया हैं। मैं उसे अपने घर में रखना नही चाहता। फिर भी वह निकलने से इनकार करता हैं। मेहरबानी करके मुझे मदद भेजिये।'

अपराध में दीनता होती हैं । मेरे इतना कहने से ही साथी ढीला पड़ा । उसने माफी माँगी । सुपरिंटेंडेट के यहाँ आदमी न भेजने के लिए वह गिड़गिड़ाया और तुरन्त घर छोडकर जाना कबूल किया। उसने घर छोड़ दिया।

इस घटनाने मुझे जीवन में ठीक समय पर सचेत कर दिया। यह साथी मेंरे लिए मोहरुप और अवाँच्छनीय था, इसे मैं इस घटना के बाद ही स्पष्ट रुप में देख सका। इस साथी को रखकर मैंने अच्छे काम के लिए बुरे साधन को पसन्द किया था। बबूल के पेड़ से आम की आशा रखी थी । साथी का चाल-चलन अच्छा नही था, फिर भी मैंने मान लिया था कि वह मेंरे प्रति वफादार हैं। उसे सुधारने का प्रयत्न करते हुए मैं स्वयं लगभग गन्दी में सन गया था। मैंने हितैषियों की सलाह का अनादर किया था। मोह ने मुझे बिल्कुल अन्धा बना दिया था। यदि इस दुर्घटना से मेरी आँखे न खुली होती, तो मुझे सत्य का पता न चलता, तो सम्भव है कि जो स्वार्पण मैं कर सका हूँ, उसे करने में मैं कभी समर्थ न हो पाता । मेरी सेवा सजा अधूरी रहती, क्योंकि वह साथी मेरी प्रगति को अवश्य रोकता। अपना बहुत सा समय मुझे उसके लिए देना पड़ता। उसमें मुझको अन्धकार में रखने और गलत रास्ते ले जाने की शक्ति थी .

पर जिसे राम रखे, उसे कौन चखे ? मेरी निष्ठा शुद्ध थी, इसलिए अपनी गलतियों के बावजूद मैं बच गया और मेंरे पहले अनुभव ने मुझे सावधान कर दिया।

उस रसोइये को शायद भगवान में ही मेंरे पास भेजा था। वह रसोई बनाना नही जानता था, इसलिए वह मेरे यहाँ रह न सकता था। पर उसके आये बिना दूसरा कोई मुझे जाग्रत नही कर सकता था। वह स्त्री मेंरे घर में पहली ही बार आयी हो, सो बार नही। पर इस रसोइये जितनी हिम्मत दूसरो को हो ही कैसे सकती थी ? इस साथी के प्रति मेंरे बेहद विश्वास से सब लोग परिचित थे।

इतनी सेवा करके रसोइये ने तो उसी दिन और उसी क्षण जाने की इजाजत चाही। वह बोला, 'मैं आपके घर में नही रह सकता। आप भोले भंडारी ठहरे। यहाँ मेरा काम नही।'

मैंने आग्रह नहीं किया।

उक्त मुहर्रिर पर शक पैदा करानेवाला यह साथी ही था, यह बात मुझे अब मालूम हुई। उसके साथ हुए अन्याय को मिटाने का मैंने बहुत प्रयत्न किया, पर मैं उसे पूरी तरह सन्तुष्ट न कर सका। मेरे लिए यह सदा ही दुःख की बात रही। फूटे बरतन को कितना ही पक्का क्यो न जोड़ा जाये, वह जोड़ा हुआ ही कहलायेगा, संपूर्ण कभी नही होगा।

२४. देश की ओर

अब मैं दक्षिण अफ्रीका में तीन साल रह चुका था। मैं लोगो को पहचाने लगा था और लोग मुझे पहचानने लगे थे। सन् 1896 में मैंने छह महीने के लिए देश जाने की इजाजत माँगी। मैंने देखा कि मुझे दक्षिण अफ्रीका में लम्बे समय तक रहना होगा। कहा जा सकता है कि मेरी वकालत ठीक चल रही थी। सार्वजनिक काम में लोग मेरी उपस्थिति की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे, मैं स्वयं भी करता था। इससे मैंने दक्षिण अफ्रीका में रहने का निश्चय किया और उसके लिए देश हो आना ठीक समझा। फिर, मैंने यह भी देखा कि देश जाने से कुछ सार्वजनिक काम भी हो सकता हैं। मुझे लगा कि देश में लोकमत जाग्रत करके यहाँ के भारतीयो के प्रश्न में लोगो की अधिक दिलचस्पी पैदा की जा सकती हैं। तीन पौंड का कर एक नासूर था-सदा बहने वाला घाव था। जब तक वह रद्द न हो, चित के शांति नहीं मिल सकती थी।

लेकिन मेरे देश जाने पर काँग्रेस का और शिक्षा-मंडल का काम कौन संभाले ? दो साथियो पर मेरी दृष्टि पड़ी-आदमजी मियाँखान और पारसी रुस्तमजी। व्यापारी समाज में बहुत से काम करने वाले निकल आये थे, पर मंत्री की काम संभाल सकने और नियमित रुप से काम करने और दक्षिण अफ्रीका में जन्मे हुए हिन्दुस्तानियो का मन जीत सकने की योग्यता रखनेवालो में ये दो प्रथम पंक्ति में खड़े किये जा सकते थे। मंत्री के लिए साधारण अंग्रेजी जानने की जरुरत तो थी ही। मैंने इन दो में से स्व. आदमजी मियाँखान को मंत्रीपद देने की सिफारिश काँग्रेस से की और वह स्वीकार कर ली गयी। अनुभव से यह चुनाव बहुत अच्छा सिद्ध हुआ। अपनी लगन, उदारता, मिठास और विवेक से सेठ आदमजी मियाँखान ने सब को सन्तुष्ट किया और सबको विश्वास हो गया कि मंत्री का काम करने के लिए वकील-बारिस्टर की या बहुत पढे हुए उपाधिधारी की आवश्यकता नहीं हैं।

सन् 1896 के मध्य में मैं देश जाने के लिए 'पोंगोला' स्टीमर में रवाना हुआ। यह स्टीमर कलकत्ते जानेवाला था।

स्टीमर में मुसाफिर बहुत थे । दो अंग्रेज अधिरकारी थे । उनसे मेरी मित्रता हो गयी । एक के साथ मैं रोज एक घंटा शतरंज खेलने में बिताता था । स्टीमर के डॉक्टर ने मुझे एक 'तामिल शिक्षक' (तामिल सिखानेवाली) पुस्तक दी । अतएव मैंने उसका अभ्यास शुरु कर दिया ।

नेटाल में मैंने अनुभव किया था कि मुसलमानो के साथ अधिक निकट सम्बन्ध जोड़ने के लिए मुझे उर्दू सीखनी चाहिए और मद्रासी भाईयो से वैसा सम्बन्ध स्थापति करने के लिए तामिल सीखनी चाहिए ।

उर्दू के लिए उक्त अंग्रेज मित्र की माँग पर मैंने डेक के मुसाफिरों में से एक अच्छा मुंशी ढूँढ निकाला और हमारी पढ़ाई अच्छी तरह चलने लगी । अंग्रेज अधिकारी की स्मरण शक्ति मुझसे बढ़ी-चढी थी । उर्दू अक्षर पहचानने में मुझे मुश्किल होती, पर वह तो एक बार जिस शव्द को देख लेते असे कभी भूलते ही न थे । मैं अधिक मेहनत करने लगा । फिर भी उनकी बराबरी नही कर सका ।

तामिल का अभ्यास भी ठीक चलता रहा । उसमें किसी की मदद नहीं मिल सकती थी । पुस्तक ऐसे ढंग से लिखी गयी थी कि मदद की अधिक आवश्यकता न पड़े ।

मुझे आशा थी कि इस तरह शुरु किये गये अभ्यासों को मैं देश में पहुँचने के बाद भी जारी रख सकूँगा । पर वैसा न हो पाया । सन् 1893 के बाद का मेरा वाचन और अध्ययन मुख्यतः जेल में ही हुआ । इन दोनो भाषाओ का ज्ञान मैंने बढाया तो सही, पर वह सब जेल में ही । तामिल का दक्षिण अफ्रीका की जेल में और उर्दू का यरवडा जेल में । पर तामिल बोलना मैं कभी सीख न सका, पढना ठीक तरह से सीखा था, पर अभ्यास के अभाव में अब उसे भी भूलता जा रहा हूँ । उस अभाव का दुःख मुझे आज भी व्यथित करता हैं । दक्षिण अफ्रीका के मद्रासी भाइयो से मैंने भर-भर कर प्रेम-रस पाया हैं । उनका स्मरण मुझे प्रतिक्षण बना रहता हैं । उनकी श्रद्धा, उनका उद्योग, उनमें से बहुतो की निःस्वार्थ त्याग किसी भी तामिल-तेलुगु के देखने पर मुझे याद आये बिना रहता ही नही । और ये सब लगभग निरक्षरों की गिनती में थे । जैसे पुरुष थे वैसी ही स्त्रियाँ थी । दक्षिण अफ्रीका की लड़ाई ही निरक्षरो की और उसके योद्धा भी निरक्षर थे- वह गरीबी की लड़ाई थी और गरीब ही उसमें जूझे थे ।

इन भोले और भले भारतवासियों का चित्त चुराने में मुझे भाषा की बाधा कभी न पड़ी । उन्हें टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी और टूटी-फूटी अंग्रेजी आती थी और उससे हमारी गाड़ी चल जाती थी । पर मैं तो इस प्रेम के प्रतिदान के रुप में तामिल-तेलुगु सीखना चाहता था । तामिल तो कुछ सीख भी ली । तेलुगु सीखने का प्रयास हिन्दुस्तान में किया, पर वह ककहरे के ज्ञान से आगे नही बढ़ सका ।

मैं तामिल-तेलुगु नही सीख पाया और अब शायद ही सीख पाऊँ, इसलिए यह आशा रखे हुए हूँ कि ये द्राविड़ भाषा-भाषी हिन्दुस्तानी भाषा सीखेंगे । दक्षिण अफ्रीका के द्राविड़ 'मद्रासी' तो थोड़ी बहुत हिन्दी अवश्य बोल लेते हैं । मुश्किल तो अंग्रेजी पढे-लिखो की हैं । ऐसा प्रतीत होता हैं, मानो अंग्रेजी का ज्ञान हमारे लिए अपनी भाषाये सीखने में बाधारुप हो ! पर यह तो विषयान्तर हो गया । हन अपनी यात्रा पूरी करें ।

अभी 'पोंगोला' के कप्तान का परिचय कराना बाकी है । हम परस्पर मित्र बन गये थे । यह भला कप्तान 'प्लीमथ ब्रदरन' सम्प्रदाय का था । इससे हमारे बीच नौकाशास्त्र की बातों की अपेक्षा अध्यातम-विद्या की बाते ही अधिक हुई । उसने नीति और धर्मश्रद्धा में भेद किया । उसके विचार में बाइबल की शिक्षा बच्चो का खेल था । उसकी खूबी ही उसकी सरलता में थी । बालक, स्त्री, पुरुष सब ईसा को और उनके बलिदान को मान ले, तो उनके पाप धुल जाये । इस प्लीमथ ब्रदर ने प्रिटोरिया वाले ब्रदर के मेंरे परिचय का ताजा कर दिया । जिस धर्म में नीति की रखवाली करनी पड़े, वह धर्म उसे नीरस प्रतीत हुआ । इस मित्रता और आध्यात्मिकता चर्चा की जड़ में मेरा अन्नाहार था । मैं माँस क्यो नही खाता ? गोमाँस में क्या दोष है ? क्या पेड़-पौधो की तरह ही पशु-पक्षियों को भी ईश्वर ने मनुष्य आहार और आनन्द के लिए नही श्रृजा हैं ? ऐसी प्रश्नावली आध्यात्मिक चर्चा उत्पन्न किये बिना रह ही नही सकती थी ।

हम एक-दूसरे को अपने विचार समझा नही सके । मैं अपने इस विचार में दृढ था कि धर्म और नीति एक ही वस्तु के वाचन हैं । कप्तान को अपने मत के सत्य होने में थोडी भी शंका नही थी ।

चौबीस दिन के बाद यह आनन्दप्रद यात्रा पूरी हुई और हुगली का सौन्दर्य निहारता हुआ मैं कलकत्ते उतरा। उसी दिन मैंने बम्बई जाने का टिकट कटाया।

२५. हिन्दुस्तान में

कलकत्ते से बम्बई जाते हुए प्रयाग बीच में पड़ता था। वहाँ ट्रेन 45 मिनट रुकती थी। इस बीच मैंने शहर का एक चक्कर लगा आने का विचार किया। मुझे केमिस्ट की दुकान से दवा भी खरीदनी थी। केमिस्ट ऊँधता हुआ बाहर निकला। दवा देने में उसने काफी दे कर दी। मैं स्टेशन पहुँचा तो गाडी चलती दिखायी पड़ी। भले स्टेशन-मास्टर ने मेरे लिए गाड़ी एक मिनट के लिए रोकी थी, पर मुझे वापस आते न देखकर उसने मेरा सामान उतरवा लेने की सावधानी बरती।

मैं केलनर के होटल में ठहरा और वहाँ से अपने काम के श्रीगणेश करने का निश्चय किया। प्रयाग के 'पायोनियर' पत्र की ख्याति मैंने सुन रखी थी।

मैं जानता था कि वह जनता की आकांक्षाओ का विरोधी हैं। मेरा ख्याल हैं कि उस समय मि. चेजनी (छोटे) सम्पादक थे। मुझे तो सब पक्षवालो से मिलकर प्रत्येक की सहायता लेनी थी। इसलिए मैंने मि. चेज़नी को मुलाकात के लिए पत्र लिखा। ट्रेन छूट जाने की बात लिखकर यह सूचित किया कि अगले ही दिन मुझे प्रयाग छोड देना हैं। उत्तर में उन्होने मुझे तुरन्त मिलने के लिए बुलाया। मुझे खुशी हुई। उन्होने मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनी। बोले, 'आप जो भी लिखकर भेजेंगे, उस पर मैं तुरन्त टिप्पणी लिखूँगा।' और साथ ही यह कहा, 'लेकिन मैं आपको यह नही कह सकता कि मैं आपकी सभी माँगो का स्वीकार ही कर सकूँगा। हमें तो 'कॉलोनियल' (उपनिवेशवालो का) दृष्टिकोण भी समझना और देखना होगा।'

मैंने उत्तर दिया, 'आप इस प्रश्न का अध्ययन करेंगे और इसे चर्चा का विषय बनायेंगे, इतना ही मेरे लिए बस हैं। मैं शुद्ध न्याय के सिवा न तो कुछ माँगता हूँ और न कुछ चाहता हूँ।'

बाकी का दिन मैंने प्रयाग के भव्य त्रिवेणी-संगम का दर्शन करने में और अपने सम्मुख पड़े हुए काम का विचार करने में बिताया।

इस आकस्मिक भेंट ने मुझ पर नेटाल में हुए हमले का बीज बोया।

बम्बई में रुके बिना मैं सीधा राजकोट गया और वहाँ एक पुस्तिका लिखने की तैयारी में लगा। पुस्तिका लिखने और छपाने में लगभग एक महीना बीत गया। उसका आवरण हरा था, इसलिए बाद में वह 'हरी पुस्तिका' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उसमें दक्षिण अफ्रीका के हिन्दुस्तानियों की स्थिति का चित्रण मैंने जान-बूझकर नरम भाषा में किया था। नेटाल में लिखी हुई दो पुस्तिकाओ में, जिसका जिक्र मैं पहले कर चुका हूँ, मैंने जिस भाषा का प्रयोग किया था उससे नरम भाषा का प्रयोग इसमें किया था। क्योकि मैं जानता था कि छोटा दुःख भी दूर से देखने पर बड़ा मालूम होता हैं।

'हरी पुस्तिका' की दस हजार प्रतियाँ छपायी थी और उन्हें सारे हिन्दुस्तान के अखवारो और सब पक्षो के प्रसिद्ध लोगो को भेजा था। 'पायोनियर' में उस पर सबसे पहले लेख निकला। उसका सारांश विलायत गया और सारांश का सारांश रायटर के द्वारा नेटाल पहुँचा। वह तार तो तीन पंक्तियो का था। नेटाल में हिन्दुस्तानियो के साथ होनेवाले व्यवहार का जो चित्र मैंने खीचा था, उसका वह लघु संस्करण था। वह मेरे शब्दो में नही था। उसका जो असर हुआ उसे हम आगे देखेंगे। धीरे-धीरे सब प्रमुख पत्रो में इस प्रश्न की विस्तृत चर्चा हुई।

इस पुस्तिका को डाक से भेजने के लिए इसके पैकेट तैयार करने का काम मुश्किल था, और पैसा देकर कराना खर्चीला था। मैंने सरल युक्ति खोज ली। मुहल्ले के सब लड़को को मैंने इकट्ठा किया और उनसे सबेरे के दो-तीन घंटो में से जितना समय वे दे सके उतना देने के लिए कहा। लड़को ने इतनी सेवा करना खुशी से स्वीकार किया। अपनी तरफ से मैंने उन्हें अपने पास जमा होनेवाले काम में आये हुए डाक टिकट और आशीर्वाद देना कबूल किया। इस प्रकार लड़को ने हँसते-हँसते मेरा काम पूरा कर दिया। इस प्रकार बच्चो को स्वयंसेवक बनाने का यह मेरा पहला प्रयोग था। इस बालको में से दो आज मेरे साथी हैं।

इन्ही दिनो बम्बई में पहली बाक प्लेग का प्रकोप हुआ। चारो तरफ घबराहट फैल रही थी। राजकोट में भी प्लेग फैलने का डर था। मैं सोचा कि मैं आरोग्य-विभाग में अवश्य काम कर

सकता हूँ। मैंने अपनी सेवा राज्य को अर्पण करने के लिए पत्र लिखा। राज्य में जो कमेटी नियुक्त की उसमें मुझे भी स्थान दिया। मैंने पाखानो की सफाई पर जोर दिया और कमेटी ने निश्चय किया कि गली-गली जाकर पाखानो का निरीक्षण किया जाये। गरीब लोगो में अपने पाखानो का निरीक्षण करने देने में बिल्कुल आनाकानी नही की, यही नही बल्कि जो सुधार उन्हे सुझाये गये थे वे भी उन्होने कर लिये। पर जब हम मुत्सद्दी वर्ग के यानि बड़े लोगो के घरो का मुआयना करने निकले, तो कई जगहो में तो हमें पाखाने का निरीक्षण करने की इजाजत तक न मिली, सुधार की तो बात ही क्या की जाय ? हमारा साधारण अनुभव यह रहा कि धनिक समाज के पाखाने ज्यादा गन्दे थे। उनमें अंधेरा,बदबू और बेहद गन्दगी थी। खड्डी पर कीडे बिलबिलाते थे। जीते जी रोज नरक में ही प्रवेश करने जैसी वह स्थिति थी। हमारे सुझाये हुए सुधार बिल्कुल साधारण थे। मेला जमीन पर न गिराकर कूंडे में गिराये। पानी की व्यवस्था ऐसी की जाये की वह जमीन में जज्ब होने के बदले कूंडे में इक्टठा हो। खुड्डी और भंगी के आने की जगह से बीच जो दीवार रखी जाती हैं वह तोड दी जाय, जिससे भंगी सारी जगह को अच्छी तरह साफ कर सके, पाखाने कुछ बड़े हो जाये तथा उनमें हवा-उजेला पहुँच सके। बड़े लोगो ने इन सुधारो को स्वीकार करने में बहुत आपत्ति की, और आखिर उन पर अमल तो किया ही नही।

कमेटी को भंगियो की बस्ती में भी जाना तो था ही। कमेटी के सदस्यो में से एक ही सदस्य मेरे साथ वहाँ जाने को तैयार हुए। भंगियो की बस्ती में जाना और सो भी पाखानो का निरीक्षण करने के लिए ! पर मुझे तो भंगियायो की बस्ती देखकर सानन्द आश्चर्य हुआ। अपने जीवन में मैं पहली ही बार उस दिन भंगी बस्ती देखने गया था। भंगी भाई-बहनो को हमें देखकर अचम्मा हुआ। मैंने उनके पाखाने देखने की इच्छा प्रकट की। उन्होने कहा, 'हमारे यहाँ पाखाने कैसे? हमारे पाखाने को जंगल में हैं। पाखाने तो आप बड़े आदमियो के यहाँ होते है।'

मैंने पूछा, 'तो क्या अपने घर आप हमें देखने देंगे ?'

'आईये न भाई साहब ! जहाँ भी आपकी इच्छा हो, जाईये। ये ही हमारे घर हैं।'

मैं अन्दर गया और घर की तथा आंगन की सफाई देखकर खुश हो गया। घर के अन्दर सब कुछ लिपा-पुता देखा। आंगन झाड़ा-बुहारा था; और जो इने-गिने बरतन थे, वे सब साफ और चमचमाते हुए थे। मुझे इस बस्ती में बीमारी के फैलने का डर नही दिखायी दिया।

यहाँ में एक पाखाने का वर्णन किये बिना नही रह सकता। हर एक घर में नाली तो थी ही। उसमें पानी भी गिराया जाता और पेशाब भी किया जाता। इसलिए ऐसी कोठरी क्वचित ही मिलती, जिसमें दुर्गन्ध न हो। पर एक घर में तो सोने के कमरे में ही मोरी और पाखाना दोनो देखे; और घर की वह सारी गंदगी नाली के रास्ते नीचे उतरती थी। उस कोठरी में खड़ा भी नही रहा जा सकता था। घर के लोग उसमें सो कैसे सकते थे, इसे पाठक ही सोच ले।

कमेटी ने हवेली (वैष्णव-मन्दिर) का भी निरीक्षण किया। हवेली के मुखियाजी से गांधी परिवार का मीठा सम्बन्ध था। मुखियाजी ने हवेली देखने देना और सब सम्भव सुधार करा देना स्वीकार किया। उन्होने खुद वह हिस्सा कभी नही देखा था। हवेली में रोज जो जूठन और पत्तल इक्ट्ठा होती, उन्हें पिछवाडे की दीवार के ऊपर फेंक दिया जाता था। और, वह हिस्सा कौओ औप चीलो का अड़ड़ा बन गया था। पाखाने तो गन्दे थे ही। मुखियाजी ने कितना सुधार किया, सो मैं देख न सका। हवेली की गन्दगी देखकर दुःख तो हुआ ही। जिस हवेली को हम पवित्र स्थान मानते हैं, वहाँ तो आरोग्य के नियमो का अधिक से अधिक पालन होने की आशा रखी जानी चाहिए। स्मृतिकारो ने अन्तर्बाह्य शौच पर बहुत जोर दिया हैं, यह बात उस समय भी मेंरे ध्यान से बाहर नही थी।

२६. राजनिष्ठा और शुश्रूषा

शुद्ध राजनिष्ठा जितनी मैंने अपने में अमुभव की हैं, उतनी शायद ही दूसरे में देखी हो। मैं देख सकता हूँ कि इस राजनिष्ठा का मूल सत्य पर मेरा स्वाभाविक प्रेम था। राजनिष्ठा का अथवा दूसरी किसी वस्तु का स्वांग मुझ से कभी भरा ही न जा सका। नेटाल ने जब मैं किसी सभा में जाता, तो वहाँ 'गॉड सेव दि किंग' (ईश्वर राजा की रक्षा करे) गीत अवश्य गाया जाता था। मैंने अनुभव किया कि मुझे भी उसे गाना चाहिए। ब्रिटिश राजनीति में दोष तो मैं तब भी देखता था, फिर भी कुल मिलाकर मुझे वह नीति अच्छी लगती थी। उस समय मैं मानता था कि ब्रिटिश शासन और शासको का रुख कुल मिलाकर जनता का पोषण करनेवाला हैं।

दक्षिण अफ्रीका में मैं इससे उलटी नीति देखता था, वर्ण-द्वेष देखता था। मैं मानता था कि यह क्षणिक और स्थानिक हैं। इस कारण राजनिष्ठा में मैं अंग्रेजो से भी आगे बढ़ जाने का प्रयत्न करता था। मैंने लगन के साथ मेंहनत करके अंग्रेजे के राष्ट्रगीत 'गॉड सेव दि किंग' की लय सीख ली थी। जब वह सभाओ में गाया जाता, तो मैं अपना सुर उसमें मिला दिया करता था। और जो भी अवसर आडम्बर के बिना राजनिष्ठा प्रदर्शित करने के आते, उनमें मैं सम्मिलित होता था।

इस राजनिष्ठा को अपनी पूरी जिन्दगी में मैंने कभी भुलाया नहीं। इससे व्यक्तिगत लाभ उठाने का मैंने कभी विचार तक नही किया। राजभक्ति को ऋण समझकर मैंने सदा ही उसे चुकाया हैं।

मैं जब हिन्दुस्तान आया था तब महारानी विक्टोरिया का डायमंड जुबिली (हीरक जयन्ती) की तैयारियाँ चल रही थी। राजकोट में भी एक समिति बनी। मुझे उसका निमंत्रण मिला। मैंने उसे स्वीकार किया। उसने मुझे दम्भ की गंध आयी। मैंने देखा कि उसमें दिखावा बहुत होता हैं। यह देखकर मुझे दुःख हुआ। समिति में रहने या न रहने का प्रश्न मेरे सामने खड़ा हुआ। अन्त में मैंने निश्चय किया कि अपने कर्तव्य का पालन करके संतोष मानूँ।

एक सुझाव यह था कि वृक्षारोपण किया जाय । इसमें मुझे दम्भ दिखायी पड़ा । ऐसा जान पड़ा कि वृक्षारोपण केवल साहबो को खुश करने के लिए हो रहा हैं । मैंने लोगो को समझाने का प्रयत्न किया कि वृक्षारोपन के लिए कोई विवश नहीं करता, वह सुझावमात्र हैं । वृक्ष लगाने हो तो पूरे दिल से लगाने चाहिए, नहीं तो बिल्कुल न लगाने चाहिए । मुझे ऐसा याद पड़ता हैं कि मैं ऐसा कहता था, तो लोग मेरी बात को हँसी में उड़ा देते थे । अपने हिस्से का पेड़ मैंने अच्छी तरह लगाया और वह पल-पुसकर बढ़ा, इतना मुझे याद हैं ।

'गॉड सेव दि किंग' गीत मैं अपने परिवार के बालको को सिखाता था । मुझे याद हैं कि मैंने उसे ट्रेनिंग परिवार के विद्यार्थियों को सिखाया था । लेकिन वह यही अवसर था अथवा सातवें एडवर्ड के राज्यारोहण का अवसर था, सो मुझे ठीक याद नही हैं । आगे चलकर मुझे यह गीत गाना खटका । जैसे-जैसे अहिंसा सम्बन्धी मेरे मन में ढृढ होते गये, सै वैसे मैं अपनी वाणी और विचारो पर अधिक निगरानी रखने लगा । उस गीत में दो पंक्तियाँ ये भी हैं :

उसके शत्रुओ का नाश कर, उनके षड्यंत्रो को विफल कर ।

इन्हे गाना मुझे खटका । अपने मित्र डॉ. बूथ को मैंने अपनी यह कठिनाई बतायी । उन्होने भी स्वीकार किया कि यह गाना अहिंसक मनुष्य को शोभा नही देता । शत्रु कहलाने वाले लोग दगा ही करेंगे, यह कैसे मान लिया जाय ? यह कैसे कहा जा सकता है कि जिन्हे हमने शत्रु माना वे बुरे ही होगे ? ईश्वर से तो न्याय ही माँगा जा सकता हैं । डॉ. बूथ ने इस दलील को माना । उन्होने अपने समाज में गाने के लिए नये गीत की रचना की । डॉ. बूथ का विशेष परिचय हम आगे करेंगे ।

राजनिष्ठा की तरह शुश्रूषा का गुण भी मुझ में स्वाभाविक था । यह कहा जा सकता हैं कि बीमारो की सेवा करने का मुझे शौक था, फिर वे अपने हो या पराये । राजकोट में मेरा दक्षिण अफ्रीका का काम चल रहा था, इसी बीच मैं बम्बई हो आया । खास-खास शहरो में सभाये करके विशेष रुप से लोकमत तैयार करने का मेरा इरादा था । इसी ख्याल से मैं वहाँ गया था । पहले मैं न्यायमूर्ति रानडे से मिला । उन्होने मेरी बात ध्यान से सुनी और मुझे सर फीरोजशाह मेहता से मिलने की सलाह दी । बाद में मैं जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजी से मिला । उन्होने मेरी बात सुनकर वही सलाह दी और कहा, 'जस्टिस रानडे और मैं आपका बहुत

कम मार्गदर्शन कर सकेगे । हमारी स्थिति तो आप जानते हैं । हम सार्वजनिक काम में हाथ नही बँटा सकते । पर हमारी भावना तो आपके साथ है ही । सच्चे मार्गदर्शक तो सर फीरोजशाह हैं ।'

सर फीरोजशाह से तो मुझे मिलना ही था । पर इन दो गुरुजनो के मुँह से उनकी सलाह सुनकर मुझे इस बात का विशेष बोध हुआ कि सर फीरोजशाह का जनता पर कितना प्रभुत्व था ।

मैं सर फीरोजशाह से मिला । उनके तेज से चकाचौंध हो जाने को तो मैं तैयार था ही । उनके लिए प्रयुक्त होने वाले विशेषणों को मैं सुन चुका था । मुझे 'बम्बई के शेर' और 'बम्बई के बेताज बादशाह' से मिलना था । पर बादशाह ने मुझे डराया नही । पिता जिस प्रेम से अपने नौजवान बेटे से मिलता हैं, ऊसी तरह वे मुझसे मिले । उनसे मुझे उनके 'चेम्बर' में मिलना था । उनके पास उनके अनुयायियों का दरबार तो भरा ही रहता था । वाच्छा थे, कामा थे । इनसे उन्होने मेरी पहचान करायी । वाच्छा का नाम मैं सुन चुका था । वे सर फीरोजशाह के दाहिने हाथ माने जाते थे । वीरचन्द गांधी में अंकशास्त्री के रुप में मुझे उनका परिचय दिया था । उन्होने कहा, 'गांधी, हम फिर मिलेंगे ।'

इस सारी बातचीत में मुश्किल से दो मिनट लगे होगे । सर फीरोजशाह ने मेरी बात सुन ली । न्यानमूर्ति रानडे और तैयबजी से मिल चुकने की बात भी मैंने उन्हे बतता दी । उन्होने कहा, 'गांधी, तुम्हारे लिए मुझे आम सभा करनी होगी । मुझे तुम्हारी मदद करनी चाहिए ।' फिर अपने मुंशी की ओर मुडे और उसे सभा का दिन निश्चित करने को कहा । दिन निश्चित करके मुझे बिदा किया । सभा से एक दिन पहले आकर मिलने की आज्ञा की । मैं निर्भय होकर मन ही मन खुश होता हुआ घर लौटा ।

बम्बई की इस यात्रा में मैं वहाँ रहने वाले अपने बहनोई से मिलने गया । वे बीमार थे । घर में गरीबी थी । अकेली बहन से उनकी सेवा-शूश्रूषा हो नहीं पाती थी । बीमारी गंभीर थी। मैंने उन्हें अपने साथ राजकोट चलने को कहा । वे राजी हो गया । बहन-बहनोई को लेकर मैं राजकोट पहुँचा । बीमारी अपेक्षा से अधिक गंभीर हो गयी । मैंने उन्हे अपने कमरे में रखा । मैं सारा दिन उनके पास ही रहता था । रात में भी जागना पड़ता था । उनकी सेवा करते हुए मैं

दक्षिण अफ्रीका का काम कर रहा था। बहनोई का स्वर्गवास हो गया। पर उनके अंतिम दिनो में उनकी सेवा करने का अवसर मुझे मिला, इससे मुझे बड़ा संतोष हुआ।

शुश्रूषा के मेंरे इस शौक ने आगे चलकर विशाल रुप धारण कर लिया। वह भी इस हद कि उसे करने में मैं अपना धंधा छोड देता था। अपनी धर्मपत्नी को और सारे परिवार को भी उसमें लगा देता था। इस वृति को मैंने शौक कहा हैं, क्योकि मैंने देखा हैं कि जब ये गुण आनन्ददायक हो जाते हैं तभी निभ सकते हैं। खींच-तानकर अथवा दिखावे के लिए या लोकलाज के कारण की जाने वाली सेवा आदमी को कुचल देती हैं, औऱ ऐसी सेवा करते हुए भी आदमी मुरझा जाता हैं। जिस सेवा आनन्द नही मिलता, वह न सेवक को फलती हैं, न सेव्य को रुचिकर लगती हैं। जिस सेवा में आनन्द मिलता है, उस सेवा के सम्मुख ऐश-आराम या धनोपार्जन इत्यादि कार्य तुच्छ प्रतीत होते है।

२७. बम्बई में सभा

बहनोई के देहान्त के दूसरे ही दिन मुझे बम्बई की सभा के लिए जाना था। सार्वजनिक सभा के लिए भाषण की बात सोचने जितना समय मुझे मिला नही था । लम्बे जागरण की थकावट मालूम हो रही थी । आवाज भारी हो गयी थी । ईश्वर जैसे-तैसे मुझे निबाह लेगा, यह सोचता हुआ मैं बम्बई पहुँचा। भाषण लिखने की बात तो मैंने सपने में भी नही सोची थी। सभा की तारीख से एक दिन पहले शाम को पाँच बजे आज्ञानुसार मैं सर फिरोजशाह के दफ्तर में हाजिर हुआ।

उन्होने पूछा, 'गांधी, तुम्हारा भाषण तैयार हैं।'

मैंने डरते-डरते उत्तर दिया, 'जी नही, मैंने तो जबानी ही बोलने की बात सोच रखी हैं।'

'बम्बई में यह नही चलेगा । यहाँ की रिपोर्टिंग खराब हैं । यदि सभा से हमें कुछ फायदा उठाना हो, तो तुम्हारा भाषण लिखा हुआ ही होना चाहिए, और वह रातोरात छप जाना चाहिए। भाषण रात ही में लिख सकोगे न ?'

मैं घबराया। पर मैंने लिखने का प्रयत्न करने की हामी भरी।

बम्बई के सिंह बोले,'तो मुंशी तुम्हारे पास भाषण लेने कब पहुँचे ?'

मैंने उत्तर दिया, 'ग्यारह बजे।'

सर फिरोजशाह में अपने मुंशी को उस वक्त भाषण प्राप्त करके रातोरात छपा लेने का हुक्म दिया और मुझे बिदा किया।

दूसरे दिन मैं सभा में गया। वहाँ मैं यह अनुभव कर सका कि भाषण लिखने का आग्रह करने में कितनी बुद्धिमानी थी। फरामजी कावसजी इंस्टिट्यूट के हॉल में सभा थी। मैंने सुन रखा था कि जिस सभा में सर फिरोजशाह बोलने वाले हो, उस सभा में खडे रहने की जगह नहीं मिलती। ऐसी सभाओ में विद्यार्थी-समाज खास रस लेता था।

ऐसी सभा का मेरा यह पहला अनुभव था । मुझे विश्वास हो गया कि मेरी आवाज कोई सुन न सकेगा । मैंने काँपते-काँपते भाषण पढना शुरु किया । सर फिरोजशाह मुझे प्रोत्साहित करते जाते थे । 'जरा औऱ ऊँची आवाज से' यों कहते जाते थे । मुझे कुछ ऐसा ख्याल हैं कि इस प्रोत्साहन से मेरी आवाज और धीमी पड़ती जाती थी ।

पुराने मित्र केशवराव देशपांडे मेरी मदद को बढे । मैंने भाषण उनके हाथ में दिया । उनकी आवाज तो अच्छी थी, पर श्रोतागण क्यो सुनने लगे ? 'वाच्छा, वाच्छा' की पुकार से हॉल गूँज उठा । वाच्छा उठे । उन्होने देशपांडे के हाथ से कागज ले लिया और मेरा काम बन गया । सभा ने तुरन्त शांति छा गयी और अथ से इति तक सभा ने भाषण सुना । प्रथा के अनुसार जहाँ जरुरी था वहाँ 'शेम-शेम' (धिक्कार- धिक्कार) की तालियो की आवाज भी होती रही । मुझे खुशी हुई ।

सर फिरोजशाह को मेरा भाषण अच्छा लगा । मुझे गंगा नहाने का सा संतोष हुआ ।

इस सभा के परिणाम स्वरुप देशपांडे और एक पारसी सज्जन पिघले और दोनो ने मेंरे साथ दक्षिण अफ्रीका जाने का अपना निश्चय प्रकट किया । पारसी सज्जन आज एक सरकारी पदाधिकारी हैं, इसलिए उनका नाम प्रकट करते हुए मैं डरता हूँ । उनके निश्चिय को सर शुरशेद जी ने डिगा दिया, उस डिगने के मूल में एक पारसी बहन थी । उनके सामने प्रश्न था, ब्याह करे या दक्षिण अफ्रीका जाये ? उन्होने ब्याह करना उचित समझा । पर इन पारसी मित्र की ओर से पारसी रुस्तम जी ने प्रायश्चित किया और पारसी बहन की तरफ का प्रायश्चित दूसरी पारसी बहने सेविका का काम करके और खादी के पीछे वैराग्य लेकर आज कर रही हैं । इसलिए इस दम्पती को मैंने क्षमा कर दिया । देशपांडे के सामने ब्याह का प्रलोभन तो न था, परन्तु वे नही आ सके । उसका प्रायश्चित तो वे खुद ही कर रहे हैं । वापस दक्षिण अफ्रीका जाते समय जंजीबार में तैयबजी नाम के एक सज्जन मिले थे । उन्होने भी आने की आशा बँधायी थी । पर वे दक्षिण अफ्रीका क्यो आने लगे ? उनके न आने के अपराध का बदला अब्बास तैयबजी चुका रहे हैं । पर बारिस्टर मित्रो को दक्षिण अफ्रीका आने के लिए ललचाने के मेंरे प्रयत्न इस प्रकार निष्फल हुए ।

यहाँ मुझे पेस्तनजी पादशाह की याद आ रही हैं। उनके साथ विलायत से ही मेरा मीठा सम्बन्ध हो गया था। पेस्तनजी से मेरा परिचय लंदन के एक अन्नाहारी भोजनालय में हुआ था। मैं जानता था कि उनके भाई बरजोरजी 'दीवाने' के नाम से प्रख्यात थे। मैं उनसे मिला नही था, पर मित्र-मंडली का कहना था कि वे 'सनकी ' है। घोडे पर दया करके वे ट्राम में न बैठते थे। शतावधानी के समान स्मरण शक्ति होते हुए भी डिग्रियाँ न लेते थे। स्वभाव के इतने स्वतंत्र कि किसी से भी दबते न थे। और पारसी होते हुए भी अन्नाहारी थे ! पेस्तनजी ठीक वैसे नही माने जाते थे। पर उनकी होशियारी प्रसिद्ध थी। उनकी यह ख्याति विलायत में भी थी। किन्तु हमारे बीच के सम्बन्ध का मूल तो उनका अन्नाहार था। उनकी बुद्धिमत्ता की बराबरी करना मेरी शक्ति के बाहर था।

बम्बई में मैंने पेस्तनजी को खोज निकाला। वे हाईकोर्ट प्रोथोनोटरी (मुख्य लेखक) थे। मैं जब मिला तब वे बृहद गुजराती शब्दकोश के काम ने लगे हुए थे। दक्षिण अफ्रीका के काम में मदद माँगने की दृष्टि से मैंने एक भी मित्र को छोड़ा नही था। पेस्तनजी पादशाह तो मुझे भी दक्षिण अफ्रीका न जाने की सलाह दी। बोले, 'मुझ से आपकी मदद क्या होगी? पर मुझे आपका दक्षिण अफ्रीका लौटना ही पसन्द नही हैं। यहाँ अपने देश में ही कौन कम काम हैं ? देखिये, अपनी भाषा की ही सेवा का कितना बड़ा काम पड़ा हैं ? मुझे विज्ञान-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दो के पर्याय ढूँढने हैं। यह तो एक ही क्षेत्र है। देश की गरीबी का विचार कीजिये। दक्षिण अफ्रीका में हमारे भाई कष्ट में अवश्य हैं, पर उसमें आपके जैसे आदमी का खप जाना मैं सहन नही कर सकता। यदि हम यहाँ अपने हाथ में राजसत्ता ले ले, तो वहाँ उनकी मदद अपने आप हो जायगी। आपको तो मैं समझा नही सकता, पर आपके जैसे दूसरे सेवको को आपके साथ कराने में मैं भी मदद नही करूँगा।' ये वचन मुझे अच्छे न लगे। पर पेस्तनजी पादशाह के प्रति मेरा आदर बढ गया। उनका देशप्रेम और भाषाप्रेम देखकर मैं मुग्ध हो गया। इस प्रसंग से हमारे बीच की प्रेमगाँठ अधिक पक्की हो गयी। मैं उनके दृष्टिकोण को अच्छी तरह समझ गया। पर मुझे लगा कि दक्षिण अफ्रीका का काम छोडने के बदले उनकी दृष्टि भी मुझे उसमें अधिक जोर से लगे रहना चाहिए। देशभक्त को देशसेवा के एक भी अंग की यथासम्भव उपेक्षा नही करनी चाहिए, और मेरे लिए तो गीता के यह श्लोक तैयार ही था :

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ गीता अ.3 श्लोक 35 ॥

ऊँचे परधर्म से नीचा स्वधर्म अच्छा हैं । स्वधर्म में मौत भी अच्छी हैं, परधर्म भयावह हैं ।

२८. पूना में

सर फिरोजशाह मेहता में मेरा मार्ग सरल कर दिया । बम्बई से मैं पूना गया । मुझे मालूम था कि पूना में दो दल थे । मुझे तो सबकी मदद की जरुरत थी । मैं लोकमान्य तिलक से मिला । उन्होने कहा, 'सब पक्षो की मदद लेने का आपका विचार ठीक हैं । आपके मामले में कोई मतभेद नही हो सकता । लेकिन आपके लिए तटस्छ सभापति चाहिए । आप प्रो. भांडारकर से मिलिये । वे आज कल किसी आन्दोलन में सम्मिलित नही होते । पर सम्भव है कि इस काम के लिए आगे आ जाये । उनसे मिलने के बाद मुझे परिणाम से सूचित कीजिये । मैं आपकी पूरी मदद करना चाहता हूँ । आप प्रो. गोखले से तो मिलेंगे ही । मेरे पास आप जब आना चाहे, निःसंकोच आइये ।'

लोकमान्य का यह मेरा प्रथम दर्शन था । मैं उनकी लोकप्रियता का कारण तुरन्त समझ गया।

यहाँ से मैं गोखले के पास गया । वे फर्ग्यूसन कॉलेज में थे । मुझ से बड़े प्रेम से मिले और मुझे अपना बना लिया । उनसे भी मेरा यह पहला ही परिचय था । पर ऐसा जान पड़ा, मानो हम पहले मिल चुके हो । सर फीरोजशाह मुझे हिमालय जैसे, लोकमान्य समुद्र जैसे और गोखले गंगा जैसे लगे । गंगा में मैं नहा सकता था । हिमालय पर चढा नही जा सकता था । समुद्र में डूबने का डर था । गंगा की गोद में तो खेला जा सकता था । उसमें डोगियां लेकर सैर की जा सकती थी । गोखले में बारीकी से मेरी जाँच की उसी तरह, जिस तरह स्कूल में भरती होते समय किसी विद्यार्थी की की जाती हैं । उन्होने मुझे बताया कि मैं किस-किस से और कैसे मिलूँ और मेरा भाषण देखने को माँगा । मुझे कॉलेज की व्यवस्था दिखायी । जब जरुरत हो तब मिलने को कहा । डॉ. भांडारकर के जवाब की खबर देने को कहा और मुझे बिदा किया । राजनीति के क्षेत्र में जो स्थान गोखले में जीते-जी मेरे हृदय में प्राप्त किया और स्वर्गवास के बाद आज भी जो स्थान उन्हे प्राप्त हैं, वह और कोई पा नही सका ।

रामकृष्ण भांडारकार ने मेरा वैसा ही स्वागत किया, जैसा कोई बाप बेटे का करता हैं। उनके यहाँ गया तब दुपहरी का समय था। ऐसे समय में भी मैं अपना काम कर रहा था, यह चीज ही इस उद्यम शास्त्री को प्यारी लगी। और तटस्थ सभापति के लिए मेरे आग्रह की बात सुनकर 'देट्स इट देट्स इट' (यह ठीक हैं, यह ठीक हैं) के उद्गार उनके मुँह से सहज ही निकल पड़े।

बातचीत के अन्त में वे बोले, 'तुम किसी से भी पूछोगे तो वह बतलायेगा कि आजकल मैं किसी राजनीतिक काम में हिस्सा नही लेता हूँ, पर तुम्हे मैं खाली हाथ नही लौटा सकता। तुम्हारा मामला इतना मजबूत हैं और तुम्हारा उद्यम इतना स्तुत्य हैं कि मैं तुम्हारी सभा में आने से इनकार कर ही नही सकता। यह अच्छा हुआ कि तुम श्री तिलक और श्री गोखले से मिल लिये। उनसे कहो कि मैं दोनो पक्षो द्वारा बुलायी गयी सभा में खुशी से आऊँगा और सभापति-पद स्वीकार करुँगा। समय के बारे में मुझ से पूछने की जरुरत नही हैं। दोनो पक्षो को जो समय अनुकूल होगा, उसके अनुकूल मैं हो जाऊँगा।' यों कहकर उन्होने धन्यवाद और आशीर्वाद के साथ मुझे बिदा किया।

बिना किसी हो-हल्ले और आडम्बर के एक सादे मकान में पूना की इस विद्वान और त्यागी मंडली ने सभा और मुझे सम्पूर्ण प्रोत्साहन के साथ बिदा किया।

वहाँ से मैं मद्रास गया। मद्रास तो पागल हो उठा। बालासुन्दरम के किस्से का सभा पर गहरा असर पड़ा। मेरे लिए मेरा भाषण अपेक्षाकृत लम्बा था। पूरा छपा हुआ था। पर सभा ने उसका एक एक शब्द ध्यानपूर्वक सुना। सभा के अन्त में उस 'हरी पुस्तिका' पर लोग टूट पड़े। मद्रास में संशोधन और परिवर्धन के साथ उसकी दूसरी आवृति दस हजार की छपायी थी। उसका अधिकांश निकल गया। पर मैंने देखा कि दस हजार की जरुरत नही थी। मैंने लोगो के उत्साह का अन्दाज कुछ अधिक ही कर लिया था। मेरे भाषण का प्रभाव तो अंग्रेजी जानने वाले समाज पर ही पडा था। उस समाज के लिए अकेले मद्रास शहर में दस हजार प्रतियों कि आवश्यकता नही हो सकती थी।

यहाँ मुझे बड़ी से बड़ी मदद स्व. जी. परमेंश्वरन पिल्लै से मिली। वे 'मद्रास स्टैंडर्ड' के सम्पादक थे। उन्होने इस प्रश्न का अच्छा अध्ययन कर लिया था। वे मुझे अपने दफ्तर में

समय-समय पर बुलाते थे और मेरा मार्गदर्शन करते थे। 'हिन्दू' के जी. सुब्रह्मण्यम से भी मैं मिला था। उन्होने और डॉ. सुब्रह्मण्यम ने भी पूरी सहानुभूति दिखायी थी। पर जी. परमेश्वरन पिल्लै ने तो मुझे अपने समाचार पत्र का इस काम के लिए मनचाहा उपयोग करने दिया और मैंने निःसंकोच उसका उपयोग किया भी। सभा पाच्याप्पा हॉल में हुई थी और मेरा ख्याल हैं कि डॉ. सुब्रह्मण्यम उसके सभापति बने थे। मद्रास में सबके साथ विशेषकर अंग्रेजी में ही बोलना पड़ता था, फिर भी मैं बहुतो से इतना प्रेम और उत्साह पाया कि मुझे घर जैसा ही लगा। प्रेम किन बन्धनों के नही तोड़ सकता ?

२९. जल्दी लौटिये

मद्रास से मैं कलकत्ते गया। कलकत्ते में मेरी कठिनाइयों का पार न रहा। वहाँ मैं 'ग्रेट ईस्टर्न' होटल में ठहरा। किसी से जान-पहचान नही थी। होटल में 'डेली टेलिग्राफ' के प्रतिनिधि मि. एलर थॉर्प से पहचान हुई। वे बंगाल क्लब में रहते थे। उन्होने मुझे वहाँ आने के लिए न्योता। इस समय उन्हे पता नहीं था कि होटल के दीवानखाने में किसी हिन्दुस्तानी को नही ले जाया जा सकता। बाद में उन्हें इस प्रतिबन्ध का पता चला। इससे वे मुझे अपने कमरे में ले गये। हिन्दुस्तानियों के प्रति स्थानीय अंग्रेजो का तिरस्कार देखकर उन्हे खेद हुआ। मुझे दीवानखाने में न जाने के लिए उन्होने क्षमा माँगी।

'बंगाल के देव' सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी से तो मुझे मिलना ही था। उनसे मिला। जब मैं मिला, उनके आसपास दूसरे मिलने वाले भी बैठे थे। उन्होने कहा, 'मुझे डर हैं कि लोग आपके काम में रस नहीं लेंगे। आप देखते हैं कि यहाँ देश में ही कुछ कम विडम्बनायें नही हैं। फिर भी आपसे जो हो सके अवश्य कीजिये। इस काम में आपको महाराजाओ की मदद की जरुरत होगी। आप ब्रिटिश इंडिया एसोसियेशन के प्रतिनिधियों से मिलिये, राजा सर प्यारीमोहन मुकर्जी और महाराजा टागोर से भी मिलियेगा। दोनो उदार वृति के हैं और सार्वजनिक काम में काफी हिस्सा लेते हैं।'

मैं इन सज्जनों से मिला। पर वहाँ मेरी दाल न गली। दोनो ने कहा, 'कलकत्ते में सार्वजनिक सभा करना आसान काम नही हैं। पर करनी ही हो तो उसका बहुत कुछ आधार सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी पर होगा।'

मेरी कठिनाइयाँ बढती जा रही थी। मैं 'अमृतबाजार पत्रिका' के कार्यालय में गया। वहाँ भी जो सज्जन मिले उन्होने मान लिया कि मैं कोई रमताराम हूँगा। 'बंगवासी' ने तो हद कर दी। मुझे एक घंटे तक बैठाये ही रखा। सम्पादक महोदय दूसरो के साथ बातचीत करते जाते थे। लोग आते-जाते रहते थे, पर सम्पादकजी ने मेरी तरफ देखते भी न थे। एक घंटे तक राह देखने के बाद जब मैंने अपनी बात छेड़ी, तो उन्होने कहा, 'आप देखते नही हैं, हमारे पास कितना काम पड़ा हैं? आप जैसे तो कई हमारे पास आते रहते है। आप वापस जाये यहीं अच्छा है। हमें आपकी बात नही सुननी हैं। '

मुझे क्षण भर दुःख तो हुआ, पर मैं सम्पादक का दृष्टिकोण समझ गया। 'बंगवासी' की ख्याति मैंने सुन रखी थी। सम्पादक के पास लोग आते-जाते रहते थे, यह भी मैं देख सका था। वे सब उनके परिचित थे। अखबार हमेंशा भरापूरा रहता था। उस समय दक्षिण अफ्रीका काम नाम भी कोई मुश्किल से जानता था। नित नये आदमी अपने दुखड़े लेकर आते ही रहते थे। उनके लिए तो अपना दुःख बड़ी-से-बडी समस्या होती, पर सम्पादक के पास ऐसे दुःखियों की भीड़ लगी रहती थी। वह बेचारा सबके लिए क्या कर सकता था ? पर दुखिया की दृष्टि में सम्पादक की सत्ता बडी चीज होती हैं, हालाँकि सम्पादक स्वयं तो जानता हैं कि उसकी सत्ता उसके दफ्तर की दहलीज भी नही लाँध पाती।

मैं हारा नहीं। दूसरे सम्पादको से मिलता रहा। अपने रिवाजो के अनुसार मैं अंग्रेजो से भी मिला। 'स्टेट्समैंन' और 'इंग्लिशमैंन' दोनो दक्षिण अफ्रीका के सवाल का महत्व समझते थे। उन्होने लम्बी मुलाकाते छापी। 'इंग्लिशमैंन' के मि. सॉडर्स ने मुझे अपनाया। मुझे अखबार का उपयोग करने की पूरी अनुकूलता प्राप्त हो गयी। उन्होने अपने अग्रलेख में काटछाँट करने की भी छूट मुझे दे दी। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि हमारे बीच स्नेह का सम्बन्ध हो गया। उन्होने मुझे वचन दिया कि जो मदद उनसे हो सकेगी, वे करते रहेंगे। मेरे दक्षिण अफ्रीका लौट जाने पर भी उन्होने मुझ से पत्र लिखते रहने को कहा और वचन दिया

कि स्वयं उनसे जो कुछ हो सकेगा, वे करेगे। मैंने देखा कि इस वचन का उन्होने अक्षरशः पालन किया, औऱ जब तक वे बहुत बीमार हो गये, मुझसे पत्र व्यवहार करते रहे। मेंरे जीवन में ऐसे अनसोचे मीठे सम्बन्ध अनेक जुड़े हैं। मि. सॉडर्स को मेरी जो बात अच्छी लगी, वह थी अतिशयोक्ति का अभाव और सत्य-परायणता। उन्होने मुझ से जिरह करने में कोई कसर नहीं रखी थी। उसमें उन्होने अनुभव किया कि दक्षिण अफ्रीका के गोरो के पक्ष को निष्पक्ष भाव से रखने में औऱ भारतीय पक्ष से उसकी तुलना करने में मैंने कोई कमी नहीं रखी थी।

मेरा अनुभव मुझे बतलाता हैं कि प्रतिपक्षी को न्याय देकर हम जल्दी न्याय पा जाते हैं। इस प्रकार मुझे अनसोची मदद मिल जाने से कलकत्ते में भी सार्वजनिक सभा होने की आशा बंधी। इतने में डरबन से तार मिला, 'पार्लियामेंट जनवरी में बैठेगी, जल्दी लौटिये।'

इससे अखबारो में एक पत्र लिखकर मैंने तुरन्त लौट जाने की जरुरत जती दी औऱ कलकत्ता छोड़ा। दादा अब्दुल्ला के बम्बई एजेंट को तार दिया कि पहले स्टीमर से मेंरे जाने की व्यवस्था करे। दादा अब्दुल्ला ने स्वयं 'कुरलैंड' नामक स्टीमर खरीद लिया था। उन्होने उसमें मुझे और मेंरे परिवार को मुफ्त ले जाने का आग्रह किया। मैंने उसे धन्यवाद सहित स्वीकार कर लिया, और दिसम्बर के आरंभ में मैं 'कुरलैंड' स्टीमर से अपनी धर्मपत्नी, दो लड़को और अपने स्व. बहनोई के एकमात्र लड़के को लेकर दूसरी बार दक्षिण अफ्रीका के लिए रवाना हुआ। इस स्टीमर के साथ ही दूसरा 'नादरी' स्टीमर भी डरबन के लिए रवाना हुआ। दादा अब्दुल्ला उसके एजेंट थे। दोनो स्टीमरो में कुल मिलाकर करीब 800 हिन्दुस्तानी यात्री रहे होगे। उनमें से आधे से अधिक लोग ट्रान्सवाल जाने वाले थे।

तीसरा भाग

१. तूफान की आगही

कुटुम्ब के साथ यह मेरी पहली समुद्री यात्रा थी। मैंने कितनी बार ही लिखा हैं कि हिन्दू समाज में ब्याह बचपन में होने के कारण और मध्यम श्रेणी के लोगों में पति के प्रायः साक्षर होने और पत्नी के प्रायः निरक्षर होने के कारण पति-पत्ना के जीवन में अन्तर रहता हैं और पति को पत्नी का शिक्षक बनना पड़ता हैं। मुझे अपनी धर्मपत्नी और बालकों की वेश-भूषा की, खाने-पीने की और बोलचाल की संभाल रखनी होती थी। मुझे उन्हें रीति-रिवाज सिखाने होते थे। उन दिनों की कितनी बातों की याद मुझे आज भी हँसाती हैं। हिन्दू पत्नी पति-परायणता में अपने धर्म की पराकाष्ठा मानती हैं; हिन्दू पति अपने को पत्नी का ईश्वर मानता हैं। इसलिए पत्नी को पति जैसा नचाये वैसा नाचना होता हैं।

जिस समय की बात लिख रहा हूँ, उस समय मैं मानता था कि सभ्य माने जाने के लिए हमारा बाहरी आचार-व्यवहार यथासम्भव यूरोपियनों से मिलता जुलता होना चाहिए। ऐसा करने से ही लोगों पर प्रभाव पड़ता हैं और बिना प्रभाव पड़े देशसेवा नहीं हो सकती। इस कारण पत्नी की और बच्चों की वेश-भूषा मैंने ही पसन्द की। स्त्री-बच्चों का परिचय काठियावाड़ी बनियों के बच्चों के रूप में कराना मुझे कैसे अच्छा लगता? भारतीयों में पारसी अधिक से अधिक सुधरे हुए माने जाते थे। अतएव जहाँ यूरोपियन पोशाक का अनुकरण करना अनुचित प्रतीत हुआ, वहाँ पारसी पोशाक अपनायी। पत्नी के लिए साड़ियाँ पारसी बहनों के ढंग की खरीदी। बच्चो के लिए पारसी कोट-पतलून खरीदे। सबके लिए बूट और मोजे तो जरूर थे ही। पत्नी और बच्चों को दोनों चीजें कई महीने तक पसंद नहीं पड़ी। जूते काटते। मोजे बदबू करते। पैर सूज जाते। लेकिन इस सारी अड़चनों के जवाब मेरे पास तैयार थे। उत्तर की योग्यता की अपेक्षा आज्ञा का बल अधिक था ही। इसलिए पत्नी और बालकों मे पोशाक के फेरबदल को लाचारी से स्वीकार कि लिया। उतनी ही लाचारी और उससे भी अधिक अरुचि से खाने में उन्होंने छुरी-काँटे का उपयोग

शुरू किया। बाद में जब मोह दूर हुआ तो फिर से बूट-मोजे, छुरी-काँटे इत्यादि का त्याग किया । शुरू में जिस तरह से ये परिवर्तन दुःखदायक थे, उसी तरह आदत पड़ने के बाद उनका त्याग भी कष्टप्रद था । पर आज मैं देखता हूँ कि हम सब सुधारों की कैंचुल उतारकर हलके हो गये हैं ।

इसी स्टीमर में दूसरे कुछ रिश्तेदार और जान-पहजान वाले भी थे । मैं उनसे और डेक के दूसरे यात्रियों से भी खूब मिलता-जुलता रहता था । क्योंकि स्टीमर मेरे मुवक्किल और मित्र का था, इसलिए घर का सा लगता था । और मैं हर जगह आजादी से घूम-फिर सकता था ।

स्टीमर दूसरे बन्दरगाह पर ठहरे बिना सीधा नटाल पहुँचनेवाला था । इसके लिए केवल अठारह दिन की यात्रा था । हमारे पहुँचने में तीन-चार दिन बाकी थे कि इतने में समुद्र में भारी तूफान उठा मानो वह हमारे पहुँचते ही उठने वाले तूफान की हमें चेतावनी दे रहा हो ! इस दक्षिणी प्रदेश में दिसम्बर का महीना गरमी और वर्षा का महीना होता हैं, इसलिए दक्षिणी समुद्र में इन दिनों छोटे-मोटे तूफान तो उठते ही रहते हैं । लेकिन यह तूफान जोर का था और इतनी देर तक रहा कि यात्री घबरा उठे ।

यह दृश्य भव्य था । दुःख में सब एक हो गये । सारे भेद-भाव मिट गये । ईश्वर को हृदय पूर्वक याद करने लगे । हिन्दू-मुसलमान सब साथ मिलकर भगवान का स्मरण करने लगे । कुछ लोगों ने मनौतियाँ मानी । कप्तान भी यात्रियों से मिला-जुला और सबको आश्वासन देते हुए बोला, "यद्यपि यह तूफान बहुत जोर का माना जा सकता हैं, तो भी इससे कहीं ज्यादा जोर के तूफानों का मैंने स्वयं अनुभव किया हैं । स्टीमर मजबूत हो तो वह अचानक डूबता नहीं। " इस प्रकार उसने यात्रियों को बहुत-कुछ समझाया, पर इससे उन्हें तसल्ली न हूई । स्टीमर में से आवाजें ऐसी होती थी, मानो अभी कहीं से टूट जायेगा, अभी कहीं छेद हो जाय़ेगा । जब वह हचकोले खाता तो ऐसा लगता मानो अभी उलट जायेगा । डेक पर तो कोई रह ही कैसे सकता था ? सबके मुँह से एक ही बात सुनायी पड़ती थी : 'भगवान जैसा रखे वैसा रहना होगा ।'

जहाँ तक मुझे याद हैं, इस चिन्ता में चौबीस घंटे बीते होंगे । आखिर बादल बिखरे । सूर्यनारायण ने दर्शन दिये । कप्तान ने कहा, "तूफान चला गया हैं।"

लोगों के चहेरों पर से चिन्ता दूर हुई और उसी के साथ ईश्वर भी लुप्त हो गया ! लोग मौत का डर भूल गये और तत्काल ही गाना-बजाना तथा खाना-पीना शुरू हो गया । माया का आवरण फिर छा गाय । लोग नमाज पढ़ते और भजन भी गाते, पर तूफान के समय उनमें जो गंभीरता दीख पड़ी वह चली गयी थी !

पर इस तूफान में मुझे यात्रियों के साथ ओतप्रोत कर दिया था । कहा जा सकता हैं कि मुझे तूफान का डर न था अथवा कम से कम था । लभगभ ऐसे ही तूफान का अनुभव मैं पहले कर चुका था । मुझे न समुद्र लगता था, न चक्कर आते थे । इसलिए मैं निर्भय हो कर घूम रहा था, उन्हें हिम्मत बँधा रहा था और कप्तान की भविष्यवाणियाँ उन्हें सुनाता रहता था । यह स्नेहगाँठ मेरे लिए बहुत उपयोगी सिद्द हुई ।

हमने अठारह या उन्नीस दिसम्बर को डरबन में लंगर डाला । 'नादरी' भी उसी दिन पहुँचा । पर वास्तविक तूफान का अनुभव तो अभी होना बाकी था ।

२. तूफान

अठारह दिसम्बर के आसपास दोनों स्टीमरों ने लंगर डाले। दक्षिण अफ्रीका के बन्दरगाहों में यात्रियों के स्वास्थ्य की पूरी जाँच की जाती हैं। यदि किसी को छूत वाली बीमारी हुई हो तो स्टीमर को सूतक क्वारनटीन में रखा जाता हैं। हमारे बम्बई छोड़ते समय वहाँ प्लेग की शिकायत की थी, इसलिए हमें इस बात का डर जरूर था कि सूतक की कुछ बाधा होगी। बन्दर में लंगर डालने के बाद स्टीमर को सबसे पहले पीला झण्डा फहराना होता हैं। डाक्टरी जाँच के बाद डाक्टर के मुक्ति देने पर पीला झण्डा उतरता हैं और फिर यात्रियों के रिश्तेदारो आदि को स्टीमर पर आने की इजाजत मिलती हैं।

तदनुसार हमारे स्टीमर पर भी पीला झण्डा फरहा रहा था। डाक्टर आये। जाँच करके उन्होंने पाँच दिन का सूतक घोषित किया, क्योंकि उनकी धारण थी कि प्लेग के कीटाँणु तेईस दिन तक जिन्दा रह सकते हैं। इसलिए उन्होंने ऐसा आदेश दिया कि बम्बई छोड़ने को बाद तेईस दिन की अवधि पूरी होने तक स्टीमरों को सतूक में रखा जाये।

पर इस सूतक की आज्ञा हेतु केवल स्वास्थ्य रक्षा न था। डरबन के गोरे नागरिक हमें उलटे पैरों लौटा देने का जो आन्दोलन कर रहे थे, वह भी इस आज्ञा के मूल में एक कारण था।

दादा अब्दुल्ला की तरफ सा हमें शहर में चल रहे इस आन्दोलन की खबरे मिलती रहती थी। गोरे लोग एक के बाद दूसरी विराट सभाये कर रहे थे। दादा अब्दुल्ला के नाम धमकियाँ भेजते थे, उन्हें लालच भी देते थे। अगर दादा अब्दुल्ला दोनों स्टीमरों को वापस ले जाये तो गोरे नुकसान की भरपाई करने को तैयार थे।

इस प्रकार डरबन में द्वन्द्व युद्ध छिड़ गया। एक ओर मुट्ठीभर गरीब हिन्दुस्तानी और उनके इने-गिने अंग्रेज मित्र थे ; दूसरी ओर धनबल, बाहुबल, विद्यालय और संख्याबल में भरेपूरे अंग्रेज थे। इन बलवान प्रतिपक्षियों को राज्य का बल भी प्राप्त हो गया था, क्योंकि नेटाल की सरकार ने खुल्लम-खुल्ला उनकी मदद की थी। मि. गेरी एस्कम्बने जो मंत्रिमंडल में थे और उसके कर्ताधर्ता थे। इन गोरों की सभा में प्रकट रुप से हिस्सा लिया।

मतलब यह कि हमारी सूतक केवल स्वास्थ्य रक्षा के नियमों के ही कारण न था। उसका हेतु किसी भी तरह एजेंट को या यात्रियों को दबा कर हमें वापस भेजना था। एजेंट को तो धमकी मिल ही रही थी। अब हमारे नाम भी आने लगीं : 'अगर तुम वापस न गये तो तुम्हें समुन्द्र में डुबो दिया जायगा। लौट जाओ तो लौटने का भाड़ा भी शायद मिल जाये। ' मैं यात्रियों के बीच खुब घुमा फिरा | अब्दुल्ला दोनों स्टीमरों को वापस ले जाये तो गोरे नुकसान की भरपाई करने को तैयार थे। दादा अब्दुल्ला किसी की धमकी से डरने वाले न थे। इस समय वहाँ सेठ अब्दुल करीम हाजी आदम दुकान पर थे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि कितना ही नुकसान क्यों न उठाना पड़े, वे स्टीमरो को बन्दर पर लायेंगे और यात्रियों को उतारेंगे। मेरे नाम उनके विस्तृत पत्र बारबर आते रहते थे। सौभाग्य से इस समय स्व. मनसुखलाल हीरालाल नाजर मुझे से मिलने के लिए डरबन आ पहुँचे। वे होशियार और बहादुर आदमी थे। उन्होंने हिन्दुस्तानी कौम को नेक सलाह दी। मि. लाटन वकील थे। उन्होंने गोरों की करतूतों की निन्दा की और इस अवसर पर कौम को जो सलाह दी, वह सिर्फ वकील होने के नाते पैसे लेकर नही, बल्कि एक सच्चे मित्र के नाते दी। घुमा-फिरा। उन्हें धीरज बँधाया। नादरी के यात्रियों को भी धीरज से काम लेने के संदेश भेजे। यात्री शान्त रहे ओर उन्होंने हिम्मत का परिचय दिया।

यात्रियों के मनोरंजन के लिए स्टीमरों पर खेलों का प्रबंध किया गया था। बड़े दिन का त्यौहार आया। कप्तान ने उस दिन पहले दर्जे के यात्रियों को पश्चिमी सभ्यता पर भाषण किया। मैं जानता था कि यह अवसर गम्भीर भाषण का नहीं होता, पर मैं दूसरा कोई भाषण दे ही नहीं सकता था। मैं आनन्द में सम्मिलित हुआ, पर मेरा दिल तो डरबन में चल रही लड़ाई में ही लगा हुआ था, क्योंकि इस हमले में मध्य बिन्दु मैं था। मुझ पर दो आरोप थे :

1. मैंने हिन्दुस्तान में नेटालवासी गोरों की अनुचित निन्दा की थी।

2. मैं नेटाल को हिन्दुस्तानियों से भर देना चाहता था और इसलिए खासकर नेटाल में बसाने के लिए हिन्दुस्तानियों को 'कुरलैण्ड' और 'नादरी' में भर कर लाया था।

मुझे अपनी जिम्मेदारी का ख्याल था। मेरे कारण दादा अबदुल्ला भारी नुकसान में पड़ गये थे। यात्रियों के प्राण संकट में था। और अपने परिवार को साथ लाकर मैंने उसे भी दुःख में डाल दिया था।

पर मैं स्वयं बिल्कुल निर्दोष था। मैंने किसी को नेटाल आने के लिए ललचाया नहीं था। 'नादरी' के यात्रियों को मैं पहचानता भी न था। 'कुरलैण्ड' में अपने दो-तीन रिश्तेदारो को छोड़कर बाकी के सैकड़ों यात्रियों के नाम-धाम तक मैं जानता न था। मैंने हिन्दुस्तान में नेटाल के अंग्रेजो के विषय में ऐसा एक भी शब्द नहीं कहा, जो नेटाल में कह चुका था। और जो कुछ मैंने कहा था, उसके लिए मेरे पास काफी प्रमाण थे।

अतएव नेटाल के अंग्रेज जिस सभ्यता की उपज थे, जिसके प्रतिनिधि और हिमायती थे, उस सभ्यता के प्रति मेरे मन में खेद उत्पन्न हुआ। मैं उसी का विचार करता रहता था, इसलिए इस छोटी-सभा के सामने मैंने अपने वे ही विचार रखे और श्रोता वर्ग ने उन्हें सहन कर लिया। जिस भाव से मैंने उन्हे रखा, कप्तान आदि ने उसी भाव में उन्हें ग्रहण किया। उन विचारों से उनके जीवन में कोई फेरफार हुआ या नहीं सो मैं नहीं जानता। पर कप्तान और दूसरे अधिकारियो के साथ पश्चिमी सभ्यता के विषय में मेरी खूब बाते हुई। मैंने पश्चिमी सभ्यता को प्रधानतया हिंसक बतलाया और पूर्व की सभ्यता को अहिंसक। प्रश्नकर्ताओं ने मेरे सिद्धान्त मुझी पर लागू किये। बहुत करके कप्तान ने ही पूछा: 'गोरे जैसी धमकी दे रहे हैं उसी के अनुसार वे आपको चोट पहुँचाये तो आप अहिंसा के अपने सिद्धान्त पर किस तरह अमल करेंगे।'

मैंने जवाब दिया : 'मुझे आशा हैं कि उन्हें माफ कर देने की और मुकदमा न चलाने की हिम्मत और बुद्धि ईश्वर मुझे देगा। आज भी मुझे उनपर रोष नहीं हैं। उनके अज्ञान, उनकी संकुचित दृष्टि के लिए मुझे खेद होता हैं। मैं समझता हूँ कि वे जो कह रहे हैं और कर रहे हैं वह उचित हैं, ऐसा वे शुद्ध भाव से मानते हैं। अतएव मेरे लिए रोष का कोई कारण नहीं हैं।' पूछनेवाला हँसा। शायद मेरी बात पर उसे विश्वास नहीं हुआ।

इस प्रकार हमारे दिन बीतते गये और लम्बे होते गये। सूतक समाप्त करने की अवधि अन्त तक निश्चित नहीं हुई। इस विभाग के अधिकारी से पूछने पर वह करता, 'यह मेरी शक्ति से बाहर हैं। सरकार आदेश दे तो मैं आप लोगों को उतरने की इजाजत दे दूँ।'

अन्त में यात्रियों को और मुझे अल्टिमेटम मिले। दोनों को धमकी दी गयी कि तुम्हारी जान खतरे में हैं। दोनों ने नेटाल के बन्दर पर उतरने के अपने अधिकार के विषय में लिखा और अपना निश्चिय घोषित किया कि कैसा भी संकट क्यों न हों, हम अपने इस अधिकार पर डटे रहेगे।

आखिर तेईसवें दिन, अर्थात् 13 जनवरी 1897 के दिन स्टीमरों को मुक्ति मिली औऱ यात्रियों को उतने का आदेश मिला।

३. कसौटी

जहाज धक्के पर लगा । यात्री उतरे । पर मेरे बारे में मि. एस्कम्ब ने कप्तान से कहलाया था: 'गांधी को और उसके परिवार को शाम को उतारियेगा । उसके विरुद्ध गोरे बहुत उत्तेजित हो गये हैं और उनके प्राण संकट में हैं । पोर्ट सुपरिटेण्डेण्ट मि. टेटम उन्हे शामको अपने साथ ले जायेंगे ।'

कप्तान ने मुझे इस संदेश की खबर दी । मैंने तदनुसार चलना स्वीकर किया । लेकिन इस संदेश को मिले आधा घंटा भी न हुआ कि इतने में मि. लाटन आये और कप्तान से मिलकर बोले, 'यदि मि. गांधी मेरे साथ चले, तो मैं उन्हें अपनी जिम्मेदारी पर ले जाना चाहता हूँ । स्टीमर के एजेण्ट के वकील के नाते मैं आपसे कहता हूँ कि मि. गांधी के बारे में जो संदेश आपको मिला है उसके बन्धन से आप मुक्त हैं ।' इस प्रकार कप्तान से बातचीत करके वे मेरे पास आये और मुझ से कुछ इस मतलब की बातें कहीँ: 'आपको जीवन का डर न हो तो मैं चाहता हूँ कि श्रीमती गांधी और बच्चे गाड़ी में रुस्तमजी सेठ के घर जाये और आप तथा मैं आम रास्ते से पैदल चले । मुझे यह बिल्कुल अच्छा नहीं लगता कि आप अंधेरा होने पर चुपचाप शहर दाखिल हो। मेरा ख्याल हैं कि आपका बाल भी बाँका न होगा । अब तो सब कुछ शान्त हैं । गोरे सब तितर-बितर हो गये हैं । पर कुछ भी क्यों न हो, मेरी राय हैं कि आपको छिपे तौर पर शहर में कभी न जाना चाहिए । '

मैं सहमत हो गया । मेरी धर्मपत्नी और बच्चे गाड़ी में बैठकर रुस्तमजी सेठ के घर सही-सलामत पहुँच गये । कप्तान की अनुमति लेकर मैं मि. लाटन के साथ उतरा । रुस्तमजी सेठ का घर वहाँ से लगभग दो मील दूर था ।

जैसे ही हम जहाज से उतरे, कुछ लड़को ने मुझे पहचान लिया और वे 'गांधी, गांधी' चिल्लाने लगे । तुरन्त ही कुछ लोग इकट्ठा हो गये और चिल्लाहट बढ गयी । मि. लाटन ने देखा कि भीड़ बढ जायगी, इसलिए उन्होंने रिक्शा मँगवाया । मुझे उसमें बैठना कभी अच्छा न लगता था । उस पर सवार होने का मुझे यह पहला ही अनुभव होने जा रहा था । पर लड़के क्यों बैठने देते ? उन्होंने रिक्शावाले को धमकाया और वह भाग खड़ा हुआ ।

हम आगे बढे। भीड़ भी बढती गयी। खासी भीड़ जमा हो गयी। सबसे पहले तो भीड़वालों ने मुझे मि. लाटन से अलग कर दिया। फिर मुझ पर कंकरों और सड़े अण्डों की वर्षा शुरु हुई। किसी ने मेरी पगडी उछाल कर फेंक दी। फिर लाते शुरु हूई।

मुझे गश आ गया। मैंने पास के घर की जाली पकड़ ली और दम लिया। वहाँ खड़ा रहना तो सम्भव ही न था। तमाचे पड़ने लगे।

इतने में पुलिस अधिकारी की स्त्री जो मुझे पहचानती थी, रास्ते से गुजरी। मुझे देखते ही वह मेरी बगल में आकर खड़ी हो गयी और धूप के न रहते भी उसने अपनी छतरी खोल ली। इससे भीड़ कुछ नरम पड़ी। अब मुझ पर प्रहार करने हो, तो मिसेज एलेक्जेण्डर को बचाकर ही किये जा सकते थे।

इस बीच मुझ पर मार पड़ते देखकर कोई हिन्दुस्तानी नौजवान पुलिसथाने पर दौड़ गया। सुपरिटेण्डेण्ट एलेक्जेण्डर ने एक टुकड़ी मुझे घेर कर बचा लेने के लिए भेजी। वह समय पर पहुँची। मेरा रास्ता पुलिस थाने के पास ही होकर जाता था। सुपरिटेण्डेण्ट ने मुझे थाने में आश्रय लेने की सलाह दी। मैंने इन्कार किया और कहा, 'जब लोगों को अपनी भूल मालूम हो जाएगी, तो वे शान्त हो जायेंगे। मुझे उनकी न्यायबुद्धि पर विश्वास हैं।'

पुलिस के दस्ते के साथ मैं सही सलामत पारसी रुस्तमजी के घर पहुँचा। मेरी पीठ पर छिपी मार पड़ी थी। एक जगह थोड़ा खून निकल आया था। स्टीमर के डॉक्टर दादा बरजोर वहीं मौजूद थे। उन्होंने मेरी अच्छी सेवा-शुश्रषा की।

यो भीतर शान्ति थी, पर बाहर गोरो ने घर को घेर लिया। शाम हो चुकी थी। अंधेरा हो चला था। बाहर हजारों लोग तीखी आवाज में शोर कर रहे थे और 'गांधी को हमें सौंप दो' की पुकार मचा रहे थे। परिस्थिति का ख्याल करके सुपरिटेण्डेण्ट एलेक्जेण्डर वहाँ पहुँच गये थे औऱ भीड़ को धमकी से नहीं, बल्कि उसका मन बहलाकर वश में रख रहे थे।

फिर भी वे निश्चित तो नहीं थे। उन्होंने मुझे इस आशय का संदेशा भेजा : 'यदि आप अपने मित्र के मकान, माल-असबाब और अपने बाल-बच्चों को बचाना चाहते हो, तो जिस तरह मैं कहूँ उस तरह आपको इस घर से छिपे तौर पर निकल जाना चाहिए।'

एक ही दिन में मुझे एक-दूसरे के विरुद्ध दो काम करने का प्रसंग आया। जब प्राणों का भय केवल काल्पनिक प्रतीत होता था, तब मि. लाटन ने मुझे प्रकट रुप से बाहर निकले की सलाह दी और मैंने उसे मान लिया। जब संकट प्रत्यक्ष मेरे सामने आकर खड़ा हो गया, तब दूसरे मित्र ने इससे उल्टी सलाह दी और मैंने उसे भी मान लिया। कौन कह सकता हैं कि मैं अपने प्राणों के संकट से डरा या मित्र के जान-माल की जोखिम से अथवा अपने परिवार की प्राणहानि से या तीनो से ? कौन निश्चय-पूर्वक कह सकता हैं कि मेरा स्टीमर से हिम्मत दिखाकर उतरना और बाद में संकट से प्रत्यक्ष सामने आने पर छिपकर भाग निकलना उचित था ? पर घटित घटनाओं के बारे में इस तरह की चर्चा ही व्यर्थ हैं। उनका उपयोग यही हैं कि जो हो चुका हैं, उसे समझ ले औऱ उससे जितना सीखने को मिले, सीख ले। अमुक प्रसंग में अमुक मनुष्य ने क्या करेगा, यह निश्चिय पूर्वक कहा ही नहीं जा सकता। इसी तरह हम यह भी देख सकते हैं कि मनुष्य के बाहरी आचरण से उसके गुणों की जो परीक्षा की जाती हैं, वह अधूरी और अनुमात्र-मात्र होती है।

सो कुछ भी हो, भागने के काम में उलझ जाने से मैं अपनी चोटों को भूल गया। मैंने हिन्दुस्तानी सिपाही की वर्दी पहनी। कभी सिर पर मार पड़े तो उससे बचने के लिए माथे पर पीतल की तश्तरी रखी और ऊपर से मद्रासी तर्ज का बड़ा साफा बाँधा। साश में खुफिया पुलिस के दो जवान थे। उनमें से एक ने हिन्दुस्तानी व्यापारी की पोशाक पहनी और अपना चहेरी हिन्दुस्तानी की तरह रंग लिया। दुसरे ने क्या पहना, सो मैं भूल गया हूँ। हम बगल की गली में होकर पड़ोस की दुकान में पहुँचे और गोदाम में लगी हुई बोरों की थप्पियों को अंधेरे में लाँधते हुए दुकान के दरवाजे से भीड़ में घुस कर आगे निकल गये। गली के नुक्कड़ पर गाड़ी खड़ी थी उसमें बैठकर अब मुझे उसी थाने में ले गये जिसमें आश्रय लेने की सलाह सुपरिटेण्डेण्ट एलेक्जेण्डर ने पहले दी थी। मैंने सुपरिटेण्डेण्ट एलेक्जेण्डर और खुफिया पुलिस के अधिकारियों को धन्यवाद दिया।

इस प्रकार जब एक तरफ से मुझे ले जाया जा रहा था, तब दूसरी तरफ सुपरिटेण्डेण्ट एलेक्जेण्डर भीड़ से गाना गवा रहे थे। उस गीत का अनुवाद यह हैं :

'चलो, हम गांधी के फांसी पर लटका दे, इमली के उस पेड़ पर फांसी लटका दे।'

जब सुपरिटेण्डेण्ट एलेक्जेण्डर को मेरे सही-सलामत थाने पर पहुँच जाने की खबर मिली तो उन्होंने भीड़ से कहा, 'आपका शिकार तो इस दुकान से सही सलामत निकल भागा हैं ।' भीड़ में किसी को गुस्सा आया, कोई हँसा, बहुतों नें इस बात को मानने से इन्कार किया ।

इस पर सुपरिटेण्डेण्ट एलेक्जेण्डर ने कहा, 'तो आप लोग अपने में से जिसे नियुक्त कर दे उसे मैं अन्दर ले जाऊँ और वह तलाश करके देख ले । अगर आप गांधी को ढूढ़ निकाले तो मैं उसे आपके हवाले कर दूँगा । न ढूढ़ सके तो आपको बिखर जाना होगा । मुझे विश्वास तो हैं ही कि आप पारसी रुस्तमजी का मकान हरगिज नही जलायेंगे और न गांधी के स्त्री-बच्चों को कष्ट पहुँचायेंगे।'

भीड़ ने प्रतिनिधि नियुक्त किये । उन्होंने तलाशी के बाद उसे निराशाजनक समाचार सुनाये । सब सुपरिटेण्डेण्ट एलेक्जेण्डर की सूझ-बूझ और चतुराई की प्रसंशा करते हुए पर मन ही मन कुछ गुस्सा होते हुए, बिखर गये ।

उस समय के उपनिवेश मंत्री स्व. मि. चेम्बरलेन ने तार द्वारा सूचित किया कि मुझ पर हमला करने वालों पर मुकदमा चलाया जाय और मुझे न्याय दिलाया जाय । मि. एस्कम्ब ने मुझे अपने पास बुलाया । मुझे पहुँची हुई चोट के लिए खेद प्रकट करते हुए उन्होंने कहा, 'आप यह तो मानेगे ही कि आपका बाल भी बाँका हो तो मुझे उससे कभी खुशी नहीं हो सकती । आपने मि. लाटन की सलाह मानकर तुरन्त उतर जाने का साहस किया । आपको ऐसा करने का हक था, पर आपने मेरे संदेश को मान लिया होता तो यह दुःखद घटना न घटती । अब अगर हमला करने वालों को पहचान सकें तो मैं उन्हें गिरफ्तार करवाने और उनपर मुकदमा चलाने को तैयार हूँ । मि. चेम्बरलेन भी यही चाहते हैं ।'

मैंने जवाब दिया, 'मुझे किसी पर मुकदमा नही चलाना हैं । सम्भव हैं, हमला करनेवालों में से एक-दो को मैं पहचान लूँ, पर उन्हें सजा दिलाने से मुझे क्या लाभ होगा ? फिर, मैं हमला करनेवालो को दोषी भी नहीं मानता । उन्हें तो यह कहा गया हैं कि मैंने हिन्दुस्तान में अतिशयोक्तिपूर्ण बाते कहकर नेटाल के गोरों को बदनाम किया हैं । वे इस बात को मानकर गुस्सा हो तो इसमें आश्चर्य क्या हैं ? दोष तो बड़ो का और मुझे कहने की इजाजत दे तो आपका माना जाना चाहिए । आप लोगों को सही रास्ता दिखा सकते थे, पर आपने माना

और कल्पना कर ली कि मैंने अतिशयोक्ति की होगी । मुझे किसी पर मुकदमा नहीं चलाना हैं । जब वस्तुस्थिति प्रकट होगी और लोगों को पता चलेगा, तो वे खुद पछतायेंगे ।'

'तो आप मुझे यह बात लिख कर दे देंगे ? मुझे मि. चेम्बरलेन को इस आशय का तार भेजना पड़ेगा । मैं नही चाहता कि आप जल्दी में कुछ लिखकर दे दें। मेरी इच्छा यह हैं कि आप मि. लाटन से औऱ अपने मित्रों से सलाह करके जो उचित जान पड़े सो करे । हाँ, मैं यह स्वीकार करता हूँ कि यदि आप हमला करनेवालों पर मुकदमा नहीं चलायेंगे तो सब ओर शान्ति स्थापित करने में मुझें बहुत मदद मिलेगी औऱ आपकी प्रतिष्ठा तो निश्चत ही बढेगी ।'

मैंने जवाब दिया, 'इस विषय में मेरे विचार पक्के हो चुके हैं । यह निश्चय समझिये कि मुझे किसी पर मुकदमा नही चलाना हैं, इसलिए मैं आपको यहीं लिखकर दे देना चाहता हूँ ।'

यह कहकर मैं आवश्यक पत्र लिखकर दे दिया ।

४. शान्ति

हमले के दो-एक दिन बाद जब मैं मि. एस्कम्ब से मिला तब मैं पुलिस थाने में ही था। रक्षा के लिए मेरे साथ एक-दो सिपाही रहते थे, पर दरअसल जब मुझे मि. एस्कम्ब के पास ले जाया गया तब रक्षा की आवश्यकता रहीं नहीं थी।

जिस दिन मैं जहाज से उतरा असी दिन, अर्थात् पीला झण्डा उतरने के बाद तुरन्त, 'नेटाल एडवरटाइजडर' नामक पत्र का प्रतिनिधि मुझ से मिल गया था। उसने मुझ से कई प्रश्न पूछे थे और उनके उत्तर में मैं प्रत्येक आरोप का पूरा-पूरा जवाब दे सका था। सर फिरोजशाह मेहता के प्रताप से उस समय मैंने हिन्दुस्तान में एक भी भाषण बिना लिखे नहीं किया था। अपने उन सब भाषणों और लेखों का संग्रह तो मेरे पास था ही। मैंने वह सब उसे दिया और सिद्ध कर दिखाया कि मैंने हिन्दुस्तान में ऐसी एक भी बात नहीं कहीं, तो अधिक तीव्र शब्दों में दक्षिण अफ्रीका में न कहीं हो। मैंने यह भी बता दिया कि 'कुरलैण्ड' और 'नादरी' के यात्रियों को लाने में मेरा हाथ बिल्कुल न था। उनमें से अधिकतर तो पुराने ही थे और बहुतेरे नेटाल में रहने वाले नहीं थे बल्कि ट्रान्सवाल जानेवाले थे। उन दिनों नेटाल में मन्दी थी। ट्रान्सवाल में अधिक कमाई होती थी। इस कारण अधिककर हिन्दुस्तानी वहीं जाना पसन्द करते थे।

इस खुलासे का और हमलावरों पर मुकदमा दायर करने का इतना ज्यादा असर पड़ा कि गोरे शरमिन्दा हुए। समाचार पत्रों ने मुझे निर्दोष सिद्ध किया और हुल्लड करने वालो की निन्दा की। इस प्रकार परिणाम में तो मुझे लाभ ही हुआ, और मेरा लाभ मेरे कार्य का ही लाभ था। इससे भारतीय समाज की प्रतिष्ठा बढी और मेरा मार्ग अधिक सरल हो गया।

तीन या चार दिन बाद मैं अपने घर गया और कुछ ही दिनों में व्यवस्थित रीति से अपना कामकाज करने लगा। इस घटना के कारण मेरी वकालत भी बढ़ गयी।

परंतु इस तरह यदि हिन्दुस्तानियों की प्रतिष्ठा बढ़ी, तो उनके प्रति गोरों का द्वेष भी बढ़ा। गोरों को विश्वास हो गया कि हिन्दुस्तानियों में दृढतापूर्वक लड़ने की शक्ति हैं। फलतः उनका डर बढ़ गया। नेटाल की धारासभा में दो कानून पेश हुए, जिनके कारण

हिन्दुस्तानियों की की कठिनाईयाँ बढ़ गयी। एक से भारतीय व्यापारियों के धंधे को नुकसान पहुँचा, दुसरे से हिन्दुस्तानियों के आने-जाने पर अंकुश लग गया। सौभाग्य से मताधिकार का लड़ाई के समय यह फैसला हो चुका था कि हिन्दुस्तानियों के खिलाफ हिन्दुस्तानी होने के नाते कोई कानून नहीं बनाया जा सकता। मतलब यह कि कानून में रंगभेद या जातिभेद नहीं होना चाहिए। इसलिए ऊपर के दोनो कानून उनकी भाषा को देखते हुए तो सब पर लागू होते जान पड़ते थे, पर उनका मूल उद्देश्य केवल हिन्दुस्तानी कौम पर दबाव डालना था।

इन कानूनों ने मेरा काम बहुत ज्यादा बढ़ा दिया औऱ हिन्दुस्तानियों में जागृति भी बढ़ायी। हिन्दुस्तानियों की ये कानून इस तरह समझा दिये गये कि इनकी बारीक से बारीक बातों से भी कोई हिन्दुस्तानी अपरिचित न रह सके। हमने इनके अनुवाद भी प्रकाशित कर दिये। झगड़ा आखिर विलायत पहुँचा। पर कानून नामंजूर नहीं हुए।

मेरा अधिकतर समय सार्वजनिक काम में ही बीतने लगा। मनसुखलाल नाजर मेंरे साथ रहे। उनके नेटाल में होने की बात मैं ऊपर लिख चुका हूँ। वे सार्वजनिक काम में अधिक हाथ बँटाने लगे, जिससे मेरा काम कुछ हलका हो गया।

मेरी अनुपस्थिति में सेठ आदमजी मियाँखाने अपने मंत्री पद को खूब सुशोभित किया था। उन्होने सदस्य बढ़ाये और स्थानीय काँग्रेस के कोष में लगभग एक हजार पौण्ड की वृद्धि की थी। यात्रियों पर हुए हमले के कारण और उपर्युक्त कानूनों के कारण जो जागृति पैदा हुई, उससे मैंने इस वृद्धि में भी वृद्धि करने का विशेष प्रयत्न किया और कोष में लगभग पाँच हजार पौण्ड जमा हो गये। मेंरे मन में लोभ यह था कि यदि काँग्रेस का स्थायी कोष हो जाये, उसके लिए जमीन ले ली जाये और उसका भाड़ा आने लगे तो काँग्रेस निर्भय हो जाये। सार्वजनिक संस्था का यह मेरा पहला अनुभव था। मैंने अपना विचार साथियों के सामने रखा। उन्होंने उसका स्वागत किया। मकान खरीदे गये और वे भाड़े पर उठा दिये गये। उनके किराये से काँग्रेस का मासिक खर्च आसानी से चलने लगा। सम्पत्ति का सुढृञड ट्रष्ट बन गया। वह सम्पत्ति आज भी मौजूद हैं, पर अन्दर ही अन्दर वह आपसी कलह का कारण बन गयी और जायदाद का किराया आज अदालत में जना होता हैं।

यह दुःखद घटना तो मेरे दक्षिण अफ्रीका छोड़ने के बाद घटी, पर सार्वजनिक संस्थाओं के लिए स्थायी कोष रखने के सम्बन्ध में मेरे विचार बदल चुके थे । अनेकानेक सार्वजनिक संस्थाओं की उत्पत्ति और उनके प्रबन्ध की जिम्मेदारी संभालने के बाद मैं इस ढृढ़ निर्णय पर पहुँचा हूँ कि किसी भी सार्वजनिक संस्था को स्थायी कोष पर निभने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इसमें उसकी नैतिक अधोगति का बीज छिपा रहता हैं।

सार्वजनिक संस्था का अर्थ हैं, लोगो की स्वीकृति और लोगो के धन से चलने वाली संस्था । ऐसी संस्था को जब लोगो की सहायता न मिले तो उसे जीवित रहने का अधिकार ही नही रहता। देखा यह गया हैं कि स्थायी सम्पत्ति के भरोसे चलने वाली संस्था लोकमत से स्वतंत्र हो जाती है और कितनी ही बार वह उल्टा आचरण भी करती हैं। हिन्दुस्तान में हमें पग-पग पर इसका अनुभव होता हैं । कितनी ही धार्मिक मानी जानेवाली संस्थाओं के हिसाब-किताब का कोई ठिकाना नहीं रहता । उनके ट्रस्टी ही उनके मालिक बन बैठे है और वे किसी के प्रति उत्तरदायी भी नही हैं। जिस तरह प्रकृति स्वयं प्रतिदिन उत्पन्न करती हैं और प्रतिदिन खाती हैं, वैसी ही व्यवस्था सार्वजनिक संस्थाओ की भी होनी चाहिए, इसमें मुझे कोई शंका नही हैं । जिस संस्था को लोग मदद देने के लिए तैयार न हो, उसे सार्वजनिक संस्था के रुप में जीवित रहने का अधिकार ही नही हैं । प्रतिवर्ष मिलने वाला चन्दा ही उन संस्थाओ की अपनी लोकप्रियता और उनके संचालको की प्रामाणिकता की कसौटी हैं, और मेरी यह राय हैं कि हर एक संस्था को इस कसौटी पर कसा जाना चाहिए।

मेरे यह लिखने से कोई गलतफहमी न होनी चाहिए। ऊपरी टीका उन संस्थाओं पर लागू नही होती, जिन्हे मकान इत्यादि की आवश्यकता होती हैं। सार्वजनिक संस्थाओ के दैनिक खर्च का आधार लोगो से मिलने वाला चन्दा ही होना चाहिए।

ये विचार दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के दिनों में दढ़ हुए। छह वर्षो की यह महान लड़ाई स्थायी कोष के बिना चली, यद्यपि उसके लिए लाखो रुपयों की आवश्यकता थी। मुझे ऐसे अवसरो की याद है कि जब अगले दिन का खर्च कहाँ से आयेगा, इसकी मुझे खबर न होती थी। लेकि आगे जिन विषयो की चर्चा की जाने वाली है, उनका उल्लेख यहाँ नहीँ करुँगा। पाठको को मेरे इस मत का समर्थन इस कथा के उचित प्रसंग पर यथास्थान मिल जायेगा।

५. बच्चो की शिक्षा

सन् 1897 की जनवरी में मैं डरबन उतरा, तब मेरे साथ तीन बालक थे । मेरा भानजा लगभग दस वर्ष की उमर का, मेरा बड़ा लडका नौ वर्ष का और दूसरा लड़का पाँच वर्ष का । इन सबको कहाँ पढाया जाये ?

मैं अपने लडकों को गोरो के लिए चलने वाले स्कूलो में भेज सकता था, पर वह केवल मेहरहबानी औऱ अपवाद-रुप होता । दूसरे सब हिन्दुस्तानी बालक वहाँ पढ़ नही सकते थे । हिन्दुस्तानी बालको को पढ़ाने के लिए ईसाई मिशन के स्कूल थे, पर उनमें मैं अपने बालको को भेजने के लिए तैयार न था । वहाँ दी जाने वाली शिक्षा मुझे पसन्द न थी । वहाँ गुजराती द्वारा शिक्षा मिलती ही कहाँ से ? सारी शिक्षा अंग्रेजी में ही दी जाती थी, अथवा प्रयत्न किया जाता, तो अशुद्ध तामिल या हिन्दी में दी जा सकती थी । पर इन और ऐसी अन्य त्रुटियों को सहन करना मेरे लिए सम्भव न था ।

मैं स्वयं बालकों को पढ़ाने का थोड़ा प्रयत्न करता था । पर वह अत्यन्त अनियमित था । अपनी रुचि के अनुकूल गुजराती शिक्षक मैं खोज न सका ।

मैं परेशान हुआ । मैंने ऐसे अंग्रेजी शिक्षक के लिए विज्ञापन दिया, जो बच्चो को मेरी रुचि के अनुरुप शिक्षा दे सके । मैंने सोचा कि इस तरह जो शिक्षक मिलेगा उसके द्वारा थोडी नियमित शिक्षा होगी औऱ बाकी मैं स्वयं, जैसे बन पड़ेगी, दूँगा । एक अंग्रेज महिला को 7 पौण्ड के वेतन पर रखकर गाड़ी कुछ आगे बढ़ायी ।

बच्चो के साथ मैं केवल गुजराती में ही बातचीत करता था । इससे उन्हे थोडी गुजराती सीखने को मिल जाती थी । मैं उन्हे देश भेजने को लिए तैयार न था । उस समय मेरी यह ख्याल था कि छोटे बच्चो को माता-पिता से अलग नहीं रहना चाहिए। सुव्यवस्थित घर में बालको को जो शिक्षा सहज ही मिल जाती हैं, वह छात्रालयों में नहीं मिल सकती । एतएव अधिकतर वे मेरे साथ ही रहे । भानजे और बड़े लडके को मैंने कुछ महीनों के लिए देश में अलग-अलग छात्रालयों में भेजा अवश्य था, पर वहाँ से उन्हें तुरन्त वापस बुला लिया था । बाद में मेरा बड़ा लड़का, व्यस्क होने पर, अपनी इच्छा से अहमदाबाद के हाईस्कूल में पढने

के लिए दक्षिण अफ्रीका छोड़कर देश चला गया था। अपने भानजे को जो शिक्षा मैं दे सका, उससे उसे संतोष था, ऐसा मेरा ख्याल हैं। भरी जवानी में, कुछ दिनो की बीमारी के बाद, उसका देहान्त हो गया। मेरे दूसरे तीन लड़के कभी किसी स्कूल में गये ही नहीं। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के सिलसिले में मैंने जो विद्यालय खोला था, उसमें उन्होने थोडी नियमित पढ़ाई की थी।

मेरे ये प्रयोग अपूर्ण थे। लड़को को मैं स्वयं जितना समय देना चाहता था उतना दे नही सका। इस कारण और दूसरी अनिवार्य परिस्थितियों के कारण मैं अपनी इच्छा के अनुसार उन्हें अक्षरज्ञान नही दे सका। इस विषय में मेरे सब लड़को को न्यूनाधिक मात्रा में मुझ से शिकायत भी रही हैं, क्योकि जब-जब वे 'बी. ए.',' एम. ए.' और 'मैंट्रिक्युलेट' के भी सम्पर्क में आते, तब स्वयं किसी स्कूल में न पढ़ सकने की कमी का अनुभव करते थे।

तिस पर भी मेरी अपनी राय यह है कि जो अनुभव-ज्ञान उन्हें मिला हैं, माता-पिता का जो सहवास वे प्राप्त कर सके हैं, स्वतंत्रता का जो पदार्थपाठ उन्हें सीखने को मिला है, वह सब उन्हें न मिलता यदि मैंने उनको चाहे जिस तरह स्कूल भेजने का आग्रह रखा होता। उनके बारे में जो निश्चिन्तता आज मुझे है वह न होती, और जो सादगी और सेवाभाव उन्होने सीखा है वह मुझसे अलग रह कर विलायत में या दक्षिण अफ्रीका में कृत्रिम शिक्षा प्राप्त करके वे सीख न पाते; बल्कि उनकी बनाबटी रहन-सहन देशकार्य में मेरे लिए कदाचित् विध्नरुप हो जाती।

अतएव यद्यपि मैं उन्हे जितना चाहता था उतना अक्षर-ज्ञान नहीं दे सका, तो भी अपने पिछले वर्षो का विचार करते समय मेरे मन में यह ख्याल नहीं उठता कि उनके प्रति मैंने अपने धर्म का यथाशक्ति पालन नही किया है और न मुझे उसके लिए पश्चाताप होता हैं। इसके विपरीत, अपने बड़े लड़के के बारे में मैं जो दुःखद परिणाम देखता हूँ, वह मेरे अधकतरे पूर्वकाल की प्रतिध्वनि है, ऐसा मुझे सदा ही लगा हैं। उस समय उसकी उमर इतनी थी कि जिसे मैंने हर प्रकार से अपना मूर्च्छाकाल, वैभव-काल माना हैं, उसका स्मरण उसे बना रहे। वह क्यों माने कि वलह मेरा मूर्च्छाकाल था ? वह ऐसा क्यो न माने कि वह मेरा ज्ञानकाल था और उसके बाद में हुए परिवर्तन अयोग्य और मोहजन्य थे? वह क्यो न

माने कि उस समय मैं संसार के राजमार्ग पर चल रहा था इस कारण सुरक्षित था तथा बाद में किये हुए परिवर्तन मेंरे सूक्ष्म अभिमान और अज्ञान की निशानी थे ? यदि मेंरे लड़के बारिस्टर आदि की पदवी पाते तो क्या बुरा होता ? मुझे उनके पंख काट देने का क्या अधिकार था ? मैंने उन्हे ऐसी स्थिति में क्यो नहीं रखा कि वे उपाधियाँ प्राप्त करके मनचाहा जीवन-मार्ग पसन्द कर सकते ? इस तरह की दलीले मेंरे कितने ही मित्रो ने मेंरे सम्मुख रखी हैं ।

मुझे इन दलीलो में कोई तथ्य नहीं दिखायी दिया । मैं अनेक विद्यार्थियों के सम्पर्क में आया हूँ । दूसरे बालको पर मैंने दूसरे प्रयोग भी किये हैं, अथवा कराने में सहायक हुआ हूँ । उनके परिणाम भी मैंने देखे हैं । वे बालक और मेंरे लड़के आज समान अवस्था के हैं । मैं नही मानता कि वे मनुष्यता में मेंरे लड़को से आगे बढ़े हुए हैं अथवा उनसे मेंरे लड़के कुछ अधिक सीख सकते हैं ।

फिर भी, मेंरे प्रयोग का अन्तिम परिणाम तो भविष्य ही बता सकता हैं । यहाँ इस विषय की चर्चा करने का हेतु तो यह हैं कि मनुष्य-जाति की उत्क्रांति का अध्ययन करने वाले लोग गृह-शिक्षा और स्कूली शिक्षा के भेद का और माता-पिता द्वारा अपने जीवन में किये हुए परिवर्तनों का उनके बालको पर जो प्रभाव पड़ता हैं उसका कुछ अन्दाज लगा सके ।

उसके अतिरिक्त उस प्रकरण का एक उद्देश्य यह भी है कि सत्य का पुजारी इस प्रयोग से यह देख सके कि सत्य की आराधना उसे कहाँ तक ले जाती हैं, और स्वतंत्रता देवी का उपासक देख सके कि वह देवी कैसी बलिदान चाहती हैं । बालको को अपने साथ रखते हुए भी यदि मैंने स्वाभिमान का त्याग किया होता, दूसरे बालक जिसे न पा सके उसकी अपने बालको के लिए इच्छा न रखने के विचार का पोषण न किया होता, तो मैं अपने बालको को अक्षरज्ञान अवश्य दे सकता था । किन्तु उस दशा में स्वतंत्रता और स्वाभिमान का जो पदार्थ पाठ वे सीखे वह न सीख पाते । और जहाँ स्वतंत्रता तथा अक्षर-ज्ञान के बीच ही चुनाव करना हो तो वहाँ कौन कहेगा कि स्वतंत्रता अक्षर-ज्ञान से हजार गुनी अधिक अच्छी नही हैं ?

सन् 1920 में जिन नौजवानो को मैंने स्वतंत्रता-घातक स्कूलो और कॉलेजो को छोडने के लिए आमंत्रित किया था, और जिनसे मैंने कहा था कि स्वतंत्रता के लिए निरक्षर रहकर आम रास्ते पर गिट्टी फोड़ना गुलामी में रहकर अक्षर-ज्ञान प्राप्त करने से कहीं अच्छा हैं, वो अब मेरे कथन के मर्म को कदाचित् समझ सकेंगे।

६. सेवा-वृति

वकालत का मेरा धन्धा अच्छा चल रहा था, पर उससे मुझे संतोष नहीं था। जीवन अधिक सादा होना चाहिए, कुछ शारीरिक सेवा-कार्य होना चाहिए, यह मन्थन चलता ही रहता था।

इतन में एक दिन कोढ़ से पीड़ित एक अपंग मनुष्य मेरे घर आ पहुँचा। उसे खाना देकर बिदा कर देने के लिए दिल तैयार न हुआ। मैंने उसको एक कोठरी में ठहराया, उसके घाव साफ किये और उसकी सेवा की।

पर यह व्यवस्था अधिक दिन तक चल न सकती थी। उसे हमेंशा के लिए घर में रखने की सुविधा मेरे पास न थी, न मुझमें इतनी हिम्मत ही थी। इसलिए मैंने उसे गिरमिटयों के लिए चलनेवाले सरकारी अस्पताल में भेज दिया।

पर इससे मुझे आश्वासन न मिला। मन में हमेंशा यह विचार बना रहता कि सेवा-शुश्रूषा का ऐसा कुछ काम मैं हमेंशा करता रहूँ, तो कितना अच्छा हो ! डॉक्टर बूथ संेट एडम्स मिशन के मुखिया थे। वे हमेशा अपने पास आनेवालो को मुफ्त दवा दिया करते थे। बहुत भले और दयालु आदमी थे। पारसी रुस्तमजी की दानशीलता के कारण डॉ. बूथ की देखरेख में एक बहुत छोटा अस्पताल खुला। मेरी प्रबल इच्छा हुई कि मैं इस अस्पताल में नर्स का काम करुँ। उसमें दवा देने के लिए एक से दो घंटों का काम रहता था। उसके लिए दवा बनाकर देनेवाले किसी वेतनभोगी मनुष्य की स्वयंसेवक की आवश्यकता थी। मैंने यह काम अपने जिम्मे लेने और अपने समय में से इतना समय बचाने का निर्णय किया। वकालत का मेरा बहुत-सा काम तो दफ्तर में बैठकर सलाह देने, दस्तावेज तैयार करने अथवा झगड़ो का फैसला करना का होता था। कुछ मामले मजिस्ट्रेट की अदालत में चलते थे। इनमें से अधिकांश विवादास्पद नहीं होते थे। ऐसे मामलो को चलाने की जिम्मेदारी मि.

खान में, जो मुझसे बाद में आये थे और जो उस समय मेरे साथ ही रहते थे, अपने सिर पर ले ली और मैं उस छोटे-से अस्पताल में काम करने लगा।

रोज सबेरे वहाँ जाना होता था। आने-जाने में और अस्पताल काम करने प्रतिदिन लगभग दो घंटे लगते थे। इस काम से मुझे थोड़ी शान्ति मिली। मेरा काम बीमार की हालत समझकर उसे डॉक्टर को समझाने और डॉक्टर की लिखी दवा तैयार करके बीमार को दवा देने का था। इस काम से मैं दुखी-दर्दी हिन्दुस्तानियों के निकट सम्पर्क में आया। उनमें से अधिकांश तामिल, तेलुगु अथवा उत्तर हिन्दुस्तान के गिरमिटया होते थे।

यह अनुभव मेरे भविष्य में बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। बोअर-युद्ध के समय घायलो की सेवा-शुश्रूषा के काम में और दूसरे बीमारो की परिचर्या में मुझे इससे बड़ी मदद मिली।

बालको के पालन-पोषण का प्रश्न तो मेरे सामने था ही। दक्षिण अफ्रीका में मेरे दो लड़के और हुए। उन्हे किस तरह पाल-पोसकर बड़ा किया जाय, इस प्रश्न को हल करने में मुझे इस काम ने अच्छी मदद की। मेरा स्वतंत्र स्वभाव मेरी कड़ी कसौटी करता था, और आज भी करता हैं। हम पति-पत्नी ने निश्चय किया था कि प्रसूति आदि का काम शास्त्रीय पद्धति से करेंगे। अतएव यद्यपि डॉक्टर और नर्स की व्यवस्था की गयी थी, तो भी प्रश्न था कि कहीं ऐन मौके पर डॉक्टर न मिला और दाई भाग गई, तो मेरी क्या दशा होगी ? दाई तो हिन्दुस्तानी ही रखनी थी। तालीम पायी हुई हिन्दुस्तानी दाई हिन्दुस्तान में भी मुश्किल से मिलती हैं, तब दक्षिण अफ्रीका की तो बात ही क्या कहीं जाय? अतएव मैंने बाल-संगोपन का अध्ययन कर लिया। डॉ. त्रिभुवन दास की 'मा ने शिखामण' (माता की सीख) नामक पुस्तक मैंने पढ़ ड़ाली। यह कहा जा सकता है कि उसमें संशोधन-परिवर्धन करके अंतिम दो बच्चो को मैंने स्वयं पाला-पोसा। हर बार दाई की मदद कुछ समय के लिए ली दो महीने से ज्यादा तो ली ही नही, वह भी मुख्यतः धर्मपत्नी की सेवा के लिए ही। बालको को नहलाने-धुलाने का काम शुरु में मैं ही करता था।

अन्तिम शिशु के जन्म के समय मेरी पूरी-पूरी परीक्षा हो गयी। पत्नी को प्रसव-वेदना अचानक शुरु हुई। डॉक्टर घर पर न थे। दाई को बुलवाना था। वह पास होती तो भी उससे प्रसव कराने का काम न हो पाता। अतः प्रसव के समय का सारा काम मुझे अपने हाथो ही

करना पड़ा। सौभाग्य से मैंने इस विषय को 'मा ने शिखामण' पुस्तक में ध्यान पूर्वक पढ लिया था। इसलिए मुझे कोई घबराहट न हुई।

मैंने देखा कि अपने बालकों के समुचित पालन-पोषण के लिए माता-पिता दोनो को बाल-सगोपन आदि का साधारण ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। मैंने तो इस विषय की अपनी सावधानी का लाभ पग-पग पर अनुभव किया हैं। मेरे बालक आज जिस सामान्य स्वास्थ्य का लाभ उठा रहे हैं, उसे वे उठा न पाते यदि मैंने इस विषय का सामान्य ज्ञान प्राप्त करके उसपर अमल न किया होता। हम लोगो में यह फैला हुआ हैं कि पहले पाँच वर्षो में बालक को शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता नही होती। पर सच तो यह हैं कि पहले पाँच वर्षो में बालक को जो मिलता हैं, वह बाद में कभी नही मिलता। मैं यह अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि बच्चे की शिक्षा माँ के पेट से शुरु होती हैं। गर्भाधान-काल की माता-पिता की शारीरिक और मानसिक प्रभाव बालक पर पड़ता हैं। गर्भ के समय माता की प्रकृति और माता के आहार-विहार के भले-बुर फलो की विरासत लेकर बालक जन्म लेता हैं। जन्म के बाद वह माता-पिता का अनुकरण करने लगता हैं और स्वयं असहाय होने के कारण उसके विकास का आधार माता-पिता पर रहता है।

जो समझदार दम्पती इन बातो को सोचेंगे वे पति-पत्नी के संग को कभी विषय-वासना की तृप्ति का साधन नही बनायेंगे, बल्कि जब उन्हें सन्तान की इच्छा होगी तभी सहवास करेंगे। रतिसुख एक स्वतंत्र वस्तु हैं, इस धारणा में मुझे तो घोर अज्ञान ही दिखायी पड़ता हैं। जनन-क्रिया पर संसार के अस्तित्व का आधार हैं। संसार ईश्वर की लीलाभूमि हैं, उसकी महिमा का प्रतिबिम्ब हैं। उसकी सुव्यवस्थित बुद्धि के लिए ही रतिक्रिया का निर्माण हुआ हैं, इस बात को समझनेवाला मनुष्य विषय-वासना को महा-प्रयत्न करके भी अंकुश में रखेगा और रतिसुख के परिणाम-स्वरुप होने वाली संतति की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रक्षा के लिए जिस ज्ञान की प्राप्ति आवश्यक हो उसे प्राप्त करके उसका लाभ अपनी सन्तान को देगा।

७. ब्रह्मचर्य -1

अब ब्रह्मचर्य के विषय में विचार करने का समय आ गया हैं। एक पत्नी व्रत का तो विवाह के समय से ही मेरे हृदय में स्थान था। पत्नी के प्रति वफादारी मेरे सत्यव्रत का अंग था। पर अपनी स्त्री के साथ भी ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, इसका स्पष्ट बोध मुझे दक्षिण अफ्रीका में ही हुआ। किस प्रसंग से अथवा किस पुस्तक के प्रभाव से यह विचार मेरे मन में उत्पन्न हुआ, यो तो आज मुझे स्पष्ट याद नही हैं कि इसमें रायचंदभाई के प्रभाव की प्रधानता थी।

उनके साथ के संवाद का मुझे स्मरण हैं। एक बार मैं ग्लैडस्टन के प्रति मिसेज ग्लैडस्टन के प्रेम की प्रशंसा कर रहा था। मैंने कहीं पढ़ा था कि पार्लियामेंट की सभा में भी मिसेज ग्लैडस्टन अपने पति को चाय बनाकर पिलाती थी। इस वस्तु का पालन इस नियमबद्ध दम्पती के जीवन का एक नियम बन गया था। मैंने कवि को यह प्रसंग पढ़कर सुनाया और उसके सन्दर्भ में दम्पती प्रेम की स्तुति की। रायचन्दभाई बोले, 'इसमें तुम्हे महत्त्व की कौन सी बात मालूम होती हैं? मिसेज ग्लैडस्टन का पत्नीत्व या उनका सेवाभाव? यदि वे ग्लैडस्टन की बहन होती तो ? अथवा उनकी वफादार नौकरानी होती और उतने ही प्रेम से चाय देती तो ? ऐसी बहनों, ऐसी नौकरानियों के दृष्टांत क्या हमें आज नही मिलते? और नारी-जाति के बदले ऐसा प्रेम यदि तुमने नर-जाति में देखा, तो क्या तुम्हे सानन्द आश्चर्य न होता ? तुम मेरे इस कथन पर विचार करना। '

रायचन्द भाई स्वयं विवाहित थे। याद पड़ता है कि उस समय तो मुझे उनके ये वचन कठोर लगे थे, पर इन वचनो ने मुझे चुम्बक की तरह पकड़ लिया। मुझे लगा कि पुरुष सेवक की ऐसी स्वामीभक्ति का मूल्य पत्नी की पति-निष्ठा के मूल्य से हजार गुना अधिक हैं। पति-पत्नी में ऐक्य होता हैं, इसलिए उनमें परस्पर प्रेम हो तो कोई आश्चर्य नही। मालिक और नौकर के बीच वैसा प्रेम प्रयत्न-पूर्वक विकसित करना होता हैं। दिन-पर-दिन कवि के वचनो का बल मेरी दृष्टि में बढता प्रतीत हुआ।

मैंने अपने-आप से पूछा, मुझे अपनी पत्नी के साथ कैसा सम्बन्ध रखना चाहिए। पत्नी को विषय-भोग का वाहन बनाने में पत्नी के प्रति वफादारी कहाँ रहती हैं ? जब तक मैं विषय-वासना के अधीन रहता हूँ, तब तक तो मेरी वफादारी का मूल्य साधारण ही माना जायगा। यहाँ मुझे यह कहना ही चाहिए कि हमारे आपस के सम्बन्ध में पत्नी की ओर से कभी आक्रमण हुआ ही नहीं। इस दृष्टि से जब मैं चाहता तभी मेरे लिए ब्रह्मचर्य का पालन सुलभ था। मेरी अशक्ति अथवा आशक्ति ही मुझे रोक रही थी।

जाग्रत होने के बाद भी दो बार तो मैं विफल ही रहा। प्रयत्न करता परन्तु गिर पड़ता। प्रयत्न में मुख्य उद्देश्य था, सन्तानोत्पत्ति को रोकना। उसके बाह्य उपचारो के बारे में मैंने विलायत में कुछ पढ़ा था। डॉ. एलिन्सन के इन उपायो के प्रचार का उल्लेख मैं अन्नाहार-विषयक प्रकरण में कर चुका हूँ। उसका थोड़ा और क्षणिक प्रभाव मुझ पर पड़ा था। पर मि. हिल्स ने उसका जो विरोध किया था और आन्तरिक साधन के संयम के समर्थन में जो कहा था, उसका प्रभाव मुझ पर बहुत अधिक पड़ा और अनुभव से वह चिरस्थायी बन गया। इसलिए सन्तानोत्पत्ति की अनावश्यकता ध्यान में आते ही मैंने संयम-पालन का प्रयत्न शुरु कर दिया।

संयम पालन की कठिनाईयों का पार न था। हमने अलग खाटें रखी। रात में पूरी तरह थकने के बाद ही सोने का प्रयत्न किया। इस सारे प्रयत्न का विशेष परिणाम मैं तुरन्त नही देख सका। पर आज भूतकाल पर निगाह डालते हुए देखता हूँ कि इन सब प्रयत्नो में मुझे अंतिम निश्चय का बल दिया।

अंतिम निश्चय तो मैं सन् 1906 में ही कर सका था। उस समय सत्याग्रह का आरम्भ नहीं हुआ था। मुझे उसका सपना तक नही आया था। बोअर-युद्ध के बाद नेटाल में जुलू 'विद्रोह' हुआ। उस समय मैं जोहानिस्बर्ग में वकालत करता था। पर मैंने अनुभव किया कि इस 'विद्रोह' के मौके पर भी मुझे अपनी सेवा नेटाल सरकार को अर्पण करनी चाहिए। मैंने सेवा अर्पण की और वह स्वीकृत हुई। उसका वर्णन आगे आयेगा। पर इस सेवा के सिलसिले में मेरे मन में संयम-पालन के तीव्र विचार उत्पन्न हुए। अपने स्वभाव के अनुसार मैंने साथियों से इसकी चर्चा की। मैंने अनुभव किया कि सन्तानोत्पत्ति और सन्तान का

लालन-पालन सार्वजनिक सेवा के विरोधी हैं। इस 'विद्रोह' में सम्मिलित होने के लिए मुझे जोहानिस्बर्ग की अपनी गृहस्थी उजाड़ देनी पड़ी थी। टीम-टाम से बसाये गये घर का और साज-समान का, जिसे बसाये मुश्किल से एक महीना हुआ होगा, मैंने त्याग कर दिया। पत्नी और बच्चो को फीनिक्स में रख दिया और मैं डोली उठाने वालो की टुकड़ी लेकर निकल पड़ा। कठिन कूच करते हुए मैंने देखा कि यदि मुझे लोकसेवा में ही तन्मय हो जाना हो तो पुत्रैषणा और वितैषणा का त्याग करना चाहिए और वानप्रस्थ-धर्म पालना चाहिए।

'विद्रोह' में तो मुझे डेढ महीने से अधिक का समय नही देना पड़ा, पर छह हफ्तो का यह समय मेरे जीवन का अत्यन्त मूल्यवान समय था। इस समय मैंने व्रत के महत्त्व को अधिक से अधिक समझा। मैंने देखा कि व्रत बन्धन नही, बल्कि स्वतंत्रता का द्वार हैं। आज तक मुझे अपने प्रयत्नों में चाहिए उतनी सफलता न मिलने का कारण यह था कि मों दढनिश्चयी नही था। मुझे अपनी शक्ति पर अविश्वास था, ईश्वर की कृपा पर अविश्वास था, और इस कारण मेरा मन अनेक तरंगो और अनेक विचारों के चक्कर में पड़ा रहता था। मैंने देखा कि व्रत-बद्ध न होने से मनुष्य मोह में पड़ता हैं। व्रत से बंधना व्यभिचार से छुटकारा पाकर एकपत्नी व्रत का पालन करने के समान हैं। 'मैं प्रयत्न करने में विश्वास रखता हूँ, व्रत से बन्धन नहीं चाहता 'यह वचन निर्बलता की निशानी हैं, और इसमें सूक्ष्म रुप से भोग की वासना छिपी होती हैं। जो वस्तु त्याज्य हैं, उसका सर्वथा त्याग करने में हानि कैसे हो सकती हैं ? जो साँप मुझे डंसने वाला है, उसका त्याग मैं निश्चय-पूर्वक करता हूँ, त्याग का केवल प्रयत्न नही करता। मैं जानता हूँ कि केवल प्रयत्न के भरोसे रहने में मृत्यु निहित हैं। प्रयत्न में साँप की विकरालता के स्पष्ट ज्ञान का अभाव हैं। इसी तरह हम केवल वस्तु के त्याग का हम केवल प्रयत्न करते है उस वस्तु के त्याग के औचित्य के बारे में हमें स्पष्ट दर्शन नही हुआ हैं, यह सिद्ध होता है। 'आगे चलकर मेरे विचार बदल जाये तो ?' ऐसी शंका करके प्रायः हम व्रत लेने से डरते हैं। इस विचार में स्पष्ट दर्शन का अभाव ही हैं। इसीलिए निष्कुलानन्द ने कहा हैं :

'त्याग न टके रे वैराग बिना।'

जहाँ अमुक वस्तु के प्रति संपूर्ण वैराग्य उत्पन्न हो गया हैं, वहाँ उसके विषय में व्रत लेना अनिवार्य हो जाता हैं।

८. ब्रह्मचर्य -2

अच्छी तरह चर्चा करने और गहराई से सोचने के बाद सन् 1906 में मैंने ब्रह्मचर्य का व्रत लिया। व्रत लेने के दिन तक मैंने धर्मपत्नी के साथ सलाह नहीं की थी, पर व्रत लेते समय की। उसकी ओर से मेरा कोई विरोध नही हुआ।

यह व्रत मेरे लिए बहुत कठिन सिद्ध हुआ। मेरी शक्ति कम थी। मैं सोचता, विकारो को किस प्रकार दबा सकूँगा। अपनी पत्नी के साथ विकारयुक्त सम्बन्ध का त्याग मुझे एक अनोखी बात मालूम होती थी। फिर भी मैं यह साफ देख सकता था कि यही मेरा कर्तव्य हैं। मेरी नीयत शुद्ध थी। यह सोचकर कि भगवान शक्ति देगा, मैं इसमें कूद पड़ा।

आज बीस बरस बाद उस व्रत का स्मरण करते हुए मुझे सानन्द आश्चर्य होता हैं। संयम पालने की वृत्ति तो मुझ में 1901 से ही प्रबल थी, और मैं संयम पाल भी रहा था, पर जिस स्वतंत्रता और आनन्द का उपभोग मैं अब करने लगा, सन् 1906 के पहले उसके वैसे उपयोग का स्मरण मुझे नही हैं। क्योकि मैं उस समय वासना-बद्ध था, किसी भी समय उसके वश हो सकता था। अब वासना मुझ पर सवारी करने में असमर्थ हो गयी।

साथ ही, मैं अब ब्रह्मचर्य ती महिमा को अधिकाधिक समझने लगा। व्रत मैंने फीनिक्स में लिया था। घायलो की सेवा-शुश्रूषा के काम से छूटी पाने पर मैं फीनिक्स गया था। वहाँ से मुझे तुरन्त जोहानिस्बर्ग जाना था। मैं वहाँ गया और एक महीने के अन्दर ही सत्याग्रह की लड़ाई का श्रीगणेश हुआ। मानो ब्रह्मचर्य व्रत मुझे उसके लिए तैयार करने ही आया हो! सत्याग्रह की कोई कल्पना मैंने पहले से करके नही रखी थी। उसकी उत्पत्ति अनायास, अनिच्छापूर्वक ही हुई। पर मैंने देखा कि उससे पहले के मेरे सारे कदम - फीनिक्स जाना, जोहानिस्बर्ग का भारी घरखर्च कम कर देना और अन्त में ब्रह्मचर्य व्रत लेना मानो उसकी तैयारी के रुप में ही थे।

ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण पालन का अर्थ हैं, ब्रह्मदर्शन । यह ज्ञान मुझे शास्त्र द्वारा नही हुआ । यह अर्थ मेरे सामने क्रम-क्रम से अनुभव सिद्ध होता गया । उससे सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रवाक्य मैंने बाद में पढ़े । ब्रह्मचर्य में शरीर-रक्षण, बुद्धि-रक्षण औऱ आत्म का रक्षण समाया हुआ है, इसे मैं व्रत लेने के बाद दिन-दिन अधिकाधिक अनूभव करने लगा । अब ब्रह्मचर्य को एक घोर तपश्चर्य के रुप में रहने देने के बदले उसे रसमय बनाना था, उसी के सहारे निभना था, विशेषताओं के मुझे नित-नये दर्शन होने लगे ।

इस प्रकार यद्यपि मैं इस व्रत में से रस लूट रहा था, तो भी कोई यह माने कि मैं उसकी कठिनाई का अनूभव नही करता था । आज मुझे छप्पन वर्ष पूरे हो चुके हैं, फिर भी इसकी कठिनता का अनुभव तो मुझे होता ही हैं । यह एक असिधारा-व्रत है, इसे मैं अधिकाधिक समझ रहा हूँ और निरन्तर जागृति की आवश्यकता का अनुभव करता हूँ ।

ब्रह्मचर्य का पालन करना हो तो स्वादेन्द्रिय पर प्रभुत्व प्राप्त करना ही चाहिए । मैंने स्वयं अनुभव किया है कि यदि स्वाद को जीत लिया जाय, तो ब्रह्मचर्य का पालन बहुत सरल हो जाता है । इस कारण अब से आगे के मेरे आहार-संबंधी प्रयोग केवल अन्नाहार की दृष्टि से नही, बल्कि ब्रह्मचर्य की दृष्टि से होने लगे । मैंने प्रयोग करके अनुभव किया कि आहार थोडा, सादा, बिना मिर्च-मसाले और प्राकृतिक स्थिति वाला होना चाहिए । ब्रह्मचारी का आहार वनपक्व फल है, इसे अपने विषय में तो मैंने छह वर्ष तक प्रयोग करके देखा है । जब मैं सूखे और हरे वन-पक्व फलो पर रहता था, तब जिस निर्विकार अवस्था का अनुभव मैंने किया, वैसा अनुभव आहार में परिवर्तन करके के बाद मुझे नहीं हुआ । फलाहार के दिनो में ब्रह्मचर्य स्वाभाविक हो गया था । दुग्धाहार के कारण वह कष्ट-साध्य बन गया है । मुझे फलाहार से दुग्धाहार पर क्यो जाना पड़ा, इसकी चर्चा मैं यथास्थान करुँगा । यहाँ तो इतना कहना काफी हैं कि ब्रह्मचारी के लिए दूध का आहार व्रत पालन में बाधक हैं, इस विषय में मुझे शंका नही हैं । इसका कोई यह अर्थ न करे कि ब्रह्मचारी मात्र के लिए दूध का त्याग इष्ट हैं । ब्रह्मचर्य पर आहार का कितना प्रभाव पड़ता हैं, इसके संबंध में बहुत प्रयोग करने की आवश्यकता हैं । दूध के समान स्नायु-पोषक और उतनी ही सरलता से पचने वाला फलाहार मुझे अभी तक मिला नही, और न कोई वैद्य, हकीम या डॉक्टर ऐसे फलो अथवा

अन्न की जानकारी दे सका हैं। अतएव दूध को विकारोत्पादक वस्तु जानते हुए भी मैं उसके त्याग की सलाह अभी किसी को नही दे सकता।

बाह्य उपचारो में जिस तरह के आहार के प्रकार और परिमाण की मर्यादा आवश्यक है, उसी तरह उपवास के बारे में भी समझना चाहिए। इन्दियाँ इतनी बलबान हैं कि उन्हे चारो तरफ से, ऊपर से और नीचे से यो दसो दिशाओ से घेरा जाय तो ही वे अंकुश में रहती हैं। सब जानते है कि आहार के बिना वे काम नही कर सकती। अतएव इन्द्रिय-दमन के हेतु से स्वेच्छा-पूर्वक किये गये उपवास से इन्द्रिय-दमन में बहुत मदद मिलती है, इसमें मुझे कोई सन्देह नही। कई लोग उपवास करते हुए भी विफल होते हैं। उसका कारण यह हैं कि उपवास ही सब कुछ कर सकेगा, ऐसा मानकर वे केवल स्थूल उपवास करते हैं और मन से छप्पन भोगो का स्वाद लेते रहते हैं। उपवास की समाप्ति पर क्या खायेगे, इसके विचारो का स्वाद लेते रहते हैं, और फिर शिकायत करते हैं कि न स्वादेन्द्रिय का सयम सधा औऱ न जननेन्द्रिय का ! उपवास की सच्ची उपयोगिता वहीँ होती हैं जहाँ मनुष्य का मन भी देह-दमन में साथ देता है। तात्पर्य यह है कि मन में विषय-भोग के प्रति विरक्ति आनी चाहिए। विषय की जड़े मन में रहती हैं। उपवास आदि साधनो से यद्यपि बहुत सहायता मिलती हैं फिर भी वह अपेक्षाकृत कम ही होती हैं। कहा जा सकता हो कि उपवास करते हुए भी मनुष्य विषयासक्त रह सकता हैं। पर बिना उपवास के विषयासक्ति को जड-मूल से मिटाना संभव नही हैं। अतएव ब्रह्मचर्य के पालन में उपवास अनिवार्य अंग हैं।

ब्रह्मचर्य का प्रयत्न करनेवाले बहुतेरे लोग विफल होते हैं, क्योकि वे खाने-पीने, देखने-सुनने इत्यादि में अब्रह्मचारी की तरह रहना चाहते हुए भी ब्रह्मचर्य पालन की इच्छा रखते हैं। यह प्रयत्न वैसा ही कहा जायगा, जैसा गरमी में जाड़े का अनुभव करने का प्रयत्न। संयमी और स्वैराचारी के, भोगी और त्यागी के जीवन में भेद होना ही चाहिए। साम्य होता है, पर वह ऊपर से देखने-भर का। भेद स्पष्ट प्रकट होना चाहिए। आँख का उपयोग दोनो करते हैं। ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता हैं, भोगी नाटक-सिनेमा में लीन रहता है। दोना कान का उपयोग करते हैं। पर एक ईश्वर- भजन सुनता हैं, दूसरा विलासी गाने सुनने में रस लेता हैं। दोनो जागरण करते हैं। पर एक जाग्रत अवस्था में हृदय-मन्दिर में विराजे हुए राम की आराधना करता हैं, दूसरे को नाच-गाने की घुन में सोने का होश ही नही रहता। दोनो भोजन करते हैं।

पर एक शरीर-रूपी तीर्थक्षेत्र को निबाहने -भर के लिए देह को भाड़ा देता हैं, दूसरा स्वाद के लिए देह में अनेक वस्तुए भरकर उसे दुर्गन्ध का घर बना डालता हैं। इस प्रकार दोनो के आचार-विचार में यह अन्तर दिन-दिन बढता जाता हैं, घटता नही।

ब्रह्मचर्य का अर्थ हैं, मन-वचन से समस्त इन्द्रियो का संयम। इस संयम के लिए ऊपर बताये गये त्यागो की आवश्यकता हैं, इसे मैं दिन-प्रतिदिन अनुभव करता रहा हूँ और आज भी कर रहा हूँ। त्याग के क्षेत्र की सीमा ही नही हैं, जैसे ब्रह्मचर्य की महिमा की कोई सीमा नही हैं। ऐसा ब्रह्मचर्य अल्प प्रयत्न से सिद्ध नही होता। करोड़ो लोगो के लिए वह सदा केवल आदर्श रुप ही रहेगा। क्योकि प्रयत्नशील ब्रह्मचारी अपनी त्रुटियों का नित्य दर्शन करेगा, अपने अन्दर ओने-कोने में छिपकर बैठे हुए विकारो को पहचान लेगा और उन्हे निकालने का सतत प्रयत्न करेगा। जब ते विचारो का इतना अंकुश प्राप्त नही होता कि इच्छा के बिना एक भी विचार मन में न आये, तब तक ब्रह्मचर्य सम्पूर्ण नही कहा जा सकता। विचार-मात्र विकार हैं, मन को वश में करना; और मन को वश वायु को वश में करने से भी कठिन हैं। फिर भी यदि आत्मा हैं, तो यह वस्तु भी साध्य है ही। हमारे मार्ग में कठिनाइयाँ आकर बाधा डालती हैं, इससे कोई यह न माने कि वह असाध्य हैं। और परम अर्थ के लिए परम प्रयत्न की आवश्यकता हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या।

परन्तु ऐसा ब्रह्मचर्य केवल प्रयत्न-साध्य नही हैं, इसे मैंने हिन्दुस्तान में आने के बाद अनुभव किया। कहा जा सकता है कि तब तक मैं मूर्च्छावश था। मैंने यह मान लिया था कि फलाहार से विकार समूल नष्ट हो जाते हैं और मैं अभिमान-पूर्वक यह मानता था कि अब मेरे लिए कुछ करना बाकी नही हैं।

पर इस विचार के प्रकरण तक पहुँचने में अभी देर हैं। इस बीच इतना कह देना आवश्यक हैं कि ईश्वर-साक्षात्कार के लिए जो लोग मेरी व्याख्या वाले ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, वे यदि अपने प्रयत्न के साथ ही ईश्वर पर श्रद्धा रखने वाले हो, तो उनके निराशा का कोई कारण नही रहेगा।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

रसवर्जं रसो प्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।। गीता 2, 51 ।।

(निराहारी के विषय तो शान्त हो जाते है, पर उसकी वासना का शमन नही होता । ईश्वर-दर्शन से वासना भी शान्त हो जाती हैं ।)

अतएव आत्मार्थी के लिए रामनाम और रामकृपा ही अन्तिम साधन हैं, इस वस्तु का साक्षात्कार मैंने हिन्दुस्तान में ही किया ।

९. सादगी

भोग भोगना मैंने शुरु तो किया, पर वह टिक न सका । घर के लिए साज-सामान भी बसाया, पर मेरे मन में उसके प्रति कभी मोह उत्पन्न नही हो सका । इसलिए घर बसाने के साथ ही मैंने खर्च कम करना शुरु कर दिया । धोबी का खर्च भी ज्यादा मालूम हुआ । इसके अलावा, धोबी निश्चित समय पर कपड़े नहीं लौटाता था । इसलिए दो-तीन दर्जन कमीजो और उतने कालरो से भी मेरे काम चल नही पाता था । कमीज रोज नही तो एक दिन के अन्तर से बदलता था । इससे दोहरा खर्च होता था । मुझे यह व्यर्थ प्रतीत हुआ । अतएव मैंने घुलाई का सामान जुटाया । घुलाई कला पर पुस्तक पढी और धोना सीखा । काम का बोझ तो बढ़ा ही, पर नया काम होने से उसे करने में आनन्द आता था।

पहली बार अपने हाथो घोये हुए कालर तो मैं कभी भूल नही सकता । उसमें कलफ अधिक लग गया था और इस्तरी पूरी गरम नही थी । तिस पर कालर के जल जाने के डर से इस्तरी को मैंने अच्छी तरह दबाया भी नही था । इससे कालर में कड़ापन तो आ गया, पर उसमें से कलफ झड़ता रहता था । ऐसी हालत में मैं कोर्ट गया और वहाँ के बारिस्टरो के लिए मजाक का साधन बन गया । पर इस तरह का मजाक सह लेने की शक्ति उस समय भी मुझ में काफी थी ।

मैंने सफाई देते हुए कहा, 'अपने हाथो कालर धोने का मेरा यह पहला प्रयोग है इस कारण इसमें से कलफ झडॉता हैं । मुझे इससे कोई अड़चल नही होती, तिस पर आप सब लोगो के लिए विनोद की इतनी साम्रगी जुटा रहा हूँ, तो घाते में ।'

एक मित्र में पूछा, 'पर क्या धोबियो का अकाल पड़ गया हैं ?'

'यहां धोबी का खर्च मुझे तो असह्य मालूम होता है। कालर की कीमत के बराबर घुलाई हो जाती है और इतनी घुलाई देने के बाद भी धोबी की गुलामी करनी पडती है। इसकी अपेक्षा अपने हाथ से धोना मैं ज्यादा पसन्द करता हूँ।'

स्वावलम्बन की यह खूबी मैं मित्रो को समझा नही सका।

मुझे कहना चाहिए कि आखिर धोबी के धंधे में अपने काम लायक कुशलता मैंने प्राप्त कर ली थी और घर की घुलाई धोबी की धुलाई से जरा भी घटिया नही होती थी। कालर का कड़ापन और चमक धोबी के धोये कालर से कम न रहती थी। गोखले के पास स्व. महादेव गोविन्द रानडे की प्रसादी-रुप में एक दुपट्टा था। गोखले उस दुपट्टा को अतिशय जतन से रखते थे और विशेष अवसर पर ही उसका उपयोग करते थे। जोहानिस्बर्ग में उनके सम्मान में जो भोज दिया गया था, वह एक महत्त्वपूर्ण अवसर था। उस अवसर पर उन्होने जो भाषण दिया वह दक्षिण अफ्रीका में उनका बड़े-से-बड़ा भाषण था। अतएव उस अवसर पर उन्हे उक्त दुपट्टा का उपयोग करना था। उसमें सिलवटे पड़ी हुई थी और उस पर इस्तरी करने की जरुरत थी। धोबी का पता लगाकर उससे तुरन्त इस्तरी कराना सम्भव न था। मैंने अपनी कला का उपयोग करने देने की अनुमति गोखले से चाही।

'मैंन तुम्हारी वकालत का तो विश्वास कर लूँगा, पर इस दुपट्टे पर तुम्हे अपनी धोबी-कला का उपयोग नही करने दूँगा। इस दुपट्टे पर तुम दाग लगा दो तो? इसकी कीमत जानते हो?' यो कहकर अत्यन्त उल्लास से उन्होने प्रसादी की कथा मुझे सुनायी।

मैंने फिर भी बिनती की और दाग न पड़ने देने की जिम्मेदारी ली। मुझे इस्तरी करने की अनुमति मिली और अपनी कुशलता का प्रमाण-पत्र मुझे मिल गया! अब दुनिया मुझे प्रमाण-पत्र न दे तो भी क्या ?

जिस तरह मैं धोबी की गुलामी से छूटा, उसी तरह नाई की गुलामी से भी छूटने का अवसर आ गया। हजामत तो विलायत जानेवाले सब कोई हाथ से बनाना सीख ही लेते है, पर कोई बाल छाँटना भी सीखता होगा, इसका मुझे ख्याल नही हैं। एक बार प्रिटोरिया में मैं एक अंग्रेज हज्जाम की दुकान पर पहुँचा। उसने मेरी हजामत बनाने से साफ इनकार कर दिया

और इनकार करते हुए जो तिरस्कार प्रकट किया, सो घाते में रहा। मुझे दुख हुआ। मैं बाजार पहुँचा। मैंने बाल काटने की मशीन खरीदी और आईने के सामने खडे रहकर बाल काटे। बाल जैसे-तैस कट तो गये, पर पीछे के बाल काटने में बड़ी कठिनाई हुई। सीधे तो वे कट ही न पाये। कोर्ट में खूब कहकहे लगे।

'तुम्हारे बाल ऐसे क्यो हो गये है? सिर पर चुहे तो नही चढ गये थे ?'

मैंने कहा, 'जी नही, मेरे काले सिर को गोरा हज्जाम कैसे छू सकता हैं ? इसलिए कैसे भी क्यो न हो, अपने हाथ से काटे हुए बाल मुझे अधिक प्रिय है।'

इस उत्तर में मित्रो को आश्चर्य नही हुआ। असल में उस हज्जाम का कोई दोष न था। अगर वह काली चमड़ीवालो के बाल काटने लगता तो उसकी रोजी मारी जाती। हम भी अपने अछूतो के बाल ऊँची जाति के हिन्दूओ के हज्जाम को कहाँ काटने देते हैं ? दक्षिण अफ्रीका में मुझे इसका बदला एक नहीं, बल्कि अनेको बार मिला हैं, और चूकि मैं यह मानता था कि यह हमारे दोष का परिणाम है, इसलिए मुझे इस बात से कभी गुस्सा नही आया।

स्वावल्बन और सादगी के मेरे शौक ने आगे चलकर जो तीव्र स्वरुप धारण किया उसका वर्णन यथास्थान होगा। इस चीज का जड़ को मेरे अन्दर शुरु से ही थी। उसके फूलने-फलने के लिए केवल सिंचाई की आवश्यकता थी। वह सिंचाई अनायास ही मिल गयी।

१०. बोअर-युद्ध

सन् 1897 से 1899 के बीच के अपने जीवन के दूसरे अनेक अनुभवो को छोड कर अब में बोअर-युद्ध पर आता हूँ। जब यह युद्ध हुआ तब मेरी सहानुभूति केवल बोअरो की तरफ ही थी। पर मैं मानता था कि ऐसे मामलो में व्यक्तिगत विचारो के अनुसार काम करने का अधिकार मुझे अभी प्राप्त नही हुआ हैं। इस संबंध के मन्थन-चिन्तन का सूक्ष्म निरीक्षण मैंने 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' में किया हैं, इसलिए यहाँ नही करना चाहता। जिज्ञासुओं को मेरी सलाह है कि वे उस इतिहास के पढ़ जाये। यहाँ तो इतना कहना काफी होगा कि ब्रिटिश राज्य के प्रति मेरी वफादारी मुझे उस युद्ध में सम्मिलित होने के लिए जबरदस्ती घसीट ले गयी। मैंने अनुभव किया कि जब मैं ब्रिटिश प्रजाजन के नाते अधिकार माँग रहा हूँ तो उसी नाते ब्रिटिश राज्य की रक्षा में हाथ बटाना भी मेरा धर्म हैं। उस समय मेरी यह राय थी कि हिन्दुस्तान की सम्पूर्ण उन्नति ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर रहकर हो सकती हैं।

अतएव जितने साथी मिले उतनो को लेकर औऱ अनेक कठिनाइयाँ सहकर हमने घायलो की सेवा-शुश्रूषा करने वाली एक टुकड़ी खड़ी की। अब तक साधारणतया यहाँ के अंग्रेजो की यही घारणा थी कि हिन्दुस्तानी संकट के कामो में नहीं पड़ते। इसलिए कई अंग्रेज मित्रो ने मुझे निराश करने वाले उत्तर दिये थे। अकेले डॉक्टर बूथ ने मुझे बहुत प्रोत्साहित किया। उन्होने हमें घायल योद्धाओ की सार-संभाल करना सिखाया। अपनी योग्यता के विषय में हमने डॉक्टरी प्रमाण-पत्र प्राप्त किये। मि. लाटन और स्व. एस्कम्बे ने भी हमारे इस कार्य को पसन्द किया। अन्त में लड़ाई के लिए हमने सरकार से बिनती की। जवाब में सरकार ने हमें धन्यवाद दिया, पर यह सूचित किया कि इस समय हमें आपकी सेवा की आवश्यकता नही हैं।

पर मुझे ऐसी 'ना' से संतोष मानकर बैठना न था। डॉ. बूथ की मदद लेकर उनके साथ मैं नेटाल के बिशप से मिला। हमारी टुकड़ी में बहुत से ईसाई हिन्दुस्तानी थे। बिशप को मेरी यह माँग बहुत पसन्द आयी। उन्होने मदद करने का वचन दिया।

इस बीच परिस्थितियाँ भी अपना काम कर रही थी। बोअरों की तैयारी, दढता, वीरता इत्यादि अपेक्षा से अधिक तेजस्वी सिद्ध हुई । सरकार को बहुत से रंगरुटो की जरुरत पड़ी और अन्त में हमारी बिनती स्वीकृत हुई ।

हमारी इस टुकड़ी में लगभग ग्यारह सौ आदमी थे । उनमें करीब चालीस मुखिया थे । दूसरे कोई तीन सौ स्वतंत्र हिन्दुस्तानी भी रंगरुटो में भरती हुए थे । डॉ. बूथ भी हमारे साथ थे । उस टुकड़ी ने अच्छा काम किया । यद्यपि उसे गोला-बारुद की हद के बाहर ही रहकर काम करना होता था और 'रेड क्रॉस' का संरक्षण प्राप्त था, फिर भी संकट के समय गोला-बारुद की सीमा के अन्दर काम करने का अवसर भी हमें मिला । ऐसे संकट में न पड़ने का इकरार सरकार ने अपनी इच्छा से हमारे साथ किया था, पर स्पियांकोप की हार के बाद हालत बदल गयी । इसलिए जनरल बुलर ने यह संदेशा भेजा कि यद्यपि आप लोग जोखिम उठाने के लिए वचन-बद्ध नही हैं, तो भी यदि आप जोखिम उठा कर घायल सिपाहियों और अफसरो को रणक्षेत्र से उठाकर और डोलियों में डालकर ले जाने को तैयार हो जायेंगे तो सरकार आपका उपकार मानेगी । हम तो जोखिम उठाने को तैयार ही थे । अतएव स्पियांकोप की लड़ाई के बाद हम गोला-बारुद की सीमा के अन्दर काम करने लगे ।

इन दिनों सबको कई बार दिन में बीस-पचीस मील की मंजिल तय करनी पड़ती थी और एक बार तो घायलो को ड़ोली में डालकर इतने मील चलना पड़ा था । जिन घायल योद्धाओ को हमें ले जाना पड़ा, उनमें जनरल वुडगेट वगैरा भी थे।

छह हफ्तो के बाद हमारी टुकड़ी को बिदा दी गयी । स्पियांकोप और वालक्रान्ज की हार के बाद लेडी स्मिथ आदि स्थानो को बोअरों के घेरे में से बड़ी तेजी के साथ छुडाने का विचार ब्रिटिश सेनापति में छोड दिया था, और इग्लैंड तथा हिन्दुस्तान से और अधिक सेना के आने की राह देखने लगे तथा धीमी गति से काम करने का निश्चय किया था ।

हमारे छोटे-से काम की उस समय तो बडी स्तुति हुई । इससे हिन्दुस्तानियों की प्रतिष्ठा बड़ी । 'आखिर हिन्दुस्तानी साम्राज्य के वारिस तो है ही ' इस आशय के गीत गाये । जनरल बुलर ने अपने खरीते में हमारी टुकड़ी के काम की तारीफ की । मुखियो को युद्ध के पदक भी मिले।

इससे हिन्दुस्तानी कौम अधिक संगठित हो गयी। मैं गिरमिटिया हिन्दुस्तानियों के अधिक सम्पर्क में आ सका। उनमें अधिक जागृति आयी। और हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, मद्रासी, गुजराती, सिन्धी सब हिन्दुस्तानी है, यह भावना अधिक दढ हुई। सबने माना कि अब हिन्दुस्तानियों के दुःख दूर होने ही चाहिए। उस समय तो गोरो के व्यवहार में भी स्पष्ट परिवर्तन दिखायी दिया।

लड़ाई में गोरो के साथ जो सम्पर्क हुआ वह मधुर था। हमें हजारो टॉमियो के साथ रहने का मौका मिला। वे हमारे साथ मित्रता का व्यवहार करते थे, और यह जानकर कि हम उनकी सेवा के लिए आये है, हमारा उपकार मानते थे।

दुःख के समय मनुष्य का स्वभाव किस तरह पिघलता है, इसका एक मधुर संस्मरण यहाँ दिये बिना मैं रह नही सकता। हम चीवली छावनी की तरफ जा रहे थे। यह वही क्षेत्र था, जहाँ लॉर्ड रॉबर्टस के पुत्र को प्राणघातक चोट लगी थी। लेफ्टिनेंट रॉबर्टस के शब को ले जाने का सम्मान हमारी टुकड़ी को मिला था। अगले दिन धूप तेज थी। हम कूच कर रहे थे। सब प्यासे थे। पानी पीने के लिए रास्ते में एक छोटा-सा झरना पड़ा। पहने पानी कौन पीये ? मैंने सोचा कि पहले टॉमी पानी पी ले, बाद में हम पीयेंगे। पर टॉमियों में हमें देखकर तुरन्त हमसे पानी पीने लेने का आग्रह शुरु कर दिया, और इस तरह बड़ी देर तक हमारे बीच 'आप पहले, हम पीछे' का मीठा झगड़ा चलता रहा।

११. सफाई-आन्दोलन और अकाल-कोष

समाज के एक भी अंग का निरुपयोगी रहना मुझे हमेंशा अखरा है। जनता के दोष छिपाकर उसका बचाव करना अथवा दोष दूर किये बिना अधिकार प्राप्त करना मुझे हमेशा अरुचिकर लगा हैं। इसलिए दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले हिन्दुस्तानियो पर लगाये जानेवाले एक आरोप का, जिसमें कुछ तथ्य था, मैंने इलाज करने का काम मैंने वहाँ के निवासकाल में ही सोच लिया था। हिन्दुस्तानियो पर जब-तब यह आरोप लगाया जाता था कि वे अपने घर-बार साफ नहीं रखते और बहुत गन्दे रहते हैं। इस आरोप को निःशेष करने के लिए आरम्भ में हिन्दुस्तानियों के मुखिया माने जाने वाले लोगो के घरो में तो सुधार आरम्भ हो ही चुके थे। पर घर-घर घूमने का सिलसिला तब शुरु हुआ जब डरबन में प्लेग के प्रकोप का डर पैदा हुआ। इसमें म्युनिसिपैलिटी के अधिकारियो का भी सहयोग और सम्मति थी। हमारी सहायता मिलने से उनका काम हलका हो गया और हिन्दुस्तानियों को कम कष्ट उठाने पड़े क्योकि साधारणतः जब प्लेग आदि का उपद्रव होतो हैं तब अधिकारी घबरा जाते हैं और उपायो की योजना में मर्यादा से आगे बढ जाते हैं। जो लोग उनकी दृष्टि में खटकते हैं, उन पर उनका दबाव असह्य हो जाता हैं। भारतीय समाज में खुद ही सख्त उपायो से काम लेना शुरु कर दिया था, इसलिए वह इन सख्तियों से बच गया।

मुझे कुछ कड़वे अनुभव भी हुए। मैंने देखा कि स्थानीय सरकार से अधिकारों की माँग करने में जितनी सरलता से मैं अपने समाज की सहायता पर सकता था, उतनी सरलता से लोगो से उनके कर्तव्य का पालन कराने के काम में सहायता प्राप्त न कर सका। कुछ जगहो पर मेरा अपमान किया जाता, कुछ जगहो पर विनय-पूर्वक उपेक्षा का परिचय दिया जाता। गन्दगी साफ करने के लिए कष्ट उठाना उन्हे अखरता था। तब पैसा खर्च करने की तो बात ही क्या ? लोगो से कुछ भी काम कराना हो तो धीरज रखना चाहिए, यह पाठ मैंने सीख लिया। सुधार की गरज तो सुधारक की अपनी होती हैं। जिस समाज में वह सुधार कराना चाहता है, उससे तो उसे विरोध, तिरस्कार और प्राणों के संकट की भी आशा रखनी चाहिए।

सुधारक जिस सुधार मानता है, समाज उसे बिगाड़ क्यो न माने ? अथवा बिगाड़ न भी माने तो भी उसके प्रति उदासीन क्यो न रहे ?

इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज में घर-बार साफ रखने के महत्त्व को न्यूनाधिक मात्रा में स्वीकार कर लिया गया। अधिकारियो की दृष्टि में मेरी साख बढ़ी। वे समझ गये कि मेरा धन्धा केवल शिकायत माँगने का ही नहीं हैं, बल्कि शिकायते करने या अधिकार माँगने में मैं जितना तत्पर हूँ, उतना ही उत्साह और ढृढता भीतरी सुधार के लिए भी मुझ में हैं।

पर अभी समाज की वृत्ति को दूसरी एक दिशा में विकसित करना बाकी था। इन उपनिवेशवासी भारतीयो को भारतवर्ष के प्रति अपना धर्म भी अवसर आने पर समझना और पालना था। भारतवर्ष तो कंगाल हैं। लोग धन कमाने के लिए परदेश जाते हैं। उनकी कमाई का कुछ हिस्सा भारतवर्ष को उसकी आपत्ति के समय मिलना चाहिए। सन् 1817 में यहाँ अकाल पडा था और सन् 1899 में दूसरा भारी अकाल पड़ा। इन दोनो अकालो के समय दक्षिण अफ्रीका से अच्छी मदद आयी थी। पहले अकाल के समय जितनी रकम इकट्ठा हो सकी थी, दूसरे अकाल के मौके पर उससे कहीं अधिक रकम इकट्ठा हुई थी। इस चंदे में हमने अंग्रेजो से भी मदद माँगी थी और उनकी ओर से अच्छा उत्तर मिला। गिरमिटिया हिन्दुस्तानियो ने भी अपने हिस्से की रकम जमा करायी थी।

इस प्रकार इन दो अकालो के समय जो प्रथा शुरु हुई वह अब तक कायम है, औऱ हम देखते है कि जब भारतवर्ष में कोई सार्वजनिक संकट उपस्थित होता हैं तब दक्षिण अफ्रीका की ओर से वहाँ बसने वाले भारतीय हमेंशा अच्छी रकमें भेजते हैं।

इस तरह दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की सेवा करते हुए मैं स्वयं धीरे-धीरे कई बाते अनायास ही सीख रहा था। सत्य एक विशाल वृक्ष है। ज्यो ज्यो उसकी सेवा की जाती हैं, त्यो-त्यो उसमें से अनेक फल पैदा होते दिखायी पड़ते हैं। उनका अन्त ही नही होता। हम जैसे-जैसे उसकी गहराई में उतरते जाते हैं, वैसे-वैसे उसमें से अधिक रत्न मिलते जाते है, सेवा के अवसर प्राप्त होते रहते हैं।

१२. देश-गमन

लड़ाई के काम मुक्त होने के बाद मैंने अनुभव किया कि अब मेरा काम दक्षिण अफ्रीका में नहीं, बल्कि हिन्दुस्तानी में हैं । मैंने देखा कि दक्षिण अफ्रीका में बैठा-बैठा मैं कुछ सेवा तो अवश्य कर सकूँगा, पर वहाँ मेरा मुख्य धन्धा धन कमाना ही हो जायगा ।

देश का मित्रवर्ग भी देश लौट आने के लिए बराबर आग्रह करता रहता था । मुझे भी लगा कि देश जाने से मेरा उपयोग अधिक हो सकेगा । नेटाल में मि. खान और मनसुखलाल नाजर थे ही ।

मैंने साथियो के सामने मुक्त होने की इच्छा प्रकट की । बड़ी कठिनाई से एक शर्त के साथ वह स्वीकृत हुई । शर्त यह कि यदि एक वर्ष के अन्दर कौम को मेरी आवश्यकता मालूम हुई, तो मुझे वापस दक्षिण अफ्रीका पहुँचना होगा । मुझे यह शर्त कड़ी लगी, पर मैं प्रेमपाश में बँधा हुआ था :

काचे रे तांतणे मने हरजीए बाँधी,
जेम ताणे तेम तेमनी रे,
मने लागी कटारी प्रेमनी ।

(हरिजी ने मुझे कच्चे -- प्रेम के -- घागे से बाँध रखा हैं । वे ज्यो-ज्यो उसे खीचते हैं त्यो-त्यो मैं उनकी होती जाती हूँ । मुझे प्रेम की कटारी लगी हैं ।)

मीराबाई की यह उपमा थोड़े-बहुत अंशो में मुझ पर घटित हो रही हैं । पंच भी परमेंश्वर ही हैं । मित्रों की बात को मैं ठुकरा नहीं सकता था । मैंने वचन दिया और उनकी अनुमति प्राप्त की।

कहना होगा कि इस समय मेरा निकट सम्बन्ध नेटाल के साथ ही था । नेटाल के हिन्दुस्तानियो ने मुझे प्रेमामृत से नहला दिया । जगह-जगह मानपत्र समर्पण की सभाये हुई और हर जगह से कीमती भेटे मिली ।

सन् 1896 में जब मैं देश आया था, तब भी भेट मिली थी। पर इस बार की भेटो से और सभाओ के दृश्य से मैं अकुला उठा। भेंटों में सोने-चाँदी की चीजे तो थी ही, पर हीरे की चीजें भी थी।

इन सब चीजों को स्वीकार करने का मुझे क्या अधिकार था ? यदि मैं उन्हें स्वीकार करता तो अपने मन को यह कैसे समझता कि कौम की सेवा मैं पैसे लेकर नही करता ? इन भेटों में से मुबक्किलो की दी हुई थोड़ी चीजो को छोड़ दे, तो बाकी सब मेरी सार्वजनिक सेवा के निमित्त से ही मिली थी। फिर, मेरे मन में तो मुवक्किलो और दूसरे साथियो के बीच कोई भेद नही था। खास-खास सभी मुवक्किल सार्वजनिक कामो में भी मदद देनेवाले थे।

साथ ही, इन भेटों में से पचास गिन्नियों का एक हार कस्तूरबाई के लिए था। पर वह वस्तु भी मेरी सेवा के कारण ही मिली थी। इसलिए वह दूसरी भेटों से अलग नही की जा सकती थी।

जिस शाम को इनमें से मुख्य भेटे मिली थी, वह रात मैंने पागल की तरह जागकर बितायी। मैं अपने कमरे में चक्कर काटता रहा, पर उलझन किसी तरह सुलझती न थी। सैकड़ों की कीमत के उपहारो को छोडना कठिन मालूम होता था, रखना उससे भी अधिक कठिन लगता था।

मन प्रश्न करता, मैं शायद भेटों को पचा पाऊँ, पर मेरे बच्चो का क्या होगा ? स्त्री का क्या होगा ? उन्हे शिक्षा तो सेवा की मिलती थी। उन्हें हमेंशा समझाया जाता था कि सेवा के दाम नहीं लिये जा सकते। मैं घर में कीमती गहने वगैरा रखता नही था। सादगी बढती जा रही थी। ऐसी स्थिति में सोने की जंजीर और हीरे की अंगूठियाँ कौन पहनता ? मैं उस समय भी गहनो-गाँठो का मोह छोड़ने का उपदेश औरो को दिया करता था। अब इन गहनो और जवाहरात का मैं क्या करता ?

मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि मुझे ये चीजे रखनी ही नही चाहिए। पारसी रुस्तमजी आदि को इन गहनो का ट्रस्टी नियुक्त करके उनके नाम लिखे जाने वाले पत्र का मसविदा मैंने तैयार किया, और सबेरे स्त्री-पुत्रादि से सलाह करके अपना बोझ हलका करने का निश्चय किया।

मैं जानता था कि धर्मपत्नी को समझाना कठिन होगा । बच्चो को समझाने में जरा भी कठिनाई नहीं होगी, इसका मुझे विश्वास था। अतः उन्हे इस मामले में वकील बनाने का मैंने निश्चय किया।

लड़के तो तुरन्त समझ गये। उन्होने कहा, 'हमें इन गहनो की आवश्यकता नही हैं। हमें ये सब लौटा ही देने चाहिए। और जीवन में कभी हमें इन वस्तुओ की आवश्यकता हुई तो क्या हम स्वयं न खरीद सकेगे ?'

मैं खुश हुआ। मैंने पूछा, 'तो तुम अपनी माँ को समझाओगे न ?'

'जरुर, जरुर। यह काम हमारा समझिये। उसे कौन ये गहने पहनने है ? वह तो हमारे लिए ही रखना चाहती हैं। हमें उनकी जरुरत नहीं हैं, फिर वह हठ क्यो करेगी?'

पर काम जितना सोचा था उससे अधिक कठिन सिद्ध हुआ।

'भले आपको जरुरत न हो और आपके लड़को को भी न हो। बच्चो को तो जिस रास्ते लगा दो, उसी रास्ते वे लग जाते हैं। भले मुझे न पहनने दे, पर मेरी बहुओ का क्या होगा ? उनके तो ये चीजे काम आयेगी न ? और कौन जानता है कल क्या होगा ? इतने प्रेम से दी गयी चीजे वापस नही दी जा सकती ।' पत्नी की वाग्धारा चली और उसके साथ अश्रुधारा मिल गयी। बच्चे ढृढ़ रहे। मुझे तो डिगना था ही नही।

मैंने धीरे से कहा, 'लड़कों का ब्याह तो होने दो। हमें कौन उन्हें बचपन में ब्याहना है ? बड़े होने पर तो ये स्वयं ही जो करना चाहेगे, करेगे। और हमें कहाँ गहनो की शौकिन बहुएँ खोजनी हैं ? इतने पर भी कुछ कराना ही पड़ा, तो मैं कहाँ चला जाऊँगा ?'

'जानती हूँ आपको। मेरे गहने भी तो आपने ही ले लिये न ? जिन्होने मुझे सुख से न पहनने दिये, वह मेरी बहुओ के लिए क्या लाऐये? लड़को को आप अभी से बैरागी बना रहे हैं ! ये गहने वापस नही दियें जा सकते। और, मेरे हार पर आपको क्या अधिकार हैं ?'

मैंने पूछा, 'पर यह हार तो तुम्हारी सेवा के बदले मिला हैं या मेरी सेवा के?'

'कुछ भी हो। आपकी सेवा मेरी ही सेवा हुई। मुझे से आपने रात-दिन जो मजदूरी करवायी वह क्या सेवा में शुमार न होगी ? मुझे रुलाकर भी आपने हर किसी को घर में ठहराया और उसकी चाकरी करवायी, उसे क्या कहेंगे ? '

ये सारे बाण नुकीले थे। इनमें से कुछ चुभते थे, पर गहने तो मुझे वापस करने ही थे। बहुत-सी बातो में मैं जैसे-तैसे कस्तूरबा की सहमति प्राप्त कर सका। 1896 में और 1901 में मिली हुई भेटे मैंने लौटा दी। उनका ट्रस्ट बना और सार्वजनिक काम के लिए उनका उपयोग मेरी अथवा ट्रस्टियों की इच्छा के अनुसार किया जाय, इस शर्त के साथ वे बैंक में रख दी गयी। इन गहनों को बेचने के निमित्त से मैं कई बार पैसे इक्टठा कर सका हूँ। आज भी आपत्ति-कोष के रुप में यह धन मौजूद हैं और उसमें वृद्धि होती रहती है। अपने इस कार्य पर मुझे कभी पश्चाताप नहीं हुआ। दिन बितने पर कस्तूरबा को भी इसके औचित्य प्रतीति हो गयी। इससे हम बहुत से लालचो से बच गये हैं।

मेरा यह मत बना है कि सार्वजनिक सेवक के लिए निजी भेंटे नही हो सकती।

१३. देश में

इस प्रकार मैं देश जाने के लिए बिदा हुआ। रास्ते में मारिशस (टापू) पड़ता था। वहाँ जहाज लम्बे समय तक ठहरा था। इसलिए मैं मारिशस में उतरा और वहाँ की स्थिति की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त कर ली। एक रात मैंने वहाँ के गवर्नर सर चार्ल्स ब्रूस के यहाँ बितायी थी।

हिन्दुस्तान पहुँचने पर थोड़ा समय मैंने घूमने-फिरने में बिताया। यह सन् 1901 का जमाना था। उस साल की काँग्रेस कलकत्ते में होने वाली थी। दीनशा एदलजी वाच्छा उसके अध्यक्ष थे। मुझे तो काँग्रेस में तो जाना ही था। काँग्रेस का यह मेरा पहला अनुभव था।

बम्बई से जिस गाड़ी में सर फीरोजशाह मेहता रवाना हुए उसी में मैं भी गया था। मुझे उनसे दक्षिण अफ्रीका के बारे में बाते करनी थी। उनके डिब्बे में एक स्टेशन तक जाने की मुझे अनुमति मिली थी। उन्होंने तो खास सलून का प्रबन्ध किया था। उनके शाही खर्च और ठाठबाट से मैं परिचित था। जिस स्टेशन पर उनके डिब्बे में जाने की अनुमतु मिली थी, उस स्टेशन पर मैं उसमें पहुँचा। उस समय उनके डिब्बे में तबके दीनशाजी और तबके चिमनलाल सेतलवाड़ (इन दोनो को 'सर' की उपाधि बाद में मिली थी) बैठे थे। उनके साथ राजनीतिक चर्चा चल रही थी। मुझे देखकर सर फिरोजशाह बोले, 'गांधी, तुम्हारा काम पार न पड़ेगा। तुम जो कहोगे सो प्रस्ताव तो हम पास कर देंगे, पर अपने देश में ही हमें कौन से अधिकार मिलते हैं ? मैं तो मानता हूँ कि जब तक अपने देश में हमें सत्ता नही मिलती, तब तक उपनिवेशों में तुम्हारी स्थिति सुधर नही सकती।'

मैं तो सुनकर दंग ही रह गया। सर चिमनलाल ने हाँ में हाँ मिलायी। सर दीनशा ने मेरी ओर दयार्द्र दृष्टि से देखा। मैंने समझाने का कुछ प्रयत्न किया, परन्तु बम्बई के बेताज के बादशाह को मेरे समान आदमी क्या समझा सकती था ? मैंने इतने से ही संतोष माना कि मुझे काँग्रेस में प्रस्ताव पेश करने दिया जायगा।

सर दीनशा वाच्छा मेरा उत्साह बढाने के लिए बोले, 'गांधी, प्रस्ताव लिख कर मुझे बताना भला !'

मैंने उनका उपकार माना। दूसरे स्टेशन पर ज्यो ही गाड़ी खड़ी हुई, मैं भागा और अपने डिब्बे में घुस गया।

हम कलकत्ते पहुँचे। अध्यक्ष आदि नेताओं को नागरिक धूमधाम से ले गये। मैंने किसी स्वयंसेवक से पूछा, 'मुझे कहाँ जाना चाहिए ?'

वह मुझे रिपन कॉलेज ले गया। वहाँ बहुत से प्रतिनिधि ठहराये गये थे। मेरे सौभाग्य से जिस विभाग में मैं था, उसी मे लोकमान्य तिलक भी ठहरे हुए थे। मुझे याद पड़ता है कि एक दिन बाद पहुँचे थे। जहाँ लोकमान्य हो वहाँ छोटा सा दरबार तो गल ही जाता था। मैं चित्रकार होता, तो जिस खटिया पर वे बैठते थे, उसका चित्र खींच लेता। उस जगह का और उनकी बैठक का आज भी मुझे इतना स्पष्ट स्मरण हैं। उनसे मिलने आनेवाले अनगिनत लोगो में से एक ही नाम मुझे अब याद हैं'अमृतबाजार पत्रिका' के मोतीबाबू। उन दोनों का खिलखिलाकर हँसना और राज्यकर्ताओं के अन्याय के विषय में उनकी बाते भूलने योग्य नही है।

लेकिन वहाँ की व्यवस्था को थोड़ा देखें।

स्वयंसेवक एक-दूसरे से टकराते रहते थे। जो काम जिसे सौपा जाता, वह स्वयं उसे नही करता था। वह तुरन्त दूसरे को पुकारता था। दूसरा तीसरे को। बेचारा प्रतिनिधि तो न तीन में होता, न तेरह में।

मैंने अनेक स्वयंसेवको से दोस्ती की। उनसे दक्षिण अफ्रीका की कुछ बातें कीं। इससमें वे जरा शरमिन्दा हुए। मैंने उन्हें सेवा का मर्म समझाने का प्रयत्न किया। वे कुछ समझे। पर सेवा की अभिरुचि कुकुरमुत्ते की तरह बात की बात में तो उत्पन्न नहीं होती। उनके लिए इच्छा चाहिए और बाद में अभ्यास। इन भोले और भले स्वयंसेवको में इच्छा तो बहुत थी, पर तालीम और अभ्यास वे कहाँ से पाते ? काँग्रेस साल में तीन दिन के लिए इक्टठा होकर फिर सो जाती थी। साल में तीन दिन की तालीम से कितना सीखा जा सकता था ?

जैसे स्वयंसेवक थे, वैसे ही प्रतिनिधि थे। उन्हें भी इतने ही दिनो की तालीम मिलती थी। वे अपने हाथ से अपना कोई भी काम न करते थे।

सब बातो में उनके हुक्म छूटते रहते थे । 'स्वयंसेवक यह लाओ, स्वयंसेवक वह लाओ' चला ही करता था ।

अखा भगत (गुजरात के एक भक्तकवि । इन्होने अपने एक छप्पय में छुआछूत को 'आभडछेट अदकेरो अंग' कहकर उसका विरोध किया हैं और कहा हैं कि हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता के लिए कोई स्थान नहीं हैं ।के 'अदकेरा अंग' 'अतिरिक्त अंग' का भी ठीक-ठीक अनुभव हुआ । छुआछूत को मानने वाले वहाँ बहुत थे । द्राविड़ी रसोई बिल्कुल अलग थी । उन प्रतिनिधियों को तो 'दृष्टिदोष' भी लगता था ! उनके लिए कॉलेज के अहाते में चटाइयो का रसोईघर बनाया गया था । उसमें घुआँ इतना रहता था कि आदमी का दम घुट जाय । खाना-पीना सब उसी के अन्दर । रसोईघर क्या था, एक तिजोरी थी । वह कहीं से भी खुला न था ।

मुझे यह वर्णधर्म उलटा लगा । काँग्रेस में आने वाले प्रतिनिधि जब इतनी छुआछूत रखते हैं, तो उन्हें भेजने वाले लोग कितनी रखते होंगे ? इस प्रकार का त्रैराशिक लगाने से जो उत्तर मिला, उस पर मैंने एक लम्बी साँस ली ।

गंदगी की हद नही थी । चारो तरफ पानी ही पानी फैल रहा था । पखाने कम थे । उनकी दुर्गन्ध की याद आज भी मुझे हैरान करती हैं । मैंने एक स्वयंसेवक को यह सब दिखाया । उसने साफ इनकार करते हुए कहा, 'यह तो भंगी का काम हैं ।' मैं झाड़ू माँगा । वह मेरा मुँह ताकता रहा । मैंने झाड़ू खोज निकाला । पाखाना साफ किया । पर यह तो मेरी अपनी सुविधा के लिए हुआ । भीड़ इतनी ज्यादा थी और पाखाने इतने कम थे कि हर बार के उपयोग के बाद उनकी सफाई होनी जरुरी थी । यह मेरी शक्ति के बाहर की बात थी । इसलिए मैंने अपने लायक सुविधा करके संतोष माना । मैंने देखा कि दूसरो को यह गंदगी जरा भी अखरती न थी ।

पर बात यहीं खतम नही होती । रात के समय कोई-न-कोई तो कमरे के सामने वाले बरामदे में ही निबट लेते थे । सवेरे स्वयंसेवको को मैंने मैंला दिखाया । कोई साफ करने को तैयार न था । उसे साफ करने का सम्मान भी मैंने ही प्राप्त किया ।

यद्यपि अब इन बातो में बहुत सुधार हो गया हैं, फिर भी अविचारी प्रतिनिधि अबतक को जहाँ-तहाँ काँग्रेस के शिविर को जहाँ-तहाँ मल त्याग करके गन्दा करते हैं और सब स्वयंसेवक उसे साफ करने के लिए तैयार नहीं होते।

मैंने देखा कि अगर ऐसी गंदगी में काँग्रेस की बैठक अधिक दिनो तक जारी रहती, तो अवश्य बीमारी फैल जाती।

१४. क्लर्क और बैरा

काँग्रेस के अधिवेशन को एक-दो दिन की देर थी। मैंने निश्चय किया था कि काँग्रेस के कार्यालय में मेरी सेवा करूँ और अनुभव लूँ।

जिस दिन हम पहुँचे उसी दिन नहा-धोकर मैं काँग्रेस के कार्यालय में गया। श्री भूपेन्द्रनाथ बसु और श्री घोषाल मंत्री थे। मैं भूपेन्द्रबाबू के पास पहुँचा और सेवा की माँग की। उन्होंने मेरी ओर देखा और बोले, 'मेरे पास तो कोई काम नहीं हैं, पर शायद मि. घोषाल आपको कुछ काम दे सकेंगे। उनके पास जाइये।

मैं घोषालबाबू के पास गया। उन्होने मुझे ध्यान से देखा और जरा हँस कर मुझ से पूछा, 'मेरे पास तो क्लर्क का काम हैं, आप करेंगे ?'

मैंने उत्तर दिया, 'अवश्य करुँगा। मेरी शक्ति से बाहर न हो, ऐसा हर काम करने के लिए मैं आपके पास आया हूँ।'

'नौजवान, यही सच्ची भावना हैं।' और पास बगल में खडे स्वयंसेवको की ओर देखकर बोले, 'सुनते हो, यह युवक क्या कह रहा हैं?'

फिर मेरी ओर मुडकर बोले, 'तो देखिये, यह तो है पत्रो का ढेर और यह मेरे सामने कुर्सी हैं। इस पर आप बैठिये। आप देखते हैं कि मेरे पास सैकड़ो आदमी आते रहते हैं। मैं उनसे मिलूँ या इन बेकार पत्र लिखने वालो को उनके पत्रो का जवाब लिखूँ ? मेरे पास ऐसे क्लर्क नही हैं, जिनसे यह काम ले सकूँ। पर आप सबको देख जाइये। जिसकी पहुँच भेजना उचित समझे उसकी पहुँच भेज दीजिये। जिसके जवाब के बारे में मुझ से पूछना जरुरी समझे, मुझे पूछ लीजिये।' मैं तो इस विश्वास से मुग्ध हो गया।

श्री घोषाल मुझे पहचानते न थे। नाम-घाम जानने का काम तो उन्होंने बाद में किया। पत्रो का ढेर साफ करने का काम मुझे बहुत आसान लगा। अपने सामने रखे हुए ढेर को मैंने तुरन्त निबटा दिया। घोषालबाबू खुश हुए। उनका स्वभाव बातूनी था। मैं देखता था बातो में वे अपना बहुत समय बिता देते थे। मेरा इतिहास जानने के बाद तो मुझे क्लर्क का काम

सौपने के लिए वे कुछ लज्जित हुए। पर मैंने उन्हें निश्चिन्त कर दिया, 'कहाँ आप और कहाँ मैं ? आप काँग्रेस के पुराने सेवक हैं, मेरे गुरूजन हैं। मैं एक अनुभवहीन नवयुवक हूँ। यह काम सौपकर आपने मुझ पर उपकार ही किया हैं, क्योंकि मुझे काँग्रेस में काम करना हैं। उसके कामकाज की समझने का आपने मुझे अलभ्य अवसर दिया हैं।'

घोषालबाबू बोले, 'असल में यही सच्ची वृत्ति हैं। पर आज के नवयुवक इसे नहीं मानते। वैसे मैं तो काँग्रेस को उसके जन्म से जानता हूँ। उसे जन्म देने में मि. हयूम के साथ मेरा भी हिस्सा था।'

हमारे बीच अच्छी मित्रता हो गयी। दोपहर के भोजन में उन्होंने मुझे अपने साथ ही रखा। घोषालबाबू के बटन भी 'बैरा' लगाता था। यह देखकर 'बैरे' का काम मैंने ही ले लिया। मुझे वह पसन्द था। बड़ो के प्रति मेरे मन में बहुत आदर था। जब वे मेरी वृत्ति समझ गये. तो अपने निजी सेवा के सारे काम मुझसे लेने लगे। बटन लगाते समय मुझे मुसकराकर कहते, 'देखिये न, काँग्रेस के सेवक को बटन लगाने का भी समय नहीं मिलता, क्योंकि उस समय भी उसे काम रहता हैं !'

इस भोलेपन पर मुझे हँसी तो आयी, पर ऐसी सेवा के प्रति मन में थोड़ी अरुचि उत्पन्न न हुई। और मुझे जो लाभ हुआ, उसकी तो कीमत आँकी ही नही जा सकती।

कुछ ही दिनों में मुझे काँग्रेस की व्यवस्था का ज्ञान हो गया। कई नेताओ से भेट हुई। गोखले, सुरेन्द्रनाथ आदि योद्धा आते-जाते रहते थे। मैं उनकी रीति-नीति देख सका। वहाँ समय की जो बरबादी होती थी, उसे भी मैंने अनुभव किया। अंग्रेजी भाषा का प्राबल्य भी देखा। इससे उस समय भी मुझे दुःख हुआ था। मैंने देखा कि एक आदमी से हो सकने वाले काम में अनेक आदमी लग जाते थे, और यह भी देखा कि कितने ही महत्त्वपूर्ण काम कोई करता ही न था।

मेरा मन इस सारी स्थिति की टीका किया करता था। पर चित्त उदार था, इसलिए वह मान लेता था कि जो हो रहा हैं, उसमें अधिक सुधार करना सम्भव न होगा। फलतः मन में किसी के प्रति अरुचि पैदा न होती थी।

१५. काँग्रेस में

काँग्रेस का अधिवेशन शुरु हुआ। पंडाल का भव्य दृश्य, स्वयंसेवको की कतारें, मंच पर नेताओं की उपस्थिति इत्यादि देखकर मैं घबरा गया। इस सभा में मेरा पता कहाँ लगेगा, यह सोचकर मैं अकुला उठा।

सभापति का भाषण तो एक पुस्तक ही थी। स्थिति ऐसी नही थी कि वह पूरा पढ़ा जा सके। अतः उसके कुछ अंश ही पढ़े गये।

बाद में विषय-निर्वाचिनी समिति के सदस्य चुने गये। उसमें गोखले मुझे ले गये थे।

सर फिरोजशाह ने मेरा प्रस्ताव लेने की स्वीकृति तो दी थी, पर उसे काँग्रेस की विषय-निर्वाचिनी समिति में कौन प्रस्तुत करेगा, कब करेगा, यह सोचता हुआ मैं समिति में बैठा रहा। हरएक प्रस्ताव पर लम्बे-लम्बे भाषण होते थे, सब अंग्रेजी में। हरएक के साथ प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम जुड़े होते थे। इस नक्कारखाने में मेरी तूती की आवाज कौन सुनेगा ? ज्यो-ज्यो रात बीतती जाती थी, त्यो-त्यो मेरा दिल घड़कता जाता था। मुझे याद आ रहा है कि अन्त में पेश होने वाले प्रस्ताव आजकल के विमानो की गति से चल रहे थे। सब कोई भागने की तैयारी में थे। रात के ग्यारह बज गये थे। मुझमें बोलने की हिम्मत न थी। मैं गोखले से मिल चुका था और उन्होने मेरा प्रस्ताव देख लिया था।

उनकी कुर्सी के पास जाकर मैंने धीरे से कहा, 'मेरे लिए कुछ कीजियेगा।'

उन्होंने कहा, 'आपके प्रस्ताव को मैं भूला नही हूँ। यहाँ की उतावली आप देख रहे हैं, पर मैं इस प्रस्ताव को भूलने नहीं दूँगा।'

सर फीरोजशाह बोले, 'कहिये, सब काम निबट गया न ?'

गोखले बोल उठे, 'दक्षिण अफ्रीका का प्रस्ताव तो बाकी ही हैं। मि. गांधी कब से बैठे राह देख रहे हैं। '

सर फीरोजशाह ने पूछा, 'आप उस प्रस्ताव को देख चुके हैं ?'

'हाँ।'

'आपको वह पसन्द आया ?'

'काफी अच्छा हैं।'

'तो गांधी, पढ़ो।'

मैंने काँपते हुए प्रस्ताव पढ़ सुनाया।

गोखले ने उसका समर्थन किया।

सब बोल उठे, 'सर्व-सम्मति से पास।'

वाच्छा बोले, 'गांधी, तुम पाँच मिनट लेना।'

इस दृश्य से मुझे प्रसन्नता न हुई। किसी ने भी प्रस्ताव को समझने का कष्ट नहीं उठाया। सब जल्दी में थी। गोखने में प्रस्ताव देख लिया था, इसलिए दूसरो को देखने-सुनने की आवश्यकता प्रतीत न हुई।

सवेरा हुआ।

मुझे तो अपने भाषण की फिक्र थी। पाँच मिनट में क्या बोलूँगा ? मैंने तैयारी तो अच्छी कर ली थी, पर उपयुक्त शब्द सूझते न थे। लिखित भाषण न पढ़ने का मेरा निश्चय था। पर ऐसा प्रतीत हुआ कि दक्षिण अफ्रीका में भाषण करने की जो स्वस्थता मुझ में आयी थी, उसे मैं यहाँ खो बैठा था।

मेंरे प्रस्ताव का समय आने पर सर दीनशा ने मेरा नाम पुकारा। मैं खड़ा हुआ। मेरा सिर चकराने लगा। जैसे-तैसे मैंने प्रस्ताव पढ़ा। किसी कवि ने अपनी कविता छपाकर सब प्रतिनिधियों में बाँटी थी। उसमें परदेश जाने की और समुद्र-यात्रा की स्तुति थी। वह मैंने पढ़ सुनायी और दक्षिण अफ्रीका के दुःखो की थोड़ी चर्चा की। इतने में सर दीनशा की घंटी बजी। मुझे विश्वास था कि मैंने अभी पाँच मिनट पूरे नहीं किये हैं। मुझे पता न था कि यह घंटी मुझे चेताने के लिए दो मिनट पहले ही बजा दी गयी थी। मैंने बहुतों को आध-आध, पौने-पौने घंटे बोलते देखा था और घंटी नहीं बजी थी। मुझे दुःख तो हुआ। घंटी बजते ही

मैं बैठ गया। पर उक्त काव्य में सर फीरोजशाह को उत्तर मिल गया, ऐसा मेरी अल्प बुद्धि ने उस समय मान लिया।

प्रस्ताव पास होने के बारे में तो पूछना ही क्या था? उन दिनों दर्शक और प्रतिनिधि का भेद क्वचित् हीं किया जाता था। प्रस्तावो का विरोध करने का कोई प्रश्न ही नही था। सारे प्रस्ताव सर्व-सम्मति से पास होते थे। मेरा प्रस्ताव भी इसी तरह पास हुआ। इसलिए मुझे प्रस्ताव का महत्त्व नही जान पड़ा। फिर भी काँग्रेस में मेरा प्रस्ताव पास हुआ, यह बात ही मेंरे आनन्द के लिए पर्याप्त थी। जिस पर काँग्रेस की मुहर लग गयी उस पर सारे भारत की मुहर हैं, यह ज्ञान किस के लिए पर्याप्त न होगा ?

१६. लार्ड कर्जन का दरबार

काँग्रेस-अधिवेशन समाप्त हुआ, पर मुझे तो दक्षिण अफ्रीका के लिए कलकत्ते में रहकर चेम्बर ऑफ कॉमर्स इत्यादि मंड़लो से मिलना था। इसलिए मैं कलकत्ते में एक महीना ठहरा। इस बार मैंने होटल में ठहरने के बदले परिचय प्राप्त करके 'इंडिया क्लब' में ठहरने की व्यवस्था की। इस क्लब में अग्रगण्य भारतीय उतरा करते थे। इससे मेरे मन में यह लोभ था कि उनसे मेल-जोल बढ़ाकर मैं उनमें दक्षिण अफ्रीका के काम के लिए दिलचस्पी पैदा कर सकूँगा। इस क्लब में गोखले हमेंशा तो नही, पर कभी-कभी बिलियर्ड खेलने आया करते थे। जैसे ही उन्हें पता चला कि मैं कलकत्ते में ठहरने वाला हूँ, उन्होंने मुझे अपने साथ रहने के लिए निमंत्रित किया। मैंने उनका निमंत्रण साभार स्वीकार किया, पर मुझे अपने-आप वहाँ जाना ठीक न लगा। एक-दो दिन बाट जोहता रहा। इतने में गोखले खुद आकर मुझे अपने साथ ले गये। मेरा संकोच देखकर उन्होंने कहा, 'गांधी, तुम्हे इस देश में रहना है। अतएव ऐसी शरम से काम नहीं चलेगा। जितने अधिक लोगो के साथ मेल-जोल बढ़ा सको तुम्हें बढ़ाना चाहिए। मुझे तुमसे काँग्रेस का काम लेना हैं।'

गोखले के स्थान पर जाने से पहले 'इंडिया क्लब' का एक अनुभव यहाँ देता हूँ।

उन्हीं दिनो लार्ड कर्जन का दरबार हुआ। उसमें जानेवाले कोई राजामहाराजा इस क्लब में ठहरे हुए थे। क्लब में तो मैं हमेंशा सुन्दर बंगाली धोती, कुर्ता और चादर की पोशाक में देखता था। आज उन्होंने पतलून, चोगा और चमकीले बूट पहने थे। यह देखकर मुझे दुःख हुआ और मैंने इस परिवर्तन का कारण पूछा।

जवाब मिला, 'हमारा दुःख हम ही जानते हैं। अपनी सम्पति और अपनी उपाधियों को सुरक्षित रखने के लिए हमें जो अपमान सहने पड़ते हैं, उन्हें आप कैसे जान सकते हैं ?'

'पर यह खानसाने-जैसी पगड़ी और ये बूट किसलिए?'

'हममें और खानसामो में आपने क्या फर्क देखा ? वे हमारे खानसामा है, तो हम लार्ड कर्जन के खानसामा हैं। यदि मैं दरबार में अनुपस्थित रहूँ, तो मुझको उसका दण्ड भुगतना पड़े।

अपनी साधारण पोशाक पहनकर जाऊँ तो वह अपराध माना जायेगा। और वहाँ जाकर भी क्या मुझे लार्ड कर्जन से बाते करने का अवसर मिलेगा? कदापि नहीं।'

मुझे इस स्पष्टवक्ता भाई पर दया आयी।

ऐसे ही प्रसंगवाला एक और दरबार मुझे याद आ रहा हैं। जब काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय की नींव लार्ड़ हार्डिग के हाथों रखी गयी, तब उनका दरबार हुआ था। उसमें राजा-महाराजा तो आये ही थे। भारत-भूषण मालवीयजी में मुझसे भी उसमें उपस्थित रहने का विशेष आग्रह किया था। मैं वहाँ गया था। केवल स्त्रियों को ही शोभा देनेवाली राजा-महाराजाओं की पोशाकें देखकर मुझे दुःख हुआ। रेशमी पाजामें, रेशमी अंगरखे और गले में हीरे-मोती की मालाये, हाथ पर बाजूबन्द और पगड़ी पर हीरे-मोती की झालरें ! इन सबके साथ कमर में सोने की मूठवाली तलवार लटकती थी। किसी ने बताया कि ये चीजे उनके राज्याधिकार की नहीं, बल्कि उनकी गुलामी की निशानियाँ थीं। मैं मानता था कि ऐसे नामर्दी-सूजक आभूषण वे स्वेच्छा से पहनते होगे। पर मुझे पता चला कि ऐसे सम्मेलनों में अपने सब मूल्यावन आभूषण पहनकर जाना राजाओं के लिए अनिवार्य था। मुझे यह भी मालूम हुआ कि कईयों को ऐसे आभूषण पहनने से धृणा थी और ऐसे दरबार के अवसर को छोड़कर अन्य किसी अवसर पर वे इन गहनों को पहनते भी न थे। इस बात में कितनी सच्चाई थी, सो मैं जानता नही। वे दूसरे अवसरों पर पहनते हों, क्या वाइसरॉय के दरबार में और क्या दूसरी जगह, औरतों को ही शोभा देने वाले आभूषण पहनेकर जाना पड़े, यही पर्याप्त दुःख की बात हैं। धन, सत्ता और मान मनुष्य से कितने पाप और अनर्थ कराते है !

१७. गोखले के साथ एक महीना -1

पहले ही दिन गोखले ने मुझे यह अनुभव न करने दिया कि मैं मेहमान हूँ। उन्होंने मुझे अपने सगे भाई की तरह रखा। मेरी सब आवश्यकताये जान ली और उनके अनुकूल सारी व्यवस्था कर दी। सौभाग्य से मेरी आवश्यकतायें थोड़ी ही थी। मैंने अपना सब काम स्वयं कर लेने की आदत डाली थी, इसलिए मुझे दूसरो से बहुत थोड़ी सेवा लेनी होती थी। स्वावलम्बन की मेरी इस आदत की, उस समय की मेरी पोशाक आदि की, सफाई की, मेरे उद्यम की और मेरी नियमितता की उनपर गहरी छाप पड़ी थी और इन सबकी वे इतनी तारीफ करते थे कि मैं घबरा उठता था।

मुझे यह अनुभव न हुआ कि उनके पास मुझसे छिपाकर रखने लायक कोई बात थी। जो भी बड़े आदमी उनसे मिलने आते, उनका मुझसे परिचय कराते थे। ऐसे परिचयो में आज मेरी आँखो के सामने सबसे अधिक डॉ. प्रफुल्लचन्द्र राय आते है। वे गोखले के मकान के पास ही रहते थे और कह सकता हूँ कि लगभग रोज ही उनसे मिलने आते थे।

'ये प्रोफेसर राय हैं। इन्हें हर महीने आठ सौ रुपये मिलते हैं। ये अपने खर्च के लिए चालिस रुपये रखकर बाकी सब सार्वजनिक कामों में देते हैं। इन्होंने ब्याह नही किया हैं और न करना चाहते हैं।' इन शब्दों में गोखले ने मुझसे उनका परिचय कराया।

आज के डॉ. राय और उस समय के प्रो. राय में मैं थोड़ा ही फर्क पाता हूँ। जो वेश-भूषा उनकी तब थी, लगभग वहीं आज भी हैं। हाँ, आज वे खादी पहनते हैं उस समय खादी थी ही नहीं। स्वदेशी मिल के कपड़े रहे होगें। गोखले और प्रो. राय की बातचीत सुनते हुए मुझे तृप्ति ही न होती थी, क्योंकि उनकी बातें देशहित की ही होती थी अथवा कोई ज्ञानचर्चा होती थी। कई दुःखद भी होती थी, क्योंकि उनमें नेताओं की टीका रहती थी। इसलिए जिन्हें मैंने महान योद्धा समझना सीखा था, वे मुझे बौने लगने लगे।

गोखले की काम करने की रीति से मुझे जितना आनन्द हुआ उतनी ही शिक्षा भी मिली। वे अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देते थे। मैंने अनुभव किया कि उनके सारे देशकार्य के निमित्त से ही थे। सारी चर्चायें भी देशकार्य के खातिर ही होती थी। उनकी बातों में मुझे

कही मलिनता, दम्भ अथवा झूठ के दर्शन नही हुए। हिन्दुस्तान की गरीबी और गुलामी उन्हें प्रतिक्षण चुभती थी। अनेक लोग अनेक विषयों में उनकी रुचि जगाने के लिए आते थे। उन सबको वे एक ही जवाब देते थे, 'आप यह काम कीजिये। मुझे अपना काम करने दीजिये। मुझे तो देश की स्वाधीनता प्राप्त करनी हैं। उनके मिलने पर ही मुझे दूसरा कुछ सूझेगा। इस समय तो इस काम से मेरे पास एक क्षण भी बाकी नही बचता।'

रानडे के प्रति उनका पूज्यभाव बात-बात में देखा जा सकता था। 'रानडे यह कहते थे' ये शब्द तो उनकी बातचीत में लगभग 'सूत उवाच' जैसे हो गये थे। मैं वहाँ था उन्हीं दिनों रानेडे की जयन्ती (अथवा पुण्यतिथि, इस समय ठीक याद नही हैं) पड़ती थी। ऐसा लगा कि गोखले उसे हमेंशा मनाते थे। उस समय वहाँ मेंरे सिवा उनके मित्र प्रो. काथवटे और दूसरे एक सज्जन थे, जो सब-जज थे। इनको उन्होंने जयन्ती मनाने के लिए निमंत्रित किया औऱ उस अवसर पर उन्होंने हमें रानेडे के अनेक संस्मरण सुनाये। रानडे, तैलंग और मांडलिक की तुलना भी की। मुझे स्मरण है कि उन्होंमें तैलंग की भाषा की प्रशंसा की थी। सुधारक के रुप में मांडलिक की स्तुति की थी। अपने मुवक्किल की वे कितनी चिन्ता रखते थे, इसके दृष्टान्त के रुप में यह किस्सा सुनाया कि एक बार रोज की ट्रेन छूट जाने पर वे किस तरह स्टेशन ट्रेन से अदालत पहुँचे थे। और रानडे की चौमुखी शक्ति का वर्णन करके उस समय के नेताओं में उनकी सर्वश्रेष्ठता सिद्ध की थी। रानडे केवल न्यायमूर्ति नहीं थे, अर्थशास्त्री थे, सुधारक थे। सरकारी जज होते हुए भी वे काँग्रेस में दर्शक की तरह निडर भाव से उपस्थित होते थे। इसी तरह उनकी बुद्धिमत्ता पर लोगो को इतना विश्वास था कि सब उनके निर्णय को स्वीकार करते थे। यह सब वर्णन करते हुए गोखले के हर्ष की की सीमा न रहती थी।

गोखले घोड़ागाड़ी रखते थे। मैंने उनसे इसकी शिकायत की। मैं उनकी कठिनाइयाँ समझ नहीं सका था। पूछा, 'आप सब जगह ट्राम में क्यो नहीं जा सकते ? क्या इससे नेतावर्ग की प्रतिष्ठा कम होती है ?'

कुछ दुःखी होकर उन्होंने उत्तर दिया, 'क्या तुम भी मुझे पहचान न सके? मुझे बड़ी धारासभा से जो रुपया मिलता हैं, उसे मैं अपने काम में नहीं लाता। तुम्हें ट्राम में घुमते देखकर मुझे

ईर्ष्या होती हैं, पर मैं वैसा नही कर सकता। जितने लोग मुझे पहचानते हैं उतने ही जब तुम्हें पहचानने लगेंगे, तब तुम्हारे लिए भी ट्राम में घूमना असम्भव नही तो कठिन अवश्य हो जायेगा। नेता जो कुछ करते हैं सो मौज-शौक के लिए ही करते हैं, यह मानने का कोई कारण नहीं हैं। तुम्हारी सादगी मुझे पसन्द हैं। मैं यथासम्भव सादगी से रहता हूँ। पर तुम निश्चित मानना कि मुझ जैसो के लिए कुछ खर्च अनिवार्य है।'

इस तरह मेरी यह शिकायत तो ठीक ढंग से रद्द हो गयी। पर दूसरी जो शिकायत मैंने की, उसका कोई सन्तोषजनक उत्तर वे नहीं दे सके। मैंने कहा, 'पर आप टहलने भी तो ठीक से नहीं जाते। ऐसी दशा में आप बीमार रहे तो इसमें आश्चर्य क्या ? क्या देश के काम में से व्यायाम के लिए भी फुरसत नहीं मिल सकती ?'

जवाब मिला, 'तुम मुझे किस समय फुरसत में देखते हो कि मैं घूमने जा सकूँ ?'

मेरे मन में गोखले के लिए इतना आदर था कि मैं उन्हें प्रत्युत्तर नहीं देता था। ऊपर के उत्तर से मुझे संतोष नहीं हुआ था, फिर भी चुप रहा। मैंने यह माना है, और आज भी मानता हूँ कि कितने ही काम होने पर भी जिस तरह हम खाने का समय निकाले बिना नहीं रहते, उसी तरह व्यायाम का समय भी हमें निकालना चाहिए। मेरी यह नम्र राय है कि इससे देश की सेवा अधिक ही होती हैं, कम नहीं।

१८. गोखले के साथ एक महीना -2

गोखले की छायातले रहकर मैंने सारा समय घर में बैठकर नही बिताया ।

दक्षिण अफ्रीका के अपने ईसाई मित्रों से मैंने कहा था कि मैं हिन्दुस्तान के ईसाइयों से मिलूँगा और उनकी स्थिति की जानकारी प्राप्त करूँगा । मैंने कालीचरण बैनर्जी का नाम सुना था । वे काँग्रेस के कामों में से अगुआ बनकर हाथ बँटाते थे, इसलिए मेरे मन में उनके प्रति आदर था । साधारण हिन्दुस्तानी ईसाई काँग्रेस से और हिन्दू-मुसलमानों से अलग रहा करते थे । इसलिए उनके प्रति मेरे मन में जो अविश्वास था, वह कालीचरण बैनर्जी के प्रति नहीं था । मैंने उनसे मिलने के बारे में गोखले से चर्चा की । उन्होंने कहा, 'वहाँ जाकर क्या पाओगे ? वे बहुत भले आदमी हैं, पर मेरा ख्याल है कि वे तुम्हें संतोष नहीं दे सकेंगे । मैं उन्हें भलीभाँति जानता हूँ । फिर भी तुम्हें जाना हो तो शौक से जाओ ।'

मैंने समय माँगा । उन्होंने तुरन्त समय दिया और मैं गया । उनके घर उनकी धर्मपत्नी मृत्युशय्या पर पड़ी थी । घर सादा था । काँग्रेस में उनको कोट-पतलून में देखा था। पर घर में उन्हें बंगाली धोती और कुर्ता पहने देखा । यह सादगी मुझे पसन्द आयी । उन दिनों मैं स्वय पारसी कोट-पतलून पहनता था, फिर भी मुझे उनकी यह पोशाक और सादगी बहुत पसन्द पड़ी । मैंने उनका समय न गँवाते हुए अपनी उलझने पेश की ।

उन्होंने मुझसे पूछा, 'आप मानते हैं कि हम अपने साथ पाप लेकर पैदा होते हैं ?'

मैंने कहा, 'जी हाँ ।'

'तो इस मूल पाप का निवारण हिन्दू धर्म में नहीं हैं, जब कि ईसाई धर्म में हैं। ' यो कहकर वे बोले, 'पाप का बदला मौत हैं । बाईबल कहती हैं कि इस मौत से बचने का मार्ग ईसा की शरण हैं ।'

मैंने भगवद् गीता के भक्तिमार्ग की चर्चा की । पर मेरा बोलना निरर्थक था । मैंने इन भले आदमी का उनकी भलमनसाहत के लिए उपकार माना । मुझे संतोष न हुआ, फिर भी इस भेंट से मुझे लाभ ही हुआ ।

मैं यह कह सकता हूँ कि इसी महीने मैंने कलकत्ते की एक-एक गली छान डाली। अधिकांश काम मैं पैदल चलकर करता था। इन्हीं दिनों मैं न्यायमूर्ति मित्र से मिला। सर गुरुदास बैनर्जी से मिला। दक्षिण अफ्रीका के काम के लिए उनकी सहायता की आवश्यकता थी। उन्हीं दिनो मैंने राजा सर प्यारीमोहन मुकर्जी के भी दर्शन किये।

कालीचरण बैनर्जी ने मुझ से काली-मन्दिर की चर्चा की थी। वह मन्दिर देखने की मेरी तीव्र इच्छा थी। पुस्तक में मैंने उसका वर्णन पढ़ा था। इससे एक दिन मैं वहाँ जा पहुँचा। न्यायमूर्ति का मकान उसी मुहल्ले में था। अतएव जिस दिन उनसे मिला, उसी दिन काली-मन्दिर भी गया। रास्ते में बलिदान के बकरों की लम्बी कतार चली जा रही थी। मन्दिर की गली में पहुचते ही मैंने भिखारियो की भीड़े लगी देखी। वहाँ साधु-संन्यासी तो थे ही। उन दिनो भी मेरा नियम हृष्ट-पुष्ट भिखारियों को कुछ न देने का था। भिखारियों ने मुझे बुरी तरह घेर लिया था।

एक बाबाजी चबूतरे पर बैठे थे। उन्होंने मुझे बुलाकर पूछा, 'क्यो बेटा, कहाँ जाते हो? '

मैंने समुचित उत्तर दिया। उन्होंने मुझे और मेरे साथियो को बैठने के लिए कहा। हम बैठ गये।

मैंने पूछा, 'इन बकरों के बलिदान को आप धर्म मानते हैं ?'

'जीव की हत्या को धर्म कौन मानता हैं ?'

'तो आप यहाँ बैठकर लोगों को समझाते क्यो नही ?'

'यह काम हमारा नही हैं। हम तो यहाँ बैठकर भगवद् भक्ति करते हैं।'

'पर इसके लिए आपको कोई दूसरी जगह न मिली ?'

बाबाजी बोले, 'हम कहीं भी बैठे, हमारे लिए सब जगह समान हैं। लोग तो भेंड़ो के झूंड की तरह हैं। बड़े लोग जिस रास्ते ले जाते हैं, उसी रास्ते वे चलते हैं। हम साधुओ का इससे क्या मतलब?'

मैंने संवाद आगे नहीं बढाया। हम मन्दिर में पहुँचे। सामने लहू की बह रही थी। दर्शनो के लिए खड़े रहने की मेरी इच्छा न रही। मैं बहुत अकुलाया, बेचैन हुआ। वह दृश्य मैं अब तक भूल नहीं सका हूँ। उसी दिन मुझे एक बंगाली सभा का निमंत्रण मिला था। वहाँ मैंने

एक सज्जन से इस क्रूर पूजा की चर्चा की। उन्होंने कहा, 'हमारा ख्याल यह है कि वहाँ जो नगाड़े वगैरा बडते हैं, उनके कोलाहल में बकरो को चाहे जैसे भी मारो उन्हें कोई पीड़ा नही होती।'

उनका यह विचार मेरे गले न उतरा। मैंने उन सज्जन से कहा कि यदि बकरो को जबान होती तो वे दूसरी ही बात कहते। मैंने अनुभव किया कि यह क्रूर रिवाज बन्द होना चाहिए। बुद्धदेव वाली कथा मुझे याद आयी। पर मैंने देखा कि यह काम मेरी शक्ति से बाहर हैं। उस समय मेरे जो विचार थे वे आज भी हैं। मेरे ख्याल से बकरों के जीवन का मूल्य मनुष्य के जीवन से कम नही हैं। मनुष्य देह को निबाहने के लिए मैं बकरे की देह लेने को तैयार न होऊँगा। मैं यह मानता हूँ कि जो जीव जितना अधिक अपंग हैं, उतना ही उसे मनुष्य की क्रूरता से बचने के लिए मनुष्य का आश्रय पाने का अधिक अधिकार हैं। पर वैसी योग्यता के अभाव में मनुष्य आश्रय देने में असमर्थ हैं। बकरो को इस पापपूर्ण होम से बचाने के लिए जितनी आत्मशुद्धि और त्याग मुझ में हैं, उससे कहीँ अधिक की मुझे आवश्यकता हैं। जान पड़ता हैं कि अभी तो उस शुद्धि और त्याग का रटन करते हुए ही मुझे मरना होगा। मैं यह प्रार्थना निरन्तर करता रहता हूँ कि ऐसा कोई तेजस्वी पुरुष और ऐसी कोई तेजस्विनी सती उत्पन्न हो, जो इस महापातक में से मनुष्य को बचावे, निर्दोष प्राणियों की रक्षा करे औऱ मन्दिर को शुद्ध करे। ज्ञानी, बुद्धिशाली, त्यागवृत्तिवाला और भावना-प्रधान बंगाल यह सब कैसे सहन करता है ?

१९. गोखले के साथ एक महीना -3

कालीमाता के निमित्त से होनेवाला विकराल यज्ञ देखकर बंगाली जीवन को जानने की मेरी इच्छा बढ़ गयी । ब्रह्मसामाज के बारे में तो मैं काफी पढ़-सुन चुका था । मैं प्रतापचन्द्र मजूमदार का जीवनवृतान्त थोड़ा जानता था । उनके व्याख्यान मैं सुनने गया था । उनका लिखा केशवचन्द्र सेन का जीवनवृत्तान्त मैंने प्राप्त किया और उसे अत्यन्त रस पूर्वक पढ़ गया । मैंने साधारण ब्रह्मसमाज और आदि ब्रह्मसमाज का भेद जाना । पंडित विश्वनाथ शास्त्री के दर्शन किये । महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शनों के लिए मैं प्रो. काथवटे के साथ गया । पर वे उन दिनों किसी से मिलते न थे, इससे उनके दर्शन न हो सके । उनके यहाँ ब्रह्मसमाज का उत्सव था । उसमें सम्मिलित होने का निमंत्रण पाकर हम लोग वहाँ गये थे और वहाँ उच्च कोटि का बंगाली संगीत सुन पाये थे । तभी से बंगाली संगीत के प्रति मेरा अनुराग बढ़ गया ।

ब्रह्मसमाज का यथासंभव निरीक्षण करने के बाद यह तो हो ही कैसे सकता था कि मैं स्वामी विवेकानन्द के दर्शन न करुँ ? मैं अत्यन्त उत्साह के साथ बेलूर मठ तक लगभग पैदल पहुँचा । मुझे इस समय ठीक से याद नही हैं कि मैं पूरा चला था या आधा । मठ का एकान्त स्थान मुझे अच्छा लगा था । यह समाचार सुनकर मैं निराश हुआ कि स्वामीजी बीमार हैं, उनसे मिला नही जा सकता और वे अपने कलकत्ते वाले घर में है । मैंने भगिनी निवेदिता के निवासस्थान का पता लगाया । चौरंगी के एक महल में उनके दर्शन किये । उनकी तड़क-भड़क से मैं चकरा गया। बातचीत में भी हमारा मेल नही बैठा ।

गोखले से इसकी चर्चा की । उन्होंने कहा, 'वह बड़ी तेज महिला हैं । अतएव उससे तुम्हारा मेंल न बैठे, इसे मैं समझ सकता हूँ ।'

फिर एक बार उनसे मेरी भेट पेस्तनजी पादशाह के घर हुई थी । वे पेस्तनजी की वृद्धा माता को उपदेश दे रही थी, इतने में मैं उनके घर जा पहुँचा था। अतएव मैंने उनके बीच दुभाषिये का काम किया था । हमारे बीच मेल न बैठते हुए भी इतना तो मैं देख सकता था कि हिन्दू

धर्म के प्रति भगिनी का प्रेम छलका पड़ता था। उनकी पुस्तकों का परिचय मैंने बाद में किया।

मैंने दिन के दो भाग कर दिये थे। एक भाग मैं दक्षिण अफ्रीका के काम के सिलेसिले में कलकत्ते में रहनेवाले नेताओ से मिलने में बिताता था, और दूसरा भाग कलकत्ते की धार्मिक संस्थाये और दूसरी सार्वजनिक संस्थाये देखने में बिताता था।

एक दिन बोअर-युद्ध में हिन्दुस्तानी शुश्रषा-दल में जो काम किया था, उस पर डॉ. मलिक के सभापतित्व में मैंने भाषण किया ।इंग्लिशमैंन' के साथ मेरी पहचान इस समय भी बहुत सहायक सिद्ध हुई। मि. सॉडर्स उन दिनो बीमार थे, पर उनकी मदद तो सन् 1896 में जितनी मिली थी, उतनी ही इस समय भी मिली। यह भाषण गोखले को पसन्द आया था और जब डॉ. राय ने मेरे भाषण की प्रशंसा की तो वे बहुत खुश हुए थे।

यों, गोखले की छाया में रहने से बंगाल में मेरा काम बहुत सरल हो गया था। बंगाल के अग्रगण्य कुटुंबो की जानकारी मुझे सहज ही मिल गयी और बंगाल के साथ मेरा निकट संबंध जुड़ गया। इस चिरस्मरणीय महीने के बहुत से संस्मरण मुझे छोड़ देने पड़ेगे। उस महीने में मैं ब्रह्मदेश का भी एक चक्कर लगा आया था। वहाँ के फुंगियो से मिला था। उनका आलस्य देखकर मैं दुःखी हुआ था। मैंने स्वर्ण-पैगोड़ा के दर्शन किये। मंदिर में असंख्य छोटी-छोटी मोमबत्तियाँ जल रही थी। वे मुझे अच्छी नही लगी। मन्दिर के गर्भगृह में चूहों को दौड़ते देखकर मुझे स्वामी दयानन्द के अनुभव का स्मरण हो आया। ब्रह्मदेश की महिलाओ की स्वतंत्रता, उनका उत्साह और वहाँ के पुरुषों की सुस्ती देखकर मैंने महिलाओ के लिए अनुराग और पुरुषो के लिए दुःख अनुभव किया। उसी समय मैंने यह भी अनुभव किया कि जिस तरह बम्बई हिन्दुस्तान नही हैं, उसी तरह रंगून ब्रह्मदेश नही हैं, और जिस प्रकार हम हिन्दुस्तान में अंग्रेज व्यापारियों के कमीशन एजेंट या दलाल बने हुए हैं, उसी प्रकार ब्रह्मदेश में हमने अंग्रेजो के साथ मिलकर ब्रह्मदेशवासियों को कमीशन एजेंट बनाया है।

ब्रह्मदेश से लौटने के बाद मैंने गोखले से बिदा ली। उनका वियोग मुझे अखरा, पर बंगाल अथवा सच कहा जाय तो कलकत्ते का मेरा काम पूरा हो चुका था।

मैंने सोचा था कि धन्धे में लगने से पहले हिन्दुस्तान की एक छोटी-सी यात्रा रेलगाड़ी के तीसरे दर्जे में करूँगा और तीसरे दर्जे में यात्रियों का परिचय प्राप्त करके उनका कष्ट जान लूँगा । मैंने गोखले के सामने अपना यह विचार रखा । उन्होंने पहले तो उसे हँस कर उड़ा दिया । पर जब मैंने इस यात्रा के विषय में अपनी आशाओं का वर्णन किया, तो उन्होंने प्रसन्नता-पूर्वक मेरी योजना को स्वीकृति दे दी । मुझे पहले तो काशी जाना था और वहाँ पहुँचकर विदुषी एनी बेसेंट के दर्शन करने थे । वे उस समय बीमार थी ।

इस यात्रा के लिए मुझे नया सामान जुटाना था । पीतल का एक डिब्बा गोखले ने ही दिया और उसमें मेरे लिए बेसन के लड्डू और पूरियाँ रखवा दी । बारह आने में किरमिच का एक थैला लिया । छाया (पोरबन्दर के पास के एक गाँव) की ऊन का एक ओवरकोट बनवाया । थैले में यह ओवरकोट, तौलिया, कुर्ता और धोती थी । ओढने को एक कम्बल था। इसके अलावा एक लोटा भी साथ में रख लिया था । इतना सामान लेकर मैं निकला ।

गोखले और डॉ. राय मुझे स्टेशन तक पहुँचाने आये । मैंने दोनों से न आने की बिनती की । पर दोनों ने आने का अपना आग्रह न छोड़ा । गोखले बोले, 'तुम पहले दर्जे में जाते तो शायद मैं न चलता, पर अब तो मुझे चलना ही पड़ेगा ।'

प्लेटफार्म पर जाते समय गोखले को किसी ने नही रोका। उन्होने अपनी रेशमी पगड़ी बाँधी और धोती तथा कोट पहना था । डॉ. राय ने बंगाली पोशाक पहनी थी, इसलिए टिकट-बाबू में पहले तो उन्हें अन्दर जाने से रोका, पर जब गोखले ने कहा, 'मेरे मित्र हैं ।' तो डॉ. राय भी दाखिल हुए । इस तरह दोनों ने मुझे बिदा किया ।

२०. काशी में

यह यात्रा कलकत्ते से राजकोट तक की थी। इसमें काशी, आगरा, जयपुर, पालनपुर और राजकोट जाना था। इतना देखने के बाद अधिक समय कहीँ देना संभव न था। हर जगह मैं एक-एक दिन रहा था। पालनपुर के सिवा सब जगह मैं धर्मशाला में अथवा यात्रियों की तरह पण्डो के घर ठहरा। जैसा कि मुझे याद हैं, इतनी यात्रा में गाड़ी-भाड़े के सहित मेरे कुल इकतीस रुपये खर्च हुए थे। तीसरे दर्जे की यात्रा में भी मैं अकसर डाकगाड़ी छोड़ देता था, क्योंकि मैं जानता था कि उसमें अधिक भीड़ होती हैं। उसका किराया भी सवारी (पैसेन्जर) गाड़ी के तीसरे दर्जे के किराये से अधिक होता था। यह एक अड़चन तो थी ही।

तीसरे दर्जे के डिब्बो में गंदगी और पाखानों की बुरी हालत तो जैसी आज है, वैसी ही उस समय भी थी। आज शायद थोड़ा सुधार हो तो बात अलग हैं। पर पहले औऱ तीसरे दर्जे के बीच सुभीतो का फर्क मुझे किराये के फर्क से कहीं ज्यादा जान पड़ा। तीसरे दर्जे के यात्री भेड़-बकरी समझे जाते हैं और सुभीते के नाम पर उनको भेड-बकरियों के से डिब्बे मिलते हैं। यूरोप में तो मैंने तीसरे ही दर्जे में यात्रा की थी। अनुभव की दृष्टि से एक बार पहले दर्जे में भी यात्रा की थी। वहाँ मैंने पहले और तीसरे दर्जे के बीच यहाँ के जैसा फर्क नहीं देखा। दक्षिण अफ्रीका में तीसरे दर्जे के यात्री अधिकतर हब्शी ही होते है। लेकिन वहाँ के तीसरे दर्जे में भी यहाँ के तीसरे दर्जे से अधिक सुविधायें हैं। कुछ प्रदेशों में तो वहाँ तीसरे दर्जे में सोने की सुविधा भी रहती हैं और बैठके गद्दीदार होती हैं। हर खंड में बैठने वाले यात्रियों की संख्या की मर्यादा का ध्यान रखा जाती हैं। यहाँ तो तीसरे दर्जे में संख्या की मर्यादा पाले जाने का मुझे कोई अनुभव ही नहीं हैं।

रेलवे-विभाग की ओर से होनेवाली इन असुविधाओं के अलावा यात्रियों की गन्दी आदतें सुधड़ यात्री के लिए तीसरे दर्जे की यात्रा को दंड-स्वरूप बना देती हैं। चाहे जहाँ थूकना, चाहे जहाँ कचरा डालना, चाहे जैसे और चाहे जब बीड़ी पीना, पान-तम्बाकू चबाना और जहाँ बैठे वहीं उसकी पिचकारियाँ छोड़ना, फर्श पर जूठन गिराना, चिल्ला-चिल्ला कर बाते

करना, पास में बैठे हुए आदमी की सुख-सुविधा का विचार न करना और गन्दी बोली बोलना यह तो सार्वत्रिक अनुभव हैं।

तीसरे दर्जे की यात्रा के अपने 1902 के अनुभव में और 1915 और 1919 तक के मेरे अनुभव दूसरी बार के ऐसे ही अखंड अनुभव में मैंने बहुत अन्तर नहीं पाया। इस महाव्याधि का एक ही उपाय मेरी समझ में आया हैं, और वह यह कि शिक्षित समाज को तीसरे दर्जे में ही यात्रा करनी चाहिए औऱ लोगो की आदतें सुधारने का प्रयत्न करना चाहियें । इसके अलावा, रेलवे विभाग के अधिकारियो को शिकायत कर करके परेशान कर डालना चाहिए, अपने लिए कोई सुविधा प्राप्त करने या प्राप्त सुविधा की रक्षा करने के लिए घूस-रिश्वत नहीं देनी चाहियें और उनके एक भी गैरकानूनी व्यवहार को बरदाश्त नहीं करना चाहिए।

मेरा यह अनुभव है कि ऐसा करने से बहुत कुछ सुधार हो सकता हैं। अपनी बीमारी के कारण मुझे सन् 1920 से तीसरे दर्जे की यात्रा लगभग बन्द कर देनी पड़ी हैं, इसका दुःख और लज्जा मुझे सदा बनी रहती हैं। और वह भी ऐसे अवसर पर बन्द करनी पड़ी, जब तीसरे दर्जे के यात्रियो की तकलीफो को दूर करने का काम कुछ ठिकाने लग रहा था। रेलो और जहाजों में गरीब यात्रियों को भोगने पड़ते कष्टो में होनेवाली वृद्धि, व्यापार के निमित्त से विदेशी व्यापार को सरकार की ओर से दी जाने वाली अनुचित सुविधाये आदि बाते इस समय हमारे लोक-जीवन की बिल्कुल अलग और महत्त्व की समस्या बन गयी हैं। अगर इसे हल करने में एक-दो चतुर और लगनवाले सज्जन अपना पूरा समय लगा दे, तो अधिक नहीं कहा जायेगा।

पर तीसरे दर्जे की यात्रा की इस चर्चा को अब यहीँ छोडकर मैं काशी के अनुभव पर आता हूँ। काशी स्टेशन पर मैं सबेरे उतरा। मुझे किसी पंडे के ही यहाँ उतरना था। कई ब्राह्मणों ने मुझे घेर लिया। उनमें से जो मुझे थोड़ा सुघड़ और सज्जन लगा, उसका घर मैंने पसन्द किया। मेरा चुनाव अच्छा सिद्ध हुआ। ब्राह्मण के आँगन में गाय बँधी थी। ऊपर एक कमरा था। उसमें मुझे ठहराया गया। मैं विधि-पूर्वक गंगा-स्नान करना चाहता था। पंडे ने सब तैयारी की। मैंने उससे कह रखा था कि मैं सवा रुपये से अधिक दक्षिणा नही दे सकूँगा, अतएव उसी के लायक तैयारी वह करे। पंडे ने बिना झगडे के मेरी बिनती स्वीकार कर ली। वह

बोला, 'हम लोग अमीर-गरीब सब लोगो को पूजा तो एक सी ही कराते हैं। दक्षिणा यजमान की इच्छा और शक्ति पर निर्भर करती हैं।' मेरे ख्याल से पंड़ा जी में पूजा-विधि में कोई गड़बडी नही थी। लगभग बारह बजे इससे फुरसत पाकर मैं काशीविश्वनाथ के दर्शन करने गया। वहाँ जो कुछ देखा उससे मुझे दुःख ही हुआ।

सन् 1891 में जब मैं बम्बई में वकालत करता था, तब एक बार प्रार्थना-समाज के मन्दिर में 'काशी की यात्रा' विषय पर व्याख्यान सुना था। अतएव थोड़ी निराशा के लिए तो मैं पहले से तैयार ही था। पर वास्तव में जो निराशा हुई, वह अपेक्षा से अधिक थी।

सकरी, फिसलनवाली गली में से होकर जाना था। शान्ति का नाम भी नही था। मक्खियों की भिनभिनाहट और यात्रियों और दुकानदारों को कोलाहल मुझे असह्य प्रतीत हुआ।

जहाँ मनुष्य ध्यान और भगवत् चिन्तन की आशा रखता हैं, वहाँ उसे इनमें से कुछ भी नहीं मिलता ! यदि ध्यान की जरुरत हो तो वह अपने अन्तर में से पाना होगा। अवश्य ही मैंने ऐसी श्रद्धालु बहनों को भी देखा, जिन्हें इस बात का बिल्कुल पता न था कि उनके आसपास क्या हो रहा है। वे केवल अपने ध्यान में ही निमग्न थी। पर इस प्रबन्धकों का पुरुषार्थ नही माना जा सकता। काशी-विश्वनाथ के आसपास शान्त, निर्मल, सुगन्धित और स्वच्छ वातावरण बाह्य एवं आन्तरिक उत्पन्न करना और उसे बनाये रखना प्रबन्धको का कर्तव्य होना चाहिए। इसके बदले वहाँ मैंने ठग दुकानदारो का बाजार देखा, जिसमें नये से नये ढंग की मिठाइयाँ और खिलोने बिकते थे।

मन्दिर में पहुँचने पर दरवाजे के सामने बदबूदार सड़े हुए फुल मिले। अन्दर बढिया संगमरमर का फर्श था। पर किसी अन्ध श्रद्धालु ने उसे रुपयो से जडवाकर खराब कर डाला था और रुपयों में मैंल भर गया था।

मैं ज्ञानवापी के समीप गया। वहाँ मैंने ईश्वर को खोजा, पर वह न मिला। इससे मैं मन ही मन क्षुब्ध हो रहा था। ज्ञानवापी के आसपास भी गंदगी देखी। दक्षिणा के रुप में कुछ चढाने की श्रद्धा नही थी। इसलिए मैंने सचमुच ही एक पाई चढायी, जिससे पुजारी पंड़ाजी तमतमा उठे। उन्होंने पाई फैक दी। दो-चार गालियाँ देकर बोले, 'तू यो अपमान करेगा तो नरक में पडेगा।'

मैं शान्त रहा। मैंने कहा, 'महाराज, मेरा तो जो होना होगा सो होगा, पर आपके मुँह में गाली शोभ नहीं देती। यह पाई लेनी हो तो लीजिये, नहीं तो यह भी हाथ से जाएगी।'

'जा, तेरी पाई मुझे नही चाहिए, ' कह कर उन्होंने मुझे दो-चार और सुना दीं। मैं पाई लेकर चल दिया। मैंने माना कि महाराज ने पाई खोयी और मैंने बचायी। पर महाराज पाई खोनेवाले नहीं थे। उन्होने मुझे वापस बुलाया और कहा, 'अच्छा, धर दे। मैं तेरे जैसा नहीं होना चाहता। मैं न लूँ तो तेरा बुरा हो।'

मैंने चुपचाप पाई दे दी और लम्बी साँस लेकर चल दिया। इसके बाद मैं दो बार औऱ काशी-विश्वनाथ के दर्शन कर चुका हूँ, पर वह तो 'महात्मा' बनने के बाद। अतएव 1902 के अनुभव तो फिर कहाँ से पाता! मेरा 'दर्शन' करनेवाले लोग मुझे दर्शन क्यो करने देते? 'महात्मा' के दुःख तो मेरे जैस 'महात्मा' ही जानते हैं। अलबत्ता, गन्दगी औऱ कोलाहल तो मैंने पहले के जैसा ही पाया।

किसी को भगवान की दया के विषय में शंका हो, तो उसे ऐसे तीर्थक्षेत्र देखने चाहिए। वह महायोगी अपने नाम पर कितना ढोग, अधर्म, पाखंड इत्यादि सहन करता हैं? उसने तो कह रखा हैं :

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

अर्थात् 'जैसी करनी वैसी भरनी। ' कर्म को मिथ्या कौन कर सकता हैं ? फिर भगवान को बीच में पड़ने की जरुरत ही क्या है? वह तो अपने कानून बनाकर निवृत्त-सा हो गया हैं।

यह अनुभव लेकर मैं मिसेज बेसेंट के दर्शन करने गया। मैं जानता था कि वे हाल ही बीमारी से उठी हैं। मैंने अपना नाम भेजा। वे तुरन्त आयी। मुझे तो दर्शन ही करने थे, अतएव मैंने कहा, 'मुझे आपके दुर्बल स्वास्थ्य का पता हैं। मैं तो सिर्फ आपके दर्शन करने आया हूँ। दुर्बल स्वास्थ्य के रहते भी आपने मुझे मिलने की अनुमति दी, इसी से मुझे संतोष हैं। मैं आपका अधिक समय नहीं लेना चाहता। '

यह कहकर मैंने बिदा ली।

२१. बम्बई में स्थिर हुआ ?

गोखले की बड़ी इच्छा थी कि मैं बम्बई में बस जाऊँ, वहाँ बारिस्टर का धन्धा करूँ और उनके साथ सार्वजनिक सेवा में हाथ बंटाऊँ । उस समय सार्वजनिक सेवा का मतलब था, काँग्रेस की सेवा । उनके द्वारा स्थापित संस्था का मुख्य कार्य कांग्रेस की व्यवस्था चलाना था ।

मेरी भी यही इच्छा थी, पर काम मिलने के बारे में मुझे आत्म-विश्वास न था । पिछले अनुभवो की याद भूली नही थी । खुशामद करना मुझे विषतुल्य लगता था ।

इस कारण पहले तो मैं राजकोट में ही रहा । वहाँ मेरे पुराने हितैषी और मुझे विलायत भेजने वाले केवलराम मावजी दवे थे । उन्होंने मुझे तीन मुकदमें सौपें । दो अपीले काठियावाड़ के ज्युडीशियल असिस्टेंट के सम्मुख थी और एक इब्तदाई मुकदमा जामनगर में था। यह मुकदमा महत्त्वपूर्ण था । मैंने इस मुकदमें की जोखिम उठाने से आनाकानी की । इस पर केवलराम बोल उठे, 'हारेंगे तो हम हारेंगे न ? तुमसे जितना हो सके, तुम करो । मैं भी तो तुम्हारे साथ रहूँगा ही न ?'

इस मुकदमें में मेरे सामने स्व. समर्थ थे । मैंने तैयारी ठीक की थी । यहाँ के कानून का तो मुझे बहुत ज्ञान नहीं था । केवलराम देवे में मुझे इस विषय में पूरी तरह तैयार कर दिया था । मेरे दक्षिण अफ्रीका जाने से पहले के मित्र मुझे कहा करते थे कि सर फीरोजशाह मेहता को कानून शहादत जबानी याद हैं और यही उनकी सफलता की कुंजी हैं । मैंने इसे याद रखा था और दक्षिण अफ्रीका जाते समय यहाँ का कानून शहादत मैं टीका के साथ पढ गया था । इसके अतिरिक्त दक्षिण अफ्रीका का अनुभव तो मुझे था ही ।

मुकदमें में हम विजयी हुए । इससे मुझमें कुछ विश्वास पैदा हुआ । उक्त दो अपीलों के बारे में तो मुझे शुरु से ही कोई डर न था । इससे मुझे लगा कि यदि बम्बई जाऊँ तो वहाँ भी वकालत करने में कोई दिक्कत न होगी ।

इस विषय पर आने के पहले थोड़ा अंग्रेज अधिकारियो के अविचार और अज्ञान का अपना अनुभव सुना दूँ। ज्युडीशियल असिस्टेंट कहीँ एक जगह टिक कर नही बैठते थे। उनकी सवारी घूमती रहती थी आज यहाँ, कल वहाँ। जहाँ वे महाशय जाते थे, वहाँ वकीलों और मवक्किलो को भी जाना होता था। वकील का मेहनताना जिनता केन्द्रिय स्थान पर होता, उससे अधिक बाहर होता था। इसलिए मुवक्किल को सहज ही दुगना खर्च पड़ जाता था। पर जज इसका बिल्कुल विचार न करता था।

इस अपील की सुनवाई वेरावल में होने वाली थी। वहाँ उन दिनों बड़े जोर का प्लेग था। मुझे याद है कि रोज के पचास केस होते थे। वहाँ की आबादी 5500 के लगभग थी। गाँव प्रायः खाली हो गया था। मैं वहाँ की निर्जन धर्मशाला में टिका था। वह गाँव से कुछ दूर थी। पर बेचारे मुवक्किल क्या करते ? यदि वे गरीब होते तो एक भगवान ही उनका मालिक था।

मेरे नाम वकील मित्रो का तार आया था कि मैं साहब से प्रार्थना करूँ कि प्लेग के कारण वे अपना मुकाम बदल दे। प्रार्थना करने पर साहब ने मुझ से पूछा, ' आपको कुछ डर लगता हैं ?'

मैंने कहा, 'सवाल मेरे डरने का नही हैं। मैं मानता हूँ कि मैं अपना प्रबन्ध कर लूँगा, पर मुवक्किलो का क्या होगा ?'

साहब बोले, 'प्लेग ने तो हिन्दुस्तान में घर कर लिया हैं। उससे क्या डरना ? वेरावल की हवा कैसी सुन्दर है ! (साहब गाँव से दूर समुद्र किनारे एक महलनुमा तंबू में रहते थे।) लोगो को इस तरह बाहर रहना सीखना चाहिए।'

इस फिलासफी के आगे मेरी क्या चलती ? साहब ने सरिश्तेदार से कहा, 'मि. गांधी की बात को ध्यान में रखिये और अगर वकीलो तथा मुवक्किलो को बहुत असुविधा होती हो तो मुझे बतलाइये।'

इसमें साहब में तो शुद्ध भाव से अपनी समझ के अनुसार ठीक ही किया। पर उन्हे कंगाल हिन्दुस्तान की मुश्किलों का अंदाज कैसा हो सकता था ? वे बेचारे हिन्दुस्तान की आवश्यकताओ, भली-बुरी आदतो और रीति-रिवाजो को क्योकर समझ सकते थे ? जिसे

गिन्नियो में गिनती करने की आदत हो, उसे पाईयों में हिसाब लगाने को कहिये,तो वह झट से हिसाब कैसे कर सकेगा ? अत्यन्त शुभ हेतु रखते हुए भी जिस तरह हाथी चींटी के लिए विचार करने में असमर्थ होता हैं, उसी तरह हाथी की आवश्यकता वाला अंग्रेज चींटी की आवश्यकता वाले भारतीय के लिए विचार करने या नियम बनाने में असमर्थ ही होगा।

अब मूल विषय पर आता हूँ।

ऊपर बताये अनुसार सफलता मिलने के बाद भी मैं कुछ समय के लिए राजकोट में ही रहने की सोच रहा था। इतने में एक दिन केवलराम मेरे पास आये और बोले, 'गांधी, तुमको यहाँ नहीं रहने दिया जायेगा। तुम्हें तो बम्बई ही जाना होगा।'

'लेकिन वहाँ मुझे पूछेगा कौन ? क्या मेरा खर्च आप चलायेंगे ?'

'हाँ, हाँ, मैं तुम्हारा खर्च चलाऊँगा। तुम्हे बड़े बारिस्टर की तरह कभी कभी यहाँ ले आया करुँगा और लिखा-पढ़ी वगैरा का काम तुमको वहाँ भेजता रहूँगा। बारिस्टरो को छोटा-बड़ा बनाना तो हम वकीलो का काम है न ? तुमने अपनी योग्यता का प्रमाण तो जामनगर और वेरावल में दे ही दिया हैं, इसलिए मैं निश्चिंत हूँ। तुम सार्वजनिक काम के लिए सिरजे गये हो, तुम्हें हम काठियावाड़ में दफन न होने देंगे। कहो, कब रवाना होते हो ?'

'नेटाल से मेरे कुछ पैसे आने बाकी हैं, उनके आने पर चला जाऊँगा।'

पैसे एक-दो हफ्तो में आ गये और मैं बम्बई पहुँचा। पेईन, गिलबर्ड और सयानी के दफ्तर में 'चेम्बर' (कमरे) किराये पर लिये और मुझे लगा कि अब मैं बम्बई में स्थिर हो गया।

२२. धर्म-संकट

मैंने जैसे दफ्तर किराये पर लिया, वैसे ही गिरगाँव में घर भी लिया। पर ईश्वर ने मुझे स्थिर न होने दिया। घर लिये अधिक दिन नही हुए थे कि इतने में मेरा दूसरा लड़का बहुत बीमार हो गया। उसे कालज्वर में जकड़ लिया। ज्वर उतरता न था। बेचैनी भी थी। फिर रात में सन्निपात के लक्षण भी दिखायी पड़े। इस बीमारी के पहले बचपन में उसे चेचक भी बहुत जोर की निकल चुकी थी।

मैंने डॉक्टर की सलाह ली। उन्होंने कहा, 'इसके लिए दवा बहुत कम उपयोगी होगी। इसे तो अंडे और मुर्गी का शोरवा देने की जरुरत हैं।'

मणिलाल की उमर दस साल की थी। उससे मैं क्या पूछता ? अभिभावक होने के नाते निर्णय तो मुझी को करना था। डॉक्टर एक बहुत भले पारसी थे। मैंने कहा, 'डॉक्टर, हम सब अन्नाहारी है। मेरी इच्छा अपने लड़के को इन दो में से एक भी चीज देने की कोई उपाय नही बताइयेगा ?'

डॉक्टर बोले, 'आपके लड़के के प्राण संकट में हैं। दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता हैं, पर इससे उसे पूरा पोषण नही मिल सकेगा। जैसा कि आप जानते हैं, मैं बहुतेरे हिन्दू कुटुम्बों में जाता हूँ। पर दवा के नाम पर तो हम उन्हे जो चीज दें, वे ले लेते हैं। मैं सोचता हूँ कि आप अपने लड़के पर ऐसी सख्ती न करे तो अच्छा हो।'

'आप कहते है, सो ठीक हैं। आपको यही कहना भी चाहिए। मेरी जिम्मेदारी बहुत बड़ी हैं। लड़का बड़ा होता तो मैं अवश्य ही उसकी इच्छा जानने का प्रयत्न करता और वह जो चाहता उसे करने देता। यहाँ तो मुझे ही इस बालक के बारे में निर्णय करना हैं। मेरा ख्याल हैं कि मनुष्य के धर्म की परीक्षा ऐसे ही समय होती हैं। सही हो या गलत, पर मैंने यह धर्म माना है कि मनुष्यो के माँसादिक न खाना चाहिए। जीवन के साधनों की भी सीमा होती हैं। कुछ बाते ऐसी है, जो जीने के लिए भी हगे नहीं करनी चाहिए। मेरे धर्म की मर्यादा मुझे अपने लिए और अपने परिवार वालो के लिए ऐसे समय भी माँस इत्यादि का उपयोग करने से रोकती हैं। इसलिए मुझे वह जोखिम उठानी ही होगी, जिसकी आप कल्पना करते है।

पर आपसे में एक चीज माँग लेता हूँ। आपका उपचार तो मैं नहीं करूँगा, किन्तु मुझे इस बच्चे की छाती, नाडी इत्यादि देखना नही आता। मुझे पानी के उपचारो का थोड़ा ज्ञान हैं। मैं उन उपचारो को आजमाना चाहता हूँ। पर यदि आप बीच-बीच में मणिलाल की तबीयत देखने आते रहेंगे और उसके शरीर में होने वाले फेरफारो की जानकारी मुझे देते रहेंगे तो मैं आपका उपकार मानूँगा।'

सज्जन डॉक्टर ने मेरी कठिनाई समझ ली और मेरी प्रार्थना के अनुसार मणिलाल को देखने आना कबूल कर लिया।

यद्यपि मणिलाल स्वयं निर्णय करने की स्थिति में नही था, फिर भी मैंने उसे डॉक्टर के साथ हुई चर्चा सुना दी और उससे कहा कि वह अपनी राय बताये।

'आप खुशी से पानी के उपचार कीजिये। मुझे न शोरवा पीना है, और न अंडे खाने हैं।'

इस कथन से मैं खुश हुआ, यद्यपि मैं समझता था कि मैंने उसे ये दोनो चीजे खिलायी होती तो वह खा भी लेता।

मैं कूने के उपचार जानता था। उसके प्रयोग भी मैंने किये थे। मैं यह भी जानता था कि बीमारी में उपवास का बड़ा स्थान हैं। मैंने मणिलाल को कूने की रीति से कटिस्नान कराना शुरु किया। मैं उसे तीन मिनट से ज्यादा टब में नहीं रखता था। तीन दिन तक उसे केवल पानी मिलाये हुए संतरे के रस पर रखा।

बुखार उतरता न था। रात भर अंट संट बकता था। तापमान 104 डिग्री तक जाता था। मैं घबराया। यदि बालक को खो बैठा तो दुनिया मुझे क्या कहेगी ? बड़े भाई क्या कहेंगे ? दूसरे डॉक्टर को क्यो न बुलाया जाय ? बैद्य को क्यो न बुलाया जाय? अपनी ज्ञानहीन बुद्धि लड़ाने का माता-पिता को क्या अधिकार हैं ?

एक ओर ऐसे विचार आते थे, तो दूसरी ओर इस तरह के विचार भी आते थे, 'हे जीव ! तू जो अपने लिए करता, वहीं लड़के के लिए भी करे, तो परमेश्वर को संतोष होगा। तुझे पानी के उपचार पर श्रद्धा है, दवा पर नही। डॉक्टर रोगी को प्राणदान नही देता। वह भी तो प्रयोग

ही करता है। जीवन की डोर तो एक ईश्वर के हाथ में हैं। ईश्वर का नाम लेकर, उस पर श्रद्धा रख तक, तू अपना मार्ग मत छोड़।'

मन में इस तरह का मन्थन चल रहा था। रात पड़ी। मैं मणिलाल को बगल में लेकर सोया था। मैंने उसे भिगोकर निचोयी हुई चादर में लपेटने का निश्चय किया। उसे ठंड़े पानी में भिगोया। निचोया। उसमें उसे सिर से पैर तक लपेट दिया। ऊपर से दो कम्बल औढा दिये। सर पर गीला तौलिया रखा। बुखार से शरीर तवे की तरह तप रहा था और बिल्कुल सूखा था। पसीना आता न था।

मैं बहुत थक गया था। मणिलाल को उसकी माँ के जिम्मे करके मैं आधे घंटे के लिए चौपाटी पर चला गया। थोड़ी हवा खाकर ताजा होने और शान्ति प्राप्ति करने के लिए रात के करीब दस बजे होगे। लोगो का आना जाना कम हो गया था। मुझे बहुत कम होश था। मैं विचार सागर में गोते लगा रहा था। हे ईश्वर ! इस धर्म-संकट में तू मेरी लाज रखना। 'राम राम ' की रटन तो मुँह में थी ही। थोड़े चक्कर लगाकर धड़कती छाती से वापस आया। घर में पैर रखते ही मणिलाल ने मुझे पुकारा, 'बाबू, आप आ गये ?'

'हाँ, भाई।'

'मुझे अब इसमें से निकालिये न ? मैं जला जा रहा हूँ।'

'क्यो, क्या पसीना छूट रहा है ?'

'मैं तो भीग गया हूँ। अब मुझे निकालिये न, बापूजी !'

मैंने मणिलाल का माथा देखा। माथे पर पसीने की बूंदें दिखाई दी। बुखार कम हो रहा था। मैंने ईश्वर का आभार माना।

'मणिलाल, अब तुम्हारा बुखार चला जायगा। अभी थोड़ा और पसीना नही आने दोगे ?'

'नहीं बापू ! अब तो मुझे निकाल लीजिये। फिर दुबारा और लपेटना हो तो लपेट दीजियेगा।'

मुझे धीरज आ गया था, इसलिए उसे बातो में उलझा कर कुछ मिनट और निकाल दिये। उसके माथे से पसीने की धाराये बह चली। मैंने चादर खोली, शरीर पोंछा और बाप-बेटे साथ सो गये। दोनो ने गहरी नींद ली।

सवेरे मणिलाल का बुखार हलका हो गया था। दूध और पानी तथा फलो के रस पर वह चालीस दिन रहा। मैं निर्भय हो चुका था। ज्वर हठीला था, पर वश में आ गया था। आज मेरे सब लड़को में मणिलाल का शरीर सबसे अधिक सशक्त हैं।

मणिलाल का नीरोग होना राम की देन हैं, अथवा पानी के उपचार की, अल्पाहार की और सार-संभाल की, इसका निर्णय कौन कर सकता है ? सब अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार जैसा चाहे, करें। मैंने तो यह जाना कि ईश्वर ने मेरी लाज रखी, और आज भी मैं यही मानता हूँ।

२३. फिर दक्षिण अफ्रीका में

मणीलाल स्वस्थ तो हुआ, पर मैंने देखा कि गिरगाँव वाला घर रहने योग्य नही था। उसमें सील थी। पर्याप्त उजाला नहीं था। अतएव रेवा-शंकर भाई से सलाह करके हम दोनो ने बम्बई के किसी उपनगर में खुली जगह बंगला लेने का निश्चय किया। मैं बांदरा, सांताक्रूज वगैरा में भटका। बांदरा में कसाईखाना था, इसलिए वहाँ रहने की हमने से किसी की इच्छा नही हुई। घाटकोपर वगैरा समुद्र से दूर लगे। आखिर सांताक्रूज में एक सुन्दर बंगला मिल गया। हम उसमें रहने गये और हमने यह अनुभव किया कि आरोग्य की दृष्टि से हम सुरक्षित हो गये हैं। मैंने चर्चगेट जाने के लिए पहले दर्जे का पास खरीद लिया। पहले दर्जे में अकसर मैं अकेला ही होता था, इससे कुछ गर्व का भी अनुभव करता था, ऐसा याद पड़ता हैं। कई बार बांदरा से चर्चगेट जाने वाली खास ट्रेन पकड़ने के लिए मैं सांताक्रूज से बांदरा तक पैदल जाता था।

मैंने देखा कि मेरा धंधा आर्थिक दृष्टि से मेरी अपेक्षा से अधिक अच्छा चल निकला। दक्षिण अफ्रीका के मुवक्किल मुझे कुछ-न-कुछ काम देते रहते थे। मुझे लगा कि उससे मेरा खर्च सरलता-पूर्वक चल जाएगा।

हाईकोर्ट का काम तो मुझे अभी कुछ न मिलता था। पर उन दिनों 'मूट' (अभ्यास के लिए फर्जी मुकदमें में बहस करना) चलती थी, मैं उसमें मैं जाया करता था। चर्चा में सम्मिलित होने की हिम्मत नही थी। मुझे याद है कि उसमें जमियतराम नानाभाई अच्छा हिस्सा लेते थे। दूसरे नये बारिस्टरो की तरह मैं भी हाईकोर्ट में मुकदमें सुनने जाया करता था। वहाँ तो कुछ जानने को मिलता, उसकी तुलना में समुद्र की फरफराती हुई हवा में झपकियाँ लेने में अधिक आनन्द आता था। मैं दूसरे साथियो को भी झपकियाँ लेते देखता था, इससे मुझे शरम न मालूम होती थी। मैंने देखा कि झपकियाँ लेना फैशन में शुमार हो गया था।

मैंने हाईकोर्ट के पुस्तकालय का उपयोग करना शुरु किया और वहाँ कुछ जान-पहचान भी शुरु की। मुझे लगा कि थोडे समय में मैं भी हाईकोर्ट में काम करने लगूँगा।

इस प्रकार एक ओर से मेरे धंधे में कुछ निश्चिन्तता आने लगी।

दूसरी ओर गोखले की आँख तो मुझ पर लगी ही रहती थी। हफ्ते में दो-तीन बार चेम्बर में आकर वे मेरी कुशल पूछ जाते और कभी कभी अपने खास मित्रों को भी साथ में लाया करते थे। अपनी कार्य-पद्धति से भी वे मुझे परिचित करते रहते थे।

पर यह कहा जा सकता हैं कि मेरे भविष्य के बारे में ईश्वर ने मेरा सोचा कुछ भी न होने दिया।

मैंने सुस्थिर होने का निश्चय किया और थोडी स्थिरता अनुभव की कि अचानक दक्षिण अफ्रीका का तार मिला, 'चेम्बरलेन यहाँ आ रहै हैं, आपको आना चाहिए।' मुझे अपने वचन का स्मरण तो था ही। मैंने तार दिया, 'मेरा खर्च भेजिये, मैं आने को तैयार हूँ।' उन्होंने तुरन्त रुपये भेज दिये और मैं दफ्तर समेट कर रवाना हो गया।

मैंने सोचा था कि मुझे एक वर्ष तो सहज ही लग जायगा। इसलिए बंगला रहने दिया और बाल-बच्चो को वहीं रखना उचित समझा।

उस समय मैं मानता था कि जो नौजवान देश में कोई कमाई न करते हो और साहसी हो, उनके लिए परदेश चला जाना अच्छा हैं। इसलिए मैं अपने साथ चार-पाँच नौजवानो को लेता गया। उनमें मगनलाल गांधी भी थे।

गांधी कुटुम्ब बड़ा था। आज भी हैं। मेरी भावना यह थी कि उनमें से जो स्वतंत्र होना चाहे, वे स्वतंत्र हो जाये। मेरे पिता कइयो को निभाते थे, पर रियासती नौकरी में। मुझे लगा कि वे इस नौकरी से छूट सके तो अच्छा हो। मैं उन्हें नौकरियाँ दिलाने में मदद नही कर सकता था। शक्ति होती तो भी ऐसा करने की मेरी इच्छा न थी। मेरी धारणा यह थी कि वे और दूसरे लोग भी स्वावलम्बी बने तो अच्छा हो।

पर आखिर तो जैसे-जैसे मेरे आदर्श आगे बढते गये (ऐसा मैं मानता हूँ), वैसे-वैसे इन नौजवानो के आदर्शो को भी मैंने अपने आदर्शो की ओर मोडने का प्रयत्न किया। उनमें मगनाला गांधी को अपने मार्ग पर चलाने में मुझे बहुत सफलता मिला। पर इस विषय की चर्चा आगे करूँगा।

बाल-बच्चो का वियोग, बसाये हुए घर को तोड़ना, निश्चित स्थिति में से अनिश्चित में प्रवेश करना यह सब क्षणभर तो अखरा। पर मुझे तो अनिश्चित जीवन की आदत पड़ गयी थी।

इस संसार में, जहाँ ईश्वर अर्थात् सत्य के सिवा कुछ भी निश्चित नही हैं. निश्चितता का विचार करना ही दोषमय प्रतीत होता हैं । यह सब जो हमारे आसपास दीखता हैं और होता है, सो अनिश्चित हैं, क्षणिक है । उसमें एक परम तत्त्व निश्चित रुप से छिपा हुआ हैं, उसकी झाँकी हमें हो जाये, उस पर हमारी श्रद्धा बनी रहे, तभी जीवन सार्थक होता है । उसकी खोज ही परम पुरुषार्थ है ।

यह नहीं कहा जा सकता कि मैं डरबन एक दिन ही पहले पहुँचा । मेरे लिए वहाँ काम तैयार ही था । मि. चेम्बरलेन के पास डेप्युटेशन के जाने की तारीख निश्चित हो चुकी थी । मुझे उनके सामने पढ़ा जानेवाला प्रार्थना पत्र तैयार करना था और डेप्युटेशन के साथ जाना था ।

चौथा भाग

१. किया-कराया चौपट

मि. चेम्बरलेन दक्षिण अफ्रीका से साढ़े तीन करोड़ पौण्ड लेने आये थे तथा अंग्रेजों का और हो सके तो बोअरों का मन जीतने आये थे। इसलिए भारतीय प्रतिनिधियों को नीचे लिखा ठंड़ा जवाब मिला :

'आप तो जानते हैं कि उत्तरदायी उपनिवेशों पर साम्राज्य सरकार का अंकुश नाममात्र ही हैं। आपकी शिकायतें तो सच्ची जान पड़ती हैं। मुझसे जो हो सकेगा, मैं करूँगा। पर आपको जिस तरह भी बने, यहाँ के गोरो को रिझाकर रहना हैं।'

जवाब सुनकर प्रतिनिधि ठंडे हो गये। मैं निराश हो गया। 'जब जागे तभी सबेरा' मानकर फिर से श्रीगणेश करना होगा। यह बात मेरे ध्यान में आ गयी और साथियों को मैंने समझा दी।

मि. चेम्बरलेन का जवाब क्या गलत था ? गोलमोल बात कहने के बदले उन्होंने साफ बात कह दी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का कानून उन्होंने थोड़े मीठे शब्दों में समझा दिया।

पर हमारे पास लाठी थी ही कहाँ ? हमारे पास तो लाठी के प्रहार झेलने लायक शरीर भी मुश्किल से थे।

मि. चेम्बरलेन कुछ हफ्ते ही रहने वाले थे। दक्षिण अफ्रीका कोई छोटा सा प्रान्त नहीं हैं। वह एक देश हैं, खण्ड हैं। अफ्रीका में तो अनेक अपखण्ड समाये हुए हैं। यदि कन्याकुमारी से श्रीनगर 1900 मील हैं तो डरबन से केपटाउन 1100 मील से कम नहीं हैं। इस खण्ड में मि. चेम्बरलेन को तूफानी दौरा करना था। वे ट्रान्सवाल के लिए रवाना हुए। मुझे वहाँ के भारतीयों का केस तैयार करके उनके सामने पेश करना था। प्रिटोरिया किस तरह पहुँचा जाय ? वहाँ मैं समय पर पहुँच सकूँ, इसके लिए अनुमति प्राप्त करने का काम हमारे लोगों से हो सकने जैसा न था।

युद्ध के बाद ट्रान्सवाल उजाड़ जैसा हो गया था। वहाँ न खाने को अन्न था, न पहनने ओढ़ने को कपड़े मिलते थे। खाली और बन्द दुकानों को माल से भरना और खुलवाना था। यह तो धीरे-धीरे ही हो सकता था। जैसे-जैसे माल इकट्ठा होता जाय, वैसे-वैसे ही घरबार छोड़कर भागे हुए लोगों को वापस आने दिया जा सकता था। इस कारण प्रत्येक ट्रान्सवाल वासी को परवाना लेना पड़ता था। गोरों को तो परवाना माँगते ही मिल जाता था। मुसीबत हिन्दुस्तानियों की थी।

लड़ाई के दिनों में हिन्दुस्तान और लंका से बहुत से अधिकारी और सिपाही दक्षिण अफ्रीका पहुँच गये थे। उनमें से जो लोग वहीं आबाद होना चाहे उनके लिए वैसी सुविधा कर देना ब्रिटिश राज्याधिकारियों का कर्तव्य माना गया था। उन्हें अधिकारियों का नया मण्डल तो बनाना ही था। उसमें इन अनुभवी अधिकारियों का सहज ही उपयोग हो गया। इन अधिकारियों की तीव्र बुद्धि ने एक नया विभाग ही खोज निकाला। उसमें उनकी कुशलता भी अधिक तो थी ही ! हब्शियों से सम्बन्ध रखने वाला एक अलग विभाग पहले से ही था। ऐसी दशा में एशियावासियों के लिए भी अलग विभाग क्यों न हो ? दलील ठीक मानी गयी। यह नया विभाग मेरे दक्षिण अफ्रीका पहुँचने से पहले ही खुल चुका था और धीरे-धीरे अपना जाल बिछा रहा था। जो अधिकारी भागे हुओ को वापस आने के परवाने देता था वही सबको दे सकता था। पर उसे यह कैसे मालूम हो कि एशियावासी कौन हैं ? इसके समर्थन में दलील यह दी गयी कि नये विभाग की सिफारिश पर ही एशियावासियों को परवाने मिसा करे, तो उस अधिकारी की जिम्मेवारी कम हो जाये और उसका काम भी हल्का हो जाय। वस्तुस्थिति यह थी कि नये विभाग को कुछ काम की और कुछ दाम की जरूरत थी। काम न हो तो इस विभाग की आवश्यकता सिद्ध न हो सके और फलतः वह बन्द हो जाय। अतएव उसे यह काम सहज ही मिल गया।

हिन्दुस्तानियों को इस विभाग में अर्जी देनी पड़ती थी। फिर बहुत दिनों बाद उसका उत्तर मिलता था। ट्रान्सवाल जाने की इच्छा रखने वाले लोग अधिक थे। अतएव उनके लिए दलाल खड़े हो गये। इन दलाल और अधिकारियों के बीच हिन्दुस्तानियों के हजारों रुपये लुट गये। मुझसे कहा गया था कि बिना वसीले के परवाना मिलता ही नहीं और कई बार तो

वसीले या जरिये के होते हुए भी प्रति व्यक्ति सौ-सौ पौण्ड तक खर्च हो जाते हैं। इसमें मेरा ठिकाना कहाँ लगता ?

मैं अपने पुराने मित्र डरबन के पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट के पास पहुँचा और उनसे कहा, 'आप मेरा परिचय परवाना देने वाले अधिकारी से करा दीजिये और मुझे परवाना दिला दीजिये। आप यह तो जानते हैं कि मैं ट्रान्सवाल में रहा हूँ।' वे तुरन्त सिर पर टोप रखकर मेरे साथ आये और मुझे परवाना दिला दिया। मेरी ट्रेन को मुश्किल से एक घंटा बाकी था। मैंने सामान वगैरा तैयार रखा था। सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्जेण्डर का आभार मान कर मैं प्रिटोरिया के लिए रवाना हो गया।

मुझे कठिनाईयों का ठीक-ठीक अंदाज हो गया था। मैं प्रिटोरिया पहुँचा। प्रार्थना-पत्र तैयार किया। डरबन में प्रतिनिधियों के नाम किसी से पूछे गये हो, सो मुझे याद नहीं। लेकिन यहाँ नया विभाग काम कर रहा था। इसलिए प्रतिनिधियों के नाम पहले से पूछ लिये गये थे। इसका हेतु मुझे अलग रखना था, ऐसा प्रिटोरिया के हिन्दुस्तानियों को पता चल गया था। यह दुखःद किन्तु मनोरंजक कहानी आगे लिखी जायगी।

२. एशियाई विभाग की नवाबशाही

नये विभाग के अधिकारी समझ नहीं पाये कि मैं ट्रान्सवाल में दाखिल कैसे हो गया। उन्होने अपने पास आने-जानेवाले हिन्दुस्तानियों से पूछा, पर वे बेचारे क्या जानते थे। अधिकारियों ने अनुमान किया कि मैं अपनी पुरानी जान-पहचान के कारण बिना परवाने के दाखिल हुआ होऊँगा और अगर ऐसा है तो मुझे गिरफ्तार किया जा सकता हैं।

किसी बड़ी लड़ाई के बाद हमेंशा ही कुछ समय के लिए राज्यकर्ताओ की विशेष सत्ता दी जाती हैं। दक्षिण अफ्रीका में भी यही हुआ। वहाँ शान्ति रक्षा के हेतु एक कानून बनाया गया था। इस कानून की एक धारा यह थी कि यदि कोई बिना परवाने के ट्रान्सवाल में दाखिल हो, तो उसे गिरफ्तार कर लिया जाय और उसे कैद में रखा जाय। इस धारा के आधार पर मुझे पकड़ने के लिए सलाह-मशविरी चला। पर मुझ से परवाना माँगने की हिम्मत किसी की नहीं हुई।

अधिकारियों ने डरबन तार तो भेजे ही थे। जब उन्हें यह सूचना मिली कि मैं परवाना लेकर दाखिल हुआ हूँ तो वे निराश हो गये। पर ऐसी निराशा से यह विभाग हिम्मत हारने वाला नहीं था। मैं ट्रान्सवाल पहुँच गया था, लेकिन मुझे मि. चेम्बरलेन के पास न पहुँचने देने में यह विभाग अवश्य ही सफल हो सकता था। इसलिए प्रतिनिधियों के नाम माँगे गये। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद का अनुभव तो जहाँ-तहाँ होता ही था, पर यहाँ हिन्दुस्तान की सी गन्दगी और चालबाज की बू आयी। दक्षिण अफ्रीका में शासन के साधारण विभाग जनता के लिए काम करते थे, इसलिए वहाँ के अधिकारियों में एक प्रकार की सरलता और नम्रता थी। इसका लाभ थोड़े-बहुत अंश में काली-पीली चमड़ीवालो को भी अनायास मिल जाता था। अब जब इससे भिन्न एशियाई वातावरण ने प्रवेश किया, तो वहाँ के जैसी निरंकुशता, वैसे षड्यंत्र आदि बुराइयाँ भी आ घुसीं। दक्षिण अफ्रीका में एक प्रकार की लोकसत्ता थी, जब कि एशिया से तो निरी नवाबशाही ही आयी, क्योकि वहाँ जनता की सत्ता नही थी, बल्कि जनता पर ही सत्ता चलायी जाती थी। दक्षिण अफ्रीका में गोरे घर बनाकर बस गये थे, इसलिए वे वहाँ की प्रजा माने गये। इस कारण अधिकारियों पर उनका अंकुश रहता था

। इसमें एशिया से आये हुए निरंकुश अधिकारियों में सम्मिलित होकर हिन्दुस्तानियों की स्थिति सरोते के बीच सुपारी जैसी कर डाली।

मुझे भी इस सत्ता का ठीक-ठीक अनुभव प्राप्त हुआ । पहले तो मुझे इस विभाग के उच्चाधिकारी के पास बुलवाया गया। वे उच्चाधिकारी लंका से आये थे। 'बुलवाया गया' प्रयोग में कदाचित् अतिशयोक्ति का आभास हो सकता हैं, इसलिए थोड़ी अधिक स्पष्टता कर दूँ। मेरे नाम उनका कोई पत्र नही आया था। पर मुख्य-मुख्य हिन्दुस्तानियों को वहाँ बार-बार जाना ही पड़ता था। वैसे मुखियो में स्व. सेठ तैयब हाजी खानमहम्मद भी थे। उनसे साहब ने पूछा, 'गांधी कौन है ? वह क्यों आया हैं ?'

तैयब सेठ ने जवाब दिया, 'वे हमारे सलाहकार हैं। उन्हें हमने बुलाया हैं।'

साहब बोले, 'तो हम सब यहाँ किस काम के लिए बैठे हैं ? क्या हम आप लोगो की रक्षा के लिए नियुक्त नहीं हुए हैं ? गांधी यहाँ की हालत क्या जाने?'

तैयब सेठ ने जैसा भी उनसे बना इस चोट का जवाब देते हुए कहा, 'आप तो है ही, पर गांधी तो हमारे ही माने जायेंगे न ? वे हमारी भाषा जानते हैं । हमें समझते हैं । आप तो आखिरकार अधिकारी ठहरे।'

साहब ने हुक्म दिया, 'गांधी को मेरे पास लाना।'

तैयब सेठ आदि के साथ मैं गया। कुर्सी तो क्योकर मिल सकती थी ? हम सब खड़े रहे।

साहब ने मेरी तरफ देखकर पूछा, 'कहिये, आप यहाँ किसलिए आये हैं ?'

मैंने जवाब दिया, 'अपने भाइयों के बुलाने पर मैं उन्हें सलाह देने आया हूँ।'

'पर क्या आप जानते नहीं कि आपको यहाँ आने का अधिकार ही नहीं हैं ? परवाना तो आपको भूल से मिल गया हैं। आप यहाँ के निवासी नहीं माने जा सकते। आपको वापस जाना होगा। आप मि. चेम्बरलेन के पास नहीं जा सकते। यहाँ के हिन्दुस्तानियों की रक्षा करने के लिए तो हमारा विभाग विशेष रुप से खोला गया हैं। अच्छा, जाइये।'

इतना कहकर साहब ने मुझे बिदा किया। मुझे जवाब देने का अवसर ही न दिया।

दूसरे साथियों को रोक लिया। उन्हें साहब ने धमकाया और सलाह दी कि वे मुझे ट्रान्सवाल से बिदा कर दे।

साथी कड़वा मुँह लेकर लौटे। यों एक नई ही पहेल अनपेक्षित रूप से हमारे सामने हल करने के लिए खड़ी हो गयी।

३. कड़वा घूंट पिया

इस अपमान से मुझे बहुत दुःख हुआ । पर पहले मैं ऐसे अपमान सहन कर चुका था, इससे पक्का हो गया था । अतएव मैंने अपमान की परवाह न करते हुए तटस्थता-पूर्वक जब जो कर्तव्य मुझे सूझ जाय, सो करते रहने का निश्चय किया ।

उक्त अधिकारी के हस्ताक्षरोंवाला पत्र मिला । उसमें लिखा था कि मि, चेम्बरलेन डरबन में मि. गांधी से मिल चुके है, इसलिए अब उनका नाम प्रतिनिधियों में से निकाल डालने की जरूरत हैं ।

साथियों को यह पत्र असह्य प्रतीत हुआ । उन्होंने अपनी राय दी कि डेप्युटेशन ले जाने का विचार छोड़ दिया जाय । मैंने उन्हें हमारे समाज की विषम स्थिति समझायी, 'अगर आप मि. चेम्बलेन के पास नहीं जायेंगे, तो यह माना जायगा कि यहाँ हमें कोई कष्ट हैं ही नहीं । आखिर जो कहना हैं और वह तैयार हैं । मैं पढ़ूँ या दूसरा कोई पढ़े, इसकी चिन्ता नहीं हैं । मि. चेम्बरलेन हमसे कोई चर्चा थोड़े ही करने वाले हैं । मेरा जो अपमान हुआ हैं, उसे हमें पी जाना पड़ेगा ।'

मैं यों कह ही रहा था कि इतने में तैयब सेठ बोल उठे, 'पर आपका अपमान सारे भारतीय समाज का अपमान हैं । आप हमारे प्रतिनिधि हैं, इसे कैसे भुलाया जा सकता हैं ?'

मैंने कहा, 'यह सच हैं, पर समाज को भी ऐसे अपमान पी जाने पड़ेगे । हमारे पास दूसरा इलाज ही क्या हैं ?'

तैयब सेठ ने जवाब दिया, 'भले जो होना हो सो हो, पर जानबूझकर दूसरा अपमान क्यों सहा जाय ? बिगाड़ तो यों भी हो ही रहा हैं । हमें हक ही कौन से मिल रहे हैं ? '

मुझे यह जोश अच्छा लगता था । पर मैं जानता था कि इसका उपयोग नहीं किया जा सकता । मुझे अपने समाज की मर्यादा का अनुभव था । अतएव मैंने साथियों को शान्त किया और मेरे बदले स्व. जॉर्ज गॉडफ्रे को, जो हिन्दुस्तानी बारिस्टर थे, ले जाने की सलाह दी ।

अतः मि. गॉर्डफ्रे डेप्युटेशन के नेता बने। मेरे बारे में मि. चेम्बरलेन ने थोड़ी चर्चा भी की, 'एक ही क्यक्ति को दूसरी बार सुनने की अपेक्षा नये क सुनना अधिक उचित हैं 'आदि बाते कहकर उन्होने किये हुए घाव को भरने का प्रयत्न किया।

पर इससे समाज का और मेरा काम बढ़ गया, पूरा न हुआ। पुनः 'ककहरे' से आरम्भ करना आवश्यक हो गया। 'आपके कहने से समाज ने लड़ाई में हिस्सा लिया, पर परिणाम तो यही निकला न ?'इस तरह ताना मारने वाले भी समाज में निकल आये। पर मुझ पर इन तानो को कोई असर नहीं हुआ। मैंने कहा, 'मुझे इस सलाह का पछतावा नहीं हैं। मैं अब भी मानता हूँ कि हमने लड़ाई में भाग लेकर ठीक ही किया हैं। वैसा करके हमने अपने कर्तव्य का पालन किया है| हमें उसका फल चाहे देखने को न मिले, पर मेरा यह दढ विश्वास हैं कि शुभ कार्य का फल शुभ होता है। बीती बातों का विचार करने की अपेक्षा अब हमारे लिए अपने वर्तमान कर्तव्य का विचार करना अधिक अच्छा होगा। अतएव हम उसके बारे में सोचें।'

दूसरों ने भी इस बात का समर्थन किया।

मैंने कहा, 'सच तो यह हैं कि जिस काम के लिए मुझे बुलाया गया था, वह अब पूरा हुआ माना जायगा। पर मैं मानता हूँ कि आपके छुट्टी दे देने पर भी अपने बसभर मुझे ट्रान्सवाल से हटना नहीं चाहियें। मेरा काम अब नेटाल से नहीं, बल्कि यहाँ से चलना चाहिए। एक साल के अन्दर वापस जाने का विचार मुझे छोड देना चाहिए और यहाँ की वकालत की सनद हासिल करनी चाहिए| इस नये विभाग से निबट लेने की हिम्मत मुझे में है। यदि हमने मुकाबला न किया तो समाज लुट जायगा और शायद यहाँ से उसके पैर भी उखड़ जायेंगे| समाज का अपमान और तिरस्कार रोज-रोज बढता ही जाएगा। मि. चेम्बरलेन मुझ से नहीं मिले, उक्त अधिकारी ने मेरे साथ तिरस्कारपूर्ण व्यवहार किया, यह तो सारे समाज के अपमान की तुलना में कुछ भी नहीं हैं। यहाँ हमारा कुत्तो की तरह रहना बरदाश्त किया ही नही जा सकता।'

इस प्रकार मैंने चर्चा चलायी | प्रिटोरिया और जोहानिस्बर्ग में रहने वाले भारतीय नेताओ से विचार-विमर्श करके अन्त में जोहानिस्बर्ग में दफ्तर रखने का निश्चय किया। ट्रान्सवाल में

मुझे वकालत की सनद मिलने के बारे में भी शंका तो थी ही। पर वकील-मंडल की ओर से मेरे प्रार्थना-पत्र का विरोध नही हुआ औऱ बड़ी अदालत ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

हिन्दुस्तानि को अच्छे स्थान में आफिस के लिए घर मिलना भी कठिन काम था। मि. रीच के साथ मेरा अच्छा परिचय हो गया था। उस समय वे व्यापारी-वर्ग में थे। उनकी जान-पहचान के हाउस-एजेंट के द्वारा मुझे आफिस के लिए अच्छी बस्ती में घर मिल गया और मैंने वकालत शुरू कर दी।

४. बढ़ती हुई त्यागवृति

ट्रान्सवाल में भारतीय समाज के अधिकारो के लिए किस प्रकार लड़ना पड़ा और एशियाई विभाग के अधिकारियों के साथ कैसा व्यवहार करना पड़ा, इसका वर्णन करने से पहले मेरे जीवन के दूसरे अंग पर दृष्टि डाल लेना आवश्यक हैं।

अब तक कुछ द्रव्य इकट्ठा करने की मेरी इच्छा थी। परमार्थ के साथ स्वार्थ का मिश्रण था।

जब बम्बई में दफ्तर खोला, तो एक अमेरिकन बीमा-एजेंट मिलने आया। उसका चेहरा सुन्दर था और बाते मीठी थी। उसने मेरे साथ मेरे भावी हित की बाते ऐसे ढंग से की मानो हम पुराने मित्र हो, 'अमेरिका में तो आपकी स्थिति के सब लोग बीमा कराते हैं। आपके भी ऐसा करके भविष्य के विषय में निश्चिंत हो जाना चाहिए। जीवन का भरोसा है ही नही। अमेरिका में तो हम बीमा कराना अपना धर्म समझते हैं। क्या मैं आपको एक छोटी-सी पॉलिसी लेने के लिए ललचा नहीं सकता ?'

तब तक दक्षिण अफ्रीका में और हिन्दुस्तान में बहुत से एजेंट की बात मैंने मानी नही थी। मैं सोचता था कि बीमा कराने में कुछ भीरुता और ईश्वर के प्रति अविश्वास रहता हैं। पर इस बार मैं लालच में आ गया। वह एजेंट जैसे-जैसे बातो करता जाता, वैसे-वैसे मेरे सामने पत्नी और बच्चो की तस्वीर खड़ी होती जाती। 'भले आदमी, तुमने पत्नी के सब गहने बेच डाले हैं। यदि कल तुम्हें कुछ हो जाय तो पत्नी और बच्चो के भरण-पोषण का भार उन गरीब भाई पर ही पड़ेगा न, जिन्होंने पिता का स्थान लिया हैं और उसे सुशोभित किया है? यह उचित न होगा।' मैंने अपने मन के साथ इस तरह की दलीले की और रू. 10,000 का बीमा करा लिया।

पर दक्षिण अफ्रीका में मेरी स्थिति बदल गयी और फलतः मेरे विचार भी बदल गये। दक्षिण अफ्रीका की नयी आपत्ति के समय मैंने जो कदम उठाये, सो ईश्वर को साक्षी रखकर ही उठाये थे। दक्षिण अफ्रीका में मेरा कितना समय चला जायेगा, इसकी मुझे कोई कल्पना नही थी। मैंने समझ लिया था कि मैं हिन्दुस्तान वापस नही जा पाउँगा। मुझे अपने बाल-बच्चो को साथ ही रखना चाहियें। अब उनका वियोग बिल्कुल नहीं होना चाहियें। उनके

भरण-पोषण की व्यवस्था भी दक्षिण अफ्रीका में ही होनी चाहिए। इस प्रकार सोचने के साथ ही उक्त पॉलिसी मेरे लिए दुःखद बन गयी। बीमा-एजेंट के जाल में फँस जाने के लिए मैं लज्जित हुआ। 'यदि बड़े भाई पिता के समान हैं तो छोटे भाई की विधवा के बोझ को वे भारी समझेंगे यह तूने कैसे सोच लिया ? यह भी क्यो माना कि तू ही पहले मरेगा ? पालन करनेवाला तो ईश्वर हैं। न तू हैं, न भाई हैं। बीमा कराकर तूने बाल-बच्चो को भी पराधीन बना दिया हैं। वे स्वावलंभी क्यों न बने ? असंख्य गरीबो के बाल-बच्चो का क्या होता हैं ? तू अपने को उन्हीं के समान क्यो नहीं मानता ?'

इस प्रकार विचारधारा चली। उस पर अमल मैंने तुरन्त ही नहीं किया था। मुझे याद हैं कि बीमें की एक किस्त तो मैंने दक्षिण अफ्रीका से भी भेजी थी।

पर इस विचार-प्रवाह की बाहर का उत्तेजन मिला। दक्षिण अफ्रीका की पहली यात्रा में मैं ईसाई वातावरण के सम्पर्क में आकर धर्म के प्रति जाग्रत बना था। इस बार मैं थियॉसॉफी के वातावरण के संसर्ग में आया। मि. रीच थियॉसॉफिस्ट थे। उन्होंने मेरा सम्बन्ध जोहानिस्बर्ग की सोसायटी से करा दिया। मैं उसका सदस्य तो नही ही बना। थियॉसॉफी के सिद्धान्तो से मेरा मतभेद बना रहा। फिर भी मैं लगभग हरएक थियॉसॉफिस्ट के गाढ़ परिचय में आया। उनके साथ रोज मेरी धर्म-चर्चा होती थी। मैं उनकी पुस्तके पढ़ता था। उनकी सभा में बोलने के अवसर भी मुझे आते थे। थियॉसॉफी में भाईचारा स्थापित करना और बढना मुख्य वस्तु हैं। हम लोग इस विषय की खूब चर्चा करते थे और जहाँ मैं इस सिद्धान्त में और सदस्यों के आचरण में भेद पाता, वहाँ आलोचना भी करता था। स्वयं मुझ पर इस आलोचना का काफी प्रभाव पड़ा। मैं आत्म-निरीक्षण करना सीख गया।

५. निरीक्षण की परिणाम

सन् 1893 में जब मैं ईसाई मित्रो के निकट सम्पर्क में आया, तब मैं केवल शिक्षार्थी की स्थिति में था । ईसाई मित्र बाइबल का संदेश सुनाने, समझाने और मुझे उसको स्वीकार कराने का प्रयत्न करते थे । मैं नम्रता पूर्वक, तटस्थ भाव से उनकी शिक्षा को सुन और समझ रहा था । इस निमित्त से मैंने हिन्दू धर्म का यथास्थिति अध्ययन किया और दूसरे धर्मों को समझने की कोशिश की । अब 1903 में स्थिति थोडी बदल गयी । थियॉसॉफिस्ट मित्र मुझे अपने मंडल में सम्मिलित करने की इच्छा अवश्य रखते थे । पर उनका हेतु हिन्दू के नाते मुझसे कुछ प्राप्त करना था । थियॉसॉफी की पुस्तकों में हिन्दू धर्म की छाया और उसका प्रभाव तो काफी हैं । अतएव इस भाईयों ने माने लिया कि मैं उनकी सहायता कर सकूँगा । मैंने उन्हें समझाया कि संस्कृत का मेरा अध्ययन नही के बराबर हैं । मैंने उसेक प्राचीन धर्मग्रंथ संस्कृत में नहीं पढ़े है । अनुवादो के द्वारा भी मेरी पढाई कम ही हुई है । फिर भी चूंकि वे संस्कार और पुनर्जन्म को मानते थे, इसलिए उन्होंने समझा कि मुझसे थोडी-बहुत सहायता तो मिलेगी ही और मैं 'निरस्तपादपे देशे एरंडोडपि दुमायते' (जहाँ कोई वृक्ष न हो वहाँ एंरड ही वृक्ष बन जाता हैं ।) जैसी स्थिति में आ पड़ा । किसी के साथ मैंने स्वामी विवेकानन्द को, तो किसी के साथ मणिलाल नथुभाई का 'राजयोग' पढना शुरु किया । एक मित्र के साथ 'पातंजल योगदर्शन' पढना पड़ा । बहुतो के साथ गीता का अभ्यास शुरु किया । 'जिज्ञासु मंडल' के नाम से एक छोटा सा मंडल भी स्थापित किया और नियमित अभ्यास होने लगा । गीताजी पर मुझे प्रेम और श्रद्धा तो थी ही । अब उसकी गहराई में उतरने की आवश्यकता प्रतीत हुई । मेरे पास एक दो अनुवाद थे । उनकी सहायता से मैंने मूल संस्कृत समझ लेने का प्रयत्न किया और नित्य एक-दो श्लोक कंठ करने का निश्चय किया ।

प्रातः दातुन और स्नान के समय का उपयोग गीता के श्लोक कंठ करने में किया । दातुन में पन्द्रह और स्नान में बीस मिनट लगते थे । दातुन अंग्रेजी ढंग से मैं खड़े-खड़े करता था । सामने की दीवार पर गीता के श्लोक लिखकर चिपका देता था और आवश्यकतानुसार उन्हें देखता तथा गोखता जाता था । ये गोखे हुए श्लोक स्नान करने तक पक्के हो जाते थे । इस

बीच पिछले कंठ किये हुए श्लोको को भी मैं एक बार दोहरा जाता था। इसप्रकार तेरह अध्याय तक कंठ करने की बात मुझे याद हैं। बाद में काम बढ़ गया। सत्याग्रह का जन्म होने पर उस बालक के लालन-पालन में मेरा विचार करने का समय भी बीतने लगा और कहना चाहिए कि आज भी बीत रहा हैं।

इस गीतापाठ का प्रभाव मेरे सहाध्यायियो पर क्या पड़ा उसे वे जाने, परन्तु मेरे लिए तो वह पुस्तक आचार की एक प्रौढ मार्गदर्शिका बन गयी। वह मेरे लिए धार्मिक कोश का काम देने लगी। जिस प्रकार नये अंग्रेजी शब्दो के हिज्जो यो उनके अर्थ के लिए मैं अंग्रेजी शब्दकोश देखता था, उसी प्रकार आचार-सम्बन्धी कठिनाइयों और उनकी अटपटी समस्याओ को मैं गीता से हल करता था।

उसके अपरिग्रह, समभाव आदि शब्दो ने मुझे पकड़ लिया। समभाव का विकास कैसे हो, उसकी रक्षा कैसे की जाय? अपमान करनेवाले अधिकारी, रिश्वत लेनेवाले अधिकारी, व्यर्थ विरोध करने वाले कल के साथी इत्यादि और जिन्होंने बड़े-बड़े उपकार किये हैं ऐसे सज्जनो के बीच भेद न करने का क्या अर्थ हैं? अपरिग्रह किस प्रकार पाला जाता होता? देह का होना ही कौन कम परिग्रह हैं? स्त्री-पुत्रादि परिग्रह नही तो और क्या हैं? ढेरो पुस्तकों से भरी इन आलमारियो को क्या जला डालूँ? घर जलाकर तीर्थ करने जाऊँ? तुरन्त ही उत्तर मिला कि घर जलाये बिना तीर्थ किया ही नही जा सकता। यहाँ अंग्रेजी कानून में मेरी मदद की। स्नेल की कानूनी सिद्धान्तों की चर्चा याद आयी। गीता के अध्ययन के फलस्वरुप 'ट्रस्टी' शब्द का अर्थ विशेष रुप से समझ में आया। कानून शास्त्र के प्रति मेरा आदर बढ़ा। मुझे उसमें भी धर्म के दर्शन हुए। ट्रस्टी के पास करोड़ो रुपयो के रहते हुए भी उनमें से एक भी पाई उसकी नहीं होती। मुमुक्षु को ऐसा ही बरताव करना चाहिए, यह बात मैंने गीताजी से समझी। मुझे यह दीपक की तरह स्पष्ट दिखायी दिया कि अपरिग्रह बनने में, समभावी होने में हेतु का, हृदय का परिवर्तन आवश्यक हैं। मैंने रेवाशंकरभाई को इस आशय का पत्र लिख भेजा कि बीमें की पॉलिसी बन्द कर दें। कुछ रकम वापस मिले तो ले लें, नहीं तो भरे हुए पैसो को गया समझ लें। बच्चों की और स्त्री के रक्षा उन्हें और हमें करने वाला ईश्वर करेंगा। पितृतुल्य भाई को लिखा, 'आज तक तो मेरे पास जो बचा मैंने आप को अर्पण

किया। अब मेरी आशा आप छोड़ दीजिये। अब जो बचेगा सो यहीं हिन्दुस्तान समाज के हित में खर्च होगा।'

भाई को यह बात मैं शीध्र ही समझा न सका। पहले तो उन्होंने मुझे कड़े शब्दों में उनके प्रति मेरा धर्म समझाया, 'तुम्हें पिताजी से अधिक बुद्धिमान नही बनना चाहिए। पिताजी ने जिस प्रकार कुटुम्ब का पोषण किया, उसी प्रकार से तुम्हें भी करना चाहिए' आदि। मैंने उत्तर में विनय-पूर्वक लिखा कि मैं पिता का काम कर रहा हूँ। कुटुम्ब शब्द का थोड़ा विशाल अर्थ किया जाय, तो मेरा निश्चय आपको समझ में आ सकेगा।

भाई ने मेरी आशा छोड़ दी। एक प्रकार से बोलना ही बन्द कर दिया। इससे मुझे दुःख हुआ। पर जिसे मैं अपना धर्म मानता था उसे छोड़ने से कही अधिक दुःख होता था। मैंने कम दुःख सहन कर लिया। फिर भी भाई के प्रति मेरी भक्ति निर्मल और प्रचंड बनी रही। भाई का दुःख उनके प्रेम में से उत्पन्न हुआ था। उन्हें मेरे पैसो से अधिक आवश्यकता मेरे सद्व्यवहार की थी।

अपने अंतिम दिनों में भाई पिघले। मृत्युशय्या पर पड़े-पड़े उन्हें प्रतीति हुई कि मेरा आचरण ही सच्चा और धर्मपूर्ण था। उनका अत्यन्त करुणाजनक पत्र मिला। यदि पिता पुत्र से क्षमा माँग सकता है, तो उन्होंने मुझसे क्षमा माँगी हैं। उन्होंने लिखा कि मैं उनके लड़को का पालन पोषण अपनी रीति नीति के अनुसार करुँ। स्वयं मुझ से मिलने के लिए वे अधीर हो गये। मुझे तार दिया। मैंने तार से ही जवाब दिया, 'आ जाइये।' पर हमारा मिलन बदा न था।

उनकी अपने पुत्रों संबंधी इच्छा भी पूरी नहीं हुई। भाई ने देश में ही देह छोड़ी। लड़को पर उनके पूर्व-जीवन का प्रभाव पड़ चुका था। उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मैं उन्हें अपने पास खींच न सका। इसमें उनका कोई दोष नहीं था। स्वभाव को कौन बदल सकता हैं ? बलवान संस्कारों को कौन मिटा सकता है ? हमारी यह धारणा मिथ्या हैं कि जिस तरह हममें परिवर्तन होता हैं या हमारा विकास होता है, उसी तरह हमारे आश्रितो अथवा साथियों में भी होना चाहिए।

माता-पिता बनने वालों की जिम्मेदारी कितनी भयंकर हैं, इसका कुछ अनुभव इस दृष्टांत से हो सकता हैं।

६. निरामिषाहार के लिए बलिदान

मेरे जीवन में जैसे-जैसे त्याग और सादगी बढ़ी और धर्म जाग्रति का विकास हुआ, वैसे-वैसे निरामिषाहार का और उसके प्रचार का शौक बढ़ता गया। प्रचार कार्य की एक ही रीति मैंने जानी हैं। वह हैं, आचार की, और आचार के साथ जिज्ञासुओं से वार्तालापकी।

जोहानिस्बर्ग में एक निरामिषाहार गृह था। एक जर्मन, जो कूने की जल-चिकित्सा में विश्वास रखता था, उसे चलाता था। मैंने वहाँ जाना शुरू किया और जितने अंग्रेज मित्रों को वहाँ ले जा सकता था उतनों को उसके यहाँ ले जाता था। पर मैंने देखा कि वह भोजनालय लम्बे समय तक चल नहीं सकता। उसे पैसे की तंगी तो बनी ही रहती थी। मुझे जितनी उचित मालूम हुई उतनी मैंने मदद की। कुछ पैसे खोये भी। आखिर वह बन्द हो गया। थियॉसॉफिस्टों में अधिकतर निरामिषाहारी होते हैं, कुछ पूरे कुछ अधूरे। इस मंडल में एक साहसी महिला भी थी। उसने बड़े पैमाने पर एक निरामिषाहारी भोजनालय खोला। यह महिला कला की शौकीन थी। वह खुले हाथों खर्च करती थी और हिसाब-किताब का उसे बहुत ज्ञान नहीं था। उसकी खासी बड़ी मित्र-मंडली थी। पहले तो उसका काम छोटे पैमाने पर शुरू हुआ, पर उसने उसे बढ़ाने और बड़ी जगह लेने का निश्चय किया। इसमें उसने मेरी मदद माँगी। उस समय मुझे उसके हिसाब आदि की कोई जानकारी नही थी। मैंने यह मान लिया था कि उसका अन्दाज ठीक ही होगा। मेरे पास पैसे की सुविधा थी। कई मुवक्किलो के रुपये मेरे पास जमा रहते थे। उनमें से एक से पूछ कर उसकी रकम में से लगभग एक हजार पौंड उस महिला को मैंने दे दिये। वह मुवक्किल विशाल हृदय और विश्वासी था। वह पहले गिरमिट में आया था। उसने (हिन्दी में) कहा, 'भाई, आपका दिल चाहे तो पैसा दे दो। मैं कुछ ना जानूँ। मैं तो आप ही को जानता हूँ।' उसका नाम बदरी था। उसने सत्याग्रह में बहुत बड़ा हिस्सा लिया था। वह जेल भी भुगत आया था। इतनी संमति के सहारे मैंने उसके पैसे उधार दे दिये। दो-तीन महीने में ही मुझे पता चल गया कि यह रकम वापस नहीं मिलेगी। इतनी बड़ी रकम खो देने की शक्ति मुझ में नहीं थी। मेरे पास इस बड़ी रकम का

दूसरा उपयोग था। रकम वापस मिली ही नहीं। पर विश्वासी बदरी की रकम कैसे डूब सकती थी ? वह तो मुझी को जानता था ? यह रकम मैंने भर दी।

एक मुवक्किल मित्र से मैंने अपने इस लेन-देन की चर्चा की। उन्होंने मुझे मीठा उलाहना देते हुए जाग्रत किया, 'भाई, यह आपका काम नहीं हैं। हम तो आपके विश्वास पर चलने वाले हैं। यह पैसा आपको वापस नहीं मिलेगा। बदरी को आप बचा लेंगे और अपना पैसा खोयेंगे। पर इस तरह के सुधार के कामों में सब मुवक्किलों के पैसे देने लगेंगे, तो मुवक्किल मर जायेंगे और आप भिखमंगे बनकर घर बैठेंगा। इससे आपके सार्वजनिक काम को क्षति पहुँचेगी।'

सौभाग्य से ये मित्र अभी जीवित हैं। दक्षिण अफ्रीका में और दूसरी जगह उनसे अधिक शुद्ध मनुष्य मैंने नही देखा। किसी के प्रति उनके मन में शंका उत्पन्न हो और उन्हें जान पड़े कि यह शंका खोटी है तो तुरन्त उससे क्षमा माँगकर अपनी आत्मा को साफ कर लेते हैं। मुझे इस मुवक्किल की चेतावनी सच मालूम हुई। बदरी की रकम तो मैं चुका सका। पर दूसरे हजार पौंड यदि उन्हीं दिनों मैंने खो दिये होते, तो उन्हें चुकाने की शक्ति मुझ में बिल्कुल नही थी। उसके लिए मुझे कर्ज ही लेना पड़ता। यह धंधा तो मैंने अपनी जिन्दगी में कभी नही किया और इसके लिए मेरे मन में हमेंशा ही बड़ी अरुचि रही हैं। मैंने अनुभव किया कि सुधार करने के लिए भी अपनी शक्ति से बाहर जाना उचित नहीं था। मैंने यह भी अनुभव किया कि इस प्रकार पैसे उधार देने में मैंने गीता के तटस्थ निष्काम कर्म के मुख्य पाठ का अनादर किया था। यह भूल मेरे लिए दीपस्तम्भ-सी बन गयी।

निरामिषाहार के प्रचार के लिए ऐसा बलिदान करने की मुझे कोई कल्पना न थी। मेरे लिए वह जबरदस्ती का पुण्य बन गया।

७. मिट्टी और पानी के प्रयोग

जैसे-जैसे मेरे जीवन में सादगी बढ़ती गयी, वैसे-वैसे रोगों के लिए दवा लेने की मेरी अरुचि, जो पहले से ही थी, बढ़ती गयी। जब मैं डरबन में वकालत करता था तब डॉ. प्राणजीवनदास मेहता मुझे अपने साथ ले जाने के लिए आये थे। उस समय मुझे कमजोरी रहती थी और कभी-कभी सूजन भी हो आती थी। उन्होंने इसका उपचार किया था और मुझे आराम हो गया था। इसके बाद देश में वापस आने तक मुझे कोई उल्लेख करनें जैसी बीमारी हुई हो, ऐसा याद नहीं आता।

पर जोहानिस्बर्ग में मुझे कब्ज रहता था और कभी कभी सिर भी दुखा करता था। कोई दस्तावर दवा लेका मैं स्वास्थ्य को संभाले रहता था। खाने-पीने में पथ्य का ध्यान तो हमेंशा रखता ही था, पर उससे मैं पूरी तरह व्याधिमुक्त नही हुआ। मन में यह ख्याल बना हू रहता कि दस्तावर दवाओ से भी छुटकारा मिले तो अच्छा हो।

इन्हीं दिनों मैंने मैंन्चेस्टर में 'नो ब्रेकफास्ट एसोशियेशन' की स्थापना का समाचार पढ़ा। इसमें दलील यह थी कि अंग्रेज बहुत बार और बहुत खाते रहते हैं और फिर डॉक्टर के घर खोजते फिरते हैं। इस उपाधि से छूटना हो तो सबेरे का नाश्ता 'ब्रेकफास्ट' छोड़ देना चाहिए। मुझे लगा कि यद्यपि यह दलील मुझ पर पूरी तरह घटित नहीं होती, फिर भी कुछ अंशों में लागू होती हैं। मैंन तीन बार पेट भर खाता था और दोपहर को चाय भी पीता था। मैं कभी अल्पाहारी नहीं रहा। निरामिषाहार में मसालों के बिना जिनते भी स्वाद लिये जा सकते थे, मैं लेता था। छह-सात बजे से पहले शायद ही उठता था।

अतएव मैंने सोचा कि यदि मैं सुबह का नाश्ता छोड़ दूँ तो सिर के दर्द से अवश्य ही छुटकारा पा सकूँगा। मैंने सुबह का नाश्ता छोड़ दिया। कुछ दिनों तक अखरा तो सही, पर सिर का दर्द बिल्कुल मिट गया। इससे मैंने यह नतीजा निकाला कि मेरा आहार आवश्यकता से अधिक था।

पर इस परिवर्तन से कब्ज की शिकायत दूर न हुई। कूने के कटिस्नान का उपचार करने से थोड़ा आराम हुआ। पर अपेक्षित परिवर्तन तो नहीं ही हुआ। इस बीच उसी जर्मन

होटलवाले ने या दूसरे किसी मित्र ने मुझे जुस्ट की 'रिटर्न टु नेचर' (प्रकृति की ओर लौटो) नामक पुस्तक दी । उसमें मैंने मिट्टी के उपचार के बारे में पढ़ा । सूखे और हरे फल ही मनुष्य का प्राकृतिक आहार हैं, इस बात का भी इस लेखक ने बहुत समर्थन किया हैं । इस बार मैंने केवल फलाहार का प्रयोग तो शुरु नही किया, पर मिट्टी के उपचार तुरन्त शुरु कर दिया । मुझ पर उसका आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा । उपचार इस प्रकार था, खेत की साफ लाल या काली मिट्टी लेकर उसमें प्रमाण से पानी डाल कर साफ, पतले, गीले कपड़े में उसे लपेटा और पेट पर रखकर उस पर पट्टी बाँध दी । यह पुलटिस रात को सोते समय बाँधता था और सबेरे अथवा रात में जब जाग जाता तब खोल दिया करता था । इससे मेरा कब्ज जाता रहा । उसके बाद मिट्टी के ये उपचार मैंने अपने पर और अपने अनेक साथियों पर किये और मुझे याद है कि वे शायद ही किसी पर निष्फल रहे हो ।

देश में आने के बाद मैं ऐसे उपचारों के विषय में आत्म-विश्वास खो बैठा हूँ । मुझे प्रयोग करने का, एक जगह स्थिर होकर बैठने का अवसर भी नहीं मिल सका। फिर भी मिट्टी और पानी के उपचारों के बारे में मेरी श्रद्धा बहुत कुछ वैसी ही है जैसी आरम्भ में थी । आज भी मैं मर्यादा के अन्दर रहकर मिट्टी का उपचार स्वयं अपने ऊपर तो करता ही हूँ और प्रसंग पड़ने पर अपने साथियों को भी उसकी सलाह देता हूँ । जीवन में दो गम्भीर बीमारियाँ मैं भोग चुका हूँ, फिर भी मेरा यह विश्वास है कि मनुष्य को दवा लेने की शायद ही आवश्यकता रहती हैं । पथ्य तथा पानी, मिट्टी इत्यादि के घेरलू उपचारों से एक हजार में से 999 रोगी स्वस्थ हो सकते हैं । क्षण-क्षण में बैद्य, हकीम और डॉक्टर के घर दौड़ने से और शरीर में अनेक प्रकार के पाक और रसायन ठूँसने से मनुष्य न सिर्फ अपने जीवन को छोटा कर लेता हैं, बल्कि अपने मन पर काबू भी खो बैठता है । फलतः वह मनुष्यत्व गँवा देता है और शरीर का स्वामी रहने के बदले उसका गुलाम बन जाता हैं ।

मैं यह बीमारी के बिछौने पर पड़ा-पड़ा लिखा रहा हूँ, इस कारण कोई इन विचारों की अवगणना न करे । मैंन अपनी बीमारी के कारण जानता हूँ । मुझे इस बात का पूरा-पूरा ज्ञान हैं और भान हैं कि मैंन अपने ही दोषो के कारण मैं बीमार पड़ा हूँ और इस भान के कारण ही मैंने धीरज नहीं छोड़ा है । इस बीमारी को मैंने ईश्वर का अनुग्रह माना हैं और अनेक दवाओं के सेवन के लालच से मैं दूर रहा हूँ । मैं यह भी जानता हूँ कि अपने हठ से मैं डॉक्टर मित्रो

को परेशाम कर देता हूँ, पर वे उदार भाव से मेरे हठ को सह लेते है और मेरा त्याग नही करते
।

पर मुझे इस समय की अपनी स्थिति के वर्णन को अधिक बढ़ाना नही चाहिए, इसलिए हम सन् 1904-05 के समय की तरफ लौट आवें।

पर आगे बढकर उसका विचार करने से पहले पाठकों को थोड़ सावधान करने की आवश्यकता हैं । यह लेख पढ़कर जो जुस्ट की पुस्तके खरीदे, वे उसकी हर बात को वेदवाक्य न समझे । सभी रचनाओ में प्रायः लेखक की एकांगी दृष्टि रहती हैं । किन्तु प्रत्येक वस्तु को कम से कम सात दृष्टियों से देखा जा सकता है और उस उस दृष्टि से वह वस्तु सच होती है । पर सब दृष्टियाँ एक ही समय पर कभी सच नही होती । साथ ही, कई पुस्तकों में बिक्री के और नाम के लालच का दोष भी होता है । अतएव जो कोई उक्त पुस्तक को पढ़े वे उसे विवेक पूर्वक पढ़े और कुछ प्रयोग करने हो तो किसी अनुभवी की सलाह लेकर करें अथवा धैर्य-पूर्वक ऐसी वस्तु का थोड़ा अभ्यास करके प्रयोग आरंभ करें ।

८. एक सावधानी

प्रवाह-पतित कथा के प्रसंग को अभी मुझे अगले प्रकरण तक टालना पड़ेगा।

पिछले प्रकरण में मिट्टी के प्रयोगो के विषय में मैं जैसा कुछ लिख चुका हूँ, उसके जैसा मेरा आहार-विषयक प्रयोग भी था। अतएव इस संबंध में भी इस समय यहाँ थोडा लिख डालना मैं उचित समझता हूँ। दूसरी कुछ बातें प्रसंगानुसार आगे आवेंगी।

आहार विषयक मेरे प्रयोगों और तत्संबंधी विचारों का विस्तार इस प्रकरण में नही किया जा सकता। इस विषय में मैंने 'आरोग्य-विषयक सामान्य ज्ञान' (इस विषय में गांधी के अन्तिम विचारो के अध्ययन के लिए 1942 में लिखी उनकी 'आरोग्य की कुंजी' नामक पुस्तक देखिये। नवजीवन ट्रष्ट द्वारा प्रकाशित।) नामक जो पुस्तक दक्षिण अफ्रीका में 'इंडियन ओपिनियन' के लिए लिखी थी, उसमें विस्तार पूर्वक लिखा हैं। मेरी छोटी-छोटी पुस्तकों में यह पुस्तक पश्चिम में और यहाँ भी सबसे अधिक प्रसिद्ध हुई हैं। मैं आज तक इसका कारण समझ नहीं सका हूँ। यह पुस्तक केवल 'इंडियन ओपिनियन' के पाठको के लिए लिखी गयी थी। पर उसके आधार पर अनेक भाई-बहनों ने अपने जीवन में फेरफार किये हैं और मेरे साथ पत्र व्यवहार भी किया हैं। इसलिए इस विषय में यहाँ कुछ लिखना आवश्यक हो गया हैं। क्योंकि यद्यपि उसमें लिखे हुए अपने विचारो में फेरफार करने की आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं हुई, तथापि अपने आचार में मैंने जो महत्त्व का फेरफार किया हैं, उसे इस पुस्तक के सब पाठक नही जानते। यह आवश्यक हैं कि वे उस फेरफार को तुरन्त जान ले।

इस पुस्तक को लिखने में अन्य पुस्तकों की भाँति ही केवल धर्म भावना काम कर रही थी और वही आज भी मेरे प्रत्ये काम में वर्तमान हैं। इसलिए उसमें बताये हुए कई विचारो पर मैं आज अमल नही कर पाता हूँ, इसका मुझे खेद हैं, इसकी मुझे शरम आती है।

मेरा ढृढ़ विश्वास है कि मनुष्य बालक के रूप में माता का जो दूध पीता हैं, उसके सिवा उसे दूसरे दूध की आवश्यकता नही है। हरे और सूखे बनपक्व फलो के अतिरिक्त मनुष्य का और कोई आहार नही हैं। बादाम आदि के बीजों में से और अंगूर आदि फलों में से उसे शरीर और बुद्धि के लिए आवश्यक पूरा पोषण मिल जाता है। जो ऐसे आहार पर रह सकता है,

उसके लिए ब्रह्मचर्यादि आत्म-संयम बहुत सरल हो जाता है । जैसा आहार वैसी डकार, मनुष्य जैसा हैं वैसा बनता हैं, इस कहावत में बहुत सार हैं । उसे मैंने और मेंरे साथियों ने अनुभव किया हैं ।

इन विचारों का विस्तृत समर्थन मेरी आरोग्य-सम्बन्धी पुस्तकों में हैं ।

पर हिन्दुस्तान में अपने प्रयोगों को सम्पूर्णता तक पहुँचना मेरे भाग्य में बदा न था । खेड़ा जिले में सिपाहियो की भरती का काम मैं अपनी भूल से मृत्युशय्या पर पड़ा । दूध के बिना जीने के लिए मैंने बहुत हाथ-पैर मारे । जिन वैद्यो,डॉक्टरों और रसायन शास्त्रियो को मैं जानता था, उनकी मदद माँगी । किसी ने मूंग के पानी, किसी में महुए के तेल और किसी ने बादाम के दूध का सुझाव दिया । इन सब चीजो के प्रयोग करते-करते मैंने शरीर को निचोड डाला पर उससे मैं बिछौना छोड़कर उठ न सका ।

वैद्यो ने मुझे चरक इत्यादि के श्लोक सुनाकर समझाया कि रोग दूर करने के लिए खाद्याखाद्य की बाधा नही होती और माँसादि भी खाये जा सकते हैं । ये वैद्य दुग्धत्याग पर दढ़ रहने में मेरी सहायता कर सके, ऐसी स्थिति न थी । तब जहाँ 'बीफ-टी' (गोमाँस की चाय) और 'ब्रांडी' की गुंजाइश हो, वहाँ से तो दूध के त्याग में सहायता मिल ही कैसे सकती थी ? गाय-भैंस का दूध तो मैं ले ही नहीं सकता था । यह मेरा व्रत था । व्रत का हेतु तो दूध मात्र का त्याग था । पर व्रत लेते समय मेंरे सामने गोमाता और भैंसमाता ही थी इस कारण से और जीने की आशा से मैंने मन को जैसे-तैसे फुसला लिया । मैंने व्रत के अक्षर का पालन किया और बकरी का दुध लेने का निश्चय किया । बकरी माता का दूध लेते समय भी मैंने यह अनुभव किया कि मेंरे व्रत की आत्मा का हनन हुआ हैं ।

पर मुझे 'रौलेट एक्ट' के विरुद्ध जूझना था । यह मोह मुझे छोड़ नहीं रहा था । इससे जीने की इच्छा बढ़ी और जिसे मैं अपने जीवन का महान प्रयोग मानता हूँ उसकी गति रुक गयी ।

खान-पान के साथ आत्मा का संबंध नही है । वह न खाती है, न पीती है । जो पेट में जाता है, वह नहीं, बल्कि जो वचन अन्दर से निकलते है वे हानि-लाभ पहुँचाने वाले होते है । इत्यादि दलीलों से मैं परिचित हूँ । इनमें तथ्यांश है । पर बिना दलील किये मैं यहाँ अपना यह दढ निश्चय ही प्रकट किये देता हूँ कि जो मनुष्य ईश्वर से डरकर चलना चाहता हैं, जो

ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन करने की इच्छा रखता हैं, ऐसे साधक और मुमुक्षु के लिए अपने आहार का चुनाव त्याग और स्वीकार उतना ही आवश्यक है, जितना कि विचार और वाणी का चुनाव त्याग और स्वीकार आवश्यक हैं।

पर जिस विषय में मैं स्वयं गिरा हूँ उसके बारे में मैं न केवल दूसरो को अपने सहारे चलने की सलाह नहीं दूँगा, बल्कि ऐसा करने से रोकूँगा। अतएव आरोग्य-विषयक मेरी पुस्तक के सहारे प्रयोग करने वाले सब भाई-बहनों को मैं सावधान करना चाहता हूँ। दूध का त्याग पूरी तरह लाभप्रद प्रतीत हो अथवा वैद्य-डॉक्टर उसे छोड़ने की सलाह दें, तभी वे उसकों छोड़े। सिर्फ मेरी पुस्तक के भरोसे वे दूध का त्याग न करे। यहीं का मेरा अनुभव अब तक तो मुझे यही बतलाया है कि जिसकी जठराग्नि मंद हो गयी हैं और जिसने बिछौना पकड़ लिया हैं, उसके लिए दूध जैसी खुराक हलकी और पौषक खुराक हैं ही नहीं। अतएव उक्त पुस्तकों के पाठको से मेरी बिनती और सिफारिश है कि उसमें दूध की मर्यादा सूचित की गयी हैं उस पर चलने की वे जिद न करें।

इस प्रकरणों पढ़ने वाले कोई वैद्य, डॉक्टर, हकीम या दूसरे अनुभवी दूध के बदले में किसी उतनी ही पोषक किन्तु सुपाच्य वनस्पति को अपने अध्ययन के आधार पर नहीं, बल्कि अनुभव के आधार पर जानते हो, तो उसकी जानकारी देकर मुझे उपकृत करे।

९. बलवान से भिडन्त

अब एशियाई अधिकारियों की ओर लौटे।

एशियाई अधिकारियों का बड़े से बड़ा थाना जोहानिस्बर्ग में था। मैं यह देख रहा था कि उस थाने में हिन्दुस्तानी, चीनी आदि लोगो का रक्षण नहीं, बल्कि भक्षण होता था। मेरे पास रोज शिकायतें आती थी, 'हकदार दाखिल नही हो सकते और बिना हकवाले सौ-सौ पौंड़ देकर चले आ रहे है। इसका इलाज आप नहीं करेंगे तो और कौन करेंगा ?' मेरी भी यही भावना थी। यदि यह सड़ांध दूर न हो, तो मेरा ट्रान्सवाल में बसना व्यर्थ माना जायगा।

मैं प्रमाण जुटाने लगा। जब मेरे पास प्रमाणो का अच्छा सा संग्रह हो गया, तो मैं पुलिस-कमिशनर के पास पहुँचा। मुझे लगा कि उसमें दया और न्याय की वृत्ति है। मेरी बात को बिल्कुल अनसुनी करने के बदले उसने मुझे धीरज से सुना और प्रमाण उपस्थित करने का कहा। गवाहो के बयान उसने स्वयं ही लिये। उसे विश्वास हो गया। पर जिस तरह मैं जानता था उसी तरह वह भी जानता था कि दक्षिण अफ्रीका में गोरो पंचों द्वारा गोरे अपराधियों को दण्ड दिलाना कठिन हैं। उसने कहा, 'फिर भी हम प्रयत्न तो करे ही। ऐसे अपराधी को जूरी द्वारा छोड़ दिये जायेंगे, इस डर से उन्हें न पकड़वाना भी उचित नही हैं। इसलिए मैं तो उन्हें पकड़वाऊँगा। आपको मैं इतना विश्वास दिलाता हूँ कि अपनी मेहनत में मैं कोई कसर नहीं रखूँगा।'

मुझे तो विश्वास था ही। दूसरे अधिकारियों पर भी सन्देह तो था, पर उनके विरुद्ध मेरे पास कमजोर प्रमाण था। दो के बारे में कोई सन्देह नहीं था। अतएव दो के नाम वारंट निकले।

मेरा आना-जाना छिपा रह ही नही सकता था। कई लोग देखते थे कि मैं प्रायः प्रतिदिन पुलिस कमिशनर के यहाँ जाता हूँ। इन दो अधिकारियों के छोटे-बड़े जासूस तो थे ही। वे मेरे दफ्तर पर निगरानी रखते थे और मेरे आने-जाने की खबरें उन अधिकारियों को पहुँचाते थे। यहाँ मुझे यह कहना चाहिए कि उक्त अधिकारियो का अत्याचार इतना ज्यादा था कि उन्हें ज्यादा जासूस नहीं मिलते थे। यदि हिन्दुस्तानियो और चीनियों की मुझे मदद न होती, तो ये अधिकारी पकड़े ही न जाते।

इन दो में से एक अधिकारी भागा। पुलिस कमिशनर ने बाहर का वारंट निकालकर उसे वापस पकड़वा मँगाया। मुकदमा चला। प्रमाण भी मजबूत थे और एक के तो भागने का प्रमाण जूरी के पास पहुँच सका था। फिर भी दोनो छूट गये !

मुझे बड़ी निराशा हुई। पुलिस कमिशनर को भी दुःख हुआ। वकालत से मुझे अरुचि हो गयी। बुद्धि का उपयोग अपराध को छिपाने में होता देखकर मुझे बुद्धि ही अप्रिय लगने लगी।

दोनों अधिकारियो का अपराध इतना प्रसिद्ध हो गया था कि उनके छूट जाने पर भी सरकार उन्हें रख नहीं सकी। दोनो बरखास्त हो गये और एशियाई विभाग कुछ साफ हुआ। अब हिन्दुस्तानियों को धीरज बँधा और उनकी हिम्मत भी बढ़ी।

इससे मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गयी। मेरे धंधे में भी वृद्धि हुई। हिन्दुस्तान समाज के जो सैकड़ो पौंड हर महीने रिश्वत में जाते थे, उनमें बहुत कुछ बचत हुई। यह तो नहीं कहा जा सकता कि पूरी रकम बची। बेईमान तो अब भी रिश्वत खाते थे। पर यह कहा जा सकता हैं कि जो प्रामाणिक थे, वे अपनी प्रामणिकता की रक्षा कर सकते थे।

मैं कह सकता हूँ कि इन अधिकारियो के इतने अधम होने पर भी उनके विरुद्ध व्यक्तिगत रूप से मेरे मन में कुछ भी न था। मेरे इस स्वभाव को वे जानते थे। और जब उनकी कंगाल हालत में मुझे उन्हें मदद करने का मौका मिला, तो मैंने उनकी मदद भी की थी। यदि मेरी विरोध न हो तो उन्हें जोहानिस्बर्ग की म्युनिसिपैलिटी में नौकरी मिल सकती थी। उनका एक मित्र मुझे मिला और मैंने उन्हें नौकरी दिलाने में मदद करना मंजूर कर लिया। उन्हें नौकरी मिल भी गयी।

मेरे इस कार्य का यह प्रभाव पड़ा कि मैं जिन गोरो के सम्पर्क में आया, वे मेरी तरफ से निर्भय रहने लगे, और यद्यपि उनके विभागो के विरुद्ध मुझे लड़ना पड़ता था, तीखे शब्द कहने पड़ते थे, फिर भी वे मेरे साथ मीठा संबंध रखते थे। इस प्रकार का बरताव मेरा एक स्वभाव ही था, इसे मैं उस समय ठीक से जानता न था। यह तो मैं बाद में समझने लगा कि ऐसे बरताव में सत्याग्रह की जड़ मौजूद हैं और यह अंहिसा का एक विशेष अंग है।

मनुष्य और उनका काम ये दो भिन्न वस्तुएं हैं। अच्छे काम के प्रति आदर और बुरे के प्रति तिरस्कार होना ही चाहिए। भले-बुरे काम करने वालो के प्रति सदा आदर अथवा दया रहनी चाहिए। यह चीज समझने में सरले हैं, पर इसके अनुसार आचरण कम से कम होता है। इसी कारण इस संसार में विष फैलता रहता है।

सत्य के शोध के मूल में ऐसी अहिंसा हैं। मैं प्रतिक्षण यह अनुभव करता हूँ कि जब तक यह अहिंसा हाथ में नही आती, तब तक सत्य मिल ही नही सकता। व्यवस्था या पद्धति के विरुद्ध झगड़ना शोभा देता है, पर व्यवस्थापक के विरुद्ध झगड़ा करना तो अपने विरुद्ध झगड़ने के समान है। क्योकि हम सब एक ही कूंची से रचे गये है, एक ही ब्रह्मा की संतान है। व्यवस्थापर में अनन्त शक्तियाँ निहित हैं। व्यवस्थापक का अनादर या तिरस्कार करने से उन शक्तियों का अनादार होता हैं और वैसा होने पर व्यवस्थापक को और संसार को हानि पहुँचती हैं।

१०. एक पुण्यस्मरण और प्रायश्चित

मेरे जीवन में ऐसी घटनाये घटती ही रही हैं जिसके कारण मैं अनेक धर्मावलम्बियों के और अनेक जातियों के गाढ़ परिचय में आ सका हूँ। इन सब के अनुभवों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मैंने अपने और पराये, देशी और विदेशी, गोरे और काले, हिन्दू और मुसलमान अथवा ईसाई, पारसी यहूदी के बीच कोई भेद नहीं किया। मैं कह सकता हूँ कि मेरा हृदय ऐसे भेद को पहचान ही न सका। अपने सम्बन्ध में मैं इस चीज को गुण नही मानता, क्योकि जिस प्रकार अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि यमों की सिद्धि का प्रयत्न करने का और उस प्रयत्न के अब तक चलने का मुझे पूरा भान है, उसी प्रकार मुझे याद नही पड़ता कि ऐसे अभेद को सिद्ध करने का मैंने विशेष प्रयत्न किया हो।

जब मैं डरबन में वकालत करता था, तब अकसर मेरे मुहर्रिर मेरे साथ रहते थे। उनमें हिन्दू और ईसाई थे अथवा प्रान्त की दृष्टि से कहूँ तो गुजराती औऱ मद्रासी थी। मुझे स्मरण नही हैं कि उनके बारे में मेरे मन में कभी भेदभाव पैदा हुआ हो। मैं उन्हें अपना कुटुम्बी मानता था औऱ यदि पत्नी की ओर से इसमें कोई बाधा आती तो मैं उससे लड़ता था। एक मुहर्रिर ईसाई था। उसके माता-पिता पंचम जाति के थे। हमारे घर की बनाबट पश्चिम ढब की थी। उसमें कमरों के अन्दर मोरियाँ नहीं होती मैं मानता हूँ कि होनी भी नही चाहिए इससे हरएक कमरे में मोरी की जगह पेशाब के लिए खास बरतन रखा जाता हैं। उसे उठाने का काम नौकर का न था, बल्कि हम पति-पत्नी का था। जो मुहर्रिर अपने को घर का-सा मानने लगते, वे तो अपने बरतन खुद उठाते भी थे। यह पंचम कुल में उत्पन्न मुहर्रिर नया था। उसका बरतन हमें ही उठाना चाहियें था। कस्तूरबाई दूसरे बरतन को उठाती थी, पर इस बरतन को उठाना उसे असह्य लगा। इससे हमारे बीच कलह हुआ। मेरा उठाना उससे सहा न जाता था और खुद उठाना उसे भारी हो गया। आँखो से मोती को बूँदे टपकाती, हाथ में बरतन उठाती और अपनी लाल आँखो से मुझे उलाहना देकर सीढियाँ उतरती हुई कस्तूरबाई का चित्र मैं आज भी खींच सकता हूँ।

पर मैं तो जितना प्रेमी उतना ही क्रूर पति था। मैं अपने को उसका शिक्षक भी मानता था, इस कारण अपने अंधे प्रेम के वश होकर उसे खूब सताता था।

यों उसके सिर्फ बरतन उठाकर ले जाने से मुझे संतोष न हुआ। मुझे संतोष तभी होता जब वह उसे हँसते मुँह ले जाती। इसलिए मैंने दो बातें ऊँची आवाज में कहीं। मैं बड़बड़ा उठा, 'यह कलह मेरे घर में नहीं चलेगा।'

यह वचन कस्तूरबाई को तीर की तरह चुभ गया।

वह भडक उठी, 'तो अपना घर अपने पास रखो। मैं यह चली।'

मैं उस समय भगवान को भूल बैठा था। मुझमें दया का लेश भी नहीं रह गया था। मैंने उसका हाथ पकड़ा। सीढ़ियों के सामने ही बाहर निकलने का दरवाजा था। मैं उस असहाय अबला को पकड़कर दरवाजे तक खींच ले गया। दरवाजा आधा खोला।

कस्तूरबाई की आँखो से गंगा-यमुना बह रहीं थी। वह बोली, 'तुम्हें तो शरम नही हैं। लेकिन मुझे हैं। मैं बाहर निकलकर कहाँ जा सकती हूँ? यहाँ मेरे माँ-बाप नहीं हैं कि उनके घर चली जाऊँ। मैं तुम्हारी पत्नी हूँ इसलिए मुझे तुम्हारी डाँट-फटकार सहनी ही होगी। अब शरमाओ और दरवाजा बन्द करो। कोई देखेगा तो दो में से एक की भी शोभा नहीं रहेगी।'

मैंने मुँह तो लाल रखा, पर शरमिंदा जरूर हुआ। दरवाजा बन्द कर दिया। यदि पत्नी मुझे छोड़ नही सकती थी, तो मैं भी उसे छोड़कर कहाँ जा सकता था? हमारे बीच झगडे तो बहुत हुए हैं, पर परिणाम सदा शूभ ही रहा हैं। पत्नी ने अपनी अदभूत सहनशक्ति द्वारा विजय प्राप्त की हैं।

मैं यह वर्णन आज तटस्थ भाव से कर सकता हूँ, क्योकि यह घटना हमारे बीते युग की हैं। आज मैं मोहान्ध पति नहीं हूँ। शिक्षक नहीं हूँ। कस्तूरबाई चाहे तो मुझे आज घमका सकती हैं। आज हम परखे हुए मित्र हैं, एक दूसरे के प्रति निर्विकार बनकर रहते हैं। कस्तूरबाई आज मेरी बीमारी में किसी बदले की इच्छा रखे बिना मेरी चाकरी करनेवाली सेविका हैं।

ऊपर की घटना सन् 1898 की हैं। उस समय मैं ब्रह्मचर्य पालन के विषय में कुछ भी न जानता था। यह वह समय था जब मुझे इसका स्पष्ट भान न था कि पत्नी केवल सहधर्मिणी, सह चारिणी और सुख दुःख की साथिन हैं। मैं यह मानकर चलता था कि पत्नी विषय-भोग का भाजन हैं, और पति की कैसी भी आज्ञा क्यो न हो, उसका पालन करने के लिए वह सिरजी गयी है।

सन् 1900 में मेरे विचारो में गंभीर परिवर्तन हुआ। उसकी परिणति सन् 1906 में हुई। पर इसकी चर्चा हम यथास्थान करेंगे।

यहाँ तो इतना कहना काफी हैं कि जैसे-जैसे मैं निर्विकार बनता गया, वैसे-वैसे मेरी गृहस्थी शान्त, निर्मल और सुखी होती जा रहीं हैं।

इस पुण्यस्मरण से कोई यह न समझ ले कि हम दोनों आदर्श पति-पत्नी हैं, अथवा मेरी पत्नी में कोई दोष ही नही हैं या कि अब तो हमारे आदर्श एक ही हैं। कस्तूरबाई के अपने स्वतंत्र आदर्श हैं या नहीं सो वह बेचारी भी नहीं जानती होगी। संभव है कि मेरे बहुतेरे आचरण उसे आज भी अच्छे न लगते हो। इसके सम्बन्ध में हम कभी चर्चा नहीं करते, करने में कोई सार नहीं। उसे न तो उसके माता पिता ने शिक्षा दी और न जब समय था तब मैं दे सका। पर उसमें एक गुण बहुत ही बड़ी मात्रा में हैं, जो बहुत सी हिन्दू स्त्रियों में न्यूनाधिक मात्रा में रहता है। इच्छा से हो चाहे अनिच्छा से, ज्ञान से हो या अज्ञान से, उसने मेरे पीछे-पीछे चलने में अपने जीवन की सार्थकता समझी हैं और स्वच्छ जीवन बिताने के मेरे प्रयत्न में मुझे कभी रोका नही हैं। इस कारण यद्यपि हमारी बुद्धि शक्ति में बहुत अन्तर है, फिर भी मैंने अनुभव किया है कि हमारा जीवन संतोषी, सुखी और ऊर्ध्वगामी हैं।

११. अंग्रेजों का गाढ़ परिचय

इस प्रकरण को लिखते समय ऐसा समय आ गया है, जब मुझे पाठकों को यह बताना चाहिए कि सत्य के प्रयोगो की यह कथा किस प्रकार लिखी जा रही हैं। यह कथा मैंने लिखनी शुरु की थी, तब मेरे पास कोई योजना तैयार न थी। इन प्रकरणों को मैं अपने सामने कोई पुस्तके, डायरी या दूसरे कागज पत्र रखकर नही लिख रहा हूँ। कहा जा सकता हैं कि लिखने के दिन अन्नयामी मुझे जिस तरह रास्ता दिखाता है, उसी तरह मैं लिखता हूँ। मैं निश्चयपूर्वक नहीं जानता कि जो क्रिया मेरे अन्तर में चलती है, उसे अन्तर्यामी की क्रिया कहा जा सकता है या नही। लेकिन कई वर्षो से मैंने जिस प्रकार अपने बड़े से बड़े माने गये और छोटे से छोटे गिने जा सकने वाले कार्य किये है, उसकी छानबीन करते हुए मुझे यह कहना अनुचित नही प्रतीत होती कि वे अन्तर्यामी की प्रेरणा से हुए है।

अन्तर्यामी को मैंने देखा नही, जाना नही। संसार की ईश्वर विषयक श्रद्धा को मैंने अपनी श्रद्धा बना लिया है। यह श्रद्धा किसी प्रकार मिटायी नही जा सकती। इसलिए श्रद्धा के रूप मैं पहचानना छोड़कर मैं उसे अनुभव के रूप में पहचानता हूँ। फिर भी इस प्रकार अनुभव के रूप में उसका परिचय देना भी सत्य पर एक प्रकार का प्रहार है। इसलिए कदाचित यह कहना ही अधिक उचित होगा कि शुद्ध रूप में उसका परिचय कराने वाला शब्द मेरे पास नही हैं।

मेरी यह मान्यता हैं कि उस अदृष्ट अन्तर्यामी के वशीभूत होकर मैं यह कथा लिख रहा हूँ।

जब मैंने पिछला प्रकरण लिखना शुरू किया, तो उसे शीर्षक 'अंग्रेजो से परिचय' दिया था। पर प्रकरण लिखते समय मैंने देखा कि इन परिचयों का वर्णन करने से पहले जो पुण्य स्मरण मैंने लिखा उसे लिखना आवश्यक था। अतएव वह प्रकरण मैंने लिखा और लिख चुकने के बाद पहले का शीर्षक बदलना पड़ा।

अब इस प्रकरण को लिखते समय एक नया धर्म-संकट उत्पन्न हो गया हैं। अंग्रेजो का परिचय देते हुए क्या कहना और क्या न कहना, यह महत्त्व का प्रश्न बन गया हैं। जो प्रस्तुत

है वह न कहा जाय तो सत्य को लांछन लगेगा। पर जहाँ इस कथा का लिखना ही कदाचित् प्रस्तुत न हो, वहाँ प्रस्तुत अप्रस्तुत के बीच झगड़े का एकाएक फैसला करना कठिन हो जाता हैं।

इतिहास के रूप में आत्मकथा-मात्र की अपूर्णता और उसकी कठिनाइयों के बारे में पहले मैंने जो पढा था, उसका अर्थ आज मैं अधिक समझता हूँ। मैं यह जानता हूँ कि सत्य के प्रयोगों की इस आत्मकथा में जितना मुझे याद हैं उतना सब मैं हरगिज नहीं दे सका हूँ। कौन जानता है कि सत्य का दर्शन कराने के लिए मुझे कितना देना चाहिए अथवा न्याय-मन्दिर में एकांगी और अधूरे प्रमाणों की क्या कीमत आँकी जाएगी ? लिखे हुए प्रकरणों पर कोई फुरसतवाला आदमी मुझसे जिरह करने बैठे, तो वह इन प्रकरणों पर कितना अधिक प्रकाश डालेगा ? और यदि वह आलोचक की दृष्टि से इनकी छानबीन करे, तो कैसी कैसी 'पोलें' प्रकट करके दुनिया को हँसावेगा और स्वयं फूलकर कुप्पा बनेगा ?

इस तरह सोचने पर क्षणभर के लिए मन में यही आता है कि क्या इन प्रकरणों का लिखना बन्द कर देना ही अधिक उचित न होगा? किन्तु जब तक आरम्भ किया हुआ काम स्पष्ट रुप से अनीतिमय प्रतीत न हो तब तक उसे बन्द न किया जाय, इस न्याय से मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि अन्तर्यामी रोकता नही उस समय तक ये प्रकरण मुझे लिखते रहना चाहिए।

यह कथा टीकाकारो को संतुष्ट करने के लिए नहीं लिखी जा रही हैं। सत्य के प्रयोगो में यह भी एक प्रयोग ही हैं। साथ ही, लिखने के पीछे यह दृष्टि तो है ही कि इसमें साथियों को कुछ आश्वासन मिलेगा। इसका आरम्भ ही उनके संतोष के लिए किया गया हैं। यदि स्वामी आनन्द और जयरामदास मेरे पीछे न पड़ जाते, तो कदाचित् यह कथा आरम्भ ही न होती। अतएव इसके लिखने में यदि कोई दोष हो रहा हो तो उसमें वे हिस्सेदार हैं।

अब मैं शीर्षक के विषय पर आता हूँ। जिस प्रकार मैंने हिन्दुस्ती मुहर्रिरों और दूसरों को घर में अपने कुटुम्बियों की तरह रखा था, उसी प्रकार मैं अंग्रेजो को भी रखने लगा। मेरा यह व्यवहार मेरे साथ रहनेवाले सब लोगो के अनुकूल न था। पर मैंने उन्हें हठ-पूर्वक अपने घर रखा था। कह नही सकता कि सबको रखने मैंने हमेंशा बुद्धिमानी ही की थी। कुछ संबंधो के कड़वे अनुभव भी प्राप्त हुए थे। किन्तु ऐसे अनुभव तो देशी-विदेशी दोनो के संबंध में हुए

। कड़वे अनुभवों के लिए मुझे पश्चाताप नही हुआ और यह जानते हुए कि मित्रों को असुविधा होती है और कष्ट उठाना पड़ता हैं, मैंने अपनी आदत नही बदली और मित्रों ने उसे उदारतापूर्वक सहन किया हैं। नये-नये मनुष्यों के साथ संबंध जब मित्रो के लिए दुःखद सिद्ध हुए हैं तब उनका दोष उन्हें दिखाने में मैं हिचकिचाया नहीं हूँ। मेरी अपनी मान्यता हैं कि आस्तिक मनुष्यों में, जो अपने में विद्यमान ईश्वर को सब में देखा चाहते हैं. सब के साथ अलिप्त होकर रहने की शक्ति आनी चाहिए। और ऐसी शक्ति तभी विकसित की जा सकती हैं, जहाँ-जहाँ अनखोजे अवसर आवें, वहाँ-वहाँ उनसे दूर न भाग कर नये-नये सम्पर्क स्थापति किये जायें और वैसा करते हुए भी राग-द्वेष से दूर रहा जाय।

इसलिए जब बोआर ब्रिटिश युद्ध शुरू हुआ, तब अपना घर भरा होते हुए भी मैंने जोहानिस्बर्ग से आये हुए दो अंग्रेजो को अपने यहाँ टिका लिया। दोनो थियॉसॉफिस्ट थे। उनमें से एक का नाम किचन था। इनक चर्चा हमें आगे भी करनी होगी। इन मित्रों के सहवास ने भी धर्मपत्नी को रुलाया ही था। मेरे कारण उसके हिस्से में रोने के अनेक अवसर आये है। बिना किसी परदे के इतने निकट संबंध में अंग्रेजो को घर में रखने का यह मेरा पहला अनुभव था। इंग्लैंड में मैं उनके घरो में अवश्य रहा था। पर उस समय मैं उनकी रहन-सहन की मर्यादा में रहा था और वह रहना लगभग होटल में रहने जैसा था। यहाँ बात उससे उल्टी थी। ये मित्र कुटुम्ब के व्यक्ति बन गये थे। उन्होंने बहुत-कुछ भारतीय रहन-सहन का अनुकरण किया था।

यद्यपि घर के अन्दर बाहर का साज-सामान अंग्रेजी ढंग का था, तथापि अन्दर की रहन-सहन और खान-पान आदि मुख्यतः भारतीय थे। मुझे याद हैं कि इन मित्रों को रखने में कई कठिनाइयाँ खड़ी हुई थी, लेकिन मैं यह अवश्य कह सकता हूँ कि दोनो व्यक्ति घर के दूसरे लोगो के साथ पूरी तरह हिलमिल गये थे। जोहानिस्बर्ग में ये संबंध डरबन से भी अधिक आगे बढ़े।

१२. अंग्रेजो से परिचय

एक बार जोहानिस्बर्ग में मेरे पास चार कारकून हो गये थे । मैं नहीं कह सकता कि उन्हें कारकून मॉंनू या बेटे । किन्तु इससे मेरा काम न चला । टाइपिंग के बिना मेरा काम चल ही नहीं सकता था । टाइपिंग का जो थोड़ा सा ज्ञान था सो मुझे ही था । इन चार नौजवानों में से दो को मैंने टाइपिंग सिखाया, किन्तु अंग्रेजी का ज्ञान कम होने से उनका टाइपिंग कभी अच्छा न हो सका । फिर, उन्हीं में से मुझे हिसाबनवीस भी तैयार करने थे । नेटाल से अपनी इच्छानुसार मैं किसी को बुला न सकता था, क्योकि बिना परवाने के कोई हिन्दुस्तानी दाखिल नही हो पाता था । और अपनी सुविधा के लिए मैं अधिकारियों से मेहरबानी की भीख माँगने को तैयार न था ।

मैं परेशानी में पड़ गया । काम इतना बढ़ गया था कि कितनी ही मेहनत क्यो न की जाये, मेरे लिए यह सम्भव नही रहा कि वकालत और सार्वजनिक सेवा दोनो को ठीक से कर सकूँ ।

मुर्हरिरी के लिए अंग्रेज स्त्री-पुरुषो के मिलने पर मैं उन्हें न रखूँ,ऐसी कोई बात नही थी । पर मुझे यह डर था कि 'काले' आदमी के यहाँ क्या गोरे नौकरी करेंगे ? लेकिन मैंने प्रयत्न करने का निश्चय किया । टाइप राइटिंग एजेंट से मेरी थोडी पहचान थी । मैं उसके पास गया और उससे कहा कि जिसे काले आदमी के अधीन नौकरी करने में अड़चन न हो, ऐसे टाइप राइटिंग करने वाले गोरे भाई या बहन को वह मेरे लिए खोज दे । दक्षिण अफ्रीका में शॉर्टहैंड लिखने और टाइप करने का काम करने वाली अधिकतर बहनें ही होती हैं । इस एजेंट ने मुझे वचन दिया कि ऐसा आदमी प्राप्त करने का वह प्रयत्न करेगा । उसे मिस डिक नामक एक स्कॉच कुमारिका मिल गयी । यह महिला हाल ही स्कॉटलैंड से आयी थी । उसे प्रामाणिक नौकरी कहीँ भी करने में कोई आपत्ति न थी । उसे तत्काल काम पर लगना था । उक्त एजेंट इस बहन को मेरे पास भेज दिया । उसे देखते ही मेरी आँखे उस पर टिक गयी ।

मैंने उससे पूछा, 'आपको हिन्दुस्तानी आदमी के अधीन काम करने में कोई अड़चन तो नही हैं ?'

उसने दृढता-पूर्वक उत्तर दिया, 'बिल्कुल नही ।'

'आप वेतन किनता लेगी ?'

उसने जवाब दिया, 'क्या साढे सतरह पौंड आपके ख्याल से अधिक होंगे ?'

'आपसे मैं जितने काम की आशा रखता हूँ उतना काम आप करेंगी तब तो मैं इसे बिल्कुल अधिक नही समझूगा । आप काम पर कब से आ सकेंगी ।'

'आप चाहे तो इसी क्षण से।'

मैं बहुत खुश हुआ और उस बहन को उसी समय अपने सामने बैठाकर मैंने पत्र लिखाना शुरू कर दिया ।

उसने केवल मेरे कारकून का ही नही, बल्कि मैं मानता हूँ कि सगी लड़की अथवा बहन का पद तुरन्त ही सहज भाव से ले लिया । मुझे उसे कभी ऊँची आवाज में कुछ कहना न पड़ा । शायद ही कभी उसके काम में कोई गलती निकालनी पड़ी हो । एक समय ऐसा था कि जब हजारों पौंड की व्यवस्था उसके हाथ में थी और वह हिसाब-किताब भी रखने लगी । उसने संपूर्ण रूप से मेरा विश्वास संपादन कर लिया था । लेकिन मेरे मन बड़ी बात यह थी कि मैं उसकी गुह्यतम भावनाओ को जानने जिनता उसका विश्वास संपादन कर सका था । अपना साथी पसन्द करने में उसने मेरी सलाह ली थी । कन्यादान देने का सौभाग्य भी मुझे ही प्राप्त हुआ था । मिस डिक जब मिसेज मैंकडॉनल्ड बन गयी, तब उन्हें मुझसे अलग होना पड़ा, यद्यपि विवाह के बाद भी काम की अधिकता होने पर मैं जब चाहता उनसे काम ले लेता था।

किन्तु आफिस में एक स्थायी शॉर्टहैंड राइटर की आवश्यकता तो थी ही । एक महिला इसके लिए भी मिल गयी । नाम था मिस श्लेशिन । उसे मेरे पास लाने वाले मि. कैलनबैक थे, जिनका परिचय पाठको को आगे चलकर होगा । इस समय यह महिला एक हाईस्कूल में शिक्षिका का काम कर रही थी, उसकी उमर कोई सतरह साल की रही होगी । उसकी कुछ विचित्रताओ से मि. कैलनबैक और मैं हार जाते थे । वह नौकरी करने के विचार से नही आयी थी । उस तो अनुभव कमाने थे । उसके स्वभाव में कहीं रंग-द्वेष तो था ही नही । उसे किसी की परवाह भी नही थी । वह किसी का भी अपमान करने से डरती न थी और अपने मन में जिसके बारे में जो विचार आते, सो कहने में संकोच न करती थी । अपनी इसी

स्वभाव के कारण वह कभी कभी मुझे परेशानी में डाल देती थी। लेकिन उसका सरल और शुद्ध स्वभाव सारी परेशानी दूर कर देता था। अंग्रेजी के उसके ज्ञान को मैंने हमेंशा अपने से ऊँचा माना था। इस कारण और उसकी वफादारी पर पूरा विश्वास होने के कारण उसके द्वारा टाइप किये गये बहुत से पत्रों पर, उन्हे दुबारा जाँचे बिना ही, मैं हस्ताक्षर करता था।

उसकी त्यागवृत्ति का पार न था। उसने एक लम्बे समय तक मुझ से प्रतिमास सिर्फ छह पौंड ही लिये और दस पौंड से अधिक वेतन लेने से उसने अन्त तक साफ इनकार किया। जब कभी मैं अधिक लेने को कहता, वह मुझे धमकाती और कहती, 'मैं वेतन लेने के लिए यहाँ नही रही हूँ। मुझे आपके साथ यह काम करना अच्छा लगता हैं और आपके आदर्श मुझे पसन्द हैं, इसलिए मैं यहाँ टिकी हूँ।'

एक बार आवश्यकता होने से उसने मुझसे चालीस पौड़ लिये थे, पर कर्ज के तौर पर। पिछले साल उसने वे सारे पैसे लौटा दिये।

जैसी उसकी त्यागवृत्ति तीव्र थी, वैसी ही उसकी हिम्मत भी थी। मुझे स्फटिक मणि जैसी पवित्र और क्षत्रिय को भी चौधियानेवाली वीरता से युक्त जिन महिलाओं के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उनमें से एक इस बाला को मैं मानता हूँ। अब तो वह बड़ी उमर की प्रोढ़ कुमारिका हैं। आज की उसकी मानसिक स्थिति से मैं पूरी तरह परिचित नही हूँ, पर मेरे अनुभवों में इस बाला का अनुभव मेरे लिए सदा पुण्य-स्मरण बना रहेगा। इसलिए मैं जो जानता हूँ वह न लिखूँ, तो सत्य का द्रोही बनूँ।

काम करने में उसने रात या दिन का कोई भेद कभी जाना ही नही। वह आधी रात को भी जहाँ जाना होता, अकेली चली जाती और अगर मैं किसी को उसके साथ भेजने का विचार करता, तो मुझे लाल आँखे दिखाती। हजारों बड़ी उमर के हिन्दुस्तानी भी उसे आदर की दृष्टि से देखते थे और उसका कहा करते थे। जब हम सब जेल में थे, शायद ही कोई जिम्मेदार आदमी बाहर रहा था, तब वह अकेली सत्याग्रह की समूची लड़ाई के संभाले हुए थी। स्थिति यह थी कि लाखों का हिसाब उसके हाथ में, सारा पत्र-व्यवहार उसके हाथ में और 'इंडियन ओपीनियन' भी उसके हाथ में। फिर भी वह थकना तो जानती ही न थी।

मिस श्लेशिन के विषय में लिखते हुए मैं थक नही सकता। गोखले का प्रमाण पत्र देकर मैं यह प्रकरण समाप्त करूँगा। गोखले ने मेरे सब साथियों का परिचय किया था। यह परिचय करके उन्हें बहुतों के विषय में बहुत संतोष हुआ था। उन्हें सबके चरित्र का मूल्यांकन करने का शौक था। सारे हिन्दुस्तानी तथा यूरोपियन साथियो में उन्होने मिस श्लेशिन को प्रधानता थी। उन्होंने कहा था, 'इतना त्याग, इतनी पवित्रता, इतनी निर्भयता और इतनी कुशलता मैंने बहुत थोड़ों में देखी हैं। मेरी दृष्टि में तो मिस श्लेशिन तुम्हारे साथियों में प्रथम पद की अधिकारिणी हैं।'

१३. 'इंडियन ओपीनियन'

कुछ और भी दूसरे यूरोपियनो के गाढ़ परिचय की चर्चा करनी रह जाती हैं। पर उससे पहले दो-तीन महत्त्वपूर्ण बातो का उल्लेख करना आवश्यक हैं।

एक परिचय तो यही दे दूँ। मिस डिक के नियुक्त करके ही मैं अपना काम पूरा कर सकूँ ऐसी स्थिति न थी। मि. रीच के बारे में मैं पहले लिख चुका हूँ। उनसें मेरा अच्छा परिचय था ही। वे एक व्यापारी फर्म के संचालक थे। मैंने उन्हें सुझाया कि वहाँ से मुक्त होकर वे मेरे साथ आर्टिकल क्लर्क का काम करे। मेरा सुझाव उन्हें पसंद आया और वे आफिस में दाखिल हो गये। काम का मेरा बोझ हलका हो गया।

इसी अरसे में श्री मदनजीत ने 'इंडियन ओपीनियन' अखबार निकालने का विचार किया। उन्होने मेरी सलाह और सहायता माँगी। छापाखाना तो वे चला ही रहे थे। अखबार निकालने के विचार से मैं सहमत हुआ। सन् 1904 में इस अखबार को जन्म हुआ। मनसुखलाल नाजर इसके संपादक बने। पर संपादन का सच्चा बोझ तो मुझ पर ही पड़ा। मेरे भाग्य में प्रायः हमेंशा दूर से ही अखबार की व्यवस्था संभालने का योग रहा हैं।

मनसुखलाल नाजर संपादक काम न कर सकें, ऐसी कोई बात नहीं थी। उन्होंने देश में कई अखबारो के लिए लेख लिखे थे, पर दक्षिण अफ्रीका के अटपटे प्रश्नों पर मेरे रहते उन्होंने स्वतंत्र लेख लिखने की हिम्मत न थी। उन्हें मेरी विवेक शक्ति पर अत्याधिक विश्वास था। अतएव जिन-जिन विषयों पर कुछ लिखना जरूरी होतो, उन पर लिखकर भेजने का बोझ वे मुझे पर डाल देते थे।

यह अखबार साप्ताहिक था, जैसा कि आज भी है। आरम्भ में तो वह गुजराती, हिन्दी, तामिल और अंग्रेजी में निकलता था। पर मैंने देखा कि तामिल और हिन्दी विभाग नाममात्र के थे। मुझे लगा कि उनके द्वारा समाज की कोई सेवा नहीं होती। उन विभागो को रखने में मुझे असत्य का आभास हुआ। अतएव उन्हें बन्द करके मैंने शान्ति प्राप्त की।

मैंने यह कल्पना नही की थी कि इस अखबार में मुझे कुछ अपने पैसे लगाने पड़ेगे। लेकिन कुछ ही समय में मैंने देखा कि अगर मैं पैसे न दू तो अखबार चल ही नही सकता था। मैं अखबार का संपादक नहीं था। फिर भी हिन्दुस्तानी और गोरे दोनो यह जानने लग गये थे कि उसके लेखो के लिए मैं ही जिम्मेदार था। अखबार न निकलता तो भी कोई हानि न होती। पर निकलने के बाद उसके बन्द होने से हिन्दुस्तानियों की बदनामी होगी, और समाज को हानि पहुँचेगी, ऐसा मुझे प्रतीत हुआ।

मैं उसमें पैसे उंडलेता गया और कहा जा सकता हैं कि आखिर ऐसा भी समय आया, जब मेरी पूरी बचत उसी पर खर्च हो जाती थी। मुझे ऐसे समय की याद हैं, जब मुझे हर महीने 75 पौड भेजने पड़ते थे।

किन्तु इतने बर्षो के बाद मुझे लगता है कि इस अखबार ने हिन्दुस्तानी समाज की अच्छी सेवा की हैं। इससे धन कमाने का विचार तो शुरू से ही किसी की नही था।

जब तक वह मेरे अधीन था, उसमें किये गये परिवर्तनों के द्योतक थे। जिस तरह आज 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' मेरे जीवन के कुछ अंशो के निचोड़ रूप में हैं, उसी तरह 'इंडियन ओपीनियन' था। उसमें मैं प्रति सप्ताह अपनी आत्मा उंडेलता था और जिसे मैं सत्याग्रह के रूपर में पहचानता था, उसे समझाने का प्रयत्न करता था। जेल के समयों को छोड़कर दस बर्षो के अर्थात् सन् 1914 तक के 'इंडियन ओपीनियन' के शायद ही कोई अंक ऐसे होगे, जिनमें मैंने कुछ लिखा न हो। इनमें मैं एक भी शब्द बिना बिचारे, बिना तौले लिखा हो या किसी को केवल खुश करने के लिए लिखा हो अथवा जान-बूझकर अतिशयोक्ति की हो, ऐसा मुझे याद नही पड़ता। मेरे लिए यह अखबार संयम की तालीम सिद्ध हुआ था। मित्रों के लिए वह मेरे विचारों को जानने का माध्यम बन गया था। आलोचको को उसमें से आलोचना के लिए बहुत का सामग्री मिल पाती थी। मैं जानता हूँ कि उसके लेख आलोचको को अपनी कलम पर अंकुश रखने के लिए बाध्य करते थे। इस अखबार के बिना सत्याग्रह की लड़ाई चल नही सकती थी। पाठक-समाज इस अखबार को अपना समझकर इसमें से लड़ाई का और दक्षिण अफ्रीका के हिन्दुस्तानियों की दशा का सही हाल जानता था।

इस अखबार के द्वारा मुझ मनुष्य के रंग-बिरंगे स्वभाव का बहुत ज्ञान मिला। संपादक और ग्राहक के बीच निकट का और स्वच्छ संबंध स्थापित करने की ही धारणा होने से मेरे पास हृदय खोलकर रख देने वाले पत्रो का ढेर लग जाता था। उसमें तीखे, कड़वे, मीठे यो भाँति भाँति के पत्र मेरे नाम आते थे। उन्हें पढना, उन पर विचार करना, उनमें से विचारो का सार लेकर उत्तर देना यह सब मेरे लिए शिक्षा का उत्तम साधन बन गया था। मुझे ऐसा अनुभव हुआ मानो इसके द्वारा मैं समाज में चल रहीं चर्चाओं और विचारो को सुन रहा होऊँ। मैं संपादक के दायित्व को भलीभाँति समझने लगा और मुझे समाज के लोगो पर जो प्रभुत्व प्राप्त हुआ, उसके कारण भविष्य में होने वाली लड़ाई संभव हो सकी, वह सुशोभित हई और उसे शक्ति प्राप्त हुई।

'इंडियन ओपीनियन' के पहले महीने के कामकाज से ही मैं इस परिणाम पर पहुँच गया था कि समाचार पत्र सेवा भाव से ही चलाने चाहिए। समाचार पत्र एक जबरदस्त शक्ति हैं, किन्तु जिस प्रकार निरंकुश पानी का प्रवाह गाँव के गाँव डूबो देता है और फसल को नष्ट कर देता हैं, उसी प्रकार कल का निरंकुश प्रवाह भी नाश की सृष्टि करता हैं। यदि ऐसा अंकुश तो अंदर का ही लाभदायक हो सकता हैं। यदि यह विचारधारा सच हो, तो दुनिया के कितने समाचार पत्र इस कसौटी पर खरे उतर सकते हैं ? लेकिन निकम्मो को बन्द कौन करे ? उपयोगी और निकम्मे दोनो साथ साथ ही चलते रहेंगे। उनमें से मनुष्य को अपना चुनाव करना होगा।

१४. 'कुली लोकेशन' अर्थात् भंगी बस्ती?

हिन्दुस्तान में हम अपनी बड़ी से बड़ी सेवा करने वाले ढेड़, भंगी इत्यादि को, जिन्हें हम अस्पृश्य मानते हैं, गाँव से बाहर अलग रखते हैं। गुजराती में उनकी बस्ती को 'ढेड़वाड़ा' कहते हैं और इस नाम का उच्चारण करने में लोगो को नफरत होती हैं। इसी प्रकार यूरोप के ईसाई समाज में एक जमाना ऐसा था, जब यहूदी लोग अस्पृश्य माने जाते थे और उनके लिए जो ढ़ेड़वाड़ा बसाया जाता था उसे 'घेटो' कहते थे। यह नाम असगुनिया माना जाता था। इसी तरह दक्षिण अफ्रीका में हम हिन्दुस्तानी लोग ढ़ेड़ बन गये हैं। एंड्रूज के आत्म बलिदान से और शास्त्री की जादू की छड़ी से हमारी शुद्धि होगी और फलतः हम ढ़ेड़ न रहकर सभ्य माने जायेंगे या नही, सो आगे देखना होगा।

हिन्दूओं की भाँति यहूदियों ने अपने को ईश्वर का प्रीतिपात्र मानकर जो अपराध किया था, उसका दंड़ उन्हे विचित्र और अनुचित रीति से प्राप्त हुआ था। लगभग उसी प्रकार हिन्दुओं ने भी अपने को सुसंस्कृत अथवा आर्य मानकर अपने ही एक अंग को प्राकृत, अनार्य अथवा ढ़ेड़ माना हैं। अपने इस पाप का फल वे विचित्र रीति से और अनुचित ढंग से दक्षिण अफ्रीका आदि उपनिवेशों में भोग रहे है और मेरी यह धारणा है कि उसमें उनके पड़ोसी मुसलमान और पारसी भी, जो उन्हीं के रंग के और देश के हैं, फँस गये हैं।

जोहानिस्बर्ग के कुली लोकेशन को इस प्रकरण का विषय बनाने का हेतु अब पाठकों की समझ में आ गया होगा। दक्षिण अफ्रीका में हम हिन्दुस्तानी 'कुली' के नाम से मशहूर हो गये हैं। यहाँ तो हम 'कुली' शब्द का अर्थ केवल मजदूर करते हैं। लेकिन दक्षिण अफ्रीका में इस शब्द को जो अर्थ होता था, उसे 'ढ़ेड़', 'पंचम' आदि तिरस्कारवाचक शब्दों द्वारा ही सूचित किया जा सकता हैं। वहाँ 'कुलियों' के रहने के लिए जो अलग जगह रखी जाती हैं, वह 'कुली लोकेशन' कही जाती हैं। जोहानिस्बर्ग में ऐसा एक 'लोकेशन' था। दूसरी सब जगहों में जो 'लोकेशन' बसाये गये थे और जो आज भी मौजूद है, उनमें हिन्दुस्तानियों को कोई मालिकी हक नही होता। पर इस जोहानिस्बर्ग वाले लोकेशन में जमीन 99 वर्ष के लिए पट्टे पर दी गयी थी। इसमें हिन्दुस्तानियों की आबादी अत्यन्त घनी थी। बस्ती बढ़ती

थी, पर लोकेशन बढ़ नही सकता था। उसके पाखाने जैसे-तैसे साफ अवश्य होते थे, पर इसके सिवा म्युनिसिपैलिटी की ओर से और कोई विशेष देखरेख नही होती थी। वहाँ सड़क और रोशनी की व्यवस्था तो होती ही कैसे? इस प्रकार जहाँ लोगो के शौचादि से संबंध रखने वाली व्यवस्था की भी किसी को चिन्ता न थी, वहाँ सफाई भला कैसे होती ? जो हिन्दुस्तानी वहाँ बसे हुए थे, वे शहर की सफाई और आरोग्य इत्यादि के नियम जानने वाले सुशिक्षित और आदर्श हिन्दुस्तानी नही थे कि उन्हें म्युनिसिपैलिटी की मदद की अथवा उनकी रहन-सहन पर म्युनिसिपैलिटी की देख-रेख की आवश्यकता न हो। यदि वहाँ जगंल में मंगल कर सकने वाले, धूल में से धान पैदा करने की शक्तिवाले हिन्दुस्तानी जाकर बसे होते, तो उनका इतिहास सर्वथा भिन्न होता। ऐसे लोग बड़ी संख्या में दुनिया के किसी भी भाग में परदेश जाकर बसते पाये नहीं जाते। साधारणतः लोग धन और धंधे के लिए परदेश जाते हैं। पर हिन्दुस्तान से मुख्यतः बड़ी संख्या में अनपढ़, गरीब और दीन दुःखी मजदूर ही गये थे। उन्हें तो पग पग पर रक्षा की आवश्यकता थी। उनके पीछे-पीछे व्यापारी और दूसरे स्वतंत्र हिन्दुस्तानी जो गये, वे तो मुट्ठी भर ही थे।

इस प्रकार सफाई की रक्षा करने वाले विभाग की अक्षम्य असावधानी के कारण और हिन्दुस्तानी बाशिन्दों के अज्ञान के कारण आरोग्य की दृष्टि से लोकेशन की स्थिति बेशक खराब थी। म्युनिसिपैलिटी ने उसे सुधारने की थोड़ी भी उचित कोशिश नही की। परन्तु अपने ही दोष से उत्पन्न हुई खराबी को निमित्त बनाकर सफाई -विभाग ने उक्त लोकेशन को नष्ट करने का निश्चय किया और उस जमीन पर कब्जा करने का अधिकार वहाँ की धारासभा से प्राप्त किया। जिस समय मैं जोहानिस्बर्ग में जाकर बसा था, उस समय वहाँ की हालत ऐसी थी।

वहाँ रहनेवाले जमीन के मालिक थे, इसलिए उनको कुछ न कुछ नुकसानी की रकम निश्चित करने के लिए एक खास अदालत कायम हुई थी। म्युनिसिपैलिटी जो रकम देने को तैयार हो उसे मकान मालिक स्वीकार न करता तो उक्त अदालक द्वारा ठहराई हुई रकम उसे मिलती थी। यदि म्युनिसिपैलिटी की द्वारा सूचित रकम से अधिक रकम देने का निश्चय अदालत करती तो मकान मालिक के वकील का खर्च नियम के अनुसार म्युनिसिपैलिटी को चुकाना होता था।

इनमें से अधिकांश दावो में मकान मालिको ने मुझे अपना वकील किया था। मुझे इस काम से धन पैदा करने की इच्छा नही थी। मैंने उनसे कह दिया था, 'अगर आप जीतेंगे तो म्युनिसिपैलिटी की तरफ से जो भी खर्च मिलेगा उससे मैं संतोष कर लूँगा। आप हारे चाहे जीते, यदि मुझे हर पट्टे के पीछे दस पौंड आप मुझे देगे तो काफी होगा।' मैंने उन्हे बताया कि इसमें से भी आधी रकम गरीबो के लिए अस्पताल बनाने या ऐसे ही किसी सार्वजनिक काम में खर्च करने के लिए अलग रखने का मेरा इरादा हैं। स्वभावतः यह सुनकर सब बहुत खुश हुए।

लगभग सत्तर मामलों में से एक में हार हुई। अतएव मेरी फीस की रकम काफी बढ़ गयी। पर उसी समय 'इंडियन ओपीनियन' की माँग मेरे सिर पर लटक रही थी। अतएव लगभग सोलह सौ पौड़ का चेक उसमें चला गया, ऐसा मेरा ख्याल है।

इन दावो में मेरी मान्यता के अनुसार मैंने अच्छी मेहनत की थी। मुवक्किलो की तो मेरे पास भीड़ ही लगी रहती थी। इनमें से प्रायः सभी उत्तर हिन्दुस्तान के बिहार इत्यादि प्रदेशों से और दक्षिण के तामिल, तेलुगु प्रदेश से पहले इकरार नामें के अनुसार आये थे और बाद में मुक्त होने पर स्वतंत्र धंधा करने लगे थे।

इन लोगो ने अपने खास दुःखो को मिटाने के लिए स्वतंत्र हिन्दुस्तानी व्यापारी वर्ग के मंड़ल से भिन्न एक मंड़ल की रचना की थी। उनमें कुछ बहुत शुद्ध हृदय के उदार भावनावाले चरित्रवान हिन्दुस्तानी भी थे।

उनके मुखिया का नाम श्री जयरामसिंह था। और मुखिया न होते हुए भी मुखिया जैसे ही दूसरे भाई का नाम श्री बदरी था। दोनो का देहान्त हो चुका हैं। दोनो की तरफ से मुझे बहुत अधिक सहायता मिली थी। श्री बदरी से मेरा परिचय हो गया था और उन्होने सत्याग्रह में सबसे आगे रहकर हिस्सा लिया था। इन और ऐसे अन्य भाईयों के द्वारा मैं उत्तर दक्षिण के बहुसंख्यक हिन्दुस्तानियों के निकट परिचय में आया था और उनका वकील ही नही, बल्कि भाई बनकर रहा था तथा तीनो प्रकार के दुःखों में उनका साक्षी बना था। सेठ अब्दुल्ला ने मुझे 'गांधी' नाम से पहचानने से इनकार कर दिया। 'साहब' तो मुझे कहता और मानता ही कौन ? उन्होंने एक अतिशय प्रिय नाम खोज लिया। वे मुझे 'भाई' कहकर पुकारने लगे।

दक्षिण अफ्रीका में अन्त तक मेरा यही नाम रहा। लेकिन जब ये गिरमिट मुक्त हिन्दुस्तानी मुझे 'भाई' कहकर पुकारते थे, तब मुझे उसमें एक खास मिठास का अनुभव होता था।

१५. महामारी - 1

म्युनिसिपैलिटी ने इस लोकेशन का मालिक पट्टा लेने के बाद तुरन्त ही वहाँ रहनेवाले हिन्दुस्तानियो को हटाया नही था। उन्हें दूसरी अनुकूल जगह देना तो जरूरी था ही। म्युनिसिपैलिटी ने यह जगह निश्चित नहीं की थी। इसलिए हिन्दुस्तानी लोग उसी 'गन्दे' लोकेशन में रहें। लेकिन दो परिवर्तन हुए। हिन्दुस्तानी लोग मालिक न रहकर म्युनिसिपल विभाग के किरायेदार बने और लोकेशन की गन्दगी बढी। पहले जब हिन्दुस्तानियों का मालिक हक माना जाता था, उस समय वे इच्छा से नही तो डर के मारे ही कुछ न कुछ सफाई रखते थे। अब म्युनिसिपैलिटी को भला किसका डर था ? मकानों में किरायेदार बढ़े और उसके साथ गन्दगी तथा अव्यवस्था भी बढ़ी।

इस तरह चल रहा था। हिन्दुस्तानियों के दिलों में इसके कारण बेचैनी थी ही। इतने में अचानक भयंकर महामारी फूट निकली। यह महामारी प्राणघातक थी। यह फेफड़ो की महामारी थी। गाँठवाली महामारी की तुलना में यह अधिक भयंकर मानी जाती थी।

सौभाग्य से महामारी का कारण यह लोकेशन नही था। उसका कारण जोहानिस्बर्ग के आसपास की अनेक सोने की खानो में से एक खान थी। वहाँ मुख्य रूप से हब्शी काम करते थे। उनकी स्वच्छता की जिम्मेदारी केवल गोरे मालिको के सिर थी। इस खान में कुछ हिन्दुस्तानी भी काम करते थे। उनसे से तेईस को अचानक छूत लगी और एक दिन शाम को भयंकर महामारी के शिकार बनकर वे लोकेशन वाले अपने घरों में आये।

उस समय भाई मदनजीत 'इंडियन ओपीनियन' के ग्राहक बनाने और चन्दा वसूल करने के लिए वहाँ धूम फिर रहे थे। उनमें निर्भयता का बढिया गुण था। वे बीमार उनके देखने में आये और उनका हृदय व्यथित हुआ। उन्होंने पेन्सिल से लिखी एक पर्ची मुझे भेजी। उसका भावार्थ यह था, 'यहाँ अचानक भयंकर महामारी फूट पड़ी हैं। आपको तुरन्त आकर कुछ करना चाहिए, नही तो परिणाम भयंकर होगा। तुरन्त आइये।'

मदनजीन ने एक खाली पड़े हुए मकान का ताला निडरता पूर्वक तोड़कर उस पर कब्जा कर लिया। मैं अपनी साइकल पर लोकेशन पहुँचा। वहाँ से टाउन-क्लर्क को सब जानकारी भेजी और यह सूचित किया कि किन परिस्थितियों में मकान पर कब्जा किया गया था।

डॉ. विलियन गॉडफ्रे जोहानिस्बर्ग में डॉक्टरी करते थे। समाचार मिलते ही वे दौडे आये और बीमारो के डॉक्टर और नर्स का काम करने लगे। पर हम तीन आदमी तेईस बीमारो को संभाल नही सकते थे।

अनुभव के आधार पर मेरा यह विश्वास बना हैं कि भावना शुद्ध हो तो संकट का सामना करने के लिए सेवक और साधन मिल ही जाते है। मेरे आफिस में कल्याणदास, माणेकलाल और दूसरे दो हिन्दुस्तानी थे। अन्तिम दो के नाम इस समय याद नही है. कल्याणदास को उनके जैसे परोपकारी और आज्ञा पालन में विश्वास रखने वाले सेवक मैंने वहाँ थोड़े ही देखे होगे। सौभाग्य से कल्याणदास उस समय ब्रह्मचारी थे। इसलिए उन्हें चाहे जैसा जोखिम का काम सौपने में मैंने कभी संकोच नहीं किया। दूसरे माणेकलाल मुझे जोहानिस्बर्ग में मिल गये थे। मेरा ख्याल है कि वे भी कुँवारे थे। मैंने अपने इन चारों मुहर्रिर, साथियों अथवा पुत्रों कुछ भी कह लीजिये को होमने का निश्चय किया। कल्याणदास को तो पूछना ही क्या था ? दूसरे तीन भी पूछते ही तैयार हो गये। 'जहाँ आप वहाँ हम' यह उनका छोटा और मीठा जवाब था।

मि. रीच का परिवार बड़ा था। वे स्वयं तो इस काम में कूद पड़ने को तैयार थे, पर मैंने उन्हें रोका। मैं उन्हें संकट में डालने के लिए बिल्कुल तैयार न था। ऐसा करने की मुझ में हिम्मत न थी। पर उन्होने बाहर का सब काम किया।

शुश्रूषा की वह रात भयानक थी। मैंने बहुत से बीमारो की सेवा-शुश्रूषा की थी, पर प्लेग के बीमारों की सेवा-शुश्रूषा करने का अवसर मुझे कभी नहीं मिला था। डॉ. गॉडफ्रे की हिम्मत ने मुझे निडर बना दिया था। बीमारों की विशेष सेवा-चाकरी कर सकने जैसी स्थिति नहीं थी। उन्हें दवा देना, ढाढस बँधाना, पानी पिलाना और उनका मल-मूत्र आदि साफ करना, इसके सिवा कुछ विशेष करने को था ही नही।

चारो नौजवानो की तनतोड़ मेहनत और निडरता देखकर मेरे हर्ष की सीमा न रही।

डॉ. गॉडफ्रे की हिम्मत समझ में आ सकती है। मदनजीत की भी समझ आ सकती हैं। पर इन नौजवानों की हिम्मत का क्या ? रात जैसे-तैसे बीती। जहाँ तक मुझे याद हैं उस रात हमने किसी बीमार को नही खोया।

पर यह प्रसंग जिनता करुणाजनक हैं, उतना ही रसपूर्ण और मेरी दृष्टि से धार्मिक भी हैं। अतएव इसके लिए अभी दूसरे दो प्रकरणों की जरूरत तो रहेगी ही।

१६. महामारी - 2

इस प्रकार मकान और बीमारो को अपने कब्जे में लेने के लिए टाइनक्लर्क ने मेरा उपकार माना और प्रामाणिकता से स्वीकार किया, 'हमारे पास ऐसी परिस्थिति में अपने आप अचानक कुछ कर सकने के लिए कुछ साधन नहीं है। आपको जो मदद चाहिए, आप माँगिये। टाउन-कौंसिल से जिनती मदद बन सकेगी उतनी वह करेगी।' पर उपयुक्त उपचार के प्रति सजग बनी हुई इस म्युनिसिपैलिटी ने स्थिति का सामना करने में देर न की।

दूसरे दिन मुझे एक खाली पड़े हुए गोदाम को कब्जा दिया और बीमारों को वहाँ ले जाने की सूचना दी। पर उसे साफ करने का भार म्युनिसिपैलिटी ने नही उठाया। मकान मैंला और गन्दा था। मैंने खुद ही उसे साफ किया। खटिया वगैरा सामान उदार हृदय के हिन्दुस्तानियों की मदद से इकट्ठा किया और तत्काल एक कामचलाऊ अस्पताल खड़ा कर लिया। म्युनिसिपैलिटी ने एक नर्स भेज दी और उसके साथ ब्रांडी की बोतल और बीमारो के लिए अन्य आवश्यक वस्तुए भेजी। डॉ. गॉडफ्रे का चार्ज कायम रहा।

हम नर्स को क्वचित् ही बीमारो को छूने दे थे। नर्स स्वयं छूने को तैयार थी। वह भले स्वभाव की स्त्री थी। पर हमारा प्रयत्न यह था कि उसे संकट में न पड़ने दिया जा।

बीमारो को समय समय पर ब्रांडी देने की सूचना थी। रोग की छूत से बचने के लिए नर्स हमें भी थोड़ी ब्रांडी लेने को कहती और खुद भी लेती थी।

हममें कोई ब्रांडी लेनेवाला न था। मुझे तो बीमारो को भी ब्रांडी देने में श्रद्धा न थी। डॉ. गॉडफ्रे की इजाजत से तीन बीमारो पर, जो ब्रांडी के बिना रहने को तैयार थे और मिट्टी के

प्रयोग करने को राजी थे, मैंने मिट्टी का प्रयोग शुरू किया और उनके माथे और छाती में जहाँ दर्द होता था वहाँ वहाँ मिट्टी की पट्टी रखी । इन तीन बीमारों में से दो बचे । बाकी सब बीमारो का देहान्त हो गया । बीस बीमार तो गोदाम में ही चल बसे ।

म्युनिसिपैलिटी की दूसरी तैयारियाँ चल रही थी । जोहानिस्बर्ग से सात मील दूर एक 'लेज़रेटो' अर्थात् संक्रामक रोगो के लिए बीमारो का अस्पताल था । वहाँ तम्बू खड़े करके इन तीन बीमारो को उनमें पहुँचाया गया । भविष्य में महामारी के शिकार होनेवालों को भी वहीं ले जाने की व्यवस्था की गयी । हमें इस काम से मुक्ति मिली । कुछ ही दिनों बाद हमें मालूम हुआ कि उक्त भली नर्स को महामारी हो गयी थी और उसी से उसका देहान्त हुआ । वे बीमार कैसे बचे और हम महामारी से किस कारण मुक्त रहे, सो कोई कह नहीं सकता । पर मिट्टी के उपचार के प्रति मेरी श्रद्धा और दवा के रुप में शराब के उपयोग के प्रति मेरी अश्रद्धा बढ़ गयी । मैं जानता हूँ कि यह श्रद्धा और अश्रद्धा दोनो निराधार मानी जाएगी । पर उस समय मुझ पर जो छाप पडी थी और जो अभी तक बनी हुई है उसे मैं मिटा नही सकता । अतएव इस अवसर पर उसके उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ ।

इस महामारी के शुरू होते ही मैंने तत्काल समाचार पत्रों के लिए एक कड़ा लेख लिखा था और उसमें लोकेशन को अपने हाथ में लेने के बाद से बढ़ी हुई म्युनिसिपैलिटी की लापरवाही और महामारी के लिए उसकी जवाबदारी की चर्चा की थी । इस पत्र ने मुझे मि. हेनरी पोलाक से मिला दिया था और यही पत्र स्व. जोसेफ डोक के परिचय का एक कारण बन गया था ।

पिछले प्रकरण में मैं लिख चुका हूँ कि मैं एक निरामिष भोजनालय में भोजन करने जाता था । वहाँ मि. आल्बर्ट वेस्ट से मेरी जान पहचान हुई थी । इम प्रतिदिन शाम को इस भोजनायल में मिलते और भोजन के बाद साथ में घूमने जाया करते थे । वेस्ट एक छोटे से छापाखाने के साझेदार थे । उन्होंने समाचार पत्रों में महामारी विषयक मेरा पत्र पढ़ा और भोजन के समय मुझे भोजनालय में न देखकर वे धबरा गये ।

मैंने और मेरे साथी सेवक महामारी के दिनो में अपना आहार घटा लिया था । एक लम्बे समय से मेरा अपना यह नियम था कि जब आसपास महामाही की हवा हो तब पेट जितना

हलका रहे उतना अच्छा। इसलिए मैंने शाम का खाना बन्द कर दिया था और दोपहर को भोजन करनेवालो को सब प्रकार के भय से दूर रखने के लिए मैं ऐसे समय पहुँचकर खा आता था जब दूसरे कोई पहुँचे न होते थे। भोजनालय के मालिक से मेरी गहरी जान पहचान हो गयी थी। मैंने उससे कह रखा था चूंकि मैं महामारी के बीमारो की सेवा में लगा हूँ इसलिए दूसरो के सम्पर्क में कम से कम आना चाहता हूँ।

यों मुझे भोजनालय में न देखने के कारण दूसरे या तीसरे ही दिन सबेरे सबेरे जब मैं बाहर निकलने की तैयारी में लगा था, वेस्ट ने मेरे कमरे का दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खोलते ही वेस्ट बोले, 'आपको भोजनालय में न देखकर मैं घबरा उठा था कि कहीँ आपको कुछ नही हो गया। इसलिए यह सोचकर कि इस समय आप मिल ही जायेंगे, मैं यहाँ आया हूँ। मेरे कर सकने योग्य कोई मदद हो तो मुझ से कहिये। मैं बीमारो की सेवा शुश्रूषा के लिए भी तैयार हूँ। आप जानते है कि मुझ पर अपना पेट भरने के सिवा कोई जवाबदारी नही हैं।'

मैंने वेस्ट का आभार माना। मुझे याद नही पड़ता कि मैंने विचार के लिए एक मिनिट भी लगाया हो। तुरन्त कहा, 'आपको नर्स के रुप में तो मैं कभी न लूँगा। अगर नये बीमार न निकले तो हमारा काम एक दो दिन में ही पूरा गो जायेगा। लेकिन एक काम अवश्य हैं।'

'कौन सा?'

'क्या डरबन पहुँचकर आप 'इंडियन ओपिनियन' प्रेस का प्रबन्ध अपने हाथ में लेंगे? मदनजीत तो अभी यहाँ के काम में व्यस्त है। परन्तु वहाँ किसी का जाना जरुरी हैं। आप चले जाये तो उस तरफ की मेरी चिन्ता बिल्कुल कम हो जाय।'

वेस्ट ने जवाब दिया, 'यह तो आप जानते है कि मेरा अपना छापा-खाना हैं। बहुत संभव है कि मैं जाने को तैयार हो जाऊँ। आखिरी जवाब आज शाम तक दूँ तो चलेगा न? घूमने निकल सके तो उस समय हम बात कर लेंगे।'

मैं प्रसन्न हुआ। उसी दिन शाम को थोडी बातचीत की। वेस्ट को हर महीने दस पौंड और छापेखाने में कुठ मुनाफा हो तो उसका अमुक भाग देने का निश्चय किया। वेस्ट वेतन के लिए तो आ नही रहे थे। इसलिए वेतन का सवाल उनके सामने नही था। दूसरे ही दिन रात की मेल से वे डरबन के लिए रवाना हुए और अपनी उगाही का काम मुझे सौपते गये। उस

दिन से लेकर मेरे दक्षिण अफ्रीका छोड़ने के दिन तक वे मेरे सुख-दुःख के साथी रहे। वेस्ट का जन्म विलायत के एक परगने के लाउथ नामक के एक किसान परिवार में हुआ था। उन्हें साधारण स्कूली शिक्षा प्राप्त हुई थी। वे अपने परिश्रम से अनुभव की पाठशाला में शिक्षा पाकर तैयार हुए शुद्ध, संयमी, ईश्वर से डरने वाले साहसी और परोपकारी अंग्रेज थे। मैंने उन्हें हमेंशा इसी रुप में जाना हैं। उनका और उनके कुटुम्ब का परिचय इन प्रकरणों में हमें आगे अधिक होने वाला हैं।

१७. लोकेशन की होली

यद्यपि बीमारों की सेवा-शुश्रूषा से मैं और मेरे साथी मुक्त हो चुके थे, फिर भी महामारी के कारण उत्पन्न दूसरे कामों की जवाबदारी तो सिर पर थी ही।

म्युनिसिपैलिटी लोकेशन की स्थिति के बारे में भले ही लापरवाह हो, पर गोरे नागरिकों के आरोग्य के विषय में तो वह चौबीसों घंटे जाग्रत रहती थी। उनके आरोग्य की रक्षा के लिए पैसा खर्च करने में उसने कोई कसर न रखी। और इस मौके पर महामारी को आगे बढने से रोकने के लिए तो उसने पानी की तरह पैसे बहाये । मैंने हिन्दुस्तानियो के प्रति म्युनिसिपैलिटी के व्यवहार में बहुत से दोष देखे थे। फिर भी गोरो के लिए बरती गयी इस सावधानी के लिए मैं म्युनिसिपैलिटी का आदर किये बिना न रह सका, और इस शुभ प्रयत्न में मुझसे जितनी मदद बन पड़ी मैंने दी। मैं मानता हूँ कि मैंने वैसी मदद न दी होती तो म्युनिसिपैलिटी के लिए काम मुश्किल हो जाता और कदाचित वह बन्दूक के बल के उपयोग करती करनें में हिचकिचाती नही और अपना चाहा सिद्ध करती।

पर वैसा कुछ हो नही पाया। हिन्दुस्तानियों के व्यवहार से म्युनिसिपैलिटी के अधिकारी खुश हुए और बाद का कितना ही काम सरल हो गया। म्युनिसिपैलिटी की माँगो के अनुकूल बरताब कराने में मैंने हिन्दुस्तानियो पर अपने प्रभाव का पूरा पूरा उपयोग किया। हिन्दुस्तानियों के लिए यह सब करना बहुत कठिन था, पर मुझे याद नही पड़ता कि उनमें से एक ने भी मेरी बात को टाला हो।

लोकेशन के आसपास पहरा बैठ गया। बिना इजाजत न कोई लोकेशन के बाहर जा सकता था और न बिना इजाजत कोई अन्दर घुस सकता था। मुझे और मेरे साथियों को स्वतंत्रता पूर्वक अन्दर जाने के परवाने दिये गये थे| म्युनिसिपैलिटी का इरादा यह था कि लोकेशन में रहने वाले सब लोगो को तीन हफ्तो के लिए जोहानिस्बर्ग से तेरह मील दूर एक खुले मैंदान में तम्बू गाड़कर बसाया जाय और लोकेशन को जला दिया जाय। डेर तम्बू की नई बस्ती बसाने में और वहाँ रसद इत्यादि सामान पहुँचाने में कुछ दिन तो लगते ही। इस बीच के समय के लिए उक्त पहरा बैठाया गया था।

लोग बहुत घबराये। लेकिन चूंकि मैं उनके साथ था, इसलिए उन्हें तसल्ली थी। उनमें से बहुतेरे गरीब अपने पैसे घरों में गाड़कर रखते था। अब पैसे वहाँ से हटाना जरुरी हो गया। उनका कोई बैंक न था। बैंक का तो वे नाम भी न जानते थे। मैं उनका बैक बना। मेरे यहाँ पैसो को ढेर लग गया। ऐसे समय मैं कोई मेहनताना तो ले ही नही सकता था। जैसे तैसे मैंने इस काम को पूरा किया। हमारे बैक के मैंनेजर से मेरी अच्छी जान पहचान थी। मैंने उनसे कहा कि मुझे उनके बैक में बहुत बडी रकम जमा करनी होगी। बैंक तांबे और चादी के सिक्के लेने को तैयार नही होते। इसके सिवा, महामारी के क्षेत्र से आने वाले पैसो को छूने में मुहर्रिर लोग आनाकानी करे, इसकी भी संभावना था। मैंनेजर ने मेरे लिए सब प्रकार की सुविधा कर दी। तय हुआ कि जंतु नाशक पानी से धो कर पैसे बैक में भेज दिये जाये। मुझे याद है कि इस तरह लगभग साठ हजार पौंड बैक में जमा किये गये थे। जिनके पास अधिक रकमें थी उन मुवक्किलो को एक निश्चित अवधि के लिए अपनी रकम ब्याज पर रखने की सलाह मैंने दी। इस प्रकार अलग अलग मुवक्किलो के नाम कुछ रकमें जमा की गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि उनसे से कुछ लोग बैंक में पैसे रखने के आदी हो गये। लोकेशन में रहने वालो को एक स्पेशल ट्रेन में जाहानिस्बर्ग के पास क्लिपस्प्रूट फार्म पर ले जाया गया। वहाँ उनके खाने पीने की व्यवस्था म्युनिसिपैलिटी ने अपने खर्च से की। तंबुओ में बसे इस गाँव का दृश्य सिपाहियों की छावनी जैसा था। लोगो को इस तरह रहने की आदत नही थी। इससे उन्हें मानसिक दुःख हुआ, नया नया सा लगा। किन्तु कोई खास तकलीफ नही उठानी पड़ी। मैं हर रोज एक बार साइकल पर वहाँ जाता थी। इस तरह तीन हफ्ते खुली हवा में रहने से लोगो के स्वास्थय में अवश्य ही सुधार हुआ और मानसिक दुःख को तो वे पहले चौबीस घंटो के अन्दर ही भूल गये। अतएव बाद में वे आनन्द से रहने लगे। मैं जब भी वहाँ जाता, उन्हें भजन कीर्तन और खेल कूद में ही लगा पाता।

जैसा कि मुझे याद है जिस दिन लोकेशन खाली किया गया उसके दूसरे दिन उसकी होली की गयी। म्युनिसिपैलिटी ने उसकी एक भी चीज बचाने का लोभ नही किया। इन्हीं दिनों और इसी निमित्त से म्युनिसिपैलिटी ने अपने मार्केट की सारी इमारती लकड़ी भी जला डाली और लगभग दस हजार पौंड का नुकसान सहन किया। मार्केट में मरे हुए चूहे मिले थे,

इस कारण यह कठोर कार्यवाही की गयी थी, पर परिणाम यह हुआ कि महामारी आगे बिल्कुल न बढ सकी। शहर निर्भय बना।

१८. एक पुस्तक का चमत्कारी प्रभाव

इस महामारी ने गरीब हिन्दुस्तानियो पर मेरे प्रभाव को, मेरे धंधे का और मेरी जिम्मेदारी को बढा दिया। साथ ही, यूरोपियनो के बीच मेरी बढ़ती हुई कुछ जान पहचान भी इतनी निकट की होती गयी कि उसके कारण भी मेरी जिम्मेदारी बढने लगी।

जिस तरह वेस्ट से मेरी जान पहचान निरामिषाहारी भोजनगृह में हुई, उसी तरह पोलाक के विषय में हुआ। एक दिन जिस मेज पर मैं बैठा था, उससे दूसरी मेज पर एक नौजवान भोजन कर रहे थे। उन्होने मिलने की इच्छा से मुझे अपने नाम का कार्ड भेजा। मैंने उन्हें मेज पर आने के लिए निमंत्रित किया। वे आये।

'मैं 'क्रिटिक' का उप संपादक हूँ। महामारी विषयक आपका पत्र पढने के बाद मुझे आपसे मिलने की बडी इच्छा हुई। आज मुझे यह अवसर मिल रहा है।'

मि. पोलाक की शुद्ध भावना से मैं उनकी ओर आकर्षित हुआ। पहली ही रात में हम एक दूसरे को पहचानने लगे और जीवन विषयक अपने विचारो में हमें बहुत साम्य दिखायी पडा। उन्हें सादा जीवन पसंद था। एक बार जिस वस्तु को उनकी बुद्धि कबूल कर लेती, उस पर अमल करने की उनकी शक्ति मुझे आश्चर्य जनक मालूम हुई। उन्होंने अपने जीवन में कई परिवर्तन तो एकदम कर लिये।

'इंडियन ओपीनियन' का खर्च बढता जाता था। वेस्ट की पहली ही रिपोर्ट मुझे चौकानेवाली थी। उन्होने लिखा, 'आपने जैसा कहा था वैसा मुनाफा मैं इस काम में नही देखता। मुझे तो नुकसान ही नजर आता हैं। बही खातो की अव्यवस्था है। उगाही बहुत है। पर वह बिना सिर पैर की है। बहुत से फेरफार करने होगे। पर इस रिपोर्ट से आप घबराइये नही। मैं सारी बातो को व्यवस्थित बनाने की भरसक कोशिश करुँगा। मुनाफा नही है, इसके लिए मैं इस काम को छोडूंगी नही।'

यदि वेस्ट चाहते तो मुनाफा न होता देखकर काम छोड सकते थे और मैं उन्हें किसी तरह का दोष न दे सकता था। यही नहीं, बल्कि बिना जाँच पड़ताल किये इसे मुनाफेवाला काम बताने का दोष मुझ पर लगाने का उन्हें अधिकार था। इतना सब होने पर भी उन्होंने मुझे कभी कड़वी बात तक नही सुनायी। पर मैं मानता हूँ कि इस नई जानकारी के कारण वेस्ट की दृष्टि में मेरी गिनती उन लोगो में हुई होगी, जो जल्दी में दूसरो का विश्वास कर लेते है। मदनजीत की धारणा के बारे में पूछताछ किये बिना उनकी बात पर भरोसा करके मैंने वेस्ट से मुनाफे की बात कही थी। मेरा ख्याल है कि सार्वजनिक काम करने वाले को ऐसा विश्वास न रखकर वही बात कहनी चाहिए जिसकी उसने स्वयं जाँच कर ली हो। सत्य के पुजारी को तो बहुत साबधानी रखनी चाहिए। पूरे विश्वास के बिना किसी के मन पर आवश्यकता से अधिक प्रभाव डालना भी सत्य को लांछित करना है। मुझे यह कहते हुए दुःख होता हैं कि इस वस्तु को जानते हुए भी जल्दी में विश्वास करके काम हाथ में लेने की अपनी प्रकृति को मैं पूरी तरह सुधार नहीं सका। इसमें मैं अपनी शक्ति से अधिक काम करने के लाभ को दोष देखता हूँ। इस लोभ के कारण मुझे जितना बेचैन होना पड़ा हैं, उसकी अपेक्षा मेरे साथियों को कहीं अधिक बेचैन होना पड़ा हैं।

वेस्ट का ऐसा पत्र आने से मैं नेटाल के लिए रवाना हुआ। पोलाक तो मेरी सब बाते जानने लगे ही थे। वे मुझे छोड़ने स्टेशन तक आये और यह कहकर कि 'यह रास्ते में पढ़ने योग्य हैं, आप इसे पढ़ जाइये, आपको पसन्द आयेगी।' उन्होने रस्किन की 'अंटु दिस लास्ट' पुस्तक मेरे हाथ में रख दी।

इस पुस्तक को हाथ में लेने के बाद मैं छोड ही न सका। इसने मुझे पकड़ लिया। जोहानिस्बर्ग से नेटाल का रास्ता लगभग चौबीस घंटो का था। ट्रेन शाम को डरबन पहुँचती थी। पहुँचने के बाद मुझे सारी रात नींद न आयी। मैंने पुस्तक में सूचित विचारो को अमल ने लाने को इरादा किया।

इससे पहले मैंने रस्किन की एक भी पुस्तक नहीं पढी थी। विद्याध्ययन के समय में पाठ्यपुस्तको के बाहर की मेरी पढ़ाई लगभग नहीं के बराबर मानी जायगी। कर्मभूमि में प्रवेश करने के बाद समय बहुत कम बचता था। आज भी यही कहा जा सकता हैं। मेरा

पुस्तकीय ज्ञान बहुत ही कम है । मैं मानता हू कि इस अनायास अथवा बरबस पाले गये संयम से मुझे कोई हानि नहीं हुई । बल्कि जो थोडी पुस्तके मैं पढ पाया हूँ, कहा जा सकता हैं कि उन्हें मैं ठीक से हजम कर सका हूँ । इन पुस्तकों में से जिसने मेरे जीवन में तत्काल महत्त्व के रचनात्मक परिवर्तन कराये, वह 'अंटु दिस लास्ट' ही कही जा सकती हैं । बाद में मैंने उसका गुजराती अनुवाद किया और वह 'सर्वोदय' नाम से छपा ।

मेरा यह विश्वास है कि जो चीज मेरे अन्दर गहराई में छिपी पड़ी थी, रस्किन के ग्रंथरत्न में मैंने उनका प्रतिबिम्ब देखा। और इस कारण उसने मुझ पर अपना साम्राज्य जमाया और मुझसे उसमें अमल करवाया । जो मनुष्य हममें सोयी हुई उत्तम भावनाओ को जाग्रत करने की शक्ति रखता है, वह कवि है । सब कवियों का सब लोगो पर समान प्रभाव नही पडता, क्योकि सबके अन्दर सारी सद्भावनाओ समान मात्रा में नही होती ।

मैं 'सर्वोदय' के सिद्धान्तो को इस प्रकार समझा हूँ :

1. सब की भलाई में हमारी भलाई निहित हैं.

2. वकील और नाई दोनो के काम की कीमत एक सी होनी चाहिए, क्योकि आजीविका का अधिकार सबको एक समान है ।

3. सादा मेहनत मजदूरी का किसान का जीवन ही सच्चा जीवन हैं ।

पहली चीज मैं जानता था । दूसरी को धुँधले रुप में देखता था । तीसरी की मैंने कभी विचार ही नही किया था । 'सर्वोदय' ने मुझे दीये की तरह दिखा दिया कि पहली चीज में दूसरी चीजें समायी हुई है। सवेरा हुआ और मैं इन सिद्धान्तों पर अमल करने के प्रयत्न में लगा ।

१९. फिनिक्स की स्थापना

सवेरे सबसे पहले तो मैंने वेस्ट से बात की। मुझ पर 'सर्वोदय' का जो प्रभाव प़ड़ा था, वह मैंने उन्हें सुनाया और सुझाया कि 'इंडियन ओपीनियन' को एक खेत पर ले जाना चाहिए। वहाँ सब अपने खान पान के लिए आवश्यक खर्च समान रुप से ले। सब अपने अपने हिस्से की खेती करे और बाकी समय में 'इंडियन ओपीनियन' का काम करे। वेस्ट ने इस सुझाव को स्वीकार किया। हर एक के लिए भोजन आदि का खर्च कम से कम तीन पौंड हो ऐसा हिसाब बैठाया। इसमें गोरे काले का भेद नही रखा गया था।

लेकिन प्रेस में तो लगभग दस कार्यकर्ता थे। एक सवाल यह था कि सबके लिए जंगल में बसना अनुकूल होगा या नही और दूसरा सवाल यह था कि ये सब खाने पहनने की आवश्यक साम्रगी बराबरी से लेने के लिए तैयार होगे या नही। हम दोनो ने तो यह निश्चय किया कि जो इस योजना में सम्मिलित न हो सके वे अपना वेतन ले और आदर्श यह रहे कि धीरे धीरे सब संस्था में रहने वाले बन जाये।

इस दृष्टि से मैंने कार्यकर्ताओं से बातचीत शुरु की। मदनजीत के गले तो यह उतरी ही नही। उन्हे डर था कि जिस चीज में उन्होने अपनी आत्मा उडेल दी थी, वह मेरी मूर्खता से एक महीने के अन्दर मिट्टी में मिल जाएगी। 'इंडियन ओपीनियन' नही चलेगा, प्रेस भी नही चलेगा और काम करने वाले भाग जायेंगे।

मेरे भतीजे छगनलाल गांधी इस प्रेस में काम करते थे। मैंने वेस्ट के साथ ही उनसे भी बात की। उन पर कुटुम्ब का बोझ था। किन्तु उन्होने बचपन से ही मेरे अधीन रहकर शिक्षा प्राप्त करना और काम करना पसन्द किया था। मुझ पर उनका बहुत विश्वास था। अतएव बिना किसी दलील के वे इस योजना में सम्मिलित हो गये और आज तक मेरे साथ ही है।

तीसरे गोविन्दस्वामी नामक एक मशीन चलाने वाले भाई था। वे भी इसमें शरीक हुए। दुसरे यद्यपि संस्थावासी नहीं बनेस तो भी उन्होने यह स्वीकार किया कि मैं जहाँ भी प्रेस ले जाऊँगा वहाँ वे आयेगे।

मुझे याद नही पडता कि इस तरह कार्यकर्ताओ से बातचीत करने में दो से अधिक दिन लगे होगे। तुरन्त ही मैंने समाचार पत्रो में एक विज्ञापन छपवाया कि डरबन के पास किसी भी स्टेशन से लगी हुई जमीन के एक टुकटे की जरुरत है। जवाब में फीनिक्स की जमीन का संदेशा मिला। वेस्ट के साथ मैं उसे देखने गया। सात दिन के अंदर 20 एकड़ जमीन ली। उसमें एक छोटा सा पानी का नाला था। नारंगी और आम के कुछ पेड़ थे। पास ही 80 एकड का दूसरा एक टुकड़ा था। उसमें विशेष रुप से फलोंवाले पेड औऱ एक झोपड़ा था। थोड़े ही दिनो बाद उसे भी खरीद लिया। दोनो को मिलाकर 1000 पौंड दिये।

सेठ पारसी रुस्तमजी मेंरे ऐसे समस्त साहसों में साझेदार होते ही थे। उन्हें मेरी यह योजना पसन्द आयी। उनके पास एक बड़े गोदाम की चद्दरें आदि सामान पड़ा था, जो उन्होने मुफ्त दे दिया। उसकी मदद से इमारती काम शुरु हुआ। कुछ हिन्दुस्तानी बढई और सिलावट, जो मेंरे साथ (बोअर) लड़ाई में सम्मिलित हुए थे, इस काम के लिए मिल गये। उनकी मदद से कारखाना बनाना शुरु किया। एक महीने में मकान तैयार हो गया। वह 75 फुट लंबा और 50 फुट चौड़ा था। वेस्ट आदि शरीर को संकट में ड़ालकर राज और बढई के साथ रहने लगे।

फीनिक्स में घास खूब थी। बस्ती बिल्कुल न थी। इससे साँपो का खतरा था। आरंभ में तो तंबू गाडकर सब उन्ही में रहे थे।

मुख्य घर तैयार होने पर एक हफ्ते के अन्दर अधिकांश सामान बैलगाडी की मदद से फीनिक्स लाया गया। डरबन और फीनिक्स के बीच क तेरह मील का फासला था। फीनिक्स स्टेशन से ढाई मील दूर था।

सिर्फ एक ही हफ्ता 'इंडियन ओपीनियन' को मर्क्युरी प्रेस से छपाना पड़ा।

मेंरे साथ जितने भी सगे संबंधी आदि आये थे और व्यापार धंधे में लगे हुए थे, उन्हें अपने मत का बनाने और फीनिक्स में भरती करने का प्रयत्न मैंने शुरु किया। ये तो सब धन संग्रह करने का हौसला लेकर दक्षिण अफ्रीका आये थे। इन्हें समझाने का काम कठिन था। पर कुछ लोग समझे। उन सब में मगनलाल गांधी का नाम अलग से लेता हूँ क्योकि दूसरे जो समझे थे वे तो कम ज्यादा समय फीनिक्स में रहने के बाद फिर द्रव्य संचय में व्यस्त हो गये।

मगनलाल गांधी अपना धंधा समेंटकर मेरे साथ रहने आये, तब से बराबर मेरे साथ ही रहे हैं । अपने बुद्धिबल से, त्याग शक्ति से और अनन्य भक्ति से वे मेरे आन्तरिक प्रयोगो के आरंभ के साथियो में आज मुख्य पद के अधिकारी है और स्वयं शिक्षित कारीगर के नाते मेरे विचार में वे उनके बीच अद्धितीय स्थान रखते है ।

इस प्रकार सन् 1904 में फीनिक्स की स्थापना हुई और अनेक विडम्बनाओं के बीच भी फीनिक्स संस्था तथा 'इंडियन ओपीनियन' दोनो अब तक टिके हुए हैं ।

पर इस संस्था की आरम्भिक कठिनाइयाँ और उससे मिली सफलताये विफलताये विचारणीय है । उनका विचार हम दूसरे प्रकरण में करेंगे ।

२०. पहली रात

फीनिक्स में 'इंडियन ओपीनियन' का पहला अंक निकालना सरल सिद्ध न हुआ । यदि मुझे दो सावधानियाँ न सूझी होती तो अंक एक सप्ताह बंद रहता अथवा देर से निकलता । इस संस्था में एंजिन से चलने वाली मशीनें लगाने का मेरा कम ही विटार था । भावना यह थी जहाँ खेती भी हाथ से करनी है वहाँ अखबार भी हाथ से चल सकनेवाले यंत्रों की मदद से निकले तो अच्छा हो । पर इस बार ऐसा प्रतीत हुआ कि यह हो न सकेगा । इसलिए वहाँ ऑइल एंजिन ले गये थे । किन्तु मैंने वेस्ट को सुझाया था कि इस तैल-यंत्र बिगड़ने पर दूसरी कोई भी कामचलाऊ शक्ति हमारे पास हो तो अच्छा रहे । अतएव उन्होने हाथ से चलाने की व्यवस्था कर ली थी । इसके अलावा, हमारे अखबार का कद दैनिक पत्र के समान था । बड़ी मशीन के बिगडने पर उसे तुरन्त सुधार सकने की सुविधा यहाँ नही थी । इससे भी अखबार का काम रुक सकता था । इस कठिनाई से बचने के लिए उसका आकार बदलकर साधारण साप्ताहिक के बराबर कर दिया गया, जिससे अड़चन के समय ट्रेडल पर पैरो की मदद से कुछ पृष्ट छापे जा सके ।

शुरु के दिनों में 'इंडियन ओपीनियन' ओपीनियन प्रकाशित होने के दिन की पहली रात को तो सबका थोड़ा बहुत जागरण हो ही जाता था । कागज भाँजने के काम में छोटे बडे सभी लग जाते थे और काम रात को दस बारह बजे पूरा होता था । पहली रात तो ऐसी बीती कि वह कभी भूल नही सकती । फर्मा मशीन पर कर दिया गया, पर एंजिन चलने से इनकार करने लगा ! एंजिन को बैठाने और चलाने के लिए एक इंजीनियर बुलाया गया था । उसने और वेस्ट ने बहुत मेंहनत की, पर एंजिन चलता ही न था । सब चिन्तित हो गये । आखिर वेस्ट ने निराश होकर डबडबायी आँखो से मेरे पास आये और बोले, 'अब आज एंजिन चलता नजर नही आता और इस सप्ताह हम लोग समय पर अखबार नही निकाल सकेंगे ।'

'यदि यही बात हैं तो हम लाचार है । आँसू बहाने का को कारण नही हैं। अब भी कोई प्रयत्न हो सकता हो तो हम करके देखे । पर आपके उस हाथ चक्र का क्या हुआ? ' यह कहकर मैंने उन्हें आश्वासन दिया ।

वेस्ट बोले, 'उसे चलाने के लिए हमारे पास आदमी कहाँ है ? हम जितने लोग यहाँ है उतनो से वह चल नही सकता, उसे चलाने के लिए बारी बारी से चार चार आदमियों की आवश्यकता है। हम सब तो थक चुके है।'

बढइयो का काम अभी पूरा नहीं हुआ था। इससे बढई अभी गये नही थे। छापाखाने में ही सोये थे। उनकी ओर इशारा करके मैंने कहा, 'पर ये सब बढई तो है न ? इनका उपयोग क्यो न किया जाय ? और आज की रात हम सब अखंड जागरण करे। मेरे विचार में इतना कर्तव्य बाकी रह जाता है।'

'बढइयों को जगाने और उनकी मदद माँगने की मेरी हिम्मत नही होती, और हमारे थके हुए आदमियो से कैसे कहा जाये ?'

मैंने कहा, 'यह मेरा काम है।'

'तो संभव है, हम अपना काम समय पर पूरा कर सके।'

मैंने बढइयों को जगाया और उनकी मदद माँगी। मुझे उन्हे मनाना नही पड़ा। उन्होने कहा, 'यदि ऐसे समय भी हम काम न आये, तो हम मनुष्य कैसे ? आप आराम कीजिये, हम चक्र चला लेगे। हमें इसमें मेहनत नहीं मालूम होगी।'छापाखाने के लोग तो तैयार थे ही।

वेस्ट के हर्ष का पार न रहा। उन्होने काम करते हुए भजन गाना शुरु किया। चक्र चलाने में बढइयों की बराबरी में मैं खड़ा हुआ और दुसरे सब बारी बारी से खड़े हुए। काम निकलने लगा। सुबह के लगभग सात बजे होगे। मैंने देखा कि काम अभी काफी बाकी है। मैंने वेस्ट से कहा, 'क्या अब इजीनियर को जगाया नहीं जा सकता ? दिन के उजेले में फिर से मेहनत करे तो संभव है कि एंजिन चलने लगे और हमारा काम समय पर पूरा हो जाय।'

वेस्ट ने इंजीनियर को जगाया। वह तुरन्त उठ गया और एंजिन घक में धुस गया। छूते ही एंजिन चलने लगा। छापाखाना हर्षनाद से गूँज उठा। मैंने कहा, 'ऐसा क्यो होता है ? रात में इतनी मेहनत करने पर भी नही चला और अब मानो कोई दोष न हो इस तरह हाथ लगाते ही चलने लग गया !'

वेस्ट ने अथवा इंजीनियर ने जवाब दिया, 'इसका उत्तर देना कठिन हैं। कभी कभी यंत्र भी ऐसा बरताव करते पाये जाते है, मानो हमारी तरह उन्हें भी आराम की आवश्यकता हो !'

मेरी तो यह धारणा रही कि एंजिन का न चलना हम सब की एक कसौटी थी और ऐन मौके पर उसका चल पडना शुद्ध परिश्रम का शुद्ध फल था। अखबार समय से स्टेशन पर पहुँच गया और हम सब निश्चित हुए।

इस प्रकार के आग्रह का परिणाम यह हुआ कि अखबार की नियमितता की धाक जम गयी और फीनिक्स के परिश्रम का वातावरण बना। इस संस्था में एक ऐसा भी युग आया कि जब विचार पूर्वक एंजिन चलाना बन्द किया गया और ढृढता पूर्वक चक्र से ही काम लिया गया। मेरे विचार में फीनिक्स का वह ऊँचे से ऊँचा नैतिक काल था।

२१. पोलाक कूद पड़े

मेरे लिए यह हमेंशा दुःख की बात रही हैं कि फीनिक्स जैसी संस्था की स्थापना के बाद मैं स्वयं उसमें कुछ ही समय तक रह सका । उसकी स्थापना के समय मेरी कलपना यह थी कि मैं वहाँ बस जाऊँगा, अपनी आजीविका उसमें से प्राप्त करूँगा, धीरे-धीरे वकालत छोड़ दूँगा, फीनिक्स में रहते हुए जो सेवा मुझसे हो सकेगी करूँगा और फीनिक्स की सफलता को ही सेवा समझूँगा । पर इन विचारों पर सोचा हुआ अमल हुआ ही नहीं । अपने अनुभव के द्वारा मैंने अक्सर यह देखा हैं कि हम चाहते कुछ हैं और हो कुछ और ही जाता हैं । पर इसके साथ ही मैंने यह भी अनुभव किया हैं कि जहाँ सत्य की ही साधना और उपासना होती है, वहाँ भले परिणाम हमारी धारणा के अनुसार न निकले, फिर भी जो अनपेक्षित परिणाम निकलता हैं वह अकल्याणकारी नहीं होता और कई बार अपेक्षा से अधिक अच्छा होता है । फीनिक्स में जो अनसोचे परिणाम निकले और फीनिक्स ने जो अनसोचा स्वरुप धारण किया वह अकल्याणकारी न था इतना तो मैं निश्चय-पूर्वक कह सकता हूँ । उन परिणामों को अधिक अच्छा कहा जा सकता है या नहीं, इसके सम्बन्ध में निश्चय-पूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता ।

हम सब अपनी मेहनत से अपना निर्वाह करेंगे, इस ख्याल से मुद्रणालय के आसपास प्रत्येक निवासी के लिए जमीन के तीन-तीन एकड़ के टुकडे कर लिये गये थे । इनमें एक टुकड़ा मेरे लिए भी मापा गया था । इस सब टुकड़ो पर हममें से हरएक की इच्छा के विरुद्ध हमने टीन की चद्दरों के घर बनाये । इच्छा तो किसान को शोभा देनेवाले घासफूस और मिट्टी के अथवा ईट के घर बाँधने की थी, पर वह पूरी न हो सकी । उसमें पैसा अधिक खर्च होता था और समय अधिक लगता था । सब जल्दी से घरबार वाले बनने और काम में जुट जाने के लिए उतावले हो गये थे ।

पत्र के सम्पादक तो मनसुखलाल नाजर ही माने जाते थे । वे इस योजना में सम्मिलित नही हुए थे । उनका घर डरबन में ही था । डरबन में 'इंडियन ओपीनियन' की एक छोटी-सी शाखा भी थी ।

यद्यपि कंपोज करने के लिए वैतनिक कार्यकर्ता थे, फिर भी दृष्टि यह थी कि अखबार कंपोज करने का काम, जो अधिक से अधिक सरल था, संस्था में रहने वाले सब लोग सीख ले और करे। अतएव जो कंपोज करना नही जानते थेस वे उसे सीखने के लिए तैयार हो गये। मैं इस काम में अंत तक सबसे अधिक मंद रहा और मगनलाल गांधी सबसे आगे बढ़ गये। मैंने हमेंशा यह माना हैं कि स्वयं उन्हें भी अपने में विद्यमान शक्ति का पता नही था। उन्होंने छापाखाने का काम कभी किया नही था। फिर भी वे कुशल कंपोजिटर बन गये और कंपोज करने की गति में भी उन्होंने अच्छी प्रगति की। यहीं नहीं, बल्कि थोड़े समय में छापाखाने की सब क्रियाओ पर अच्छा प्रभुत्व प्राप्त करके उन्होंने मुझे आश्चर्यचकित कर दिया।

अभी यह काम व्यवस्थित नही हो पाया था, मकाम भी तैयार न हुए थे, इतने में अपने इस नवरचित परिवार को छोड़कर मैं जोहानिस्बर्ग भाग गया। मेरी स्थिति ऐसी न थी कि मैं वहाँ के काम को लम्बे समय तक छोड़ सकूँ।

जोहानिस्बर्ग पहुँचकर मैंने पोलाक से इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की बात कही। अपनी दी हुई पुस्तक का यह परिणाम देखकर उनके आनन्द का पार न रहा। उन्होने उमंग के साथ पूछा, 'तो क्या मैं भी इसमें किसी तरह हाथ नही बँटा सकता?'

'आप अवश्य हाथ बँटा सकते है। चाहे तो आप इस योजना में सम्मिलित भी हो सकते हैं।'

पोलाक ने जवाब दिया, 'मुझे सम्मिलित करें तो मैं तैयार हूँ।'

उनकी इस ढृढता से मैं मुग्ध हो गया। पोलाक ने 'क्रिटिक' से मुक्ति पाने के लिए अपने मालिक को एक महीने की नोटिस दी और अवधि समाप्त होने पर वे फीनिक्स पहुँच गये। वहाँ अपने मिलनसार स्वभाव से उन्होंने सबके दिल जीत लिये और घर के ही एक आदमी की तरह रहने लगे। सादगी उनके स्वभाव में थी। इसलिए फीनिक्स का जीवन उन्हें जरा भी विचित्र या कठिन न लगकर स्वाभाविक और रुचिकर लगा।

पर मैं ही उन्हें लम्बे समय तक वहाँ रख नही सका। मि. रीच ने विलायत जाकर कानून की पढाई पूरी करने का निश्चय किया। मेरे लिए अकेले हाथो समूचे दफतर का बोझ उठाना सम्भव न था। अतएव मैंने पोलाक को आफिस में रहने और वकील बनने की सलाह दी।

मैंने सोचा यह था कि उनके वकील बन जाने का बाद आखिर हम दोनों फीनिक्स ही पहुँच जायेंगे।

ये सारी कल्पनाये मिथ्या सिद्ध हुई। किन्तु पोलाक के स्वभाव में एक प्रकार की ऐसी सरलता थी कि जिस आदमी पर उन्हें विश्वास हो जाता उससे बहस न करके वे उसके मत के अनुकूल बनने का प्रयत्न करते थे। पोलाक ने मुझे लिखा, 'मुझे तो यह जीवन ही अच्छा लगता हैं। मैं यहाँ सुखी हूँ। यहाँ हम इस संस्था का विकास कर सकेंगे। किन्तु यदि आप यह मानते है कि मेरे वहाँ पहुँचने से हमारे आदर्श शीध्र सफल होगे, तो मैं आने को तैयार हूँ।'

मैंने उनके इस पत्र का स्वागत किया। पोलाक फीनिक्स छोडकर जोहानिस्बर्ग आये और मेरे दफतर में वकील के मुंशी की तरह काम करने लगे।

इसी समय एक स्कॉच थियॉसॉफिस्ट को भी मैंने पोलाक का अनुकरण करने के लिए निमंत्रित किया औऱ वे भी आश्रम में सम्मिलित हो गये। उन्हें मैं कानून की परीक्षा की तैयारी में मदद करता था। उनका नाम मेकिनटायर था।

यों फीनिक्स के आदर्श को शीध्र ही सिद्ध करने के शुभ विचार से मैं उसके विरोधी जीवन में अधिकाधिक गहरा उतरता दिखायी पड़ा और यदि ईश्वरीय संकेत कुछ और ही न होता तो सादे जीवन के नाम पर बिछाये गये मोहजाल में मैं स्वयं ही फँस जाता।

मेरी और मेरे आदर्श की रक्षा जिस रीत से हुई, उसकी हममें से किसी को कोई कल्पना नहीं थी। पर इस प्रसंग का वर्णन करने से पहले कुछ और प्रकरण लिखने होगें।

२२. 'जाको राखे साइयाँ'

अब जल्दी ही हिन्दुस्तान जाने की अथवा वहाँ जाकर स्थिर होने की आशा मैंने छोड दी थी । मैं तो पत्नी को एक साल का आश्वासन देकर वापस दक्षिण अफ्रीका आया था । सात तो बीत गया, पर मेरे वापस लौटने की संभावना दूर चली गई । अतएव मैंने बच्चो को बुला लेने का निश्चय किया ।

बच्चे आये । उनमें मेरा तीसरा लड़का रामदास भी थी । रास्ते में वह स्टीमर के कप्तान से खूँब हिल गया था और कप्तान के साथ खेलते खेलते उसका हाथ टूट गया था । कप्तान ने उसकी सार संभाल की थी । डॉक्टर ने हड्डी बैठा दी थी । जब वह जोहानिस्बर्ग पहुँचा तो उसका हाथ लकड़ी की पट्टियो के बीच बँधा हुआ औऱ रुमाल की गलपट्टी में लटका हुआ था । स्टीमर के डॉक्टर की सलाह थी कि घाव को किसी डॉक्टर से साफ करा कर पट्टी बँधवा ली जाय ।

पर मेरा यह समय तो धडल्ले के साथ मिट्टी के प्रयोग करने का था । मेरे जिन मुवक्किलो को मेरी नीमहकीमी पर भरोसा था, उनसे भी मैं मिट्टी और पानी के प्रयोग कराता था । तब रामदास के लिए और क्या होता ? रामदास की उमर आठ साल की थी । मैंने उससे पूछा, 'तेरे घाव की मरहम पट्टी मैं स्वयं करूँ तो तू घबरायेगा तो नहीं?'

रामदास हँसा औऱ उसने मुझे प्रयोग करने की अनुमति दी । यद्यपि उस उमर में उसे सारासार का पता नही चल सकता था, फिर भी डॉक्टर और नीमहकीम के भेद को तो वह अच्छी तरह जानता था । लेकिन उसे मेरे प्रयोगो की जानकारी थी और मुझ पर विश्वास था, इसलिए वह निर्भय रहा ।

काँपते काँपते मैंने उसकी पट्टी खोली । घाव को साफ किया औऱ साफ मिट्टी की पुलटिस रखकर पट्टी को पहले की तरह फिर बाँध दिया । इस प्रकार मैं खुद ही रोज घाव को घोता और उस पर मिट्टी बाँधता था । कोई एक महीने में घाव बिल्कुल भर गया । किसी दिन कोई विघ्न उत्पन्न न हूआ और घाव दिन ब दिन भरता गया । स्टीमर के डॉक्टर ने कहलवाया था कि डॉक्टरी पट्टी से भी घाव भरने में इतना समय तो लग ही जायेगा ।

इस प्रकार इन घरेलू उपचारो के प्रति मेरा विश्वास और इन पर अमल करने की मेरी हिम्मत बढ गई । घाव, बुखार, अजीर्ण, पीलिया इत्यादि रोगो के लिए मिट्टी, पानी और उपवास के प्रयोग मैंने छोटे बड़ों और स्त्री-पुरुषो पर किये । उनमें से वे अधिकतर सफल हुए । इतना होने पर भी जो हिम्मत मुझमें दक्षिण अफ्रीका में थी वह यहाँ नही रही और अनुभव से यह भी प्रतीति हुई कि इन प्रयोगो में खतरा जरुर है ।

इन प्रयोगो के वर्णन का हेतु अपने प्रयोगो की सफलता सिद्ध करना नही है । एक भी प्रयोग सर्वांश में सफल हुआ हैं, ऐसा दावा नही किया जा सकता । डॉक्टर भी ऐसा दावा नही कर सकते । पर कहने का आशय इतना ही है कि जिसे नये अपरिचित प्रयोग करने हो उस आरम्भ अपने से ही करना चाहिए । ऐसा होने पर सत्य जल्दी प्रकट होता है और इस प्रकार के प्रयोग करने वाले को ईश्वर उबार लेता है ।

जो खतरा मिट्टी के प्रयोगो में था, वह यूरोपियनो के निकट सहवास में था । भेद केवल प्रकार का था । पर स्वयं मुझे तो इन खतरों का कोई ख्याल कर न आया ।

मैंने पोलाक को अपने साथ ही रहने के लिए बुला लिया और हम सगे भाइयो की तरह रहने लगे । जिस महिला के साथ पोलाक का विवाह हुआ, उसके साथ उनकी मित्रता कोई वर्षो से थी । दोनो ने यथासमय विवाह करने का निश्चय भी कर लिया था । पर मुझे याद पड़ता है कि पोलाक थोड़ा धन संग्रह कर लेने की बाट जोह रहे थे । मेरी तुलना में रस्किन का उनका अध्ययन कहीँ अधिक और व्यापक था । पर पश्चिम के वातावरण में रस्किन के विचारो को पूरी तरह आचरण में लाने का बात उन्हें सूझ नही सकती थी । मैंने दलील देते हुए कहा, 'जिसके साथ हृदय की गाँठ बँध गयी है, केवल धन की कमी के कारण उसका वियोग सहना अनुचित कहा जायेगा । आपके हिसाब से तो कोई गरीब विवाह कर ही नही सकता । फिर अब तो आप मेरे साथ रहते है । इसलिए घरखर्च का सवाल ही नही उठता । मैं यही ठीक समझता हूँ कि आप जल्दी अपना विवाह कर ले ।'

मुझे पोलाक के साथ कभी दूसरी बार दलील करनी न पड़ती थी । उन्होंने मेरी दलील तुरन्त मान ली । भावी मिसेज पोलाक विलायत में थी । उनके साथ पत्र व्यवहार शुरु किया । वे सहमत हुई और कुछ ही महीनों में विवाह के लिए जोहानिस्बर्ग आ पहुँची ।

विवाह में खर्च बिल्कुल नही किया था। विवाह की कोई खास पोशाक भी नही बनबायी थी। उन्हें धार्मिक विधि का आवश्यकता न थी। मिसेज पोलाक जन्म से ईसाई और मि. पोलाक यहूदी थे। दोनों के बीच सामान्य धर्म तो नीतिधर्म ही थी।

पर इस विवाह की एक रोचक प्रसंग यहाँ लिख दूँ। ट्रान्सवाल में गोरो के विवाह की रजिस्ट्री करने वाला अधिकारी काले आदमी की रजिस्ट्री नहीं करता था। इस विवाह का शहबाला (विवाह की सब रस्मों में वर के साथ रहने वाला व्यक्ति) मैं था। खोजने पर हमें कोई गोरा मित्र मिल सकता था। पर पोलाक के लिए वह सह्य न था। अतएव हम तीन व्यक्ति अधिकारी के सामने उपस्थित हुए। जिस विवाह में मैं शहबाला होऊँ उसमें वर-वधू दोनो गोरे ही होगे, अधिकारी को इसका भरोसा कैसे हो ? उसने जाँच होने तक रजिस्ट्री मुलतवी रखनी चाही। उसके बाद का दिन नये साल का होने से सार्वजनिक छुट्टी का दिन था। ब्याह के पवित्र निश्चय से निकले हुए स्त्री पुरुष के विवाह की रजिस्ट्री का दिन बदला जाय, यह सब को असह्य प्रतीत हुआ। मैं मुख्य न्यायाधीश को पहचानता था। वे इस विभाग के उच्चाधिकारी थे। मैं इस जोड़े को लेकर उनके सामने उपस्थित हुआ। वे हँसे और उन्होंने मुझे चिट्ठी लिख दी। इस तरह विवाह की रजिस्ट्री हो गयी।

आज तक न्यूनाधि ही सही, परन्तु जाने पहचाने गोरे पुरूष मेरे साथ रहे थे। अब एक अपरिचित अंग्रेज महिला ने कुटुम्ब में प्रवेश किया। स्वयं मुझे तो याद नहीं पड़ता कि इस कारण परिवार में कभी कोई कलह हुआ हो। किन्तु जहाँ अनेक जातियों के और अनेक स्वभावों के हिन्दुस्तानी आते जाते थे और जहाँ मेरी पत्नी को अभी तक ऐसे अनुभव कम ही थे, वहाँ दोनो के बीच कभी उद्वेग के अवसर जितने आते है, उनसे अधिक अवसर तो इस विजातीय परिवाक में नहीं ही आये। बल्कि जिनका मुझे स्मरण है वे अवसर भी नगण्य ही कहे जायेगे। सजातीय और विजातीय की भावनाये हमारे मन की तरंगे है। वास्तव में हम सब एक परिवार ही है।

वेस्ट का ब्याह भी यहीं सम्पन्न कर लूँ। जीवन के इस काल तक ब्रह्मचर्य विषयक मेरे विचार परिपक्व नही हुए थे। इसलिए कुँवारे मित्रो का विवाह करा देना मेरा धंधा बन गया था। जब वेस्ट के लिए अपने माता पिता के पास जाने का समय आया तो मैंने उन्हें सलाह

दी जहाँ तक बन सके वे अपना ब्याह करके ही लौटे। फीनिक्स हम सब का घर बन गया था और हम सब अपने को किसान मान बैठे थे, इस कारण विवाह अथवा वंशवृद्धि हमारे लिए भय का विषय न था।

वेस्ट लेस्टर की एक सुन्दर कुमारिका को ब्याह कर लाये। इस बहन का परिवार लेस्टर में जूतो का बड़ा व्यवसाय चलता था उसमें काम करता था। मिसेज वेस्ट ने भी थोड़ा समय जूतो के कारखाने में बिताया था। उसे मैंने 'सुन्दर' कहा है, क्योकि मैं उसके गुणो को पुजारी हूँ और सच्चा सौन्दर्य तो गुण में ही होता है। वेस्ट अपनी सास को भी अपने साथ लाये थे। वह भली बुढिय़ा अभी जीवित है। अपने उद्यम और हँसमुख स्वभाव से वह हम सबको सदा शरमिन्दा किया करती थी।

जिस तरह मैंने इन गोरे मित्रो के ब्याह करवाये, उसी तरह मैंने हिन्दुस्तानी मित्रो को प्रोत्साहित किया कि वे अपने परिवारो को बुला ले। इसके कारण फीनिक्स एक छोटा सा गाँव बन गया और वहाँ पाँच सात भारतीय परिवार बस कर बढने लगे।

२३. घर में परिवर्तन और बालशिक्षा

डरबन में मैंने जो घर बसाया था, उसमें परिवर्तन तो किये ही थे। खर्च अधिक रखा था, फिर भी झुकाव सादगी की ओर ही था। किन्तु जोहानिस्बर्ग में 'सर्वोदय' के विचारो ने अधिक परिवर्तन करवाये।

बारिस्टर के घर में जितनी सादगी रखी जा सकती थी, उतनी तो रखनी शुरू कर ही दी। फिर भी कुछ साज-सामान के बिना काम चलाना मुश्किल था। सच्ची सादगी तो मन की बढ़ी। हर एक काम अपने हाथो करने को शौक बढ़ा और बालको को भी उसमें शरीफ करके कुशल बनाना शुरू किया।

बाजार की रोटी खरीदने के बदले कूने की सुझाई हुई बिना खमीर की रोटी हाथ से बनानी शुरू की। इसमें मिल का आटा काम नही देता था। साथ ही मेरा यह भी ख्याल रहा था मिल में पिसे आटे का उपयोग करने की अपेक्षा हाथ से पिसे आटे का उपयोग करने में सादगी, आरोग्य और पैसा तीनो की अधिक रक्षा होती है। अतएव सात पौंड खर्च करके हाथ से चलाने की एक चक्की खरीद ली। उसका पाट वजनदार था। दो आदमी उसे सरलता से चला सकते थे, अकेले को तकलीफ होती थी। इस चक्की को चलाने में पोलाक, मैं और बालक मुख्य भाग लेते थे। कभी कभी कस्तूरबाई भी आ जाती थी, यद्यपि उस समय वह रसोई बनाने में लगी रहती थी। मिसेज पोलाक के आने पर वे भी इसमें सम्मिलित हो गयी। बालको के लिए यह कसरत बहुत अच्छी सिद्ध हुई। उनसे कोई काम कभी जबरदस्ती नही करवाया। वे सहज ही खेल समझ कर चक्की चलाने आते थे। थकने पर छोड़ देने की उन्हें स्वतंत्रता थी। पर न जाने क्या कारण था कि इन बालको ने अथवा दूसरे बालको ने, जिनकी पहचान हमें आगे चलकर करनी है, मुझे तो हमेंशा बहुत ही काम दिया है। मेंरे भाग्य में टेढे स्वभाव के बालक भी थे, अधिकतर बालक सौपा हुआ काम उमंग के साथ करते थे। 'थक गये' कहनेवाले उस युग के थोडे ही बालक मुझे याद है।

घर साफ रखने के लिए एक नौकर था। वह घर के आदमी की तरह रहता था और उसके काम में बालक पूरा हाथ बँटाते थे। पाखाना साफ करने के लिए तो म्युनिसिपैलिटी का

नौकर आता था, पर पाखाने के कमरे को साफ करने का काम नौकर को नहीं सौपा जाता था। उससे वैसी आशा भी नही रखी जाती थी। यह काम हम स्वयं करते थे और बालको को तालीम मिलती थी। परिणाम यह हुआ कि शुरू से ही मेरे एक भी लड़के को पाखाना साफ करने की घिन न रही और आरोग्य के साधारण नियम भी वे स्वाभाविक रूप से सीख गये। जोहानिस्बर्ग में कोई बीमार तो शायद ही कभी पड़ता था। पर बीमारी का प्रसंग आने पर सेवा के काम में बालक अवश्य रहते थे और इस काम को खूशी से करते थे।

मैं यह तो नहीं कहूँगा कि बालको के अक्षर ज्ञान के प्रति मैं लापरवाह रहा। पर यह ठीक है कि मैंने उसकी कुरबानी करने में संकोच नही किया। और इस कमी के लिए मेरे लड़को को मेरे विरुद्ध शिकायत करने का कारण रह गया है। उन्होने कभी कभी अपना असंतोष भी प्रकट किया है। मैं मानता हूँ कि इसमें किसी हद तक मुझे अपना दोष स्वीकार करना चाहिए। उन्हें अक्षर ज्ञान कराने की मेरी इच्छा बहुत थी, मैं प्रयत्न भी करता था, किन्तु इस काम में हमेंशा कोई न कोई विध्न आ जाता था। उनके लिए घर पर दूसरी शिक्षा की सुविधा नही की गई थी, इसलिए मैं उन्हें अपने साथ पैदल दफ्तर तक ले जाता था। दफ्तर ढाई मील दूर था, इससे सुबह शाम मिलाकर कम से कम पाँच मील की कसरत उन्हे और मुझे हो जाती थी। रास्ता चलते हुए मैं उन्हे कुछ न कुछ सिखाने का प्रयत्न करता था, पर यह भी तभी होता था, जब मेरे साथ दूसरा कोई चलने वाला न होता। दफ्तर में वे मुवक्किलो व मुहर्रिरो के सम्पर्क में आते थे। कुछ पढ़ने को देता तो वे पढते थे। इधर उधर घूम फिर लेते थे और बाजार से मामूली सामान खरीदना हो तो खरीद लाते थे। सबसे बड़े हरिलाल को छोड़कर बाकी सब बालको की परवरिश इसी प्रकार हुई। हरिलाल देश में रह गया था। यदि मैं उन्हें अक्षर ज्ञान कराने के लिए एक घंटा भी नियमित रूप से बचा सका होता, तो मैं मानता कि उन्हें आदर्श शिक्षा प्राप्त हुई है। मैंने ऐसा आग्रह नही रखा, इसका दुःख मुझे है और उन्हे दोनो को रह गया है। सबसे बड़े लड़के ने अपना संताप कई बार मेरे और सार्वजनिक रुप में भी प्रकट किया है। दूसरो ने हृदय की उदारता दिखाकर इस दोष को अनिवार्य समझकर दरगुजर कर दिया है। इस कमी के लिए मुझे पश्चाताप नहीं है, अथवा है तो इतना ही कि मैं आदर्श पिता न बन सका। किन्तु मेरी यह राय है कि उनके अक्षर ज्ञान की कुरबानी भी मैंने अज्ञान से ही क्यो न हो, फिर भी सदभावपूर्वक मानी हुई सेवा के लिए

ही की है। मैं यह कह सकता हूँ कि उनके चरित्र निर्माण के लिए जितना कुछ आवश्यक रुप से करना चाहिए था, वह करने में मैंने कही भी त्रुटि नही रखी है। और मैं मानता हूँ कि हर माता पिता का यह अनिवार्य कर्तव्य है। मेरा दढ विश्वास है कि अपने इस परिश्रम के बाद भी मेरे बालको के चरित्र में जहाँ त्रुटि पायी जाती है, वहाँ वह पति-पत्नी के नाते हमारी त्रुटियो का ही प्रतिबिम्ब है।

जिस प्रकार बच्चो को माता पिता की सूरत-शकल विरासत में मिलती है, उसी प्रकार उनके गुण-दोष भी उन्हें विरासत में मिलते है। अवश्य ही आसपास के वातावरण के कारण इसमें अनेक प्रकार की घट-बट होती है, पर मूल पूँजी तो वही होती है, जो बाप-दादा आदि से मिलती है। मैंने देखा है कि कुछ बालक अपने को ऐसे दोषो की विरासत से बचा लेते है। यह आत्मा का मूल स्वभाव है, उसकी वलिहारी है।

इन बालको की अंग्रेजी शिक्षा के विषय में मेरे और पोलाक के बीच कितनी ही बार गरमागरम बहस हुई है। मैंने शुरु से ही यह माना है कि जो हिन्दुस्तानी माता पिता अपने बालको को बचपन से ही अंग्रेजी बोलनेवाले बना देते है, वे उनके और देश के साथ द्रोह करते है। मैंने यह भी माना है कि इससे बालक अपने देश की धार्मिक और सामाजिक विरासत से वंचित रहता है और उस हद तक वह देश की तथा संसार की सेवा के लिए कम योग्य बनता है। अपने इस विश्वास के कारण मैं हमेंशा जानबूझ कर बच्चो के साथ गुजराती में ही बातचीत करता था। पोलाक को यह अच्छा नही लगता था। उनकी दलील यह थी कि मैं बच्चो के भविष्य को बिगाड़ रहा हूँ। वे मुझे आग्रह पूर्वक समझाया करते थे कि यदि बालक अंग्रेजी के समान व्यापक भाषा को सीख ले, तो संसार में चल रही जीवन की होड़ में वे एक मंजिल को सहज ही पार कर सकते है। उनकी यह दलील मेरे गले न उतरती थी। अब मुझे यह याद नही है कि अन्त में मेरे उत्तर से उन्हें संतोष हुआ था या रा हठ देखकर उन्होंने शान्ति धारण कर ली थी। इस संवाद को लगभग बीस वर्ष हो चुके है, फिर भी उस समय के मेरे ये विचार आज के अनुभव से अधिक ढृढ हुए है, और यद्यपि मेरे पुत्र अक्षर ज्ञान में कच्चे रह गये है, फिर भी मातृभाषा का जो साधारण ज्ञान उन्हें आसानी से मिला है, उससे उन्हें और देश को लाभ ही हुआ है और इस समय वे देश में परदेशी जैसे नही बन गये है। वे द्विभाषी तो सहज ही हो गये, क्योकि विशाल अंग्रेज मित्र मंडली के सम्पर्क में आने

से और जहाँ विशेष रुप से अंग्रेजी बोली जाती है ऐसे देश में रहने से वे अंग्रेजी भाषा बोलने और उसे साधारणतः लिखने लग गये ।

२४. 'जुलू-विद्रोह'

घर बसा कर बैठने के बाद कही स्थिर होकर रहना मेरे नसीब में बदा ही न था । जोहानिस्बर्ग में मैं कुछ स्थिर-सा होने लगा था कि इसी बीच एक अनसोची घटना घटी । अखबारो में यह खबर पढने को मिली कि नेटाल में जुलू 'विद्रोह' हुआ है । जुलू लोगो से मेरी कोई दुश्मनी न थी । उन्होने एक भी हिन्दुस्तानी का नुकसान नही किया था । 'विद्रोह' शब्द के औचित्य के विषय में भी मुझे शंका थी । किन्तु उन दिनो मैं अंग्रेजी सल्तनत को संसार का कल्याण करने वाली सल्तनत मानता था । मेरी वफादारी हार्दिक थी । मैं उस सल्तनत का क्षय नही चाहता था । अतएव बल-प्रयोग सम्बन्धी नीति-अनीति का विचार मुझे इस कार्य को करने सा रोक नही सकता था । नेटाल पर संकट आने पर उसके पास रक्षा के लिए स्वयंसेवको की सेना थी और संकट के समय उसमें काम के लायक सैनिक भरती भी हो जाते थे । मैंने पढा कि स्वयंसेवको की सेना इस विद्रोह को दबाने के लिए रवाना हो चुकी है ।

मैं अपने को नेटालवासी मानता था और नेटाल के साथ मेरा निकट सम्बन्ध तो था ही । अतएव मैंने गवर्नर को पत्र लिखा कि यदि आवश्यकता हो तो घायलो की सेवा-शुश्रूषा करने वाले हिन्दुस्तानियों की एक टुकडी लेकर मैं सेवा के लिए जाने को तैयार हूँ । तुरन्त ही गवर्नर का स्वीकृति सूचक उत्तर मिला । मैंने अनुकूल उत्तर की अथवा इतनी जल्दी उत्तर पाने की आशा नही रखी थी । फिर भी उक्त पत्र लिखने के पहले मैंने अपना प्रबन्ध तो कर ही लिया था । तय यह किया था कि यदि मेरी प्रार्थना स्वीकृत हो जाय, तो जोहानिस्बर्ग का घर उठा देंगे, मि. पोलाक अलग घर लेकर रहेंगे और कस्तूरबाई फीनिक्स जाकर रहेगी । इस योजना को कस्तूरबाई की पूर्ण सहमति प्राप्त हुई । मुझे स्मरण नही है कि मेरे ऐसे कार्यो में उसकी तरफ से किसी भी दिन कोई बाधा डाली गयी हो । गवर्नर का उत्तर मिलते ही मैंने मालिक को मकान खाली करने के सम्बन्ध में विधिवत एक महीने का नोटिस दे दी । कुछ सामान फीनिक्स गया, कुछ मि. पोलाक के पास रहा ।

डरबन पहुँचने पर मैंने आदमियो की माँग की। बड़ी टुकड़ी की आवश्यकता नही थी। हम चौबीस आदमी तैयार हुए। उनमें मेरे सिवा चार गुजराती थे, बाकी मद्रास प्रान्त के गिरमिट मुक्त हिन्दुस्तानी थे और एक पठान था।

स्वाभिमान की रक्षा के लिए और अधिक सुविधा के साथ काम कर सकने के लिए तथा वैसी प्रथा होने के कारण चिकित्सा विभाग के मुख्य पदाधिकारी ने मुझे 'सार्जेंट मेंजर' का मुद्दती पद दिया और मेरी पसन्द के अन्य तीन साथियो को 'सार्जेंट' का और एक को 'कार्पोरल' का पद दिया। वरदी भी सरकार की ओर से ही मिली। मैं यह कह सकता हूँ कि इस टुकड़ी ने छह सप्ताह तक सतत सेवा की।

'विद्रोह' के स्थान पर पहुँचकर मैंने देखा कि वहाँ विद्रोह जैसी कोई चीज नही थी। कोई विरोध करता हुआ भी नजर नही आता था। विद्रोह मानने का कारण यह था कि एक जुलू सरदार ने जुलू लोगो पर लगाया गया नया कर न देने की उन्हें सलाह दी थी और कर की वसूली के लिए गये हुए एक सार्जेंट को उसने कत्ल कर डाला था। सो जो भी हो, मेरा हृदय तो जुलू लोगो की तरफ था और केन्द्र पर पहुँचने के बाद जब हमारे हिस्से मुख्यतः जुलू घायलो की शुश्रूषा करने का काम आया, तो मैं बहुत खुश हुआ। वहाँ के डॉक्टर अधिकारी ने हमारा स्वागत किया। उसने कहा, 'गोरो में से कोई इन घायलो की सेवा-शुश्रूषा करने के लिए तैयार नही होता। मैं अकेला किस किस की सेवा करुँ ? इनके घाव सड़ रहे है। अब आप आये है, इसे मैं इन निर्दोष लोगो पर ईश्वर की कृपा ही समझता हूँ। ' यह कहकर उसने मुझे पट्टियाँ, जंतुनाशक पानी आदि सामान दिया और उन बीमारो के पास ले गया। बीमार हमें देखकर खुश हो गये। गोरे सिपाही जालियो में से झाँक झाँककर हमें घाव साफ करने से रोकने का प्रयत्न करते, हमारे न मानने पर खीझते और जुलूओ के बारे में जिन गंदे शब्दो का उपयोग करते उनसे तो कान के कीड़े झड़ जाते थे।

धीरे-धीर गोरे सिपाहियों के साथ भी मेरा परिचय हो गया और उन्होने मुझे रोकना बन्द कर दिया। इस सेना में सन् 1896 में मेरा घोर विरोध करने वाले कर्नल स्पार्क्स और कर्नल वायली थे। वे मेरे इस कार्य से आश्चर्य चकित हो गये। मुझे खास तौर से बुलाकर उन्होने मेरा उपकार माना। वे मुझे जनरल मेकेंजी के पास भी ले गये और उनसे मेरा परिचय कराया।

पाठक यह न समझे कि इनमें से कोई पेशेवर सिपाही थी। कर्नल वायली प्रसिद्ध वकील थे। कर्नल स्पार्क्स कसाईखाने के मशहूर मालिक थे। जनरल मेकेंजी नेटाल के प्रसिद्ध किसान थे। वे सब स्वयंसेवक थे और स्वयंसेवको के नाते ही उन्होने सैनिक शिक्षा और अनुभव प्राप्त किया था।

कोई यह न माने कि जिन बीमारो के सेवा शुश्रूषा का काम हमें सौपा गया था, वे किसी लड़ाई में घायल हुए थे। उनमें से एक हिस्सा उन कैदियो का था जो शक में पकड़े गये थे। जनरल ने उन्हे कोड़ो की सजा दी थी। इन कोड़ो की मार से जो घाव पैदा हुए थे, वे सार-संभाल के अभाव में पक गये थे। दूसरा हिस्सा उन जुलूओ का था, जो मित्र माने जाते थे। इन मित्रो को सिपाहियो ने भूल से घायल किया था, यद्यपि उन्होने मित्रता सूचक चिह्न धारण कर रखे थे।

इसके अतिरिक्त स्वयं मुझे गोरे सिपाहियों लिए भी दवा लाने और उन्हे दवा देने का काम सौपा गया था। डॉ. बूथ के छोटे से अस्पताल में मैंने एक साल कर इस काम की तालीम ली थी, इससे यह काम मेरे लिए सरल हो गया था। इस काम के कारण बहुत से गोरो के साथ मेरा अच्छा परिचय हो गया था।

पर लड़ाई में व्यस्त सेना किसी एक जगह पर तो बैठी रह ही नही सकती थी। जहाँ से संकट के समाचार आते वही वह दौड जाती थी। उसमें बहुत से तो घुडसवार ही थे। केन्द्र स्थान से हमारी छावनी उठती कि हमें उसके पीछ पीछ अपनी डोलियाँ कन्धे पर उठाकर चलना पड़ता था। दो-तीन मौको पर तो एक ही दिन में चालीस मील की मंजिल तय करनी पड़ी। यहां भी हमें तो केवल प्रभु का ही काम मिला। जो जुलू मित्र भूल से घायल हुए थे उन्हें डोलियो में उठाकर छावनी तक पहुँचाना था और वहाँ उनकी शुश्रूषा करनी थी।

२५. हृदय-मन्थन

'जुलू-विद्रोह' में मुझे बहुत से अनुभव हुए और बहुत-कुछ सोचने को मिला। बोअर-युद्ध में मुझे लड़ाई की भयंकरता उतनी प्रतीत नही हुई थी जितनी यहाँ हुई थी। यहाँ लड़ाई नही, बल्कि मनुष्यो को शिकार हो रहा था। यह केवल मेरा ही नही, बल्कि उन कई अंग्रेजो का भी अनुभव था, जिनके साथ मेरी चर्चा होती रहती थी। सबेरे-सबेरे सेना गाँव में जाकर मानो पटाखे छोडती हो, इस प्रकार उनकी बन्दूको की आवाज दूर रहनेवाले हम लोगो के कानो पर पड़ती थी। इन आवाजो को सुनना और इस वातावरण में रहना मुझे बहुत मुश्किल मालूम पड़ा। लेकिन मैं सब-कुछ कड़वे घूँट की तरह पी गया और मेरे हिस्से काम आया सो तो केवल जुलू लोगो की सेवा का ही आया। मैं यह समझ गया कि अगर हम स्वयंसेवक दल में सम्मिलित न हुए होते, तो दूसरा कोई यह सेवा न करता। इस विचार से मैंने अपनी अन्तरात्मा को शान्त किया।

यहाँ बस्ती बहुत कम थी। पहाड़ो और खाइयो में भले, सादे और जंगली माने जाने वाले जुलू लोगो के धासफूस के झोपड़ों को छोड़कर और कुछ न था। इस कारण दृश्य भव्य मालूम होता था। जब इस निर्जन प्रदेश में हम किसी घायल को लेकर अथवा यो ही मीलो पैदल जाते थे, तब मैं सोच में डूब जाता था।

यहाँ ब्रह्मचर्य के बारे में मेरे विचार परिपक्व हुए। मैंने अपने साथियों से भी इसकी थोडी चर्चा की। मुझे अभी इस बात का साक्षात्कार तो नहीं हुआ था कि ईश्वर दर्शन के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य वस्तु है। किन्तु मैं यह स्पष्ट देख सका था कि सेवा के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। मुझे लगा कि इस प्रकार की सेवा तो मेरे हिस्से में अधिकाधिक आती ही रहेगी और यदि मैं भोग-विलास में, सन्तानोत्पत्ति में और संतति के पालन-पोषण में लगा रहा, तो मुझसे सम्पूर्ण सेवा नही हो सकती, मैं दो घोड़ो पर सवारी नही कर सकता। यदि पत्नी सगर्भा हो तो मैं निश्चिन्त भाव से इस सेवा में प्रवृत हो ही नही सकता। ब्रह्मचर्य का पालन किये बिना परिवार की वृद्धि करते रहना समाज के अभ्युदय के लिए किये जानेवाले मनुष्य के प्रयत्न का विरोध करनेवाली वस्तु बन जाती है। विवाहित होते हुए भी ब्रह्मचर्य

का पालन किया जाय तो परिवार की सेवा समाज-सेवा की विरोधी न बने। मैं इस प्रकार के विचार-चक्र में फँस गया और ब्रह्मचर्य का व्रत लेने के लिए थोडा अधीर भी हो उठा। इन विचारो से मुझे एक प्रकार का आनन्द हुआ और मेरा उत्साह बढ़ा। कल्पना ने सेवा के क्षेत्र को बहुत विशाल बना दिया।

मैं मन-ही-मन इन विचारो को पक्का कर रहा था और शरीर को कस रहा था कि इतने में कोई यह अफवाह लाया कि विद्रोह शान्त होने जा रहा है और अब हमें छुट्टी मिल जाएगी। दूसरे दिन हमें घर जाने की इजाजत मिली और बाद में कुछ दिनो के अन्दर सब अपने अपने घर पहुँच गये। इसके कुछ ही दिनो बाद गवर्नर ने उक्त सेवा के लिए मेरे नाम आभार प्रदर्शन का एक विशेष पत्र भेजा।

फीनिक्स पहुँचकर मैंने ब्रह्मचर्य की बात बहुत रस-पूर्वक छगनलाल, मगनलाल, वेस्ट इत्यादि के सामने रखी। सबको बात पसन्द आयी। सबने उसकी आवश्यकता स्वीकार की। सबने यह भी अनुभव किया कि ब्रह्मचर्य का पालन बहुत ही कठिन है। कइयो ने प्रयत्न करने का साहस भी किया और मेरा ख्याल है कि कुछ को उसमें सफलता भी मिली।

मैंने व्रत ले लिया कि अबसे आगे जीवनभर ब्रह्मचर्य का पालन करुँगा। उस समय मैं इस व्रत के महत्त्व और इसकी कठिनाइयो को पूरी तरह समझ न सका था। इस की कठिनाइयों का अनुभव तो मैं आज भी करता रहता हूँ। इसके महत्त्व को मैं दिन दिन अधिकाधिक समझता जाता हूँ। ब्रह्मचर्य-रहित जीवन मुझे शुष्क और पशुओ जैसा प्रतीत होता है। स्वभाव से निरंकुश है। मनुष्य का मनुष्यत्व स्वेच्छा से अंकुश में रहने में है। धर्मग्रंथो में पायी जानेवाली ब्रह्मचर्य का प्रशंसा में पहले मुझे अतिशयोक्ति मालूम होती थी, उसके बदले अब दिन दिन यह अधिक स्पष्ट होता जाता है कि वह उचित है और अनुभव-पूर्वक लिखी गयी है।

जिस ब्रह्मचर्य के ऐसे परिणाम आ सकते है, वह सरल नही हो सकता, वह केवल शारीरिक भी नही हो सकता। शारीरिक अंकुश से ब्रह्मचर्य का आरंभ होता है। परन्तु शुद्ध ब्रह्मचर्य में विचार की मलिनता भी न होनी चाहिए। संपूर्ण ब्रह्मचारी को तो स्वप्न में भी विकारी

विचारी नही आते । और, जब तक विकारयुक्त स्वप्न आते रहते है, तब तक यह समझना चाहिए कि ब्रह्मचर्य बहुत अपूर्ण है ।

मुझे कायिक ब्रह्मचर्य के पालन में भी महान कष्ट उठाना सकता है कि मैं इसके विषय में निर्भय बना हूँ । लेकिन अपने विचारो पर मुझे जो जय प्राप्त करनी चाहिए, वह प्राप्त नही हो सकी है । मुझे नही लगता कि मेरे प्रयत्न में न्यूनता रहती है । लेकिन मैं अभी तक यह समझ नही सका हूँ कि हम जिन विचारो को नही चाहते, वे हम पर कहाँ से और किस प्रकार हमला करते है । मुझे इस विषय में सन्देह नही है कि मनुष्य के पास विचारो को रोकने की चाबी है । लेकिन अभी तो मैं इस निर्यण पर पहुँचा हूँ कि यह चाबी भी हरएक को अपने लिए शुद खोज लेनी है । महापुरूष हमारे लिए जो अनुभव छोड़ गये है, वे मार्ग-दर्शक है । वे सम्पूर्ण नही है । सम्पूर्णता तो केवल प्रभु-प्रसादी है । और इसी हेतु से भक्तजन अपनी तपश्चर्या द्वारा पुनीत किये हुए औऱ हमें पावन करने वाले रामानामादि मंत्र छोड़ गये है । संपूर्ण ईश्वरार्पण के बिना विचारो पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त हो ही नही सकती । यह वचन मैंने सब धर्मग्रंथो में पढा है और इसकी सचाई का अनुभव मैं ब्रह्मचर्य के सूक्ष्मतम पालन के अपने इस प्रयत्न के विषय में कर रहा हूँ ।

पर मेरे महान प्रयत्न और संघर्ष का थोड़ा बहुत इतिहास अगले प्रकरणो में आने ही वाला है । इस प्रकरण के अन्त में तो मैं यही कर दूँ कि अपने उत्साह के कारण मुझे आरम्भ में को व्रत का पालन सरल प्रतीत हुआ । व्रत लेते ही मैंने एक परिवर्तन कर डाला । पत्नी के साथ एक शय्या का अथवा एकान्त को मैंने त्याग किया । इस प्रकार जिस ब्रह्मचर्य का पालन मैं इच्छा या अनिच्छा से सन् 1900 से करता आ रहा था, व्रत के रूप में उसका आरम्भ 1906 के मध्य से हुआ ।

२६. सत्याग्रह की उत्पत्ति

यों एक प्रकार की जो आत्मशुद्धि मैंने की वह मानो सत्याग्रह के लिए ही हुए हो, ऐसी एक घटना जोहानिस्बर्ग में मेरे लिए तैयार हो रही थी। आज मैं देख रहा हूँ कि ब्रह्मचर्य का व्रत लेने तक की मेरे जीवन की सभी मुख्य घटनाये मुझे छिपे तौर पर उसी के लिए तैयार कर रही थी।

'सत्याग्रह' शब्द की उत्पत्ति के पहले उस वस्तु की उत्पत्ति हुई। उत्पत्ति के समय तो मैं स्वयं भी उसके स्वरूप को पहचान न सका था। सब कोई उसे गुजराती में 'पैसिव रेजिस्टेन्स' ते अंग्रेजी नाम से पहचानने लगे। जब गोरो की एक सभा में मैंने देखा कि 'पैसिव रेजिस्टेन्स' संकुचित अर्थ किया जाता है, उसे कमजोरो का ही हथियार माना जाता है, उसमें द्वेष हो सकता है और उसका अन्तिम सवरुप हिंसा में प्रकट हो सकता है, तब मुझे उसका विरोध करना पडा और हिन्दुस्तानियो को लड़ाई का सच्चा स्वरुप समझाना पड़ा। और तब हिन्दुस्तानियो के लिए अपनी लड़ाई का परिचय देने के लिए नये शब्द की योजना करना आवश्यक हो गया।

पर मुझे वैसा स्वतंत्र शब्द किसी तरह सूझ नही रहा था। अतएव उसके लिए नाममात्र का इनाम रखकर मैंने 'इंडियन ओपीयियन' के पाठको में प्रतियोगिता करवायी। इस प्रतियोगिता के परिणाम स्वरुप मगललाल गांधी ने सत् आग्रह की संधि करके 'सदाग्रह' शब्द बनाकर भेजा। इनाम उन्हे ही मिला। पर 'सदाग्रह' शब्द को अधिक स्पष्ट करने के विचार से मैंने बीच में 'य' अक्षर और बढाकर 'सत्याग्रह' शब्द बनाया और गुजराती में यह लड़ाई इस नाम से पहचानी जाने लगी।

कहा जा सकता है कि इस लड़ाई के इतिहास दक्षिण अफ्रीका के मेरे जीवन का और विशेषकर मेरे सत्य के प्रयोगो का इतिहास है। इस इतिहास का अधिकांश मैंने यरवड़ा जेल में लिख डाला था और बाकी बाहर आने के बाद पूरा किया। वह सब 'नवजीवन' में छप चुका है और बाद में 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' ('दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' का हिन्दी अनुवाद नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद द्वारा

प्रकाशित हो चुका है।) के नाम से पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हो चुका है। उसका अंग्रेजी अनुवाद श्री वालजी गोविन्द जी देसाई 'करंट थॉट' के लिए कर रहे है। पर अब मैं उसे शीध्र ही अंग्रेजी में पुस्तकाकार में प्रकाशित करने की व्यवस्था कर रहा हूँ, जिससे दक्षिण अफ्रीका के मेरे बड़े से बड़े प्रयोगो को जानने के इच्छुक सब लोग उन्हें जान समझ सके। जिन गुजराती पाठको ने 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' न पढा हो, उन्हे मेरी सलाह है कि वे उसे पढ ले। मैं चाहता हू कि अब से आगे के कुछ प्रकरणो में उक्त इतिहास में दिये गये मुख्य कथा भाग को छोड़कर दक्षिण अफ्रीका के मेरे जीवन के जो थोड़े व्यक्तिगत प्रसंग उसमें देने रह गये है उन्हीं की चर्चा करूँ। और इनके समाप्त होने पर मैं तुरन्त ही पाठको को हिन्दुस्तान के प्रयोगो का परिचय देना चाहता हूँ। अतएव जो पाठक इन प्रयोगो के प्रसंगो के क्रम को अविच्छिन्न रखना चाहते है, उनके लिए 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' के उक्त प्रकरण अब अपने सामने रखना जरूरी है।

२७. आहार के अधिक प्रयोग

मन-वचन-काया से ब्रह्मचर्य का पालन किस प्रकार हो, यह मेरी एक चिन्ता थी, और सत्याग्रह के युद्ध के लिए अधिक से अधिक समय किस तरह बच सके और अधिक शुद्धि किस प्रकार हो, यह दूसरी चिन्ता थी। इन चिन्ताओ ने मुझे आहार में अधिक सयंम और अधिक परिवर्तन के लिए प्रेरित किया और पहले जो परिवर्तन मैं मुख्यतः आरोग्य की दृष्टि से करता था, वे अब धार्मिक दृष्टि से होने लगे।

इसमें उपवास और अल्पाहार ने अधिक स्थान लिया। जिस मनुष्य में विषय-वासना रहती है, उसमें जीभ के स्वाद भी अच्छी मात्रा में होते है। मेरी भी यही स्थिति थी। जननेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय पर काबू पाने की कोशिश में मुझे अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ा है और आज भी मैं यह दावा नही कर सकता कि मैंने दोनो पर पूरी जय प्राप्त कर ली है। मैंने अपने आपको अत्याहारी माना है। मित्रो ने जिसे मेरी संयम माना हैं, उसे मैंने स्वयं कभी संयम माना ही नही। मैं जितना अंकुश रखना सीखा हूँ उतना भी यदि न रख सका होता, तो मैं पशु से भी नीचे गिर जाता और कभी का नष्ट हो जाता। कहा जा सकता है कि अपनी त्रुटियो का मुझे ठीक दर्शन होने से मैंने उन्हें दूर करने के लिए घोर प्रयत्न किये है और फलतः मैं इतने वर्षो तक इस शरीर को टिका सका हूँ और इससे कुछ काम ले सका हूँ।

मुझे इसका ज्ञान था और ऐसा संग अनायास ही प्राप्त हो गया था, इसलिए मैंने एकादशी का फलाहार अथवा उपवास शुरू किया। जन्माष्टमी आदि दूसरी तिथियाँ भी पालना शुरू किया, किन्तु संयम की दृष्टि से मैं फलाहार और अन्नाहार के बीच बहुत भेद न देख सका। जिसे हम अनाज के रूप में पहचानते है उसमें से जो रस हम प्राप्त करते है, वे रस हमें फलाहार में भी मिल जाते है, और मैंने देखा कि आदत पड़ने पर तो उसमें से अधिक रस प्राप्त होते है। अतएव इन तिथियो के दिन मैं निराहार उपवास को अथवा एकाशन को अधिक महत्त्व देने लगा। इसके सिवा, प्रायश्चित आदि का कोई निमित्त मिल जाता, तो मैं उस निमित्त से भी एक बार का उपवास कर डालता था।

इसमें से मैंने यह भी अनुभव किया कि शरीर के अधिक निर्मल होने से स्वाद बढ़ गया, भूख अधिक खुल गयी और मैंने देखा कि उपवास आदि जिस हद तक संयम के साधन है, उसी हद तक वे भोग के साधन भी बन सकते है। इस ज्ञान के बाद इसके समर्थन में इसी प्रकार के कितने ही अनुभव मुझे और दूसरो को हुए है। यद्यपि मुझे शरीर को अधिक अच्छा और कसा हुआ बनाना था, तथापि अब मुख्य हेतु तो संयम सिद्ध करना स्वाद जीतना ही था। अतएव मैं आहार की वस्तुओ में और उसके परिमाण में फेरबदल करने लगा। किन्तु रस तो पीछा पकड़े हुए थे ही। मैं जिस वस्तु को छोड़ता और उसके बदले जिसे लेता, उसमें से बिल्कुल ही नये और अधिक रसो का निर्माण हो जाता !

इन प्रयोगो में मेरे कुछ साथी भी थे। उनमें हरमान केलनबैक मुख्य थे। चूंकि उनका परिचय मैं 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' में दे चुका हूँ, इसलिए पुनः इन प्रकरणो में देने का विचार मैंने छोड़ दिया है। उन्होने मेरे प्रत्येक उफवास में, एकाशन में और दूसरे परिवर्तनो में मेरा साथ दिया था। जिन दिनो लड़ाई खूब जोर से चल रही थी, उन दिनो तो मैं उन्हीं के घर में रहता था। हम दोनों अपने परिवर्तनो की चर्चा करते और नये परिवर्तनो में से पुराने स्वादो से अधिक स्वाद ग्रहण करते थे। उस समय तो ये संवाद मीठो भी मालूम होते थे। उनमें कोई अनौचित्य नही जान पड़ता था। किन्तु अनुभव ने सिखाया कि ऐसे स्वादों आनन्द लेना भी अनुचित था। मतलब यह कि मनुष्य को स्वाद के लिए नहीं, बल्कि शरीर के निर्वाह के लिए ही खाना चाहिए। जब प्रत्येक इन्द्रिय केवल शरीर के लिए और शरीर के द्वारा आत्मा के दर्शन के लिए ही कार्य करती है, तब उसके रस शून्यवत् हो जाते है और तभी कहा जा सकता है कि वह स्वाभाविक रूप से बरसती है।

ऐसी स्वाभाविकता प्राप्त करने के लिए जितने प्रयोग किये जाये उतने कम ही है और ऐसा करते हुए अनेक शरीरो को आहुति देनी पड़े, तो उसे भी हमें तुच्छ समझना चाहिए। आज तो उटली धार बह रही है। नश्वर शरीर को सजाने के लिए, उनर बढाने के लिए हम अनेक प्राणियो की बलि देते है, फिर भी उससे शरीर और आत्मा दोनो का हनन होता है। एक रोग को मिटाने की कोशिश में, इन्द्रियो के भोग का यत्न करने में हम अनेक नये रोग उत्पन्न कर लेते है और अन्त में भोग भोगने की शक्ति भी खो बैठते है। और अपनी आँखो के सामने हो रही इस क्रिया को देखने से हम इनकार करते है।

आहार के जिन प्रयोगो का वर्णन करने में मैं कुछ समय लेना चाहता हूँ उन्हें पाठक समझ सके, इसलिए उनके उद्धेश्य की और उनके मूल में काम कर रही विचारधारा की जानकारी देना आवश्यक था।

२८. पत्नी की ढृढ़ता

कस्तूरबाई पर रोग के तीन घातक हमले हुए और तीनो वह केवल घरेलू उपचार से बच गयी। उनमें पहली घटना उस समय घटी जब सत्याग्रह का युद्ध चल रहा था। उसे बार बार रक्तस्राव हुआ करता था। एक डॉक्टर मित्र में शल्यक्रिया करा लेने की सलाह दी थी। थोडी आनाकानी के बाद पत्नी ने शल्यक्रिया कराना स्वीकार किया। उसका शरीर बहुत क्षीण हो गया था। डॉक्टर ने बिना क्लोरोफार्म के शल्यक्रिया की। शल्यक्रिया के समय बहुत पीड़ा हो रही थी, पर जिस धीरज से कस्तूरबाई ने उसे सहन किया उससे मैं आश्चर्यचकित हो गया। शल्यक्रिया निर्विध्न पूरी हो गयी। डॉक्टर ने और उसकी पत्नी ने कस्तूरबाई की अच्छी सार-संभल की।

यह घटना डरबन में हुई थी। दो-तीन दिन के बाद डॉक्टर ने मुझे निश्चिन्त होकर जोहानिस्बर्ग जाने की अनुमति दे दी। मैं चला गया। कुछ ही दिन बाद खबर मिली कि कस्तूरबाई का शरीर बिल्कुल सुधर नही रहा है और वह बिछौना छोड़कर उठ-बैठ भी नही सकती। एक बार बेहोश भी हो चुकी थी। डॉक्टर जानते थे कि मुझ से पूछे बिना औषधि या अन्न के रूप ने कस्तूरबाई को शराब अथवा माँस नही दिया जा सकता। डॉक्टर ने मुझे जोहानिस्बर्ग में टेलिफोन किया, 'मैं आपकी पत्नी को माँस का शोरवा अथवा बीफ-टी देने की जरूरत समझता हूँ। मुझे इजाजत मिलनी चाहिए।'

मैंने उत्तर दिया, 'मैं इजाजत नही दे सकता। किन्तु कस्तूरबाई स्वतंत्र है। उससे पूछने जैसी स्थिति हो ते पूछिये और वह लेना चाहे तो जरूर दीजिये।'

'ऐसे मामलो में मैं बीमार से कुछ पूछना पसंद नही करता। स्वय आपको यहाँ आना जरूरी है। यदि आप मैं जो चाहूँ सो खिलाने की छूट मुझे न दे, तो मैं आपकी स्त्री के लिए जिम्मेदार नही।'

मैंने उसी दिन डरबन की ट्रेन पकड़ी। डरबन पहुँचा। डॉक्टर ने मुझे से कहा, ' मैंने तो शोरवा पिलाने के बाद ही आपको टेलीफोन किया था !'

मैंने कहा, 'डॉक्टर, मैं इसे दगा समझता हूँ।'

डॉक्टर ने दढता पूर्वक उत्तर दिया, 'दवा करते समय मैं दगा-वगा नही समझता। हम डॉक्टर लोग ऐसे समय रोगी को अथवा उसके सम्बन्धियो को धोखा देने में पुण्य समझते है। हमारा धर्म तो किसी भी तरह रोगी को बचाना है।'

मुझे बहुत दुःख हुआ। पर मैं शान्त रहा। डॉक्टर मित्र थे, सज्जन थे। उन्होंने और उनकी पत्नि ने मुझ पर उपकार किया था। पर मैं उक्त व्यवहार सहन करने के लिए तैयार न था।

'डॉक्टर साहब, अब स्थिति स्पष्ट कर लीजिये। कहिये आप क्या करना चाहते है ? मैं अपनी पत्नी को उसकी इच्छा के बिना माँस नही खिलाने दूँगा। माँस ने लेने के कारण उसकी मृत्यु हो जाय, तो मैं उस सहने के लिए तैयार हूँ।'

'डॉक्टर बोले, आपकी फिलासफी मेरे घर में को हरजित नही चलेगी। मैं आपसे कहता हूँ कि जब तक अपनी पत्नी को आप मेरे घर में रहने देंगे, तब तक मैं उसे अवश्य ही माँस अथवा जो कुछ भी उचित होगा, दूँगा। यदि यह स्वीकार न हो तो आप अपनी पत्नी को ले जाइये। मैं अपने ही घर में जानबूझकर उसकी मृत्यु नही होने दूँगा।'

'तो क्या आप यह कहते है कि मैं अपनी पत्नी को इसी समय ले जाऊँ ? '

'मैं कब कहता हूँ कि ले जाइये ? मैं तो यह कहता हूँ कि मुझ पर किसी प्रकार का अंकुश न रखिये। उस दशा में हम दोनो उसकी सार-सम्भाल करेंगे और आप निश्चिन्त होकर जा सकेंगे। यदि यह सीधी-स बात आप न समझ सके, तो मुझे विवश होकर कहना होगा कि आप अपनी पत्नी को मेरे घर से ले जाइये।'

मेरा ख्याल हो कि उस समय मेरा एक लड़का मेरे साथ था। मैंने उससे पूछा। उसने कहा, ' आपकी बात मुझे मंजूर है। बा को माँस तो दिया ही नही जा सकता।'

फिर मैं कस्तूरबाई के पास गया। वह बहुत अशक्त थी। उससे कुछ भी पूछना मेरे लिए दुःखदायी था, किन्तु धर्म समझकर मैंने उसे थोड़े में ऊपर की बात कह सुनायी। उसने

दढता-पूर्वक उत्तर दिया, 'मैं माँस का शोरवा नही लूँगी । मनुष्य को देह बार-बार नही मिलती । चाहे आपकी गोद में मैं मर जाऊँ, पर अपनी इस देह को भ्रष्ट तो नही होने दूँगी ।'

जितना मैं समझा सकता था, मैंने समझाया और कहा, 'तुम मेरे विचारों का अनुसरण करने के लिए बँधी हुई नही हो ।'

हमारी जान-पहचान के कई हिन्दू दवा के लिए माँस और मध लेते थे, इसकी भी मैंने बात की । पर वह टस-से-मस न हुई और बोली, 'मुझे यहाँ से ले चलिये ।'

मैं बहुत प्रसन्न हुआ । ले जाने के विचार से घबरा गया । पर मैंने निश्चय कर लिया । डॉक्टर को पत्नी का निश्चय सुना दिया । डॉक्टर गुस्सा हुए और बोले, 'आप तो बड़े निर्दय पति मालूम पड़ते है । ऐसी बीमारी में उस बेचारी से इस तरह की बाते करने में आपको शरम भी नही आयी ? मैं आपसे कहता हूँ कि आपकी स्त्री यहाँ से ले जाने लायक नही है । उसका शरीर इस योग्य नही है कि वह थोडा भी धक्का सहन करे । रास्ते में ही उसकी जान निकल जाय, तो मुझे आश्चर्य न होगा । फिर भी आप अपने हठ के कारण बिल्कुल न माने, तो आप ले जाने के लिए स्वतंत्र है । यदि मैं उसे शोरवा न दे सकूँ तो अपने घर में एक रात रखने का भी खतरा मैं नहीं उठा सकता ।'

रिमझिम-रिमझिम मेह बरस रहा था । स्टेशन दूर था । डगबन से फीनिक्स तक रेल का और फीनिक्स से लगभग मील का पैदल रास्ता था । खतरा काफी था, पर मैंने माना कि भगवान मदद करेगा । एक आदमी को पहले से फीनिक्स भेज दिया । फीनिक्स में हमारे पास 'हैमक' था । जालीदार कपड़े की झोली या पालने को हैमक कहते है । उसके सिरे बाँस से बाँध दिये जाये, तो बीमार उसमें आराम से झूलता रह सकता है । मैंने वेस्ट को खबर भेजी कि वे हैमक, एक बोतल गरम दूध, एक बोतल गरम पानी और छह आदमियो को साथ लेकर स्टेशन पर आ जाये ।

दूसरी ट्रेन के छूटने का समय होने पर मैंने रिक्शा मँगवाया और उसमें, इस खतरनाक हालत में, पत्नी को बैठाकर म रवाना हो गया ।

मुझे पत्नी की हिम्मत नही बँधानी पड़ी, उलटे उसी ने मुझे हिम्मत बँधाते हुए कहा, 'मुझे कुछ नही होगा, आप चिन्ता न कीजिये ।'

हड्डियों के इस ढाँचे में वजन तो कुछ रह ही नही गया था। खाया बिल्कुल नही जाता था। ट्रेन के डिब्बे तक पहुँचाने में स्टेशन के लंबे-चौड़े प्लेटफार्म पर दूर तक चल कर जाना पड़ता था। वहां तक रिक्शा नही जा सकता था। मैं उसे उठाकर डिब्बे तक ले गया। फीनिक्स पहुँचने पर तो वह झोली आ गयी थी। उसमें बीमार को आराम से ले गये। वहाँ केवल पानी के उपचार से धीरे-धीरे कस्तूरबाई का शरीर पुष्ट होने लगा।

फीनिक्स पहुँचने के बाद दो-तीन दिन के अन्दर एक स्वामी पधारे हमारे 'हठ' की बात सुनकर उनके मन में दया उपजी और वे हम दोनो को समझाने आये। जैसा कि मुझे याद है, स्वामी के आगमन के समय मणिलाल और रामदास भी वहाँ मौजूद थे। स्वामीजी ने माँसाहार की निर्दोषता पर व्याख्यान देना शुरू किया। मनुस्मृति के श्लोको का प्रमाण दिया। पत्नी के सामने इस तरह की चर्चा मुझे अच्छी नही लगी। पर शिष्टता के विचार से मैंने उसे चलने दिया। माँसाहार के समर्थन में मुझे मनुस्मृति के प्रमाण की आवश्यकता नही थी। मैं उसके श्लोको को जानता था। मैं जानता था कि उन्हें प्रक्षिप्त माननेवाला भी एक पक्ष है। पर वे प्रक्षिप्त न होते तो भी अन्नाहार के विषय में मेरे विचार तो स्वतंत्र रीति से पक्के हो चुके थे। कस्तूरबाई की श्रद्धा काम कर रही थी। वह बेचारी शास्त्र के प्रमाण को क्या जाने ? उसके लिए तो बाप-दादा की रूढि ही धर्म थी। लड़को को अपने पिता के धर्म पर विश्वास था। इसलिए वे स्वामीजी से मजाक कर रहे थे। अन्त में कस्तूरबाई ने इस संवाद को यह कहकर बन्द किया, 'स्वामीजी, आप कुछ भी क्यों न कहे, पर मुझे माँस का शोरवा खाकर स्वस्थ नही होना है। अब आप मेरा सिर न पचाये, तो आपका मुझ पर बड़ा उपकार होगा। बाकी बाते आपको लड़को के पिताजी से करनी हो, तो कर लीजियेगा। मैंने अपना निश्चय आपको बतला दिया। '

२९. घर में सत्याग्रह

मुझे जेल का पहला अनुभव सन् 1908 में हुआ । उस समय मैंने देखा कि जेल में कैदियो से जो कुछ नियम पलवाये जाते है, संयमी अथवा ब्रह्मचारी को उनका पालन स्वेच्छापूर्वक करना चाहिए । जैसे, कैदियो को सूर्यास्त से पहले पाँच बजे तक खा लेता होता है । उन्हें हिन्दुस्तानी और हब्शी कैदियो को चाय या कॉफी नही दी जाती । नमक खाना हो तो अलग से लेगा होता है । स्वाद के लिए तो कुछ खाया ही नही जा सकता ।

(जेल के मेरे अनुभव भी पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके है । मूलतः वे गुजराती में लिखे गये थे और वे ही अंग्रेजी में प्रकाशित हुए है । जहाँ तक मैं जानता हूँ, दोनो पुस्तके मिल सकती है । मोहनदास कर्मचन्द गांधी)

जब मैंने जेल के डॉक्टर से हिन्दुस्तानियो के लिए 'करी पाउडर' माँगा और नमक बनती हुई रसोई में ही डालने की बात कही, तो वे बोले, 'यहाँ आप लोग स्वाद का आनन्द लूटने के लिए नही आये है । आरोग्य की दृष्टि से करी पाउडर की कोई आवश्यकता नही है । आरोग्य के विचार से नमक ऊपर से ले या पकाते समय रसोई में डाले, दोनो एक ही बात है ।'

वहाँ तो बड़ी मेहनत के बाद हम आखिर जरूरी परिवर्तन करा सके थे । पर केवल संयम की दृष्टि से देखे तो दोनो प्रतिबंध अच्छे ही थे । ऐसा प्रतिबन्ध जब जबरदस्ती लगाया जाता है तो वह सफल नही होता । पर स्वेच्छा से पालन करने पर ऐसा प्रतिबन्ध बहुत उपयोगी सिद्ध होता है । अतएव जेल से छूटने के बाद मैंने ये परिवर्तन भोजन में तुरन्त किये । भरचक चाय पीना बन्द किया और शाम को जल्दी खाने की आदत डाली, जो आज स्वाभाविक हो गयी है ।

किन्तु एक ऐसी घटना घटी, जिसके कारण मैंने नमक का त्याग किया, जो लगभग दस वर्ष तक अखंड रूप से कायम रहा । अन्नाहार सम्बन्धी कुछ पुस्तक में मैंने पढा था कि मनुष्य के लिए नमक खाना आवश्यक नही है और न खानेवाले को आरोग्य की दृष्टि से लाभ ही होता है । यह तो मुझे सूझा ही थी कि नमक न खाने से ब्रह्मचारी को लाभ होता है । मैंने यह

भी पढा और अनुभव किया था कि कमजोर शरीरवाले को दान न खानी चाहिए। किन्तु मैं उन्हें तुरन्त छोड़ न सका था। दोनो चीजे मुझे प्रिय थी।

यद्यपि उक्त शल्यक्रिया के बाद कस्तूरबाई का रक्तस्राव थोड़े समय के लिए बन्द हो गया था, पर अब वह फिर से शुरू हो गया और किसी प्रकार बन्द ही न होता था। अकेले पानी के उपचार व्यर्थ सिद्ध हुए। यद्यपि पत्नी को मेंरे उपचारो पर विशेष श्रद्धा नही थी, तथापि उनके लिए तिरस्कार भी नही था। दूसरी दवा करने का आग्रह न था। मैंने उसे नमक और दाल छोड़ने के लिए मनाना शुरू किया। बहुत मनाने पर भी, अपने कथन के समर्थन के कुछ-न-कुछ पढ़कर सुनाने पर भी, वह मानी नही। आखिर उसने कहा, 'दाल और नमक छोड़ने को तो कोई आपसे कहे, तो आप भी न छोड़ेगे।'

मुझे दुःख हुआ और हर्ष भी हुआ। मुझे अपना प्रेम उंड़लने का अवसर मिला। उसके हर्ष में मैंने तुरन्त ही कहा, 'तुम्हारा यह ख्याल गलत है। मुझे बीमारी हो और वैद्य इस चीज को या दूसरी किसी चीज को छोड़ने के लिए कहे, तो मैं अवश्य छोड़ दूँ। लेकिन जाओ, मैंने एक साल के लिए दाल और नमक दोनो छोड़े। तुम छोड़ो या न छोड़ो, यह अलग बात है।'

पत्नी को बहुत पश्चाताप हुआ। वह कह उठी, 'मुझे माफ कीजिये। आपका स्वभाव जानते हुए भी मैं कहते कह गयी। अब मैं दाल औऱ नमक नही खाऊँगी, लेकिन आप अपनी बात लौटा ले। यह तो मेंरे लिए बहुत बड़ी सजा है जाएगी।'

मैंने कहा, 'अगर तुम दाल और नमक छोड़ोगी, तो अच्छा ही होगा। मुझे विश्वास है कि उससे तुम्हे लाभ होगा। पर मैं ली हुई प्रतिज्ञा वापस नही ले सकूँगा। मुझे तो इससे लाभ ही होगा। मनुष्य किसी भी निमित्त से संयम क्या न पाले, उससे उसे लाभ ही है। अतएव तुम मुझ से आग्रह न करो। फिर मेरे लिए भी यह एक परीक्षा हो जाएगी और इन दो पदार्थो को छोड़ने का जो निश्चय तुमने किया है, उस पर ढृढ रहने में तुम्हें मदद मिलेगी। ' इसके बाद मुझे उसे मनाने के जरुरत तो रही ही नही। 'आप बहुत हठीले है। किसी की बात मानते ही नही। ' कहकर और अंजलि-भर आँसू बहाकर वह शान्त हो गयी।

मैं इसे सत्याग्रह का नाम देना चाहता हूँ और इसको अपने जीवन की मधुर स्मृतियो में से एक मानता हूँ।

इसके बाद कस्तूरबाई की तबीयत खूब संभली । इसमें नमक और दाल का त्याग कारणरूप था या वह किस हद कारणरूप था अथवा उस त्याग से उत्पन्न आहार-सम्बन्धी अन्य छोटे-बडे परिवर्तन कारणभूत थे, या इसके बाद दूसरे नियमो का पालन कराने में मेरी पहरेदारी निमित्तरूप थी, अथवा उपर्युक्त प्रंसग से उत्पन्न मानसिक उल्लास निमित्तरूप था सो मैं कह नही सकता । पर कस्तूरबाई का क्षीण शरीर फिर पनपने लगा, रक्तस्राव बन्द हुआ और 'बैद्यराज' के रूप में मेरी साख कुछ बढ़ी ।

स्वयं मुझ पर तो इन दोनो के त्याग का प्रभाव अच्छा ही पड़ा । त्याग के बाद नमक अथवा दाल की इच्छा तक न रही । एक साल का समय तो तेजी से बीत गया । मैं इन्द्रियो की शान्ति अधिक अनुभव करने लगा और मन संयम को बढ़ाने की तरफ अधिक दौड़ने लगा । कहना होगा कि वर्ष की समाप्ति के बाद भी दाल और नमक का मेरा त्याग ठेठ देश लौटने तक चालू रहा । केवल एक बार सन् 1914 में विलायत में नमक और दाल खायी थी । पर इसकी बात और देश वापस आने पर ये दोनो चीजे फिर किस तरह लेनी शुरू की इसकी कहानी आगे कहूँगा ।

नमक और दाल छुड़ाने के प्रयोग मैंने दूसरे साथियो पर भी काफी किये है और दक्षिण अफ्रीका में तो उसके परिणाम अच्छे ही आये है । वैद्यक दृष्टि से दोनो चीजो के त्याग के विषय में दो मत हो सकते है, पर इसमें मुझे कोई शंका ही नही कि संयम की दृष्टि से तो इन दोनो चीजो के त्याग में लाभ ही है । भोगी और संयमी के आहार भिन्न होने चाहिए । ब्रह्मचर्य का पालन करने की इच्छा रखनेवाले लोग भोगी का जीवन बिताकर ब्रह्मचर्य को कठिन और कभी-कभी लगभग असंभव बना डालते है ।

३०. संयम को ओर

मैं पिछले प्रकरण में लिख चुका हूँ कि आहार-सम्बन्धी कुछ परिवर्तन कस्तूरबाई की बीमारी के निमित्त हुए थे। पर अब तो दिन-प्रतिदिन ब्रह्मचर्य की दृष्टि से आहार में परिवर्तन होने लगे।

इनमें पहला परिवर्तन दूध छोड़ने का हुआ। मुझे पहले रायचन्दभाई से मालूम हुआ था कि दूध इन्द्रिय विकार पैदा करने वाली वस्तु है। अन्नाहार विषयक अंग्रेजी पुस्तको के वाचन से इस विचार में वृद्धि हुई। लेकिन जब तक मैं दूध छोड़ने का कोई खास इरादा नही कर सका था। यह चीज तो मैं बहुत पहले से समझने लगा था कि शरीर के निर्वाह के लिए दूध आवश्यक नही है। लेकिन यह झट छूटने वाली चीज न थी। मैं यह अधिकाधिक समझने लगा था कि इन्द्रिय दमन के लिए दूध छोड़ना चाहिए। इन्हीं दिनो मेरे पास कलकत्ते से कुछ साहित्य आया, जिसमें गाय-भैंस पर ग्वालों द्वारा किये जाने वाले क्रूर अत्याचारो की कथा थी। इस साहित्य का मुझ पर चमत्कारी प्रभाव पड़ा। मैंने इस सम्बनध में मि. केलनबैक से चर्चा की।

यद्यपि मि. केलनबैक का परिचय मैं सत्याग्रह के इतिहास में दे चुका हूँ तो भी यहाँ दो शब्द अधिक कहने की आवश्यकता है। उनसे मेरी भेट अनायास ही हुई थी। वे मि. खान के मित्र थे। मि. खान ने उनके अन्तर की गहराई में वैराग्य-वृत्ति का दर्शन किया था और मेरा ख्याल है कि इसी कारण उन्होने मेरी पहचान उनसे करायी थी। जिस समय पहचान हुई उस समय उनके तरह-तरह के शौको से और खर्चीलेपन से मैं चौंक उठा था। पर पहले ही परिचय में उन्होने मुझ से धर्म विषयक प्रश्न किये। इस चर्चा में अनायास ही बुद्ध भगवान के त्याग की बात निकली। इस प्रसंग के बाद हमारा संपर्क बढता चला गया। वह इस हद तक बढा कि उन्होने अपने मन में यह निश्चय कर लिया कि जो काम मैं करूँ वह उन्हें भी करना चाहिए। वे बिल्कुल अकेले थे। मकान किराये के अलावा हर महीने लगभग बारह सौ रुपये वे अपने आप पर खर्च कर डालते थे। आखिर इसमें से इतनी सादगी पर पहुँच गये कि एक समय उनका मासिक खर्च घटकर 120 रुपये पर जा टिका। मेरे अपनी घर-गृहस्थी को तोड़ देने के

बाद और पहली जेल यात्रा के पश्चात हम दोनो साथ रहने लगे थे । उस समय हम दोनो का जीवन अपेक्षाकृत अधिक कठोर था ।

जिन दिनो हम साथ रहते थे, उन्ही दिनो दूध सम्बन्धी उक्त चर्चा हुई थी । मि. केलनबैक ने सलाह दी, 'दूध के दोषो को चर्चा तो हम प्रायः करते ही है । तो फिर हम दूध छोड़ क्यो न दे ? उसकी आवश्यकता तो है ही नही । ' उनकी इस राय से मुझे सानन्द आश्चर्य हुआ । मैंने इस सलाह का स्वागत किया और हम दोनो ने उसी क्षण टॉल्सटॉय फार्म पर दूध का त्याग किया । यह घटना सन् 1912 में घटी ।

इतने त्याग से मुझे शान्ति न हुई । दूध छोड़ने के कुछ ही समय बाद केवल फलाहार के प्रयोग का भी हमने निश्चय किया । फलाहार में भी जो सस्ते से सस्ते फल मिले, उनसे ही अपना निर्वाह करने का हमारा निश्चय था । गरीब से गरीब आदमी जैसा जीवन बिताता है, वैसा ही जीवन बिताने की उमंग हम दोनो को थी । हमने फलाहार की सुविधा का भी खूब अनुभव किया । फलाहार में अधिकतर चूल्हा जलाने की आवश्यकता ही होती थी । बिना सिकी मूंगफली, केले, खजूर, नीबू और जैतून का तेल यह हमारा साधारण आहार बन गया।

ब्रह्मचर्य का पालन करने की इच्छा रखनेवालो को यहाँ एक चेतावनी देने की आवश्यकता है । यद्यपि मैंने ब्रह्मचर्य के साथ आहार और उपवास का निकट सम्बन्ध सूचित किया है, तो भी यह निश्चित है कि उसका मुख्य आधार मन पर है । मैला मन उपवास से शुद्ध नही होता । आहार का उस पर प्रभाव नही पड़ता । मन का मैल तो विचार से, ईश्वर के ध्यान से और आखिर ईश्वरी प्रसाद से ही छूटता है । किन्तु मन का शरीर के साथ निकट सम्बन्ध है और विकारयुक्त मन विकारयुक्त आहार की खोज में रहता है । विकारी मन अनेक प्रकार के स्वादो और भोगो की तलाश में रहता है और बाद में उन आहारो तथा भोगो का प्रभाव मन पर पड़ता है । अतएव उस हद तक आहार पर अंकुश रखने की और निराहार रहने की आवश्यकता अवश्य उत्पन्न होती है । विकारग्रस्त मन शरीर और इन्द्रियो के अधीन होकर चलता है, इस कारण भी शरीर के लिए शुद्ध और कम-से-कम विकारी आहार की मर्यादा की और प्रसंगोपात निराहार की उपवास की आवश्यकता रहती है । अतएव जो लोग यह

कहते है कि संयमी के लिए आहार की मर्यादा की अथवा उपवास की आवश्यकता नही है, वे उतने ही गलती पर है जितने आहार तथा उपवास को सर्वस्व माननेवाले। मेरा अनुभव तो मुझे यह सिखाता है कि जिसका मन संयम की ओर बढ रहा है, उसके लिए आहार की मर्यादा और उपवास बहुत मदद करनेवाले है। इसकी सहायया के बिना मन की निर्विकारता असम्भव प्रतीत होती है।

३१. उपवास

जिन दिनों मैंने दूध और अनाज को छोड़कर फलाहार का प्रयोग शुरू किया, उन्हीं दिनो संयम के हेतु से उपवास भी शुरू किये। मि. केलनबैक इसमें भी मेरे साथ हो गया। पहले मैं उपवास केवल आरोग्य की दृष्टि से करता था। एक मित्र की प्रेरणा से मैंने समझा कि देह दमन के लिए उपवास की आवश्यकता है। चूंकि मैं वैष्णव कुटुम्ब में पैदा हुआ था और चूंकि माताजी कठिन व्रतो का पालन करनेवाली थी, इसलिए देश में एकादशी आदि व्रत मैंने किये थे। किन्तु वे देखा-देखी अथवा माता-पिता को प्रसन्न करने के विचार से किये थे। ऐसे व्रतों से कई लाभ होता है, इसे न तो मैं उस समय समझा था, न मानता ही था। किन्तु उक्त मित्र को उपवास करते देखकर और अपने ब्रह्मचर्य व्रत को सहारा पहुँचाने के विचार से मैंने उनका अनुकरण करना शुरू किया और एकादशी के दिन उपवास रखने का निश्चय किया। साधारणतः लोग एकादशी के दिन दूध और फल खाकर समझते है कि उन्होंने एकादशी की है। पर फलाहारी उपवास तो अब मैं रोज ही करने लगा था। इसलिए मैंने पानी पानी की छूट रखकर पूरे उपवास शुरू किये।

उपवास के प्रयोगो के आरम्भिक दिनों में श्रावण का महीना पड़ता था। उस साल रमजान और श्रावण दोनो एकसाथ पड़े थे। गांधी कुटुम्ब में वैष्णव व्रतों के साथ शैव व्रत भी पाले जाते थे। कुटुम्ब के लोग वैष्णव देवालयो की भाँति ही शिवालयो में भी जाते थे। श्रावण महीने का प्रदोष-व्रत कुटुम्ब में कोई-न-कोई प्रतिवर्ष करता ही था। इसलिए इस श्रावण मास का व्रत मैंने रखना चाहा।

इस महत्त्वपूर्ण प्रयोग का प्रारम्भ टॉल्सटॉय आश्रम में हुआ था। वहाँ सत्याग्रही कैदियो के कुटुम्बो की देखरेख करते हुए कैलनबैक और मैं दोनो रहते थे। उनमें बालक और नौजवान भी थे। उनके लिए स्कूल चलता था। इन नौजवानो में चार-पाँच मुसलमान थे। इस्लाम के नियमों का पालन करने में मैं उनकी मदद करता था और उन्हें बढावा देता था। नमाज वगैरा की सहूलियत कर देता था। आश्रम में पारसी और ईसाई भी थे। इन सबको अपने-अपने धर्मो के अनुसार चलने के लिए प्रोत्साहित करने का आश्रम में नियम था। अतएव मुसलमान नौजवानो को मैंने रोजे रखने के लिए उत्साहित किया। मुझे तो प्रदोष-व्रत करना ही था। किन्तु मैंने हिन्दुओ, पारसियों और ईसाईयो को भी मुसलमान नौजवान का साथ देने की सलाह दी। मैंने उन्हें समझाया कि संयम के सब के साथ सहयोग करना स्तुत्य है। बहुतेरे आश्रमवासियों ने मेरी बात मान ली। हिन्दू और पारसी मुसलमान साथियो का पूरा-पूरा अनुकरण नही करते थे, करना आवश्यक भी न था। मुसलमान सूरज डूबने की राह देखते थे, जब कि दूसरे उससे पहले खा लिया करते थे, जिससे वे मुसलमानो को परोस सके और उनके लिए विशेष वस्तुएँ तैयार कर सकें। इसके सिवा, मुसलमान जो सरही (वह हलका भोजन जो रमजान के दिनो में रोजा रखने वाले मुसलमान कुछ रात रहते कर लेते है) खाते थे, उसमें दूसरो के सम्मिलित होने की आवश्यकता न थी। और मुसलमान दिन में पानी भी न पीते थे, जबकि दूसरे लोग छूट से पानी पीते थे।

इस प्रयोग का एक परिणाम यह हुआ कि उपवास और एकाशन का महत्तव सब समझने लगे। एक-दूसरे के प्रति उदारता और प्रेमभाव में वृद्धि हुई। आश्रम में अन्नाहार का नियम था। यह नियम मेरी भावना के कारण स्वीकार किया गया था, यह बात मुझे यहाँ आभारपूर्वक स्वीकार करनी चाहिए। रोजे के दिनों में मुसलमानो को माँस का त्याग कठिन प्रतीत हुआ होगा, पर नवयुवको में से किसी ने मुझे उसका पता नही चलने दिया। वे आनन्द और रस-पूर्वक अन्नाहार करते थे। हिन्दू बालक आश्रम में अशोभनीय न लगनेवाले स्वादिष्ठ भोजन भी उनके लिए तैयार करते थे।

अपने उपवास का वर्णन करते हुए यह विषयान्तर मैंने जान-बूझकर किया है, क्योकि इस मधुर प्रसंग का वर्णन मैं दूसरी जगह नही कर सकता था। और, इस विषयान्तर के साथ मैंने अपनी एक आदत की भी चर्चा कर ली है। अपने विचार में मैं जो अच्छा काम करता हूँ,

उसमें अपने साथ रहनेवालो को सम्मिलित करने का प्रयत्न मैं हमेंशा करता हूँ। उपवास औऱ एकाशन के प्रयोग नये थे, पर प्रदोष और रमजान के बहाने मैंने सबको इसमें फाँद लिया।

इस प्रकार सहज ही आश्रम में संयम का वातावरण बढ़ा। दूसरे उपवासो और एकाशनो में भी आश्रमवासी सम्मिलित होने लगे। और, मैं मानता हूँ कि इसका परिणाम शुभ निकला। सबके हृदयो पर संयम को कितना प्रभाव पड़ा, सबके विषयो को संयत करने में उपवास आदि ने कितना हाथ बँटाया, यह मैं निश्चय पूर्वक नही कह सकता। पर मेरा अनुभव यह है कि उपवास आदि से मुझ पर तो आरोग्य और विषय-नियमन की दृष्टि से बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। फिर भी मैं यह जानता हूँ कि उपवास आदि से सब पर इस तरह का प्रभाव पड़ेगा ही, ऐसा कोई अनिवार्य नियम नही है। इन्द्रय दमन के हेतु से किये गये उपवास से ही विषयो को संयम करने का परिणाम निकल सकता है। कुछ मित्रो का यह अनुभव भी है कि उपवास की समाप्ति पर विषयेच्छा औऱ स्वाद तीव्र हो जाते है। मतलब यह कि उपवास के दिनो में विषय को संयत करने और स्वाद को जीतने की सतत भावनी बनी रहने पर ही उसका शुभ परिणाम निकल सकता है। यह मानना निरा भ्रम है कि बिना किसी हेतु के और बेमन किये जानेवाले शारीरिक उपवास का स्वतंत्र परिणाम विषय-वासना को संयत करने में आयेगा। गीताजी के दूसरे अध्याय का यह श्लोक यहाँ बहुत विचारणीय है :

विषया विनिर्वते निराहारस्य देहिनः।

रसवर्जं रसोडप्पस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(उपवासी के विषय उपवास के दिनो में शान्त होते है, पर उसका रस नही जाता। रस तो ईश्वर-दर्शन से ही ईश्वर प्रसाद से ही शान्त होता है।)

तात्पर्य यह है कि संयमी के मार्ग में उपवास आदि एक साधन के रूप में है, किन्तु ये ही सब कुछ नही है। और यदि शरीर के उपवास के साथ मन का उपवास न हो तो उसकी परिणति दंभ में होती है और वह हानिकारक सिद्ध होता है।

३२. शिक्षक के रूप में

यदि पाठक यह याद रखे कि जो बात 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' में नही आ सकी है अथवा थोड़े ही अंशो में आयी है, वही इन प्रकरणों में आ रही है, तो वे इन प्रकरणो के आसपास के सम्बन्ध को समझ सकेंगे।

टॉल्सटॉय आश्रम में बालको और बालिकाओ के लिए कुछ-न-कुछ शिक्षा का प्रबन्ध करना आवश्यकता था। मेरे साथ हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई नवयुवक थे और कुछ बालिकाये भी थे। खास इस काम के लिए शिक्षक रखना असम्भव था और मुझे अनावश्यकता प्रतीत हुआ। असम्भव इसलिए कि योग्य हिन्दुस्तानी शिक्षको की कमी थी और मिलने पर भी बड़ी तनख्वाह के बिना डरबन से इक्कीस मील दूर आता कौन ? मेरे पास पैसो की विपुलता नही थी। बाहर से शिक्षक लाना मैंने अनावश्यक माना, क्योकि शिक्षा की प्रचलित पद्धति मुझे पसन्द न थी। सच्ची पद्धति क्या हो सकती है, इसका अनुभव मैं ले नही पाया था। इतना समझता था कि आदर्श स्थिति में सच्ची शिक्षा तो माँ बाप की निगरानी में ही हो सकती है। आदर्श स्थिति में बाहरी मदद कम-से-कम होनी चाहिए। सोचा यह था कि टॉल्सटॉय आश्रम एक परिवार है और मैं उसमें एक पिता की जगह हूँ, इसलिए इन नवयुवको के निमार्ण की जिम्मेदारी मुझे यथाशक्ति उठानी चाहिए।

इस कल्पना में बहुत से दोष तो थे ही। नवयुवक मेरे पास जन्म से नही रहे थे। सब अलग-अलग वातावरण में पले थे। सब एक धर्म के भी नही थे। ऐसी स्थिति में रहे हुए बालको और बालिकाओ का पिता बनकर भी मैं उनके साथ न्याय कैसे कर सकता था ?

किन्तु मैंने हृदय की शिक्षा को अर्थात् चरित्र के विकास को हमेंशा पहला स्थान दिया है। और, यह सोचकर कि उसका परिचय तो किसी भी उमर में और कितने ही प्रकार के वातावरण में पले हुए बालको और बालिकाओ को न्यूनाधिक प्रमाण में कराया जा सकता है, इन बालको और बालिकाओं के साथ मैं रात-दिन पिता की तरह रहता था। मैंने चरित को उनकी शिक्षा की बुनियाद माना था। यदि बुनियाद पक्की हो, तो अवसर आने पर दूसरी बाते बालक मदद लेकर या अपनी ताकत से खुद जान-समझ सकते है।

फिर भी मैं समझता था कि थोड़ा-बहुत अक्षर-ज्ञान तो कराना ही चाहिए, इसलिए कक्षाये शुरू की और इस कार्य में मैंने केलनबैक की और प्रागजी देसाई की सहायता ली।

शारीरिक शिक्षा की आवश्यकता को मैं समझता था। यह शिक्षा उन्हें सहज ही मिल रही था।

आश्रम में नौकर तो थे ही नही। पाखाना-सफाई से लेकर रसोई बनाने तक के सारे काम आश्रमवासियों को ही करने होते थे। वहाँ फलो के पेड़ बहुत थे। नयी फसल भी बोनी थी। मि. केलनबैक को खेती का शौक था। वे स्वयं सरकार के आदर्श बगीचो से जाकर थोड़े समय तक तालीम ले आये थे। ऐसे छोटे-बडे सबको, जो रसाई के काम में न लगे होते थे, रोज अमुक समय के लिए बगीचे में काम करना पड़ता था। इसमें बड़ा हिस्सा बालको का था। बड़े-बड़े गड्ढे खोदना, पेड़ काटना, बोझ उठाकर ले जाना आदि कामो से उनके शरीर अच्छी तरह कसे जाते थे। इसमें उन्हे आनन्द आता था। और इसलिए दूसरी कसरत या खेल-कूद की उन्हें जरूरत न रहती थी। काम करने में कुछ विद्यार्थी अथवा कभी-कभी सब विद्यार्थी नखरे करते थे, आलस्य करते थे। अकसर इन बातो की ओर से मैं आँख मीच लेता था। कभी-कभी उनसे सख्ती से काम लेता था। मैं यह भी देखता था कि जब मैं सख्ती करता था, तब उनका जी काम से ऊब जाता था। फिर भी मुझे याद नहीं पड़ता कि बालको ने सख्ती का कभी विरोध किया हो। जब-जब मैं सख्ती करता तब-तब उन्हें समझता और उन्हीं से कबूल कराता था कि काम के समय खेलने की आदत अच्छी नहीं मानी जा सकती। वे तत्काल तो समझ जाते, पर दूसरे ही क्षण भूल भी जाते। इस तरह हमारी गाड़ी चलती थी। किन्तु उनके शरीर मजबूत बनते जा रहे थे।

आश्रम में बीमारी मुश्किल से ही आती थी। कहना चाहिए कि इसमें जलवायु का और अच्छे तथा नियमित आहार का भी बडा हाथ था। शारीरिक शिक्षा के सिलसिले में ही शारीरिक धंधे की शिक्षा का भी मैं उल्लेख कर दूँ। इरादा यह था कि सबको कोई-न-कोई उपयोगी धंधा सिखाया जाय। इसके लिए मि. केलनबैक ट्रेपिस्ट मठ से चप्पल बनाना सीख आये। उनसे मैं सीखा और जो बालक इस धंधे को सीखने के लिए तैयार हुए उन्हें मैंने सिखाया। मि. केलनबैक को बढ़ई काम का थोड़ा अनुभव था और आश्रम में बढ़ई का

काम जानने वाला एक साथी था, इसलिए यह काम भी कुछ हद तक बालको को सिखाया जाता था। रसोई का काम तो लगभग सभी बालक सीख गये थे।

बालको के लिए ये सारे काम नये थे। इन कामो को सीखने की बात तो उन्होंने स्वप्न में भी सोची न होगी। हिन्दुस्तानी बालक दक्षिण अफ्रीका में जो कुछ भी शिक्षा पाते थे, वह केवल प्राथमिक अक्षर-ज्ञान की ही होती थी। टॉल्सटॉय आश्रम में शुरू से ही रिवाज डाला गया था कि जिस काम को हम शिक्षक न करें, वह बालको से न कराया जाय, और बालक जिस काम में लगे हो, उसमें उनके साथ उसी काम को करनेवाला एक शिक्षक हमेंशा रहे। इसलिए बालको ने कुछ सीखा, उमंग के साथ सीखा।

चरित्र और अक्षर-ज्ञान के विषय में आगे लिखूँगा।

३३. अक्षर-ज्ञान

पिछले प्रकरण में शारीरिक शिक्षा और उसके सिलसिले में थोड़ी दस्तकारी सिखाने का काम टॉल्सटॉय आश्रम में किस प्रकार शुरू किया गया, इस हम कुछ हद तक देख चुके है। यद्यपि यह काम मैं ऐसे ढंग से तो कर ही न सका जिससे मुझे संतोष हो, फिर भी उसमें थोड़ी-बहुत सफलता मिली थी। पर अक्षर-ज्ञान देना कठिन मालूम हुआ। मेरे पास उसके लिए आवश्यक सामग्री न थी। स्वयं मुझे जितना मैं चाहता था उतना समय न था, न मुझमें उतनी योग्यता थी। दिनभर शारीरिक काम करते-करते मैं थक जाता था और जिस समय थोड़ा आराम करने की जरूरत होती उसी समय पढ़ाई के वर्ग लेने होते थे। अतएव मैं ताजा रहने के बदले जबरदस्ती स जाग्रत रह पाता था। इसलिए दुपहर को भोजन के बाद तुरन्त ही शाला का काम शुरू होता था। इसके सिवा दूसरा कोई भी समय अनुकूल न था।

अक्षर-ज्ञान के लिए अधिक से अधिक तीन घंटे रखे गये थे। कक्षा में हिन्दी, तामिल, गुजराती और उर्दू भाषाये सिखायी जाती थी। प्रत्येक बालक को उसकी मातृभाषा के द्वारा ही शिक्षा देने का आग्रह था। अंग्रेजी भी सबको सिखायी जाती थी। इसके अतिरिक्त गुजरात के हिन्दू बालको को थोड़ा संस्कृत का और सब बालको को थोड़ा हिन्दी का परिचय कराया जाता था। इतिहास, भूगोल और अंकगणित सभी को सिखाना था। यही पाठयक्रम था। तामिल और उर्दू सिखाने का काम मेरे जिम्मे था।

तामिल का ज्ञान मैंने स्टीमरों में और जेल में प्राप्त किया था। इसमें भी पोप-कृत उत्तम 'तामिल स्वयं शिक्षक' से आगे मैं बढ़ नही सका था। उर्दू लिपि का ज्ञान भी उतना ही था जितना स्टीमर में हो पाया था। और, फारसी-अरबी के खास शब्दो का ज्ञान भी उतना ही था, जितना मुसलमान मित्रो के परिचय से प्राप्त कर सका था! संस्कृत जितनी हाईस्कूल में सीखा था उतनी ही जानता था। गुजराती का ज्ञान भी उतना ही था जितना शाला में मिला था।

इतनी पूँजी से मुझे आपना काम चलाना था और इसमें मेंरे जो सहायक थे वे मुझसे भी कम जानने वाले थे। परन्तु देशी भाषा के प्रति मेंरे प्रेम ने अपनी शिक्षण शक्ति के विषया में मेरी श्रद्धा ने, विद्यार्थियो के अज्ञान ने और उदारता ने इस काम में मेरी सहायता की।

तामिल विद्यार्थियो का जन्म दक्षिण अफ्रीका में ही हुआ था, इसलिए वे तामिल बहुत कम जानते थे। लिपि तो उन्हें बिल्कुल नही आती थी।

इसलिए मैं उन्हें लिपि तथा व्याकरण के मूल तत्व सिखात था। यह सरल काम था। विद्यार्थी जानते थे कि तामिल बातचीत में तो वे मुझे आसानी से हरा सकते थे, और जब केवल तामिल जानने वाले ही मुझसे मिलने आते, तब वे मेंरे दुभाषिये का काम करते थे। मेरी गाड़ी चली, क्योंकि मैंने विद्यार्थियो के सामने अपने अज्ञान को छिपाने का कभी प्रयत्न ही नही किया। हर बात ने जैसा मैं था, वैसा ही वे मुझे जानने लगे थे। इस कारण अक्षर-ज्ञान की भारी कमी रहते हुए भी मैं उनके प्रेम और आदर से कभी वंचित न रहा।

मुसलमान बालको को उर्दू सिखाना अपेक्षाकृत सरल था। वे लिपि जानते थे। मेरा काम उनमें वाचन की रूचि बढाने और उनके अक्षर सुधारने का ही था।

मुख्यतः आश्रम के ये सब बालक निरक्षर थे और पाठशाला में कहीं पढ़े हुए न थे। मैंने सिखाते-सिखाते देखा कि मुझे उन्हें सिखाना तो कम ही है। ज्यादा काम तो उनका आलस्य छुड़ाने का, उनमें स्वयं पढ़ने की रूचि जगाने का और उनकी पढ़ाई पर निगरानी रखने का ही था। मुझे इतने काम से संतोष रहता था। यही कारण है कि अलग-अलग उमर के और अलग अलग विषयोवाले विद्यार्थियो को एक ही कमरे में बैठाकर मैं उनसे काम ले सकता था।

पाठ्यपुस्तको की जो पुकार जब-जब सुनायी पड़ती है, उसकी आवश्यकता मुझे कभी मालूम नही हुई। मुझे याद नही पड़ता कि जो पुस्तके हमारे पास थी उनका भी बहुत उपयोग किया गया हो। हरएक बालक को बहुत सी पुस्तके दिलाने की मैंने जरूरत नही देखी। मेरा ख्याल है कि शिक्षक ही विद्यार्थियो ती पाठ्यपुस्तक है। मेंरे शिक्षको ने पुस्तको की मदद से मुझे जो सिखाया था, वह मुझे बहुत ही कम याद रहा है। पर उन्होने अपने मुँह से जो सिखाया था, उसका स्मरण आज भी बना हुआ है। बालक आँखो से जितना ग्रहण करते है,

उसकी अपेक्षा कानो से सुनी हुई बातो को वे थोड़े परिश्रम से और बहुत अधिक मात्रा में ग्रहण कर सकते है। मुझे याद नही पड़ता कि मैं बालको को एक भी पुस्तक पूरी पढ़ा पाया था।

पर अनेकानेक पुस्तको में से जितना कुछ मैं पचा पाया था, उसे मैंने अपनी भाषा में उनके सामने रखा था। मैं मानता हूँ कि वह उन्हे आज भी याद होगा। पढ़ाया हुआ याद रखने में उन्हें कष्ट होता था, जब कि मेरी कही हुई बात को वे उसी समय मुझे फिर सुना देते थे। जब मैं थकावट के कारण या अन्य किसी कारण से मन्द और नीरस न होता, तब वे मेरी बात रस-पूर्वक और ध्यान-पूर्वक सुनते थे। उनके पूछे हुए प्रश्नो का उत्तर देने में मुझे उनकी ग्रहण शक्ति का अन्दाजा हो जाता था।

३४. आत्मिक शिक्षा

विद्यार्थियों के शरीर और मन को शिक्षित करने की अपेक्षा आत्मा को शिक्षित करने में मुझे बहुत परिश्रम करना पड़ा। आत्मा के विकास के लिए मैंने धर्मग्रंथो पर कम आधार रखा था। मैं मानता था कि विद्यार्थियों को अपने अपने धर्म के मूल तत्व जानने चाहिए, अपने अपने धर्मग्रंथो का साधारण ज्ञान होना चाहिए। इसलिए मैंने यथाशक्ति इस बात की व्यवस्था की थी कि उन्हे यह ज्ञान मिल सके। किन्तु उसे मैं बुद्धि की शिक्षा का अंग मानता हूँ। आत्मा की शिक्षा एक बिल्कुल भिन्न विभाग है। इसे मैं टॉल्सटॉय आश्रम के बालको को सिखाने लगा उसके पहले ही जान चुका था। आत्मा का विकास करने का अर्थ है चरित्र का निर्माण करना, ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना। इस ज्ञान को प्राप्त करने में बालको को बहुत ज्यादा मदद की जरूरत होती है और इसके बिना दूसरा ज्ञान व्यर्थ है, हानिकारक भी हो सकता है, ऐसा मेरा विश्वास था।

मैंने सुना हैं कि लोगो में यह भ्रम फैला हुआ है कि आत्मज्ञान चौथे आश्रम में प्राप्त होता है। लेकिन जो लोग इस अमूल्य वस्तु को चौथे आश्रम तक मुलतवी रखते है, वे आत्मज्ञान प्राप्त नही करते, बल्कि बुढ़ापा और दूसरी परन्तु दयाजनक बचपन पाकर पृथ्वी पर भाररूप बनकर जीते है। इस प्रकार का सार्वत्रिक अनुभव पाया जाता है। संभव है कि सन् 1911-

12 में मैं इन विचारो को इस भाषा में न रखता, पर मुझे यह अच्छी तरह याद है कि उस समय मेरे विचार इसी प्रकार के थे।

आत्मिक शिक्षा किस प्रकार दी जाय ? मैं बालको से भजन गवाता, उन्हें नीति की पुस्तकें पढकर सुनाता, किन्तु इससे मुझे संतोष न होता था। जैसे-जैसे मैं उनके संपर्क में आता गया, मैंने यह अनुभव किया कि यह ज्ञान पुस्तको द्वारा तो दिया ही नही जा सकता। शरीर की शिक्षा जिस प्रकार शरीरिक कसरत द्वारा दी जाती है और बुद्धि को बौद्धिक कसरत द्वारा, उसी प्रकार आत्मा की शिक्षा आत्मिक कसरत द्वारा ही दी जा सकती है। आत्मा की कसरत शिक्षक के आचरण द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। अतएव युवक हाजिर हो चाहे न हो, शिक्षक तो सावधान रहना चाहिए। लंका में बैठा हुआ शिक्षक भी अपने आचरण द्वारा अपने शिष्यो की आत्मा को हिला सकता है। मैं स्वयं झूठ बोलूँ और अपने शिष्यो को सच्चा बनने का प्रयत्न करूँ, तो वह व्यर्थ ही होगा। डरपोक शिक्षक शिष्यो को वीरता नही सिखा सकता। व्यभिचारी शिक्षक शिष्यों को संयम किस प्रकार सिखायेगा ? मैंने देखा कि मुझे अपने पास रहने वाले युवको और युवतियो के सम्मुख पदार्थपाठ-सा बन कर रहना चाहिए। इस कारण मेरे शिष्य मेरे शिक्षक बने। मैं यह समझा कि मुझे अपने लिए नही, बल्कि उनके लिए अच्छा बनना और रहना चाहिए। अतएव कहा जा सकता है कि टॉल्सटॉय आश्रम का मेरा अधिकतर संयम इन युवको और युवतियों की बदौलत था।

आश्रम में एक युवक बहुत ऊधम मचाता था, झूठ बोलता था, किसी से दबता नही था और दूसरो के साथ लड़ता-झगड़ता था। एक दिन उसने बहुत ही ऊधम मचाया। मैं घबरा उठा। मैं विद्यार्थियो को कभी सजा न देता था। इस बार मुझे बहुत क्रोध हो आया। मैं उसके पास पहुँचा। समझाने पर वह किसी प्रकार समझता ही न था। उसने मुझे धोखा देने का भी प्रयत्न किया। मैंने अपने पास पड़ा हुआ रूल उठा कर उसकी बाँह पर दे मारा। मारते समय मैं काँप रहा था। इसे उसने देख लिया होगा। मेरी ओर से ऐसा अनुभव किसी विद्यार्थी को इससे पहले नही हुआ था। विद्यार्थी रो पड़ा। उसने मुझसे माफी माँगी। उसे डंड़ा लगा और चोट पहुँची, इससे वह नही रोया। अगर वह मेरा मुकाबला करना चाहता, तो मुझ से निबट लेने की शक्ति उसमें थी। उसकी उमर कोई सतरह साल की रही होगी। उसकी शरीर सुगठित था। पर मेरे रूल में उसे मेरे दुःख का दर्शन हो गया। इस घटना के बाद उसने फिर

कभी मेरी सामना नही किया। लेकिन उसे रूल मारने का पछतावा मेरे दिल में आज तर बना हुआ है। मुझे भय है कि मारकर मैंने अपनी आत्मा का नही, बल्कि अपनी पशुता का ही दर्शन कराया था।

बालको को मारपीट कर पढाने का मैं हमेंशा विरोधी रहा हूँ। मुझे ऐसी एक ही घटना याद है कि जब मैंने अपने लड़को में से एक को पीटा था। रूल से पीटने में मैंने उचित कार्य किया या नही, इसका निर्णय मैं आज तक कर नही सका हूँ। इस दंड के औचित्य के विषय में मुझे शंका है, क्योकि इसमें क्रोध भरा था और दंड देने की भावना था। यदि उसमें केवल मेरे दुःख का ही प्रदर्शन होता, तो मैं उस दंड को उचित समझता। पर उसमें विद्यमान भावना मिश्र थी। इस घटना के बाद तो मैं विद्यार्थियो को सुधारने की अच्छी रीति सीखा। यदि इस कला का उपयोग मैंने उक्त अवसर पर किया होता, तो उसका कैसा परिणाम होतो यह मैं कर नही सकता। वह युवक तो इस घटना को तुरन्त भूल गया। मैं यह नही कर सकता कि उसमें बहुत सुधार हो गया, पर इस घटना ने मुझे इस बात को अधिक सोचने के लिए विवश किया कि विद्यार्थी के प्रति शिक्षक को धर्म क्या है। उसके बाद युवको द्वारा ऐसे ही दोष हुए, लेकिन मैंने फिर कभी दंडनीति का उपयोग नही किया। इस प्रकार आत्मिक ज्ञान देने के प्रयत्न में मैं स्वयं आत्मा के गुण अधिक समझने लगा।

३५. भले-बुरे का मिश्रण

टॉल्सटॉय आश्रम में मि. केलनबैक ने मेरे सामने एक प्रश्न खड़ा किया। उनके उठाने से पहले मैंने उस प्रश्न पर विचार नही किया था।

आश्रम के कुछ लड़के ऊधमी और दुष्ट स्वभाव के थे। कुछ आवारा थे। उन्ही के साथ मेरे तीन लड़के थे। उस समय पले हुए दूसरे भी बालक थे। लेकिन मि. केलनबैक का ध्यान तो इस ओर ही था कि वे आवारा युवक औऱ मेरे लड़के एकसाथ कैसे रह सकते थे। एक दिन वे बोल उठे, 'आपका यह तरीका मुझे जरा भी नही जँचता। इन लड़को के साथ आप अपने लड़को को रखे, तो उसका एक ही परिणाम आ सकाता है। उन्हें इन आवारा लड़को की छूत लगेगी। इससे वे बिगड़ेगे नही तो और क्या होगा? '

मुझे इस समय तो याद नही है कि क्षणभर सोच में पडा था या नही, पर अपना जवाब मुझे याद है। मैंने कहा था, 'अपने लड़को और इन आवारा लड़को के बीच मैं भेद कैसे कर सकता हूँ ? इस समय तो मैं दोनो के लिए समान रूप से जिम्मेदार हूँ। ये नौजवान मेरे बुलाये यहाँ आये है। यदि मैं इन्हें पैसे दे दूँ, तो आज ही ये जोहानिस्बर्ग जाकर वहाँ पहले की तरह फिर रहने लग जायेगे। यदि ये और इनके माता पिता यह मानते हो कि यहाँ आकर इन्होंने मुझ पर महेरबानी की है, तो इसमें आश्चर्य नही। यहाँ आने से इन्हें कष्ट उठाना पड़ रहा है, यह तो आप और मैं दोनो देख रहे है। पर मेरा धर्म स्पष्ट है। मुझे इन्हे यहीं रखना चाहिए। अतएव मेरे लड़के भी इनके साथ रहेंगे। इसके सिवा, क्या मैं आज से अपने लड़को को यह भेदभाव सिखाऊँ कि वे दूसरे कुछ लड़को की अपेक्षा ऊँचे है ? उनके दिमाग में इस प्रकार के विचार को ठूँसना ही उन्हें गलते रास्ते ले जाने जैसा है। आज की स्थिति में रहने से वे गढ़े जायेंगे, अपने आप सारासार की परीक्षा करने लगेंगे। हम यह क्यो न माने कि यदि मेरे लड़कों में सचमुच कोई गुण है, तो उल्टे उन्हीं की छूत उनके साथियो को लगेगी ? सो कुछ भी हो, पर मुझे तो उन्हें यहीं रखना होगा। और यदि ऐसा करने में कोई खतरा भी हो, तो उसे उठाना होगा। '

मि. केलनबैक ने सिर हिलाया।

यह नही कहा जा सकता कि इस प्रयोग का परिणाम बुरा निकला। मैं नही मानता कि उससे मेरे लड़को को कोई नुकसान हुआ। उल्टे, मैं यह देख सका कि उन्हें लाभ हुआ। उनमें बड़प्पन का कोई अंश रहा हो, तो वह पूरी तरह निकल गया। वे सबके साथ घुलना-मिलना सीखे। उनकी कसौटी हुई।

इस और ऐसे दूसरे अनुभवो पर से मेरा यह विचार बना है कि माता-पिता की उचित देखरेख हो, तो भले और बुरे लड़को के साथ रहने और पढने से भलो की कोई हानि नही होती। ऐसा कोई नियम तो है ही नही कि अपने लड़को को तिजोरी में बन्द रखने से वे शुद्ध रहते है और बाहर निकलने से भ्रष्ट हो जाते है। हाँ, यह सच है कि जहाँ अनेक प्रकार के बालक और बालिकाये एकसाथ रहती और पढती है, वहाँ माता-पिता की और शिक्षको की कसौटी होती है, उन्हें सावधान रहना पड़ता है।

३६. प्रायश्चित-रूप उपवास

प्रामाणिकता-पूर्वक बालको और बालिकाओ के पालन-पोषण और शिक्षण में कितनी कठिनाइयो आती है, इसका अनुभव दिन-दिन बढता गया। शिक्षक और अभिभावक के नाते मुझे उनके हृदय में प्रवेश करना था, उनके सुख-दुःख में हाथ बँटाना था, उनके जीवन की गुत्थियाँ सुलझानी थी और उनकी उछलती जवानी की तरंगो को सीधे मार्ग पर ले जाना था।

कुछ जेलवासियों के रिहा होने पर टॉल्सटॉय आश्रम में थोड़े ही लोग रह गये। इनमें मुख्यतः फीनिक्सवासी थे। इसलिए मैं आश्रम को फीनिक्स ले गया। फीनिक्स में मेरी कड़ी परीक्षा हुई। टॉल्सटॉय आश्रम में बचे हुए आश्रमवासियो को फीनिक्स छोड़कर मैं जोहानिस्बर्ग गया। वहाँ कुछ ही दिन रहा था कि मेरे पास दो व्यक्तियो के भयंकर पतन के समाचार पहुँचे। सत्याग्रह की महान लड़ाई में कहीँ भी निष्फलता-जैसी दिखायी पड़ती, तो उससे मुझे कोई आघात न पहुँचता था। पर इस घटना में मुझ पर वज्र-सा प्रहार किया। मैं तिलमिला उठा। मैंने उसी दिन फीनिक्स की गाड़ी पकड़ी। मि. केलनबैक ने मेरे साथ चलने का आग्रह किया। वे मेरी दयाजनक स्थिति को समझ चुके थे। मुझे अकेले जाने देने की उन्होंने साफ मनाही कर दी। पतन के समाचार मुझे उन्ही के द्वारा मिले थे।

रास्ते में मैंने अपना धर्म समझ लिया, अथवा यो कहिये कि समझ लिया ऐसा मानकर मैंने अनुभव किया कि अपनी निगरानी में रहने वालो के पतन के लिए अभिभावक अथवा शिक्षक न्यूनाधिक अंश में जरूर जिम्मेदार है। इस घटना में मुझे अपनी जिम्मेदारी स्पष्ट जान पड़ी। मेरी पत्नी ने मुझे सावधान तो कर ही दिया था, किन्तु स्वभाव से विश्वासी होने के कारण मैंने पत्नी की चेतावनी पर ध्यान नही दिया था। साथ ही, मुझे यह भी लगा कि इस पतन के लिए मैं प्रायश्चित करूँगा तो ही ये पतित मेरा दुःख समझ सकेंगे और उससे उन्हे अपने दोष का भान होगा तथा उसकी गंभीरता का कुछ अंदाज बैठेगा। अतएव मैंने सात दिन के उपवास और साढे चार महीने के एकाशन का व्रत लिया। मि. केलनबैक ने मुझे रोकने का प्रयत्न किया, पर वह निष्फल रहा। आखिर उन्होने प्रायश्चित के औचित्य को

माना और खुद ने भी मेरे साथ व्रत रखने का आग्रह किया। मैं उनके निर्मल प्रेम को रोक न सका। इस निश्चय के बाद मैं तुरन्त ही हलका हो गया, शान्त हुआ, दोषियो के प्रति मेरे मन में क्रोध न रहा, उनके लिए मन में दया ही रही।

यों ट्रेन में ही मन को हलका करके मैं फीनिक्स पहुँचा। पूछताछ करके जो अधिक जानकारी लेनी थी सो ले ली। यद्यपि मेरे उपवास से सबको कष्ट हुआ, लेकिन उसके कारण वातावरण शुद्ध बना। सबको पाप करने की भयंकरता का बोध हुआ तथा विद्यार्थियों तथा विद्यार्थिनियों के और मेरे बीच सम्बन्ध अधिक दढ और सरल बन गया।

इस घटना के फलस्वरूप ही कुछ समय बाद मुझे चौदह उपवास करने का अवसर मिला था। मेरा यह विश्वास है कि उसका परिणाम अपेक्षा से अधिक अच्छा निकला था।

इस घटना पर से मैं यह सिद्ध नही करना चाहता कि शिष्यो के प्रत्येक दोष के लिए शिक्षको को सदा उपवासादि करने ही चाहिए। पर मैं जानता हूँ कि कुछ परिस्थितियो में इस प्रकार के प्रायश्चित-रूप उपवास की गुंजाइश जरूर है। किन्तु उसके लिए विवेक और अधिकार चाहिए। जहाँ शिक्षक और शिष्य के बीच शुद्ध प्रेम-बन्धन नही है, जहाँ शिक्षक को अपने शिष्य के दोष से सच्चा आघात नहीं पहुँचता, जहां शिष्यो के मन में शिक्षक के प्रति आदर नही है, वहाँ उपवास निरर्थक है और कदाचित हानिकारक भी हो सकता है। ऐसे उपवास या एकाशन के विषय में शंका चाहे परन्तु इस विषय में मुझे लेशमात्र भी शंका नही कि शिक्षक शिष्य के हो, दोषो के लिए कुछ अंश में जरूर जिम्मेदार है।

सात उपवास और एकाशन हम दोनो में से किसी के लिए कष्टकर नहीं हुए। इस बीच मेरा कोई भी काम बन्द या मन्द नही रहा। इस समय में मैं केवल फलाहारी ही रहा था। चौदह उपवासों का अन्तिम भाग मुझे काफी कष्टकर प्रतीत हुआ था। उस समय मैं रामनाम के चमत्कार को पूरी तरह समझा न था। इस कारण दुःख सहन करने की शक्ति मुझमें कम थी। उपवास के दिनो में कैसा भी प्रयत्न करके पानी खूब पीना चाहिए, इस बाह्य कला क मुझे जानकारी न थी। इस कारण भी ये उपवास कष्टप्रद सिद्ध हुए। इसके अतिरिक्त, पहले उपवास सुख-शान्तिपूर्वक हो गये थे, अतएव चौदह दिन के उपवासो के समय मैं असावधान बन गया था। पहले उपवासो के समय मैं रोज कूने का कटिस्नान करता था।

चौदह दिनो के उपवास में दो या तीन दिन के बाद मैंने कटिस्नान बन्द कर दिया। पानी का स्वाद अच्छा नही लगता था और पानी पीने पर जी मचलाता था, इससे पानी बहुत ही कम पीता था। फलतः मेरा गला सूखने लगा, मैं क्षीण होने लगा और अंतिम दिनो में तो मैं बहुत धीमी आवाज में बोल पाता था। इतना होने पर भी लिखने का आवश्यक काम मैं अन्तिम दिन तक कर पाया था और रामायण इत्यादि अंत तक सुनता रहा था। कुछ प्रश्नो के विषय में सम्मति देने का आवश्यक कार्य भी मैं कर सकता था।

३७. गोखले से मिलने

दक्षिण अफ्रीका के बहुत से स्मरण अब मुझे छोडने पड रहे है। जब सन् 1914 में सत्याग्रह की लड़ाई समाप्त हुई, तो गोखले की इच्छानुसार मुझे इंग्लैड होते हुए हिन्दुस्तान पहुँचना था। इसलिए जुलाई महीने में कस्तूरबाई, केलनबैक और मैं तीन व्यक्ति विलायत के लिए रवाना हुए। सत्याग्रह की लड़ाई के दिनो में मैंने तीसरे दर्जे में सफर करना शुरू किया था। अतएव समुद्री यात्रा के लिए भी तीसरे दर्जे का टिकट कटाया। पर इस तीसरे दर्जे में और हमारे यहाँ के तीसरे दर्जे में बहुत अन्तर है। हमारे यहाँ सोने बैठने की जगह भी मुश्किल से मिलती है। स्वच्छता तो रह ही कैसे सकती है ? जब कि वहाँ के तीसरे दर्जे में स्थान काफी था और स्वच्छता की भी अच्छी चिन्ता रखी जाती थी। कंपनी ने हमारे लिए अधिक सुविधा भी कर दी थी। कोई हमें परेशान न करे, इस हेतु से एक पाखाने में खास ताला डालकर उसकी कुंजी हमें सौप दी गयी थी, और चूंकि हम तीनो फलाहारी थे, इसलिए स्टीमर के खजांची को आज्ञा दी गयी थी कि वह हमारे लिए सूखे और ताजे फलो का प्रबन्ध करे। साधारणतः तीसरे दर्जे के यात्रियो को फल कम ही दिये जाते है, सूखा मेवा बिल्कुल नही दिया जाता। इन सुविधाओ के कारण हमारे अठारह दिन बड़ी शांति से बीते।

इस यात्रा के कई संस्मरण काफी जानने योग्य है। मि, केलनबैक को दूरबीन का अच्छा शौक था। दो-एक कीमती दूरबीने उन्होंने अपने साथ रखी थी। इस सम्बन्ध में हमारे बीच रोज चर्चा होती थी। मैं उन्हे समझाने का प्रयत्न करता कि यह हमारे आदर्श के और जिस सादगी तक हम पहुँचना चाहते है उसके अनुकूल नही है। एक दिन इसको लेकर हमारे बीच तीखी कहा-सुनी हो गयी। हम दोनो अपने केबन की खिड़की के पास खड़े थे।

मैंने कहा, 'हमारे बीच इस प्रकार के झगड़े हो, इससे अच्छा क्या यह न होगा कि हम इस दूरबीन को समुद्र में फेंक दे और फिर इसकी चर्चा ही न करे ?'

मि. केलनबैक ने तुरन्त ही जवाब दिया, 'हाँ, इस मनहूस चीज को जरूर फेंक दो।'

मैंने कहा, 'तो मैं फेंकता हूँ।'

उन्होने उतनी ही तत्परता से उत्तर दिया, 'मैं सचमुच कहता हूँ, जरूर फेंक दो।'

मैंने दूरबीन फेंक दी। वह कोई सात पौंड की थी। लेकिन उसकी कीमत जितनी दामो में थी उससे अधिक उसके प्रति रहे मि. केलनबैक के मोह में थी। फिर भी उन्होने इस सम्बन्ध में कभी दुःख का अनुभव नही किया। उनके और मेरे बीच ऐसे कई अनुभब होते रहते थे। उनमें से एक यह मैंने बानगी के रूप में यहाँ दिया है।

हम दिनो के आपसी सम्बन्ध से हमें प्रतिदिन नया सीखने को मिलता था, क्योकि दोनो सत्य का ही अनुकरण करते चलने का प्रयत्न करते थे। सत्य का अनुकरण करने से क्रोध, स्वार्थ, द्वेष इत्यादि सहज ही मिल जाते थे, शान्त न होते तो सत्य मिलता न था। राग-द्वेषादि से भरा मनुष्य सरल चाहे हो ले, वाचिक सत्य का पालन चाहे वह कर ले, किन्तु शुद्ध सत्य तो उसे मिल ही नही सका। शुद्ध सत्य की शोध करने का अर्थ है, राग-द्वेषादि द्वंदो से सर्वथा मुक्ति प्राप्त करना।

जब हमने यात्रा शुरू की थी, तब मुझे उपवास समाप्त किये बहुत समय नही बीता था। मुझमें पूरी शक्ति नही आयी थी। स्टीमर में रोज डेक पर चलने की कसरत करके मैं काफी खाने और खाये हुए को हजम करने का प्रयत्न करता था। लेकिन इसके साथ ही मेरे पैरो की पिंडलियो में ज्यादा दर्द रहने लगा। विलायत पहुँचने के बाद भी मेरी पीड़ा कम न हुई, बल्कि बढ गयी। विलायत में डॉ. जीवराज मेहता से पहचान हुई। उन्हे अपने उपवास और पिंडलियो की पीड़ा का इतिहास सुनाने पर उन्होंने कहा, 'यदि आप कुछ दिन के लिए पूरा आराम न करेंगे, तो सदा के लिए पैरो के बेकार हो जाने का डर है।' इसी समय मुझे पता चला कि लम्बे उपवास करने वाले को खोयी हुई ताकत झट प्राप्त करने का या बहुत खाने का लोभ कभी न करना चाहिए। उपवास करने की अपेक्षा छोड़ने में अधिक सावधान रहना पड़ता है और शायद उसमें संयम भी अधिक रखना पड़ता है।

मदीरा में हमें समाचार मिले कि महायुद्ध के छिड़ने में कुछ घडियो की ही देर है। इंग्लैंड की खाडी में पहुँचते ही हमें लड़ाई छिड़ जाने के समाचार मिले और हमें रोक दिया गया। समुद्र में जगह जगह सुरंगे बिछा दी गयी थी। उनसे बचाकर हमें साउदेम्पटन पहुँचाने में एक दो

दिन की देर हो गयी । 4 अगस्त को युद्ध घोषित किया गया । 6 अगस्त को हम विलायत पहुँचे ।

३८. लड़ाई में हिस्सा

विलायत पहुँचने पर पता चला कि गोखले तो पेरिस में अटक गये है, पेरिस के साथ यातायात का सम्बन्ध टूट गया है और कहना मुश्किल है कि वे कब आँयगे । गोखले अपने स्वास्थ्य के कारण फ्रांस गये थे, परन्तु लड़ाई की वजह से वहाँ फँस गये । उनसे मिले बिना मुझे देश जाना न था और कोई कह सकता था कि वे कब आ सकेंगे ।

इस बीच क्या किया जाय ? लड़ाई के बारे में मेरा धर्म क्या है ? जेल के मेरे साथी और सत्याग्रही सोराबजी अडाजणिया विलायत में ही बारिस्टरी का अभ्यास करते थे । अच्छे-से-अच्छे सत्याग्रही के नाते सोराबजी तो बारिस्टरी की शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैड भेजा गया था । ख्याल यह था कि वहाँ से लौटने पर वे दक्षिण अफ्रीका में मेरी जगह काम करेंगे । उनका खर्च डॉ. प्राणजीवनदास मेहता देते थे । उनसे और उनके द्वारा डॉ. जीवराज मेहता इत्यादि जो लोग विलायत में पढ़ रहे थे उनसे मैंने विचार-विमर्श किया । विलायत में रहने वाले हिन्दुस्तानियो की एक सभा बुलायी और उनके सामने मैंने अपने विचार रखे । मुझे लगा कि विलायत में रहने वाले हिन्दुस्तानियो को लड़ाई में अपना हिस्सा अदा करना चाहिए । अंग्रेज विद्यार्थियो ने लड़ाई में सेवा करने का अपना निश्चय घोषित किया था । हिन्दुस्तानी इससे कम नही कर सकते थे । इन दलीलो के विरोध में इस सभा में बहुत दलीले दी गयी । यह कहा गया कि हमारी और अंग्रेजो की स्थिति के बीच हाथी-घोडे का अन्तर है । एक गुलाम है, दूसरा सरदार है । ऐसी स्थिति में सरदार के संकट में गुलाम स्वेच्छा से सरदार की सहायता किस प्रकार कर सकता है ? क्या गुलामी से छुटकारा चाहने वाले गुलाम का धर्म यह नही है कि वह सरदार के संकट का उपयोग अपनी मुक्ति के लिए करे ? पर उस समय यह दलील मेरे गले कैसे उतरती ? यद्यपि मैं दोनो की स्थिति के भेद को समझ सका था, फिर भी मुझे हमारी स्थिति बिल्कुल गुलामी की नही लगती थी । मेरा तो यह ख्याल था कि अंग्रेजो की शासन-पद्धति में जो दोष है, उससे अधिक दोष अनेक अंग्रेज

अधिकारियो में है। उस दोष को हम प्रेम से दूर कर सकते है। यदि अंग्रेजो के द्वारा और उनकी सहायता से अपनी स्थिति सुधारना चाहते है, तो उनके संकट के समय उनकी सहायता करके हमें अपनी स्थिति सुधारनी चाहिए। उनकी शासन-पद्धति दोषपूर्ण होते हुए भी मुझे उस समय उतनी असह्य नही मालूम होती थी जितनी आज मालूम होती है। किन्तु जिस प्रकार आज उस पद्धति पर से मेरा विश्वास उठ गया है और इस कारण मैं आज अंग्रेजी राज्य की मदद नही करता, उसी प्रकार जिनका विश्वास उस शासन पद्धति पर से नही, बल्कि अंग्रेज अधिकारियो पर से उठ चुका था, वे क्योकर मदद करने को तैयार होते ?

उन्हें लगा कि यही अवसर है जब जनता की माँग को दढता-पूर्वक प्रकट करना चाहिए और शासन-पद्धति में सुधार करा लेने का आग्रह रखना चाहिए। मैंने अंग्रेजो की इस आपत्ति के समय अपनी माँगे पेश करना ठीक न समझा और लड़ाई के समय अधिकारो की माँग को मुलतवी रखने के सयम में सभ्यता और दूरदृष्टि का दर्शन किया। इसलिए मैं अपनी सलाह पर दढ रहा और मैंने लोगो से कहा कि जिन्हें स्वयंसेवको की भरती में नाम लिखाने हो वे लिखावे। काफी संख्या में नाम लिखाये गये। उनमें लगभग सभी प्रान्तो और सभी धर्मो के लोगो के नाम थे। मैंने इस विषय में लार्ड क्रू को पत्र लिखा और हिन्दुस्तानियों की माँग को स्वीकार करने के लिए घायल सैनिको को सेवा की तालीम लेना आवश्यक माना जाय तो वैसी तालीम लेने की इच्छा और तैयारी प्रकट की। थोड़े विचार-विमर्श के बाद लार्ड क्रू ने हिन्दुस्तानियो की माँग स्वीकार कर ली और संकट के समय में साम्राज्य की सहायता करने की तैयारी दिखाने के लिए आभार प्रदर्शित किया।

नाम देनेवालो ने प्रसिद्ध डॉ. केंटली के अधीन घायलो की सेवा-शुश्रूशा करने की प्राथमिक तालीम का श्रीगणेश किया। छह हफ्तो का छोटा-सा शिक्षाक्रम था, पर उसमें घायलो को प्राथमिक सहायता देने की सब क्रियाएँ सिखायी जाती थी। हम लगभग 80 क्यक्ति इस विशेष वर्ग में भरती हुए। छह हफ्ते बाद परीक्षा ली गयी, जिसमें एक ही व्यक्ति नापास हुआ। जो पास हो गये उनके लिए अब सरकार की ओर से कवायद वगैरा सिखाने का प्रबन्ध किया गया। कवायद सिखाने का काम कर्नल बेकर को सौपा गया और वे इस टुकड़ी के सरदार नियुक्त किये गये।

इस समय विलायत का दृश्य देखने योग्य था । लोग घबराते नही थे, बल्कि सब लड़ाई में यथाशक्ति सहायता करने में जुट गये थे । शक्तिशाली नवयुवक तो लड़ाई की ट्रेनिंग लेने लगे । पर कमजोर, बूढे और स्त्रियाँ आदि क्या करे ? चाहने पर उनके लिए भी काम तो था ही । वे लड़ाई में घायल हुए लोगो के लिए कपड़े वगैरा सीने-कटाने में जुट गये । वहाँ स्त्रियाँ का 'लाइसियम' नामक एक क्लब है । इस क्लब की सदस्याओ ने युद्ध-विभाग के लिए आवश्यक कपड़ो में से जितन कपड़े बनाये जा सके उतने बनाने का बोझ अपने ऊपर लिया । सरोजिनी देवी उसकी सदस्या थी । उन्होने इस काम में पूरा हिस्सा लिया । मेंरे साथ उनका यह पहला परिचय था । उन्होंने मेंरे सामने ब्योते हुए कपड़ो का ढेर लगा दिया औऱ जितने सिल सके उतने सी-सिलाकर उनके हवाले कर देने को कहा । मैंने उनकी इच्छा का स्वागत किया और घायलो की सेवा के शिक्षाकाल में जितने कपड़े तैयार हो सके उतने तैयार करवा कर उन्हें दे दिये ।

३९. धर्म की समस्या

ज्यों ही खबर दक्षिण अफ्रीका पहुँची कि हममें से कुछ इकट्ठा होकर युद्ध ने काम करने के लिए अपने नाम सरकार के पास भेजे है, त्यो ही मेरे नाम वहाँ से दो तार आये। उनमें एक पोलाक का था। उसमें पूछा गया था, 'क्या आपका कार्य अहिंसा के आपके सिद्धान्त के विरुद्ध नही है ?'

ऐसे तार की मुझे कुछ आशा ता थी ही। क्योकि 'हिन्द स्वराज्य' में मैंने इस विषय की चर्चा की थी और दक्षिण अफ्रीका में मित्रो के साथ तो इसकी चर्चा निरन्तर होती ही रहती थी। युद्ध की अनीति को हम सब स्वीकार करते थे। जब मैं अपने ऊपर हमला करने वाले पर मुकदमा चलाने को तैयार न था, तो दो राज्यो के बीच छिड़ी हुई लड़ाई में, जिसके गुण-दोष का मुझे पता न था, मैं किस प्रकार सम्मिलित हो सकता था ? यद्यपि मित्र जानते थे कि मैंने बोअर-युद्ध में हाथ बँटाया था, फिर भी उन्होने ऐसा मान लिया था कि उसके बाद मेरे विचारो में परिवर्तन हुआ होगा।

असल में जिस विचारधारा के वश होकर मैं बोअर-युद्ध में सम्मिलित हुआ था, उसी का उपयोग मैंने इस बार भी किया था। मैं समझता था कि युद्ध में सम्मिलित होने का अहिंसा के साथ कोई मेल नही बैठ सकता। किन्तु कर्तव्य का बोध हमेंशा दीपक की भाँति स्पष्ट नही होता। सत्य के पुजारी को बहुत ठोकरें खानी पड़ती है।

अहिंसा व्यापक वस्तु है। हम हिंसा की होली के बीच धिरे हुए पामर प्राणी है। यह वाक्य गलत नही है कि 'जीव-जीव पर जीता है।' मनुष्य एक क्षण के लिए भी बाह्य हिंसा के बिना जी नही सकता। खाते-पीते, उठते-बैठते, सभी क्रियाओं में इच्छा-अनिच्छा से वह कुछ-न-कुछ हिंसा तो करता ही रहता है। यदि इस हिंसा से छूटने के लिए वह महाप्रयत्न करता है, उसकी भावना केवल अनुकम्पा होती है, वह सुश्म-सुश्म जंतु का भी नाश नही चाहता और यथाशक्ति उसे बचाने का प्रयत्न करता है, तो वह अहिंसा का पुजारी है। उसके कार्यो में निरन्तर संयम की वृद्धि होगी, उसमें निरन्तर करूणा बढती रहेगी। किन्तु कोई देहधारी बाह्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नही हो सकता।

फिर, अहिंसा की तह में ही अद्वैत-भावना निहित है। और, यदि प्राणीमात्र मैं अभेद है, तो एक के पाप का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है, इस कारण भी मनुष्य हिंसा से बिल्कुल अछूता नही रह सकता। समाज में रहने वाला मनुष्य समाज की हिंसा से, अनिच्छा से ही क्यो न हो, साझेदार बनता है। दो राष्टों के बीच युद्ध छिड़ने पर अहिंसा पर विश्वास रखने वाले व्यक्ति का धर्म है कि वह उस युद्ध को रोके। जो इस धर्म का पालन न कर सके, जिसमें विरोध करने की शक्ति न हो, जिसे विरोध करने का अधिकार प्राप्त न हुआ हो, वह युद्ध कार्य में सम्मिलित हो, और सम्मिलित होते हुए भी उसमें से अपने का, अपने देश को और सारे संसार को उबारने का हार्दिक प्रयत्न करे।

मुझे अंग्रेजी राज्य के द्वारा अपनी अर्थात् अपने राष्ट की स्थिति सुधारनी थी। मैं विलायत में बैठा हुआ अंग्रेजो के जंगी बेड़े से सुरक्षित था। उस बल का इस प्रकार उपयोग करके मैं उसमें विद्यमान हिंसा में सीधी तरह साझेदार बनता था। अतएव यदि आखिरकार मुझे उस राज्य के साथ व्यवहार बनाये रखना हो, उस राज्य के झंडे के नीचे रहना हो, तो या तो मुझे प्रकट रूप से युद्ध का विरोध करके उसका सत्याग्रह के शास्त्र के अनुसार उस समय तक बहिस्कार करना चाहिए, जब तक उस राज्य की युद्धनीति में परिवर्तन न हो, अथवा उसके जो कानून भंग करने योग्य हो उसका सविनय भंग करके जेल की राह पकड़नी चाहिए, अथवा उसके युद्धकार्य में सम्मिलित होकर उसका मुकाबला करने की शक्ति और अधिकार प्राप्त करना चाहिए। मुझ में ऐसी शक्ति नही थी। इसलिए मैंने माना कि मेरे पास युद्ध में सम्मिलित होने का ही मार्ग बचा था।

मैंने बन्दूकधारी में और उसकी मदद करने वाले में अहिंसा की दृष्टि से कोई भेद नही माना। जो मनुष्य लुटेरो की टोली में उनकी आवश्यक सेवा करने, उनका बोझ ढोने, लूट के समय पहरा देने तथा घायल होने पर उनकी सेवा करने में सम्मिलित होता है, लूट के संबंध में लुटेरो जितना ही जिम्मेदार है। इस तरह सोचने पर फौज में केवल घायलो की ही सार-संभाल करने के काम में लगा हुआ व्यक्ति भी युद्ध के दोषो से मुक्त नही हो सकता।

पोलाक का तार मिलने से पहले ही मैंने यह सब सोच लिया था। उनका तार मिलने पर मैंने कुछ मित्रो से उसकी चर्चा की। युद्ध में सम्मिलित होने में मैंने धर्म माना, और आज भी इस

प्रश्न पर सोचता हूँ तो मुझे उपर्युक्त विचारधारा में कोई दोष नजर नही आता । ब्रिटिश साम्राज्य के विषय में उस समय मेरे जो विचार थे, उनके अनुसार मैंने युद्धकार्य में हिस्सा लिया था। अतएव मुझे उसका पश्चाताप भी नही है।

मैं जानता हूँ कि अपने उपर्युक्त विचारो का औचित्य मैं उस समय भी सब मित्रो के सामने सिद्ध नही कर सका था । प्रश्न सूक्ष्म है । उसमें मतभेद के लिए अवकाश है । इसीलिए अहिंसा धर्म के मानने वाले और सूक्ष्म रीति से उसका पालन करने वालो के सम्मुख यथासंभव स्पष्टता से मैंने अपनी राय प्रकट की है। सत्य का आग्रही रूढि से चिपटकर ही कोई काम न करे। वह अपने विचारो पर हठ पूर्वक डटा न रहे, हमेंशा यह मान कर चले कि उनमें दोष हो सकता है और जब दोष का ज्ञान हो जाय तब भारी से भारी जोखिमो को उठाकर भी उसे स्वीकार करे और प्रायश्चित भी करे।

४०. छोटा-सा सत्याग्रह

इस प्रकार धर्म समझकर मैं युद्ध में सम्मिलित तो हुआ, पर मेरे नसीब में न सिर्फ उसमें सीधे हाथ बँटाना नही आया, बल्कि ऐसे नाजुक समय में सत्याग्रह करने की नौबत आ गयी।

मैं लिख चुका हूँ कि जब हमारे नाम मंजूर हुए और रजिस्टर में दर्ज किये गये, तो हमें पूरी कवायद सिखाने के लिए एक अधिकारी नियुक्त किया गया। हम सब का ख्याल यह था कि यह अधिकारी युद्ध की तामील देने भर के लिए हमारे मुखिया थे, बाकी सब मामलो में दल का मुखिया मैं था। मैं अपने साथियो के प्रति जिम्मेदार था और साथी मेरे प्रति, अर्थात् हमारा ख्याल यह था कि अधिकारी को सारा काम मेरे द्वारा लेना चाहिए। पर जैसे पूत के पाँव पालने में नजर आते है, वैसे ही उस अधिकारी की दृष्टि पहले ही दिन से हमें कुछ और ही मालूम हुई। साराबजी बड़े होशियार थे। उन्होने मुझे सावधान किया, 'भाई, ध्यान रखिये। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सज्जन यहां अपनी जहाँगीरी चलाना चाहते है। हमें उनके हुक्म की जरूरत नही। हम उन्हें शिक्षक मानते है। पर मैं तो देखता हूँ कि ये जो नौजवान आये है, वे मानो हम पर हुक्म चलाने आये है।' ये नौजवान ऑक्सफर्ड के विद्यार्थी थे और हमें सिखाने के लिए आये थे। बड़े अधिकारी ने उन्हें हमारे नायब-अधिकारियो के रूप में नियुक्त कर दिया था। मैं भी सोराबजी की कहीं बात को देख चुका था। मैं भी सोराबजी को सांत्वना दी और निश्चित रहने को कहा। पर सोराबजी झट मानने वाले आदमी नही थे।

उन्होने हँसते-हँसते कहा,'आप भोले है। ये लोग मीठी-मीठी बाते करके आपको ठगेंगे और फिर जब आपकी आँख खुलेगी तब आप कहेंगे चलो, सत्याग्रह करे। फिर आप हमे मुशीबत में डालेंगे। '

मैंने जवाब दिया, मेरा साथ करके सिवा मुसीबत के आपने किसी दिन और कुछ भी अनुभव किया है ? और, सत्याग्रह तो ठगे जाने को ही जन्म लेता है ? अतएव भले ही यह साहब मुझे ठगे। क्या मैंने आपसे हजारो बार यह नही कहा है कि अन्त में तो ठगने वाला ही ठगा जाता है ?'

सोराबजी खिलखिलाकर हँस पड़े, 'अच्छी बात है, तो ठगाते रहिये। किसी दिन सत्याग्रह में आप भी मरेगे और अपने पीछे हम जैसो को भी ले डूबेंगे।'

इन शब्दो का स्मरण करते हुए मुझे स्व. मिस हॉब्हाउस के वे शब्द याद आ रहे है, जो असहयोग आन्दोलन के अवसर पर उन्होंने मुझे लिखे थे, 'सत्य के लिए किसी दिन आपकी फाँसी पर चढना पड़े, तो मुझे आश्चर्य न होगा। ईश्वर आपको, सीधे ही रास्ते पर ले जाय और आपकी रक्षा करे। '

सोराबजी के साथ ऊपर की यह चर्चा तो उक्त अधिकारी के पदारूढ़ होने के बाद आरंभिक समय में हूई था। आरम्भ और अन्त के बीच का अन्तर कुछ ही दिनो का था। किन्तु इसी अर्से में मेरी पसलियो में सख्त सूजन आ गयी। चौदह दिन के उपवास के बाद मेरा शरीर ठीक तौर से संभल नही पाया था, पर कवायद में मैं पूरी तरह हिस्सा लेने लगा था और प्रायः घर से कवायद की जगह तक पैदल जाता था। यह फासला दो मील का तो जरूर था। इस कारण से आखिर मुझे खटिया का सेवन करना पड़ा।

अपनी इस स्थिति में मुझे कैम्प में जाना होता था। दूसरे लोग वहाँ रह जाते थे और मैं शाम को वापस घर लौट जाता था। यहाँ सत्याग्रह का प्रसंग खड़ा हो गया।

अधिकारी ने अपना अधिकार चलाना शुरू किय। उन्होने स्पष्ट कह दिया कि वे सब मामलो में हमारे मुखिया है। अपनी मुख्तारी के दो-चार पदार्थ-पाठ भी उन्होने हमें पास पहुँचे। वे इस जहाँगीरी को बरदाश्त करने के लिए तैयार न थे। उन्होने कहा, 'हमें सब हुक्म आपके द्वारा ही मिलने चाहिए। अभी तो हम लोग शिक्षण-शिबिर में ही है और हर मामले में बेहूदे हुक्म निकलते रहते है। उन नौजवानो में और हममें अनेक बातो में भेद बरता जा रहा है। यह सब सह्य नही है। इसकी तुरन्त सफाई होनी ही चाहिए, नही तो हमारा काम चौपट हो जायेगा। ये विद्यार्थी और दूसरे लोग, जो इस काम में सम्मिलित हुए है, एक भी बेहूदा हुक्म बरदाश्त करने के लिए तैयार नही है। आत्म-सम्मान की वृद्धि के लिए उठाये हुए काम में अपमान ही सहन करना पड़े यह नही हो सकता। '

मैं अधिकारी के पास गया। अपने पास आयी हुई सब शिकायते मैंने उन्हें एक पत्र द्वारा लिखित रूप में देने को कहा और साथ ही अपने अधिकार की बात कही। उन्होने कहा,

'शिकायत आपके द्वारा नही होनी चाहिए। शिकायत तो नायब-अधिकारियो द्वारा सीधी मेरे पास आनी चाहिए ।'

मैंने जवाब में कहा, 'मुझे अधिकार माँगने की लालसा नही है । सैनिक दृष्टि से तो मैं साधारण सिपाही कहा जाऊँगा, पर हमारी टुकड़ी के मुखिया के नाते आपको मुझे उसका प्रतिनिधि मानना चाहिए ।' मैंने अपने पास आयी हुई शिकायते भी बतायी, 'नायब-अधिकारी हमारी टुकड़ी से पूछे बिना नियुक्त किये गये है और उनके विषय में बड़ा असंतोष फैला हुआ है । अतएव वे हटा दिये जाये और टुकड़ी को अपने नायब-अधिकारी चुनने का अधिकार दिया जाये ।'

यह बात उनके गले नही उतरी । उन्होने मुझे बताया कि इन नायब-अधिकारियों को टुकड़ी चुने, यह बात ही सैनिक नियम के विरुद्ध है, और यदि वे हटा दिये जाये तो आज्ञा-पालन का नाम-निशान भी न रह जाये ग़्र

हमने सभा की । सत्याग्रह के गम्भीर परिणाम कह सुनाये । लगभग सभी ने सत्याग्रह की शपथ ली । हमारी सभा ने यह प्रस्ताव पास किया कि यदि वर्तमान नायब-अधिकारी हटाये न जाये और दल को नये अधिकारी पसन्द न करने दिये जाये, तो हमारी टुकड़ी कवायद में जाना और कैम्प में जाना बन्द कर देगी ।

मैंने अधिकारी को एक पत्र लिखकर अपना तीव्र असंतोष व्यक्त किया और बताया कि मुझे अधिकार नही भोगना है, मुझे तो सेवा करनी है और यह काम सांगोपांग पूरा करना है । मैंने उन्हें यह भी बतलाया कि बोअर-युद्ध में मैंने कोई अधिकार नही लिया था, फिर भी कर्नल गेलवे और हमारी टुकड़ी के बीच कभी किसी तकरार की नौबत नही आयी थी, और वे अधिकारी मेरी टुकड़ी की इच्छा मेरे द्वारा जानकर ही सारी बाते करते थे । अपने पत्र के साथ मैंने हमारी टुकड़ी द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव की एक नकल भेजी ।

अधिकारी पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा । उन्हे तो लगा कि हमारी टुकड़ी ने सभा करके प्रस्ताव पास किया, यही सैनिक नियम का गंभीर भंग था ।

इसके बाद मैंने भारत--मंत्री को एक पत्र लिखकर सारी वस्तुस्थिति बतायी और साथ में हमारी सभा का प्रस्ताव भेजा । भारत-मंत्री ने मुझे जवाब में सूचित किया कि दक्षिण

अफ्रीका की स्थिति भिन्न थी। यहाँ तो टुकड़ी के बडे अधिकारी को नायब-अधिकारी चुनने का हक है, फिर भी भविष्य में वह अधिकारी आपकी सिफारिशो का ध्यान रखेगी।

इसके बाद तो हमारे बीच बहुत पत्र-व्यवहार हुआ, पर वे सारे कटु अनुभव देकर मैं इस प्रकरण को बढाना नही चाहता।

पर इतना कहे बिना तो रहा ही नही जा सकता कि ये अनुभव वैसे ही थे जैसे रोज हिन्दुस्तान में होते रहते है। अधिकारी ने धमकी से, युक्ति से, हममें फूट डाली। कुछ लोग शपथ ले चुकने के बाद भी कल अथवा बल के वश हो गये। इतने में नेटली अस्पताल में अनसोची संख्या में घायल सिपाही आ पहुँचे और उनकी सेवा-शुश्रूषा के लिए हमारी समूची टुकड़ी की आवश्यकता आ पड़ी। अधिकारी जिन्हे खीच पाये थे, वे तो नेटली पहुँच गये। पर दूसरे नही गये, यह इंडिया आफिस को अच्छा न लगा। मैं तो बिछौने पर पड़ा था। पर टुकडी के लोगो से मिलता रहता था। मि. रॉबर्ट्स से मेरी अच्छी जान-पहचान हो गयी थी। वे मुझसे मिलने आये और बाकी के लोगो को भी भेजने का आग्रह किया। उनका सुझाव था कि वे अलग टुकड़ी के रूप में जाये। नेटली अस्पताल में तो टुकड़ी को वहाँ के मुखिया के अधीन रहना होगा, इसलिए उसकी मानहानि नही होगी। सरकार को उनके जाने से संतोष होगा और भारी संख्या में आये हुए घायलो की सेवा-शुश्रूषा होगी। मेरे साथियो को और मुझे यह सलाह पसन्द आयी और बचे हुए विद्यार्थी भी नेटली गये। अकेला मैं ही हाथ मलता हुआ बिछौने पर पड़ा रहा।

४१. गोखले की उदारता

विलायत में मुझे पसली की सूजन की जो शिकायत हुई थी, उसकी बात मैं कर चुका हूँ। इस बीमारी के समय गोखले विलायत आ चुके थे। उनके पास मैं और केलनबैक हमेंशा जाया करते थे। अधिकतर लड़ाई की ही चर्चा होती थी। कैलनबैक दो जर्मनी का भूगोल कंठाग्र था और उन्होने यूरोप की यात्रा भी खूब की थी। इससे वे गोखले को नकशा खींचकर लड़ाई के मुख्य स्थान बताया करते थे।

जब मैं बीमार पड़ा तो मेरी बीमारी भी चर्चा का एक विषय बन गयी। आहार के मेंरे प्रयोग तो चल ही रहे थे। उस समय का मेरा आहार मूंगफली, कच्चे और पक्के केले, नींबू, जैतून का तेल, टमाटर और अंगूर आदि का था। दूध, अनाज, दाल आदि मैं बिल्कुल न लेता था। डॉ. जीवराज मेहता मेरी सार-संभाल करते थे। उन्होने दूध और अन्न लेने का बहुत आग्रह किया। शिकायत गोखले तर पहुँची। फलाहार की मेरी दलील के बारे में उन्हें बहुत आदर न था, उनका आग्रह यह था कि आरोग्य की रक्षा के लिए डॉक्टर जो कहे सो लेना चाहिए।

गोखले को आग्रह को ठुकराना मेंरे लिए बहुत कठिन था। जब उन्होंने खूब आग्रह किया, तो मैंने विचार के लिए चौबीस घंटो का समय माँगा। केलनबैक और मैं दोनो घर आये। मार्ग में अपने धर्म विषय में मैंने चर्चा की। मेंरे प्रयोग में वे साथ थे। उन्हे प्रयोग अच्छा लगता था। पर अपनी तबीयत के लिए मैं उसे छोडूँ तो ठीक हो, ऐसी उनकी भी भावना मुझे मालूम हुई। इसलिए मुझे स्वयं ही अन्तर्नाद का पता लगाना था।

सारी रात मैंने सोच-विचार में बितायी। यदि समूचे प्रयोग को छोड़ देता, तो मेंरे किये हुए समस्त विचार मिट्टी में मिल जाते। उन विचारो में मुझे कही भी भूल नही दिखायी देती थी। प्रश्न यह था कि कहाँ तक गोखले के प्रेम के वश होना मेरा धर्म था, अथवा शरीर-रक्षा के लिए ऐसे प्रयोगो को किस हद तक छोडना ठीक था। इसलिए मैंने निश्चय किया कि इन प्रयोगो में से जो प्रयोग केवल धर्म की दृष्टि से चल रहा है, उस पर दढ रहकर दूसरे सब मामलो में डॉक्टर के कहे अनुसार चलना चाहिए।

दूध के त्याग में धर्म-भावना की स्थान मुख्य था। कलकत्ते में गाय-भैस पर होने वाली दुष्ट क्रियाएँ मेरे सामने मूर्तिमंत थी। माँस की तरह पशु का दूध भी मनुष्य का आहार नही है, यह बात भी मेरे सामने थी। इसलिए दूध के त्याग पर डटे रहने का निश्चय करके मैं सबेरे उठा। इतने निश्चय से मेरा मन बहुत हलका हो गया। गोखले का डर था, पर मुझे यह विश्वास था कि वे मेरे निश्चय का आदर करेंगे।

शाम को नेशनल लिबरल क्लब में हम उनसे मिलने गये। उन्होने तुरन्त ही प्रश्न किया, 'क्यो डॉक्टर का कहना मानने का निश्चय कर लिया न?'

मैंने धीरे से जवाब दिया, 'मैं सब कुछ करूँगा, किन्तु आप एक चीज का आग्रह न कीजिये। मैं दूध और दूध के प्रदार्थ अथवा माँसाहार नही लूँगा। उन्हें न लेने से देहपात होता हो, तो वैसा होने देने में मुझे धर्म मालूम होता है।'

गोखले ने पूछा, 'यह आपका अंतिम निर्णय है ?'

मैंने जवाब दिया, 'मेरा ख्याल है कि मैं दूसरा जवाब नही दे सकता। मैं जानता हूँ कि इससे आपको दुःख होगा, पर मुझे क्षमा कीजिये।'

गोखले में कुछ दुःख से परन्तु अत्यन्त प्रेम से कहा, 'आपका निश्चय मुझे पसन्द नही है। इसमें मैं धर्म नही देखता। पर अब मैं आग्रह नही करूँगा।' यह कहकर वे डॉ. जीवराज मेहता की ओर मुड़े और उनसे बोले, 'अब गांधी को तंग मत कीजिये। उनकी बतायी हुई मर्यादा में उन्हे जो दिया जा सके, दीजिये।'

डॉक्टर में अप्रसन्नता प्रकट की, लेकिन वे लाचार हो गये। उन्होने मुझे मूंग का पानी लेने की सलाह दी और उसमें हींग का बघार देने को कहा। मैंने इसे स्वीकार कर लिया। एक-दो दिन वह खुराक ली। उससे मेरी तकलीफ बढ़ गयी। मुझे वह मुआफिक नही आयी। अतएव मैं फिर फलाहार पर आ गया। डॉक्टर ने बाहरी उपचार तो किये ही। उससे थोडा आराम मिलता था। पर मेरी मर्यादाओ से वे बहुत परेशान थे। इस बीच लंदन का अक्तूबर-नवम्बर का कुहरा सहन न कर सकने के कारण गोखले हिन्दुस्तान जाने को रवाना हो गये।

४२. दर्द के लिए क्या किया ?

पसली का दर्द मिट नही रहा था, इससे मैं घबराया। मैं इतना जानता था कि औषधोपचार से नही, बल्कि आहार के परिवर्तन से और थोड़े से बाहरी उपचार से दर्द जाना चाहिए।

सन् 1890 में मैं डॉ. एलिन्सन से मिला था। वे अन्नाहारी थे और आहार के परिवर्तन द्वारा बीमारियों का इलाज करते थे। मैंने उन्हें बुलाया। वे आये। उन्हें शरीर दिखाया और दूध के बारे में अपनी आपत्ति की बात उनसे कही। उन्होने मुझे तुरन्त आश्वस्त किया और कहा, 'दूध की कोई आवश्यकता नही है। और मुझे तो तुम्हे कुछ दिनो बिना किसी चिकनाई के ही रखना है।' यो कहकर पहले तो मुझे सिर्फ रूखी रोटी और कच्चे साग तथा फल खाने की सलाह दी। कच्ची तरकारियो में मूली, प्याज और किसी तरह के दूसरे कंद तथा हरी तरकारियाँ और फलो में मुख्यतः नारंगी लेने को कहा। इन तरकारियों को कद्दूकश पर कसकर या चटनी की शक्ल में पीसकर खाना था। मैंने इस तरह तीन दिन तक काम चलाया। पर कच्चे साग मुझे बहुत अनुकूल नही आये। मेरा शरीर इस योग्य नही था कि इस प्रयोगो की पूरी परीक्षा कर सकूँ और न मुझ में वैसी श्रद्धा थी। इसके अतिरिक्त, उन्होने चौबीस घंटे खिड़कियाँ खुली रखने, रोज कुनकुने पानी से नहाने, दर्दवाले हिस्से पर तेल मालिश करने और पाव से लेकर आधे घंटे तक खुली हवा में घूमने की सलाह दी। यह सब मुझे अच्छा लगा। घर में फ्रांसीसी ढंग की खिड़कियाँ थी, उन्हे पूरा खोल देने पर बरसात का पानी अन्दर आता। ऊपर का रोशनदान खुलने लायक नही था। उसका पूरा शीशा तुडवाकर उससे चौबीस घंटे हवा आने का सुभीता कर लिया। फ्रांसीसी खिड़कियाँ मैं इतनी खुली रखता था कि पानी की बौछार अन्दर न आये।

यह सब करने से तबीयत कुछ सुधरी। बिल्कुल अच्छी तो हुई ही नही। कभी-कभी लेडी सिसिलिया रॉबर्ट्स मुझे देखने आती थी। उनसे अच्छी जान-पहचान थी। उनकी मुझे दूध पिलाने की प्रबल इच्छा थी। दूध मैं लेता न था। इसलिए दूध के गुणवाले पदार्थो की खोज शुरू की। उनके किसी मित्र ने उन्हें 'माल्टेड मिल्क' बताया और अनजान में कह दिया कि इसमें दूध का स्पर्श तक नही होता, यह तो रासायनिक प्रयोग से तैयार किया हुआ दूध के

गुणवाला चूर्ण है। मैं जान चुका था कि लेडी रॉबर्ट्स को मेरी धर्म भावना के प्रति बड़ा आदर था। अतएव मैंने उस चूर्ण को पानी में मिलाकर पिया। मुझे उसमें दूध के समान ही स्वाद आया। मैंने 'पानी पीकर घर पूछने' जैसा काम किया। बोतल पर लगे परचे को पढने से पता चला कि यह तो दूध का ही पदार्थ है। अतएव एक ही बार पीने के बाद उसे छोड देना पड़ा। लेडी रॉबर्टस को खबर भेजी और लिखा कि वे तनिक भी चिन्ता न करे। वे तुरन्त मेरे घर आयी। उन्होने खेद प्रकट किया। उनके मित्र में बोतल पर चिपका कागज पढा नही था। मैंने इस भली बहन को आश्वासन दिया और इस बात के लिए उनसे माफी माँगी कि उनके द्वारा कष्ट पूर्वक प्राप्त की हुई वस्तु का मैं उपयोग न कर सका। मैंने उन्हे यह भी जता दिया कि जो चूर्ण अनजान में ले लिया है उसका मुझे कोई पछतावा नही है, न उसके लिए प्रायश्चित की ही आवश्यकता है।

लेडी रॉबर्टस के साथ के जो दूसरे मधुर स्मरण है उन्हें मैं छोड़ देना चाहता हूँ। ऐसे कई मित्रो का मुझे स्मरण है, जिनका महान आश्रय अनेक विपत्तियों और विरोधो में मुझे मिल सका है। श्रद्धालु मनुष्य ऐसे मीठे स्मरणो द्वारा यह अनुभव करता है कि ईश्वर दुःखरूपी कड़वी दवाये देता है तो उसे साथ ही मैत्री के मीठे अनुपान भी अवश्य ही देता है।

डॉ. एलिन्स जब दूसरी बार मुझे देखने आये, तो उन्होंने अधिक स्वतंत्रता दी और चिकनाई के लिए सूखे मेवे का अर्थात् मूंगफली आदि की गिरी का मक्खन अथवा जैतून का तैल लेने को कहा। कच्चे साग अच्छे न लगे तो उन्हे पकाकर भात के साथ खाने को कहा। यह सुधार मुझे अधिक अनुकूल पड़ा।

पर पीड़ा पूरी तरह नष्ट न हुई। सावधानी की आवश्यकता तो थी ही। मैं खटिया न छोड सका। डॉ. मेहता समय-समय पर आकर मुझे देख जाते ही थे। मेरा इलाज करे, तो अभी अच्छा कर दूँ।' यह वाक्य तो हमेंशा उनकी जबान पर रहता ही था।

इस तरह दिन बीत रहे थे कि इतने में एक दिन मि. रॉबर्टस आ पहुँचे और उन्होने मुझ से देश जाने का आग्रह किया, 'इसी हालत में आप नेटली कभी न जा सकेगे। कडी सरदी को अभी आगे पड़ेगी। मेरा आप से विशेष आग्रह है कि अब आप देश जाइये और वहाँ

स्वास्थ्य-लाभ कीजिये। तब तक लड़ाई चलती रही, तो सहायता करने को बहुतेरे अवसर आपको मिलेंगे। वर्ना आपने यहाँ जो कुछ किया है, उसे मैं कम नही मानता।'

मैंने यह सलाह मान ली औऱ देश जाने की तैयारी की।

४३. रवानगी

मि. केलनबैक हिन्दुस्तान जाने के निश्चय से हमारे साथ निकले थे। विलायत में हम साथ ही रहते थे। पर लड़ाई के कारण जर्मनो पर कड़ी नजर रखी जाती थी, इससे केलनबैक के साथ आ सकने के विषय में हम सब को सन्देह था। उनके लिए पासपोर्ट प्राप्त करने का मैंने बहुत किया। मि. रॉबर्टसे स्वयं उनके लिए पासपोर्ट प्राप्त करा देने के लिए तैयार थे। उन्होने सारी हकीकत का तार वाइसरॉय के नाम भेजा, पर लार्ड हार्डिग का सीधा औऱ दो टूक उत्तर मिला, 'हमें खेद है। लेकिन इस समय ऐसा कोई खतरा उठाने के लिए हम तैयार नहीं है।' हम सब इस उत्तर के औचित्य को समझ गये। केलनबैक के वियोग का दुःख मुझे तो हुआ ही, पर मैंने देखा कि मुझसे अधिक दुःख उन्हे हुआ। वे हिन्दुस्तान आ सके होते, तो आज एक सुन्दर किसान और बुनकर का सादा जीवन बिताते होते। अब वे दक्षिण अफ्रीका में अपना पहले का जीवन बिता रहे है और गृह निर्माण कला को अपना धंधा धडल्ले से चला रहे हैं।

हमने तीसरे दर्जे के टिकट लेने का प्रयत्न किया, पर पी. एंड ओ. जहाज में तीसरे दर्जे के टिकट नही मिलते। अतएव दूसरे दर्जे के लेने पड़े। दक्षिण अफ्रीका से साथ बाँध कर लाया हुआ कुछ फलाहार, जो जहाजो में मिल ही नही सकता था, साथ ले लिया। दूसरी चीजे तो जहाज में मिल सकती थी।

डॉ. मेहता ने मेरे शरीर को मीड्ज प्लास्टर की पट्टी से बाँध दिया था और सलाह दी थी कि मैं यह पट्टी बँधी रहने दूँ। दो दिन तक तो मैंने उसे सहन किया, लेकिन बाद में सहन न कर सका। अतएव थोड़ी मेहनत से पट्टी उतार डाली और नहाने-धोने की आजादी हासिल की। खाने में मुख्यतः सूखे और गीले मेवे को ही स्थान दिया। मेरी तबीयत दिन-प्रतिदिन सुधरती गयी और स्वेज की खाड़ी में पहुँचते पहुँचते तो बहुत अच्छी हो गयी। शरीर दुर्बल था, फिर

भी मेरा डर चला गया और मैं धीरे धीरे रोज थोडी कसरत बढ़ाता गया। मैंने माना कि यह शुभ परिवर्तन केवल शुद्ध समशीतोष्ण हवा के कारण ही हुआ था।

पुराने अनुभवों के कारण हो या अन्य किसी कारण से हो, पर बात यह थी कि अंग्रेज यात्रियो और हम लोगो के बीच मैंने जो अन्तर यहाँ देखा, वह दक्षिण अफ्रीका से आते हुए भी नही देखा था। अन्तर तो वहाँ भी था, पर यहाँ उससे कुछ भिन्न प्रकार का मालूम हुआ। किसी किसी अंग्रेज के साथ मेरी बाच होती थी, किन्तु वे 'साहब सलाम' तक ही सीमित रहती थी। हृदय की भेट किसी से नही हुई। दक्षिण अफ्रीका के जहाजो में और दक्षिण अफ्रीका में हृदय की भेटे हो सकी थी। इस भेद का कारण मैंने तो यही समझा कि इन जहाजो पर अंग्रेज के मन में जाने अनजाने यह ज्ञान काम कर रहा था कि 'मैं शासक हूँ' और हिन्दुस्तानी के मन में यह ज्ञान काम कर रहा था कि 'मैं विदेशी शासन के अधीन हूँ।'

मैं ऐसे वातावरण से जल्दी छूटने और स्वदेश पहुँचने के लिए आतुर हो रहा था। अदन पहुँचने पर कुछ हद तक घर पहुँच जाने जैसा लगा। अदनवालों के साथ हमारा खास सम्बन्ध दक्षिण अफ्रीका में ही हो गया था, क्योकि भाई कैकोबाद काबसजी दीनशा डरबन आ चुके थे और उनसे तथा उनकी पत्नी से मेरा अच्छा परिचय हो चुका था।

कुछ ही दिनो में हम बम्बई पहुँचे। जिस देश में मैं सन् 1905 में वापस आने की आशा रखता था, उसमें दस बरस बाद तो वापस आ सका, यह सोचकर मुझे बहुत आनन्द हुआ। बम्बई में गोखले ने स्वागत-सम्मेलन आदि की व्यवस्था कर ही रखी थी। उनका स्वास्थ्य नाजुक था, फिर भी वे बम्बई आ पहुँचे थे। मैं इस उमंग के साथ बम्बई पहँचा था कि उनसे मिलकर और अपने को उनके जीवन में समाकर मैं अपना भार उतार डालूँगा। किन्तु विधाता ने कुछ दूसरी ही रचना कर रखी थी।

४४. वकालत के कुछ संस्मरण

हिन्दुस्तान आने के बाद मेरे जीवन की धारा किस तरह प्रवाहित हुई, इसका वर्णन करने से पहले मैंने दक्षिण अफ्रीका के अपने जीवन के जिस भाग को जान-बूझकर छोड़ दिया था, उसमें से कुछ यहाँ देना आवश्यक मालूम होता है। कुछ वकील मित्रो ने वकालत के समय के और वकील के नाते मेरे संस्मरणो की माँग की है । ये संस्मरण इतने अधिक है कि उन्हें लिखने बैठूँ, तो उन्ही की एक पुस्तक तैयार हो जाय । ऐसे वर्णन मेरी अंकित मर्यादा के बाहर जाते है । किन्तु उनमें से कुछ, जो सत्य से संबन्ध रखनेवाले है, यहाँ देना शायद अनुचित नही माना जायेगा ।

जैसा कि मुझे याद है, मैं यह तो बता चुका हूँ कि वकालत के धंधे में मैंने कभी असत्य का प्रयोग नहीं किया और मेरी वकालत का बडा भाग केवल सेवा के लिए ही अर्पित था और उसके लिए जेबखर्च के अतिरिक्त मैं कुछ नही लेता था । कभी कभी जेबखर्च भी छोड़ देता था । मैंने माना था कि इतना बताना इस विभाग के लिए पर्याप्त होगा । पर मित्रो की माँग उससे आगे जाती है । वे मानते है कि यदि मैं सत्यरक्षा के प्रसंगो का थोडा भी वर्णन दे दूँ, तो वकीलो को उसमें से कुछ जानने को मिल जायेगा ।

विद्यार्थी अवस्था में भी में यह सुना करता था कि वकालत का धंधा झूठ बोले बिना चल ही नही सकता । झूठ बोलकर मैं न तो कोई पद लेना चाहता था और न पैसा कमाना चाहता था । इसलिए इन बातो का मुझ पर कोई प्रभाव नही पड़ता था ।।

दक्षिण अफ्रीका में इसकी परीक्षा तो बहुत बार हो चुकी थी । मैं जानता था कि प्रतिपक्ष के साक्षियो को सिखाया-पढाया गया है औक यदि मैं मुवक्किलों को अथवा साक्षी को तनिक भी झूठ न बोलने के लिए प्रोत्साहित कर दूँ, तो मुवक्किल के केस में कामयाबी मिल सकती है । किन्तु मैंने हमेंशा इस लालच को छोड़ा है । मुझे ऐसी एक घटना याद है कि जब मुवक्किल का मुकदमा जीतने के बाद मुझे यह शक हुआ कि मुवक्किल ने मुझे धोखा दिया है । मेरे दिल में भी हमेंशा यही ख्याल बना रहता था कि अगर मुवक्किल का केस सच्चा हो तो उसमें जीत मिले और झूठे हो तो उनकी हार हो । मुझे याद नही पड़ता कि फीस लेते

समय मैंने कभी हार-जीत के आधार पर फीस की दरे तय की हो। मुवक्किल होर या जीते, मैं तो हमेंशा अपना मेहनताना ही माँगता था और जीतने पर भी उसी की आथा रखता था। मुवक्किल को मैं शुरू से ही कह देता था,'मामला झूठा हो तो मेरे पास मत आना। साक्षी को सिखाने पढाने का काम कराने की मुझ से कोई आशा न रखना।' आखिर मेरी साख तो यही कायम हुई थी कि झूठे मुकदमें मेरे पास आते ही नही। मेरे कुछ ऐसे मुवक्किल भी थे, जो अपने सच्चे मामले तो मेरे पास लाते थे और जिनमें थोड़ी भी खोट-खराबी पास ले जाते थे।

एक अवसर ऐसा भी आया, जब मेरी बहुत बड़ी परीक्षा हुई। मेरे अच्छे से अच्छे मुवक्किलो में से एक का यह मामला था। उसमें बहीखातो की भारी उलझने थी। मुकदमा बहुत ल्मबे समय तक चका था। उसके कुछ हिस्से कई अदालतो में गये थे। अन्त में अदालत द्वारा नियुक्त हिसाब जानने वाले पंच को उसका हिसाबी हिस्सा सौपा गया था। पंच के फैसले में मेरे मुवक्किल की पूरी जीत थी। किन्तु उसके हिसाब में एक छोटी परन्तु गंभीर भूल रह गया था। जमा-खर्च की रकम पंच के दृष्टिदोष से इधर की उधर ले ली गयी थी। प्रतिपक्षी ने पंच के इस फैसले को रद्द करने की अपील की थी। मुवक्किल की ओर से मैं छोटा वकील था। बड़े वकील ने पंच की भूल देखी थी, पर उनकी राय थी कि पंच की भूल कबूल करना मुवक्किल के लिए बंधनरूप नही है। उनका यह स्पष्ट मत था कि ऐसी किसी बात को स्वीकार करने के लिए कोई वकील बँधा हुआ नही है, जो उसके मुवक्किल के हित के विरुद्ध जाय। मैंने कहा, 'इस मुकदमें में रही हुई भूल स्वीकार की ही जानी चाहिए।'

बड़े वकील ने कहा, 'ऐसा होने पर इस बात का पूरा डर है कि अदालत सारे फैसले को ही रद्द कर दे और कोई होशियार वकील मुवक्किल को ऐसी जोखिम ने नही डालेगा। मैं तो यह जोखिम उठाने को कभी तैयार न होऊँगा। मुकदमा फिर से चलाना पड़े तो मुवक्किल को कितने खर्च में उतरना होगा ? और कौन कह सकता है कि अंतिम परिणाम क्या होगा ?'

इस बातचीत के समय मुवक्किल उपस्थित थे।

मैंने कहा, 'मेरा तो ख्याल है कि मुवक्किल को और हम दोनो को ऐसी जोखिमें उठानी ही चाहिए। हमारे स्वीकार न करने पर भी अदालत भूलभरे फैसले को भूल मालूम हो जाने पर बहाल रखेगी, इसका क्या भरोसा है ? और भूल सूधारने की कोशिश में मुवक्किल को नुकसान उठाना पड़े, तो क्या हर्ज होगा। '

बड़े वकील ने कहा, 'लेकिन हम भूल कबूल करें तब न ?'

मैंने जवाब दिया, 'हमारे भूल न स्वीकार करने पर भी अदालत उस भूल के नही पकड़ेगी अथवा विरोधी पक्ष उसका पता नही लगायेगा, इसका भी क्या भरोसा है ?'

बड़े वकील ने दृढता पूर्वक कहा, 'तो इस मुकदमें में आप बहस करेंगे ? भूल कबूल करने की शर्त पर मैं उसमें हाजिर रहने को तैयार नही हूँ।'

मैंने नम्रता पूर्वक कहा, 'यदि आप न खड़े हो और मुवक्किल चाहे, तो मैं खडा होने को तैयार हूँ। यदि भूल कबूल न की जाय, तो मैं मानता हूँ कि मुकदमें में काम करना मेरे लिए असंभव होगा।'

इतना कहकर मैंने मुवक्किल की तरफ देखा। मुवक्किल थोड़े से परेशान हुए। मैं तो मुकदमो में शुरू से ही था। मुवक्किल का मुझ पर पूरा विश्वास था। वे मेरे स्वभाव से भी पूरी तरह परिचित थे। उन्होने कहा, 'ठीक है, तो आप ही अदालत में पैरवी कीजिये। भूल कबूल कर लीजिये। भाग्य में हारना होगा तो हार जायेंगे। सच्चे का रखवाला राम तो है ही न ?'

मुझे खुशी हुई। मैंने दूसरे जवाब की आशा न रखी थी। बड़े वकील ने मुझे फिर चेताया। उन्हें मेरे 'हठ' के लिए मुझ पर तरस आया, लेकिन उन्होंने मुझे धन्यववाद भी दिया।

अदालत में क्या हुआ इसकी चर्चा आगे होगी।

४५. चालाकी?

अपनी सलाह के औचित्य के विषय में मुझे लेश मात्र भी शंका न थी, पर मुकदमें की पूरी पैरवी करने की अपनी योग्यता के संबंध में काफी शंका थी। ऐसी जोखिमवाले मालमें में बड़ी अदालत में मेरा बहस करना मुझे बहुत जोखिमभरा जान पड़ा। अतएव मन में काँपते-काँपते मैं न्यायाधीश के सामने उपस्थित हुआ। ज्यों ही उक्त भूल की बात निकली कि एक न्यायाधीश बोल उठे, 'यह चालाली नही कहलायेगी ?'

मुझे बड़ा गुस्सा आया। जहाँ चालाकी की गंघ तक नही थी, वहाँ चालाकी का शक होना मुझे असह्य प्रतीत हुआ। मैंने मन में सोचा, 'जहाँ पहले से ही जज का ख्याल बिगड़ा हुआ है, वहाँ इस मुश्किल मुकदमें को कैसे जीता जा सकता है ?'

मैंने अपने गुस्से को दबाया और शांत भाव से जवाब दिया, 'मुझे आश्चर्य होता है कि आप पूरी बात सुनने के पहले ही चालाकी का आरोप लगाते है !'

जज बोले, 'मैं आरोप नही लगाता, केवल शंका प्रकट करता हूँ।'

मैंने उत्तर दिया, 'आपकी शंका ही मुझे आरोप-जैसी लगती है। मैं आपको वस्तुस्थिति समझा दूँ और फिर शंका के लिए अवकाश हो, तो आप अवश्य शंका करे।'

जज ने शांत होकर कहा, 'मुझे खेद है कि मैंने आपको बीच में ही रोका। आप अपनी बात समझा कर कहिये। '

मेरे पास सफाई के लिए पूरा-पूरा मसाला था। शुरू में ही शंका पैदा हुई और जज का ध्यान मैं अपनी दलील की तरफ खींच सका, इससे मुझमें हिम्मत आ गयी और मैंने विस्तार से सारी जानकारी दी। न्यायाधीश ने मेरी बातो को धैर्य-पूर्वक सुना और वे समझ गये कि भूल असावधानी के कारण ही हुई है। अतः बहुत परिश्रम से तैयार किया हिसाब रद करना उन्हें उचित नही मालूम हुआ।

प्रतिपक्षी के वकील को तो यह विश्वास ही था कि भूल स्वीकार कर लेने के बाद उनके लिए अधिक बहस करने की आवश्यकता न रहेगी। पर न्यायाधीश ऐसी स्पष्ट और सुधर

सकनेवाली भूल को लेकर पंच-फैसला रद्द करने के लिए बिल्कुल तैयार न थे। प्रतिपक्षी के वकील ने बहुत माथापच्ची की, पर जिन न्यायाधीश के मन में शंका पैदा हुई थी, वे ही मेरे हिमायती बन गये। वे बोले, 'मि. गांधी ने गलती कबूल न की होती, तो आप क्या करते ?'

'जिस हिसाब-विशेषज्ञ को हमने नियुक्त किया था, उससे अधिक होशियार अथवा ईमानदार विशेषज्ञ हम कहाँ से लायें ?'

'हमें मानना चाहिए कि आप अपने मुकदमें को भलीभाँति समझते है। हिसाब का हर कोई जानकार जिस तरह की भूल कर सकता है, वैसी भूल के अतिरिक्त दूसरी कोई भूल आप न बता सके, तो कायदे की एक मामूली सी त्रुटि के लिए दोनो पक्षो को नये सिरे से खर्च में डालने के लिए अदालत तैयार नही हो सकती। और यदि आप यह कहे कि इसी अदालत को यह केस नये सिरे से सुनना चाहिए, तो यह संभव न होगा।'

इस और ऐसी अनेक दलीलो से प्रतिपक्षी के वकील को शांत करके तथा फैसले में रही भूल को सुधार कर अथवा इतनी भूल सुधार कर पुनः फैसला भेजने का हुक्म पंच को देकर अदालत ने उस सुधरे हुए फैसले को बहाल रखा।

मेरे हर्ष की सीमा न रही। मुवक्किल और बड़े वकील प्रसन्न हुए और मेरी यह धारणा दढ हो गयी कि वकालत के धंधे में भी सत्य के रक्षा करते हुए काम हो सकते है।

पर पाठको को यह बात याद रखनी चाहिए कि धंधे के लिए की हुई प्रत्येक वकालत के मूल में जो दोष विद्यमान है, उसे यह सत्य की रक्षा ढ़ाँक नही सकती।

४६. मुवक्किल साथी बन गये

नेटाल और ट्रान्सवाल की वकालत में यह भेद था कि नेटाल में एडवोकेट और एटर्नी का भेद होने पर भी दोनो सब अदालतों में समान रुप से वकालत कर सकते थे, जबकि ट्रान्सवाल में बम्बई जैसा भेद था। वहाँ एडवोकेट मुवक्किल के साथ का सारा व्यवहार एटर्नी के मारफत ही कर सकता हैं। बारिस्टर बनने के बाद आप एडवोकेट अथवा एटर्नी में से किसी एक की सनद ले सकते है और फिर वही धंधा कर सकते हैं। नेटाल में मैंने एडवोकेट की सनद ली थी, ट्रान्सवाल में एटर्नी की। एडवोकेट के नाते मैं हिन्दुस्तानियों के सीधे संपर्क मैं नहीं आ सकता था और दक्षिण अफ्रिका में वातावरण ऐसा नही था कि गोरे एटर्नी मुझे मुकदमें दे।

यो ट्रान्सवाल में वकालत करते हुए मजिस्ट्रेट के इजलास पर तो मैं बहुत बार जा सकता था। ऐसा करते हुए एक प्रसंग इस प्रकार का आया, जब चलते मुकदमें के दौरान मैंने देखा कि मेंरे मुवक्किल में मुझे ठग लिया है। उसका मुकदमा झूठा था। वह कठहरे में खड़ा इस तरह काँप रहा था, मानो अभी गिर पड़ेगा। अतएव मैंने मजिस्ट्रेट को मुवक्किल के विरुद्ध फैसला देने के लिए कहा और मैं बैठ गया। प्रतिपक्ष का वकील आश्चर्य चकित हो गया। मजिस्ट्रेट खुश हुआ। मुवक्किल को मैंने उलाहना दिया। वह जानते था कि मैं झूठे मुकदमें नही लेता था। उसने यह बात स्वीकार की और मैं मानता हूँ कि मैंने उसके खिलाफ फैसला माँगा, इसके लिए वह गुस्सा न हुआ। जो भी हो, पर मेंरे इस बरताव का कोई बुरा प्रभाव मेंरे धंधे पर नहीं पड़ा, और अदालत में मेरा काम सरल हो गया। मैंने यह भी देखा कि सत्य की मेरी इस पूजा से वकील बंधुओं में मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गयी थी और विचित्र परिस्थितियों के रहते हुए भी उनमें से कुछ की प्रीति मैं प्राप्त कर सका था।

वकालत करते हुए मैंने एक ऐसी आदत भी डाली थी कि अपना अज्ञान न मैं मुवक्किलो से छिपाता था और न वकीलों से। जहाँ-जहाँ मुझे कुछ सूझ न पड़ता वहाँ वहाँ मैं मुवक्किल से दुसरे वकील के पास जाने को कहता अथवा मुझे वकील करता तो मैं उससे कहता कि अपने से अधिक अनुभवी वकील की सलाह लेकर मैं उसका काम करुँगा। अपने इस शुद्ध

व्यवहार के कारण मैं मुवक्किलो का अटूट प्रेम और विश्वास संपादन कर सका था। बड़े वकील के पास जाने की जो फीस देनी पडती उसके पैसे भी वे प्रसन्नता पूर्वक देते थे।

इस विश्वास और प्रेम का पूरा-पूरा लाभ मुझे अपने सार्वजनिक काम में मिला।

पिछले प्रकरण में मैं बता चुका हूँ कि दक्षिण अफ्रीका में वकालत करने का मेरा हेतु केवल लोकसेवा करना था। इस सेवा के लिए भी मुझे लोगो का विश्वास संपादन करने की आवश्यकता थी। उदार दिल के हिन्दुस्तानियों में पैसे लेकर की गयी वकालत को भी मेरी सेवा माना, और जब मैंने उन्हें अपने हक के लिए जेल के दुःख सहने की सलाह दी, तब उनमें से बहुतो ने उस सलाह को ज्ञान पूर्वक स्वीकार करने की अपेक्षा मेरे प्रति अपनी श्रद्धा और प्रेम के कारण ही स्वीकार किया था।

यह लिखते हुए वकालत के ऐसे कई मीठे संस्मरण मेरी कलम पर आ रहे है। सैकड़ो आदमी मुवक्किल न रहकर मित्र बन गये थे. वे सार्वजनिक सेवा में मेरे सच्चे साथी बन गये थे और मेरे कठोर जीवन को उन्होंने रसमय बना दिया था।

४७. मुवक्किल जेल से कैसे बचा?

इन प्रकरणों के पाठक पारसी रूस्तम जी नाम से भलीभाँति परिचित हैं। पारसी रूस्तम जी एक समय में मेरे मुवक्किल और सार्वजनिक काम के साथी बने, अथवा उनके विषय में तो यह कहा जा सकता हैं कि पहले वे मेरे साथी बने और बाद में मुवक्किल। मैंने उनका विश्वास इस हद तक प्राप्त कर लिया था कि अपनी निजी और घरेलू बातो में भी वे मेरी सलाह लेते थे और तदानुसार व्यवहार करते थे। बीमार पड़ने पर भी वे मेरी सलाह की आवश्यकता अनुभव करते थे और हमारी रहन-सहन में बहुत फर्क होने पर भी वे अपने ऊपर मेरे बतायो उपचारो का प्रयोग करते थे।

इन साथी पर एक बार बड़ी विपत्ति आ पड़ी। अपने व्यापार की भी बहुत सी बाते वे मुझ से किया करते थे। लेकिन एक बात उन्होंने मुझ से छिपा कर रखी थी। पारसी रूस्तम जी चुंगी की चोरी किया करते थे। वे बम्बई -कलकत्ते से जो माल मँगाते थे, उसी सिलसिले में यह चोरी चलती थी। सब अधिकारियों से उनका अच्छा मेलजोल था, इस कारण कोई उन पर शक करता ही न था। वे जो बीजक पेश करते, उसी पर चुंगी ले ली जाती थी। ऐसे भी अधिकारी रहे होंगे, जो उनकी चोरी की ओर से आँखे मूँद लेते होंगे।

पर अखा भगत की वाणी कभी मिथ्या हो सकती है ?

काचो पारो खावो अन्न,

तेवुं छे चोरीनुं धन।

(कच्चा पारा खाना और चोरी का धन खाना समान ही हैं)

पारसी रूस्तम जी की चोरी पकड़ी गयी। वे दौड़े-दौड़े मेरे पास आये। आँखो में आँसू बह रहे थे और वे कह रहे थे, 'भाई, मैंने आपसे कपट किया है। मेरा पाप आज प्रकट हो गया हैं। मैंने चुंगी की चोरी की हैं। अब मेरे भाग्य में तो जेल ही हो सकती हैं। मैं बरबाद होनेवाला हूँ। इस आफत से आप ही मुझे बचा सकते हैं। मैंने आपसे कुछ छिपाया नही। पर यह सोचकर की व्यापार की चोरी की बात आपसे क्या कहूँ, मैंने यह चोरी छिपायी। अब मैं

पछता रहा हूँ। मैंने धीरज देकर कहा, 'मेरी रीति से तो आप परिचित ही हैं। छुड़ाना न छुड़ाना खुदा के हाथ हैं। अपराध स्वीकार करके छुड़ाया जा सके, तो ही मैं छुड़ा सकता हूँ।'

इन भले पारसी का चेहरा उतर गया।

रूस्तम जी सेठ बोले, 'लेकिन आपके सामने मेरा अपराध स्वीकार कर लेना क्या काफी नही हैं ?'

मैंने धीरे से जवाब दिया, 'आपने अपराध तो सरकार का किया है और स्वीकार मेंरे सामने करते हैं। इससे क्या होता है ?'

पारसी रूस्तम जी कहा, 'अन्त में मुझे करना तो वही हैं जो आप कहेगे। पर मेंरे पुराने वकील हैं। उनकी सलाह तो आप लेंगे न ? वे मेंरे मित्र भी हैं।'

जाँच से पता चला कि चोरी लंबे समय से चल रही थी। जो चोरी पकडी गयी वह तो थोड़ी ही थी। हम लोग पुराने वकील के पास गये। उन्होने केस की जाँच की और कहा, 'यह मामला जूरी के सामने जायगा। यहाँ के जूरी हिन्दुस्तानी को क्यो छोड़ने लगे ? पर मैं आशा कभी न छोड़गा।'

इन वकील से मेरा गाढ परिचय नही था पारसी रूस्तम जी में ही जवाब दिया, 'आपका आभार मानता हूँ किन्तु इस मामले में मुझे मि. गांधी की सलाह के अनुसार चलना हैं। वे मुझे अधिक पहचानते है। आप उन्हें जो सलाह देना उचित समझे देते रहियेगा।'

इस प्रश्न को यों निबटा कर हम रूस्तम जी सेठ की दुकान पर पहुँचे।

मैंने उन्हें समझाया, 'इस मामले को अदालत में जाने लायक नही मानता। मुकदमा चलाना न चलाना चुंगी अधिकारी के हाथ में हैं। उसे भी सरकार के मुख्य वकील की सलाह के अनुसार चलना पड़ेगा। मैं दोनो से मिलने को तैयार हूँ, पर मुझे तो उनके सामने उस चोरी को भी स्वीकार करना पड़ेगा, जिसे वे नही जानते। मैं सोचता हूँ कि जो दंड वे ठहराये उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। बहुत करके तो वे मान जायेंगे। पर कदाचित् न माने तो आपको जेल के लिए तैयार रहना होगा। मेरा तो यह मत है कि लज्जा जेल जाने में नहीं, बल्कि

चोरी करने में हैं। लज्जा का काम तो हो चुका है। जेल जाना पड़े तो उसे प्रायश्चित समझिये। सच्चा प्रायश्चित तो भविष्य में फिर से कभी चुंगी की चोरी न करने की प्रतिज्ञा में हैं।'

मैं नही कह सकता कि रूस्तम जी सेठ इस सारी बातो को भलीभाँति समझ गये थे। वे बहादुर आदमी थे। पर इस बार हिम्मत हार गये थे। उनकी प्रतिष्ठा नष्ट होने का समय आ गया था। और प्रश्न यह था कि कहीं उनकी अपनी मेहनत से बनायी हुई इमारत ढह न जाये।

वे बोले, 'मैं आपसे कह चुका हूँ कि मेरा सिर आपकी गोद में हैं। आपको जैसा करना हो वैसा कीजिये।'

मैंने इस मामले में विनय की अपनी सारी शक्ति लगा दी। मैं अधिकारी से मिला और सारी चोरी की बात उससे निर्भयता पूर्वक कह दी। सब बहीखाते दिखा देने को कहा और पारसी रूस्तम जी के पश्चाताप की बात भी कही।

अधिकारी में कहा, 'मैं इस बूढे पारसी को चाहता हूँ। उसने मूर्खता की हैं। पर मेरा धर्म तो आप जानते हैं। बड़े वकील जैसा कहेंगे वैसा मुझे करना होगा। अतएव अपनी समझाने की शक्ति का उपयोग आपको उनके सामने करना होगा।'

मैंने कहा, 'पारसी रूस्तम जी को अदालत में घसीटने पर जोर न दिया जाये, तो मुझे संतोष हो जायेगा।'

इस अधिकारी से अभय-दान प्राप्त करके मैंने सरकारी वकील से पत्र-व्यवहार शुरू किया। उनसे मिला। मुझे कहना चाहिए कि मेरी सत्यप्रियता उनके ध्यान में आ गयी। मैं उनके सामने यह सिद्ध कर सका कि मैं उनसे कुछ छिपा नही रहा हूँ।

इस मामले में या दूसरे किसी मामले में उनके संपर्क में आने पर उन्होंने मुझे प्रमाण-पत्र दिया था, 'मैं देखता हूँ कि आप 'ना' में तो जवाब लेनेवाले ही नही हैं।'

रूस्तम जी पर मुकदमा नही चला। उनके द्वारा कबूल की गयी चुंगी की चोरी के दूने रूपये लेकर मुकदमा उठा लेने का हुक्म जारी हुआ।

रूस्तम जी ने अपनी चुंगी की चोरी की कहानी लिखकर शीशे में मढवा ली औऱ उसे अपने दफ्तर में टाँगकर अपने वारिसों और साथी व्यापारियों को चेतावनी दी।

रूस्तमजजी सेठ के व्यापारी मित्रो ने मुझे चेताया, 'यह सच्चा वैराग्य नही हैं, श्मशान वैराग्य है।'

मैं नही जानता कि इसमें कितनी सच्चाई थी।

मैंने यह बात भी रूस्तम जी सेठ से कही थी। उनका जवाब यह था, 'आपको धोखा देकर मैं कहाँ जाऊँगा ?'

पाँचवाँ भाग

१. पहला अनुभव

मेरे स्वदेश आने के पहले जो लोग फीनिक्स से वापस लौटने वाले थे, वे यहाँ आ पहुँचे थे। अनुमान यह था कि मैं उनसे पहले पहुँचूगा, लेकिन लड़ाई के कारण मुझे लंदन में रूकना पड़ा। अतएव मेरे सामने यह प्रश्न यह था कि फीनिक्सवासियों को कहाँ रखा जाय ? मेरी अभिलाषा यह थी कि सब एक साथ ही रह सके और आश्रम का जीवन बिता सके तो अच्छा हो। मैं किसी आश्रम-संचालक से परिचित नहीं था, जिससे साथियों को उनके यहाँ जाने के लिख सकूँ। अतएव मैंने उन्हें लिखा कि वे एण्डूज से मिलें और वे जैसी सलाह दे वैसा करे।

पहले उन्हे कांगड़ी गुरूकुल में रखा गया, जहाँ स्वामी श्रद्धानन्द जी ने उनको अपने बच्चों की तरह रखा। इसके बाद उन्हें शान्तिनिकेतन में रखा गया। वहाँ कविवर ने और उनके समाज ने उन्हें वैसे ही प्रेम से नहलाया। इन दो स्थानों में उन्हें जो अनुभव प्राप्त हुआ, वह उनके लिए और मेरे लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। कविवर, श्रद्धानन्द जी और श्री सुशील रुद्र को मैं एण्डूज की त्रिमूर्ति मानता था। दक्षिण अफ्रीका में वे इन तीनों की प्रशंसा करते कभी थकते ही न थे। दक्षिण अफ्रीका के हमारे स्नेह-सम्मेलन के अनेकानेक स्मरणों में यह तो मेरी आँखों के सामने तैरा ही करता हैं कि इन तीन महापुरुषों के मान उनके हृदय में और ओठों पर सदा बने ही रहते थे। एण्डूज ने मेरे फीनिक्स कुटुम्ब को सुशील रुद्र के पास ही रख दिया था। रुद्र का अपना कोई आश्रम न था, केवल घर ही था। पर उस घर का कब्जा उन्होंने मेरे कुटुम्ब को सौंप दिया था। उनके लड़के-लड़की एक ही दिन में इनके साथ ऐसे धुलमिल गये थे कि ये लोग फीनिक्स की याद बिलकूल भूल गये।

मैं बम्बई के बन्दरगाह पर उतरा तभी मुझे पता चला कि उस समय यह परिवार शान्तिनिकेतन में था। इसलिए गोखले से मिलने के बाद मैं वहाँ जाने को अधीर हो गया।

बम्बई में सम्मान स्वीकार करते समय ही मुझे एक छोटा-सा सत्याग्रह करना पड़ा था। मेरे सम्मान में मिस्टर पिटिट के यहाँ एक सभा रखी गयी थी। उसमें तो मैं गुजराती में जबाव देने की हिम्मत न कर सका। महल में और आँखों को चौंधिया देने वाले ठाठबाट के बीच गिरमिटियों की सोहब्बत में रहा हुआ मैं अपने आपको देहाती जैसा लगा। आज की मेरी पोशाक की तुलना में उस समय पहना हुआ अंगरखा, साफा आदि अपेक्षाकृत सभ्य पोशाक कही जा सकती हैं। फिर भी मैं उस अलंकृत समाज में अलग ही छिटका पड़ता था। लेकिन वहाँ तो जैसे-तैसे मैंने अपना काम निबाहा और सर फिरोजशाह मेहता की गोद में आसरा लिया। गुजरातियों की सभा तो थी ही। स्व. उत्तमलाल त्रिवेदी ने इस सभा का आयोजन किया था। मैंने इस सभा के बारे में पहले से ही कुछ बाते जान ली थी। मिस्टर जिन्ना भी गुजराती होने के नाते इस सभा में हाजिर थे। वे सभापति थे या मुख्य वक्ता, यह मैं भूल गया हूँ। पर उन्होंने अपना छोटा और मीठा भाषण अंग्रेजी में किया। मुझे धुंधला-सा स्मरण हैं कि दूसरे भाषँण भी अधिकतर अंग्रेजी में ही हुए। जब मेरे बोलने का समय आया, तो मैंने उत्तर गुजराती में दिया। और गुजराती तथा हिन्दुस्तानी के प्रति अपना पक्षपात कुछ ही शब्दों में व्यक्त करके मैंने गुजरातियों की सभा में अंग्रेजी के उपयोग के विरुद्ध अपना नम्र विरोध प्रदर्शित किया। मेरे मन में अपने इस कार्य के लिए संकोच तो था ही। मेरे मन में शंका बनी रही कि लम्बी अवधि की अनुपस्थिति के बाद विदेश से वापस आया हुआ अनुभवहीन मनुष्य प्रचलित प्रवाह के विरुद्ध चले, इसमें अविवेक तो नहीं माना जायगा ? पर मैंने गुजराती में उत्तर देने की जो हिम्मत की, उसका किसी ने उलटा अर्थ नहीं लगाया और सबने मेरा विरोध सहन कर लिया। यह देखकर मुझे खुशी हुई और इस सभा के अनुभव से मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि अपने नये जान पड़ने वाले दूसरे विचारों को जनता के सम्मुख रखने में मुझे कठिनाई नहीं पड़ेगी।

यो बम्बई में दो-एक दिन रहकर और आरम्भिक अनुभव लेकर मैं गोखले की आज्ञा से पूना गया।

२. गोखले के साथ पूना में

मेरे बम्बई पहुँचते ही गोखले ने मुझे खबर दी थी: "गवर्नर आपसे मिलना चाहते हैं। अतएव पूना आने के पहले उनसे मिल आना उचित होगा।" इसलिए मैं उनसे मिले गया। साधारण बातचीत के बाद उन्होंने कहा: "मैं आपसे एक वचन माँगतो हूँ। मैं चाहता हूँ कि सरकार के बारे में आप कोई भी कदम उठाये, उसके पहले मुझे से मिलकर बात कर लिया करें।"

मैंने जबाव दिया: "वचन देना मेरे लिए बहुत सरल हैं। क्योंकि सत्याग्रही के नाते मेरा नियम ही हैं कि किसी के विरुद्ध कोई कदम उठाना हैं तो पहले उसका दृष्टिकोण उसी से समझ लूँ और जिस हद तक संभव हो उस हद तक अनुकूल हो जाउँ। दक्षिण अफ्रीका में मैंने सदा इस नियम का पालन किया हैं और यहाँ भी वैसा ही करने वाला हूँ।"

लार्ड विलिंग्डन ने आभार माना और कहा: 'आप जब मिलना चाहेंगे, मुझसे तुरन्त मिल सकेंगे और आप देखेंगे कि सरकार जान-बूझकर कोई बुरा काम नहीं करना चाहती।'

मैंने जवाब दिया: 'यह विश्वास ही तो मेरा सहारा हैं।'

मैं पूना पहुँचा। वहाँ के सब संस्मरण देने में मैं असमर्थ हूँ। गोखले ने और (भारत सेवक समाज) सोसायटी के सदस्यों ने मुझे अपने प्रेम से नहला दिया। जहाँ तक मुझे याद हैं, उन्होंने सब सदस्यों को पूना बुलाया था। सबके साथ कई विषयों पर मैंने दिल खोल कर बातचीत की। गोखले की तीव्र इच्छा थी कि मैं भी सोसायटी में सम्मिलित हो जाऊँ। मेरी इच्छा तो थी ही। किन्तु सोसाइटी के सदस्यों को ऐसा लगा कि सोसाइटी के आदर्श और काम करने की रीति मुझसे भिन्न हैं, इसलिए मुझे सदस्य बनना चाहिए या नहीं इस बारे में उनके मन में शंका थी। गोखले का विश्वास था कि मुझमें अपने आदर्शों पर दढ़ रहने का जितना आग्रह हैं उतना ही दूसरों के आदर्शों को निबाह लेने का और उनके साथ घुलमिल जाने का मेरा स्वभाव हैं। उन्होंने कहा: 'हमारे सदस्य अभी आपके इस निबाह लेने वाले स्वभाव को पहचान नहीं पाये हैं। वे अपने आदर्शों पर दढ़ रहने वाले स्वतंत्र और ढ़ृढ़ विचार के लोग हैं। मैं आशा तो करता हूँ कि वे आपको स्वीकार कर लेंगे। पर स्वीकार न भी करें तो आप यह न समझना कि उन्हें आप के प्रति कम आदर या कम प्रेम हैं। इस प्रेम

को अखंडित रखने के लिए वे कोई जोखिम उठाते हूए डरते हैं। पर आप सोसाइटी के सदस्य बने या न बने मैं तो आपको सदस्य ही मानूँगा।'

मैंने अपने विचार गोखले को बता दिये थे: 'मैं सोसाइटी का सदस्य चाहे न बनूँ तो भी मुझे एक आश्रम खोलकर उसमें फीनिक्स के साथियों को रखना और खुद वहाँ बैठ जाना हैं। इस विश्वास के कारण कि गुजराती होने से मेरे पास गुजरात की सेवा के जरिये देश की सेवा करने की पूँजी अधिक होनी चाहिए, मैं गुजरात में कही स्थिर होना चाहता हूँ।'

गोखले को ये विचार पसन्द पड़े थे, इसलिए उन्होंने कहा: 'आप ऐसा अवश्य करे। सदस्यों के साथ आपकी बातचीत का जो भी परिणाम आये, पर यह निश्चित हैं कि आपको आश्रम के लिए पैसा मुझी से लेना हैं। उसे मैं अपना ही आश्रम समझूँगा।'

मेरा हृदय फूल उठा। मैं यह सोचकर खुश हुआ कि मुझे पैसा उगाने के धन्धे से मुक्ति मिल गयी और यह कि अब मुझे अपनी जवाबदारी पर नहीं चलना पड़ेगा, बल्कि हर परेशानी के समय मुझे रास्ता दिखाने वाला कोई होगा। इस विश्वास के काऱण मुझे ऐसा लगा मानो मेरे सिर का बड़ा बोझ उतर गया हो।

गोखने ने स्व. डाक्टर देव को बुलाकर कह दिया: 'गांधी का खाता अपने यहाँ खोल लीजिये और इन्हें आश्रम के लिए तथा अपने सार्वजनिक कार्यो के लिए जितनी रकम की जरुरत हो, आप देते रहिये।'

अब मैं पूना छोड़कर शान्तिनिकेतन जाने की तैयारी कर रहा था। अंतिम रात को गोखले ने मुझे रुचने वाली एक दावत दी और उसमें उन्होंने जो चीजे मैं खाता था उन्हीं का अर्थात् सूखे और ताजे फलों के आहार का ही प्रबन्ध किया। दावत की जगह उनके कमरे से कुछ ही दूर थी, पर उसमें भी सम्मिलित होने की उनकी हालत न थी। लेकिन उनका प्रेम उन्हें दूर कैसे रहने देता? उन्होंने आने का आग्रह किया। वे आये भी, पर उन्हें मूर्छा आ गयी ऐर वापस जाना पड़ा। उनकी ऐसी हालत जब-तब हो जाया करती थी। अतएव उन्होंने संदेशा भेजा कि दावत जारी ही रखनी हैं। दावत का मतलब था, सोसाइटी के आश्रम में मेहमानघर के पासवाले आँगन में जाजम बिछाकर बैठना, मूंगफली, खजूर आदि खाना, प्रेमपूर्ण चर्चाये करना और एक दूसरे के दिलो को अधिक जानना।

पर गोखले की यह मूर्छा मेरे जीवन के लिए साधारण अनुभव बनकर रहने वाली न थी।

३. क्या वह धमकी थी ?

अपने बड़े भाई की विधवा पत्नी और दूसरे कुटुम्बियों से मिलने के लिए मुझे बम्बई से राजकोट और पोरबन्दर जाना था। इसलिए मैं उधर गया। दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह की लड़ाई के सिलसिले में मैंने अपनी पोशाक जिस हद तक गिरमिटिया मजदूरो से मिलती-जुलती की जा सकती थी, कर ली थी। विलायत में भी घर में मैं यही पोशाक पहनता था। हिन्दुस्तान आकर मुझे काठियावाड़ी पोशाक पहननी थी। दक्षिण अफ्रीका में मैंने उसे अपने साथ रखा था। अतएव बम्बई में मैं उसी पोशाक मैं उतर सका था। इस पोशाक में कुर्ता, अंगरखा, धोती और सफेद साफे का समावेश होता था। ये सब देशी मिल के कपड़े के बने हुए थे। बम्बई से काठियावाड़ मुझे तीसरे दर्जे में जाना था। उसमें साफा और अंगरखा मुझे झंझट मालूम हुए। अतएव मैंने केवल कुर्ता, धोती और आठ-दस आने की कश्मीरी टोपी का उपयोग किया। ऐसी पोशाक पहनने वाले की गिनती गरीब आदमी में होती थी। उस समय वीरमगाम अथवा वढ़वाण में प्लेग के कारण तीसरे दर्जे के यात्रियों की जाँच होती थी। मुझे थोड़ा बुखार था। जाँच करनेवाले अधिकारी ने मेरी हाथ देखास तो उस गरम लगा। इसलिए उसने मुझे राजकोट में डॉक्टर से मिलने का हुक्म दिया औऱ मेरा नाम लिख लिया।

बम्बई से किसी में तार या पत्र भेजा होगा। इसलिए वढ़वाण स्टेशन पर वहाँ के प्रसिद् प्रजा-सेवक दर्जी मोतीलाल मुझसे मिले। उन्होंने मुझ से वारमगाम की चुंगी-संबंधी जाँच-पड़ताल की और उसके कारण होने वाली परेशानियों की चर्चा की। मैं ज्वर से पीड़ित था, इसलिए बाते करने की इच्छा न थी। मैंने उन्हें थोड़े में ही जवाब दिया, 'आप जेल जाने को तैयार हैं?'

मैंने माना था कि बिना विचारे उत्साह में जवाब देनेवाले बहुतेरे युवको की भाँति मोतीलाल भी होगे। पर उन्होंने बहुत दढ़ता पूर्वक उत्तर दिया, 'हम जरुर जेल जायेंगे। पर आपको हमें रास्ता दिखाना होगा। काठियावाड़ी के नाते आप पर हमारा पहला अधिकार हैं। इस समय तो हम आपको रोक नहीं सकते, पर लौटते समय आपको वढ़वाण उतरना होगा। यहाँ के

युवको का काम और उत्साह देख कर आप खुश होंगे। आप अपनी सेना में जब चाहेंगे तब हम भरती कर सकेंगे।'

मोतीलाल पर मेरी आँख चिक गयी। उनके दूसरे साथियों ने उनकी स्तुति करते हुए कहा, 'ये भाई दर्जी हैं। अपने धंधे में कुशल हैं, इसलिए रोज एक घंटा काम करके हर महीने लगभग पन्द्रह रुपये अपने खर्च के लिए कमा लेते हैं और बाकी का समय सार्वजनिक सेवा में बिताते हैं। ये हम सब पढे-लिखों का मार्गदर्शन करते हैं और हमें लज्जित करते हैं।'

बाद में मैं भाई मोतीलाल के सम्पर्क में काफी आया था और मैंने अनुभव किया था कि उनकी उपर्युक्त स्तुति में लेशमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं थी। जब सत्याग्रहाश्रम स्थापति हुआ, तो वे हर महीने वहाँ कुछ दिन अपनी हाजिरी दर्ज करा ही जाते थे। बालको को सीना सीखाते और आश्रम का सिलाई का काम भी कर जाते थे। वीरमगाम की बात तो वे मुझे रोज सुनाते थे। वहाँ यात्रियों को जिन मुसीबतों का सामना करना पड़ता था, वे उनके लिए असह्य थी। इन मोतीलाल को भरी जवानी में बीमारी उठा ले गयी और वढवाण उनके बिना सुना हो गया।

राजकोट पहुँचने पर दूसरे दिन सबेरे मैं उपर्युक्त आज्ञा के अनुसार अस्पताल में हाजिर हुआ। वहाँ तो मैं अपरिचित नहीं था। डॉक्टर शरमाये और उक्त जाँच करने वाले अधिकारी पर गुस्सा होने लगे। मुझे गुस्से का कोई कारण न दिखाई पड़ा। अधिकारी ने अपने धर्म का पालन ही किया था। वह मुझे पहचानता नही था और पहचानता होता तो भी उसने जो हुक्म दिया वह देना उसका धर्म था। पर चूंकि मैं सुपरिचित था, इसलिए राजकोट में मैं जाँच कराने जाउँ उसके बदले लोग घर आकार मेरी जाँच करने लगे।

ऐसे मामलो में तीसरे दर्जे के यात्रियों की जाँच करना आवश्यक हैं। बड़े माने जानेवाले लोग भी तीसरे दर्जे में यात्रा करे, तो उन्हें गरीबो पर लागू होनेवाले नियमो का स्वेच्छा से पालन करना चाहिए। पर मेरा अनुभव यह हैं कि अधिकारी तीसरे दर्जे के यात्रियों को आदमी समझने के बदले जानवर जैसा समझते हैं। 'तू' के सिवा उनके लिए दसरा कोई सम्बोधन ही नही होता। तीसरे दर्जे का यात्री न तो सामने जवाब दे सकता है, न बहस कर सकता हैं।

उसे इस तरह का व्यवहार करना पड़ता हैं, मानो वह अधिकारी का नौकर हो । अधिकारी उसे मारते पीटते हैं, उसे लूटते हैं, उसकी ट्रेन छुड़वा देते हैं, उसे टिकट देने में हैरान करते हैं।

यह सब मैंने स्वयं अनुभव किया हैं। इस वस्तुस्थिति में सुधार तभी हो सकता हैं जब कुछ पढे-लिखे और धनिक लोग गरीबो जैसे बने बने, तीसरे दर्जे में यात्रा करके गरीब यात्रियों को न मिलने वाली सुविधा का उपयोग न करे और अड़चनो, अशिष्टता, अन्याय और बीभत्सता को चुपचाप न सहकर उसका सामना करे और उन्हे दूर कराये । काठियावाड़ में मैं जहाँ-जहाँ भी घूमा वहाँ-वहाँ मैं वीरमगाम की चुंगी सम्बन्धी जाँच की शिकायते सुनी ।

अतएव मैंने लार्ड विलिंग्डन के दिये हुए निमंत्रण का तुरन्त उपयोग किया । इस सम्बन्ध में जो भी कागज-पत्र मिले, उन सबको मैं पढ़ गया । मैंने देखा कि शिकायतों में बहुत सच्चाई हैं। इस विषय में मैंने बम्बई सरकार से पत्र व्यवहार शुरु किया । सेक्रेटरी से मिला । लार्ड विलिंग्डन से भी मिला। उन्होने सहानुभूति प्रकट की, किन्तु दिल्ली की ढील की शिकायत की।

सेक्रेटरी ने कहा, 'हमारे ही हाथ की बात होती, तो हमने यह चुंगी कभी की उठा दी होती । आप केन्द्रीय सरकार के पास जाइये ।'

मैंने केन्द्रीय सरकार से पत्र-व्यवहार शुरु किया, पर पत्रो की पहुँच के अतिरिक्त कोई उत्तर न पा सका । जब मुझे लार्ड चेम्सफर्ड से मिलने का मौका मिला तब अर्थात् लगभग दो बरस के पत्र-व्यवहार के बाद मामले की सुनवाई हुई । लार्ड चेम्सफर्ड से बात करने पर उन्होंने आश्चर्य प्रकच किया । उन्हें वीरमगाम की कोई जानकारी नही थी । उन्होंने मेरी बात ध्यान-पूर्वक सुनी और उसी समय टेलिफोन करके वीरमगाम के कागज-पत्र मँगवाये और मुझे वचन दिया कि आपके कथन के विरुद्ध अधिकारियों को कोई आपत्ति नहीं हुई, तो चुंगी रद्द कर दी जायगी । इस मुलाकात के बाद कुछ ही दिनों में चुंगी उठ जाने की खबर मैंने अखबारो में पढ़ी ।

मैंने इस जीत को सत्याग्रही नींव माना, क्योंकि वीरमगाम के संबंध में बाते करते हुए बम्बई सरकार के सेक्रेटरी ने मुझ से कहा था कि मैंने इस विषय में बगसरा में जो भाषण किया था, उसकी नकल उनके पास हैं । उन्हें सत्याग्रह का जो उल्लेख किया गया था, उस पर उन्होने

अपनी अप्रसन्नता भी प्रकट की थी । उन्होंने पूछा था, 'क्या आप इसे धमकी नही मानते ? और इस तरह कोई शक्तिशाली सरकार धमकियों की परवाह करती हैं ?'

मैंने जवाब दिया, 'यह धमकी नही हैं । यह लोकशिक्षा हैं । लोगो को अपने दुःख दूर करने के सब वास्तविक उपाय बताना मुझ जैसो का धर्म हैं । जो जनता स्वतंत्रता चाहती हैं, उसके पास अपनी रक्षा का अन्तिम उपाय होना चाहिए । साधारणतः ऐसे उपाय हिंसात्मक होते हैं । पर सत्याग्रह शुद्ध अहिंसक शस्त्र है । उसका उपयोग और उसकी मर्यादा बताना मैं अपना धर्म समझता हूँ । मुझे इस विषय में सन्देह नहीं है कि अंग्रेज सरकार शक्तिशाली हैं । पर इस विषय में भी मुझे कोई सन्देह नहीं हैं कि सत्याग्रह सर्वोपरि शस्त्र हैं ।'

चतुर सेक्रेटरी ने अपना सिर हिलाया और कहा, 'ठीक हैं, हम देखेंगे ।'

४. शांतिनिकेतन

राजकोट से मैं शान्तिनिकेटन गया। वहाँ शान्तिनिकेतन के अध्यापकों और विद्यार्थियों ने मुझ पर अपना प्रेम बरसाया। स्वागत की विधि में सादगी, कला और प्रेम का सन्दुर मिश्रण था। वहाँ मैं काकासाहब कालेलकर से पहले-पहल मिला।

कालेलकर 'काकासाहब' क्यों कहलाते थे, यह मैं उस समय नहीं जानता था। लेकिन बाद में मालूम हुआ कि केशव राव देशपांडे, जो विलायत में मेरे समकालीन थे और जिनके साथ विलायत में मेरा अच्छा परिचय हो गया था, बड़ौदा राज्य में 'गंगानाथ विद्यालय' चला रहे हैं। उनकी अनेक भावनाओं में से एक यह भी थी कि विद्यालय में पारिवारिक भावना होनी चाहिए। इस विचार से वहाँ सब अध्यापको के नाम रखे गये थे। उनमें कालेलकर को 'काका' नाम मिला। फड़के 'मामा' बने। हरिहर शर्मा 'अण्णा' कहलाये। दूसरो के भी यथायोग्य नाम रखे गये। काका के साथी के रूप में आनन्दानन्द (स्वामी) और मामा के मित्र के नाते पटवर्धन (अप्पा) आगे चलकर इस कुटुम्ब में सम्मिलित हुए। इस कुटुम्ब के उपर्युक्त पाँचो सदस्य एक के बाद एक मेरे साथी बने। देशपांड़े 'साहब' के नाम से पुकारे जाने लगे। साहब का विद्यालय बन्द होने पर यह कुटुम्ब बिखर गया। पर इन लोगो में अपना आध्यात्मिक सम्बन्ध न छोड़ा। काकासाहब भिन्न-भिन्न अनुभव प्राप्त करने में लग गये। इसी सिलसिले में वे इस समय शांतिनिकेतन में रहते थे। इस मंड़ल के एक और सदस्य चिंतामण शास्त्री भी वहाँ रहते थे। ये दोनो संस्कृत सिखाने में हिस्सा लेते थे।

शांतिनिकेतन में मेरे मंडल को अलग से ठहराया गया था। यहाँ मगनलाल गांधी उस मंडल को संभाल रहे थे और फीनिक्स आश्रम के सब नियमों का पालन सूक्ष्मता से करते-कराते थे। मैंने देखा कि उन्होने अपने प्रेम, ज्ञान और उद्योग के कारण शांतिनिकेतन में अपनी सुगन्ध फैला दी थी। एंड्रूज तो यहाँ थे ही। पियर्सन थे। जगदानन्दबाबू, नेपालबाबू, संतोषबाबू, क्षितिमोहनबाबू, नगेनबाबू, शरदबाबू और कालीबाबू के साथ हमारा खासा सम्पर्क रहा। अपने स्वभाव के अनुसार मैं विद्यार्थियों और शिक्षकों में घुलमिल गया, और स्वपरिश्रम के विषय में चर्चा करने लगा। मैंने वहाँ के शिक्षकों के सामने यह बात रखी कि

वैतनिक रसोईयों के बदले शिक्षक और विद्यार्थी अपनी रसोई स्वयं बना ले तो अच्छा हो। ऐसा करने से आरोग्य और नीति की दृष्टि से रसोईघर पर शिक्षक समाज का प्रभुत्व स्थापित होगा और विद्यार्थी स्वावलम्बन तथा स्वयंपाक का पदार्थ-पाठ सीखेंगे। एक दो शिक्षको में सिर हिलाकर असहमति प्रकट की। कुछ लोगो को यह प्रयोग बहुत अच्छा लगा। नई चीज, फिर वह कैसी भी क्यो न हो, बालको को तो अच्छी लगती ही हैं। इस न्याय से यह चीज भी उन्हें अच्छी लगी और प्रयोग शुरू हुआ। जब कविश्री के सामने यह चीज रखी गयी तो उन्होंने सहमति दी कि यदि शिक्षक अनुकूल हो, तो स्वयं उन्हें यह प्रयोग अवश्य पसंद होगा। उन्होंने विद्यार्थियो से कहा, 'इसमें स्वराज्य की चाबी मौजूद है।'

पियर्सन ने प्रयोग को सफल बनाने में अपने आप को खपा लिया। उन्हे यह बहुत अच्छा लगा। एक मंडली साग काटने वालो की बनी, दूसरी अनाज साफ करने वालो की। रसोईघर के आसपास शास्त्रीय ढंग से सफाई रखने के काम में नगेनबाबू आदि जुट गये। उन लोगो को कुदाली से काम करते देखकर मेरा हृदय नाच उठा।

लेकिन मेहनत के इस काम को सवा सौ विद्यार्थी और शिक्षक भी एकाएक नही अपना सकते थे। अतएव रोज चर्चाये चलती थी। कुछ लोग छक जाते थे। परन्तु पियर्सन क्यों छकने लगे? वे हँसते चेहरे से रसोईघर के किसी न किसी काम में जुटे रहते थे। बड़े बड़े बरतन माँजना उन्हीं का काम था। बरतन माँजने वाली टुकडी की थकान उतारने के लिए कुछ विद्यार्थी वहाँ सितार बजाते थे। विद्यार्थियों ने प्रत्येक काम को पर्याप्त उत्साह से अपना लिया और समूचा शांतिनिकेतन मधुमक्खियों के छत्ते की भाँति गूँजने लगा।

इस प्रकार फेरफार जब एक बार शुरू हो जाते है, तो फिर वे रुक नहीं पाते। फीनिक्स का रसोईघर स्वावलम्बी बन गया था, यहीं नहीं बल्कि उसमें रसोई भी बहुत सादी बनती थी। मसालो का त्याग किया गया था। अतएव भात, दाल, साग तथा गेहूँ के पदार्थ भी भाप के द्वारा पका लिये जाते थे। बंगाली खुराक में सुधार करने के विचार से उस प्रकार का एक रसोईघर शुरू किया था। उसमें एक-दो अध्यापक और कुछ विद्यार्थी सम्मिलित हुए थे। ऐसे ही प्रयोगो में से सर्वसाधारण रसोईघर को स्वावलम्बी बनाने का प्रयोग शुरू किया जा सका था।

पर आखिर कुछ कारणो से यह प्रयोग बन्द हो गया। मेरा विश्वास है कि इस जगद्-विख्यात संस्था ने थोडे समय के लिए भी इस प्रयोग को अपनाकर कुछ खोया नही और उससे प्राप्त अनेक अनुभव उसके लिए उपयोगी सिद्ध हुए थे।

मेरा विचार शांतिनिकेतन में कुछ समय रहने का था। किन्तु विधाता मुझे जबरदस्ती घसीटकर ले गया। मैं मुश्किल से वहाँ एक हफ्ता रहा होऊँगा कि इतने में पूना से गोखले के अवसान का तार मिला। शांतिनिकेतन शोक में डूब गया। सब मेरे पास समवेदना प्रकट करने आये। मन्दिर में विशेष सभा की गयी। यह गम्भीर दृश्य अपूर्व था। मैं उसी दिन पूना के लिए रवाना हुआ। पत्नी और मगनलाल गांधी को मैंने अपने साथ लिया, बाकी सब शांतिनिकेतन में रहे।

बर्दवान तक एंड्रूज मेरे साथ आये थे। उन्होंने मुझ से पूछा, 'क्या आप को ऐसा लगता है कि हिन्दुस्तान में आपके लिए सत्याग्रह करने का अवसर हैं? और अगर ऐसा लगता हो तो कब आयेगा, इसकी कोई कल्पना आपको है ?'

मैंने जवाब दिया, 'इसका उत्तर देना कठिन हैं। अभी एक वर्ष तक तो मुझे कुछ करना ही नही हैं। गोखले ने मुझ से प्रतिज्ञा करवायी है कि मुझे एक वर्ष तक देश में भ्रमण करना हैं, किसी सार्वजनिक प्रश्न पर अपना विचार न तो बनाना है, न प्रकट करना हैं। मैं इस प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन करूँगा। बाद में भी मुझे किसी प्रश्न पर कुछ करने की जरुरत होगी तभी मैं कहूँगा। इसलिए मैं नही समझता कि पाँच वर्ष तक सत्याग्रह करने का कोई अवसर आयेगा।'

यहाँ यह कहना अप्रस्तुत न होगा कि 'हिन्द स्वराज्य' में मैंने डो विचार व्यक्त किये है, गोखले उनका मजाक उड़ाते थे और कहते थे, 'आप एक वर्ष हिन्दुस्तान में रहकर देखेंगे, तो आपके विचार अपने आप ठिकाने आ जायेंगे।'

५. तीसरे दर्जे की विडम्बना

बर्दवान पहुँचकर हमें तीसरे दर्जे का टिकट लेना था। उसे लेने में परेशानी हुई। जवाब मिला, 'तीसरे दर्जे के यात्री को टिकट पहले से नही दिया जाता।' मैं स्टेशन मास्टर से मिलने गया। उनके पास मुझे कौन जाने देता? किसी ने दया करके स्टेशन मास्टर को दिखा दिया। मैं वहाँ पहुँचा। उनसे भी उपर्युक्त उत्तर मिला। खिड़की खुलने पर टिकट लेने गया। पर टिकट आसानी से मिलने वाला न था। बलबान यात्री एक के बाद एक घुसते जाते और मुझ जैसो को पीछे हटाते जाते। आखिर टिकट मिला।

गाड़ी आयी। उसमें भी जो बलबान थे वे घुस गये। बैठे हुओ और चढने वालो के बीच गाली गलौज और धक्का मुक्की शुरू हुई। इसमें हिस्सा लेना मेरे लिए सम्भव न था। हम तीनो इधर से उधर चक्कर काटते रहे। सब ओर से एक ही जवाब मिलता था, 'यहाँ जगह नही हैं।' मैं गार्ड के पास गया। उसने कहा, 'जगह मिले तो बैठो, नही तो दूसरी ट्रेन में जाना।'

मैंने नम्रता पूर्वक कहा, 'लेकिन मुझे जरुरी काम है।' यह सुनने के लिए गार्ड के पास समय नही था। मैं हारा। मगनलाल से कहा, 'जहाँ जगह मिले, बैठ जाओ।' पत्नी को लेकर मैं तीसरे दर्जे के टिकट से ड्योढे दर्जे में घुसा। गार्ड ने मुझे उसमें जाते देख लिया था।

आसनसोल स्टेशन पर गार्ड ज्यादा किराये के पैसे लेने आया। मैंने कहा, 'मुझे जगह बताना आपका धर्म था। जगह न मिलने के कारण मैं इसमें बैठा हूँ। आप मुझे तीसरे दर्जे में जगह दिलाइये। मैं उसमें जाने को तैयार हूँ।'

गार्ड साहब बोले, 'मुझ से बहस मत कीजिये। मेरे पास जगह नही है। पैसे न देने हो, तो गाड़ी से उतरना पड़ेगा।'

मुझे तो किसी भी तरह पूना पहुँचना था। गार्ड से लड़ने की मेरी हिम्मत न थी। मैंने पैसे चुका दिये। उसने ठेठ पूना तक का डयोढ़ा भाड़ा लिया। यह अन्याय मुझे अखर गया।

सबेरे मुगलसराय स्टेशन आया। मगनलाल ने तीसरे दर्जे में जगह कर ली थी। मुगलसराय में मैं तीसरे दर्जे में गया। टिकट कलेक्टर को मैंने वस्तुस्थिति की जानकारी दी और उससे इस बात का प्रमाण पत्र माँगा कि मैं तीसरे दर्ज में चला आया हूँ। उसने देने से इनकार किया। मैंने अधिक किराया वापस प्राप्त करने के लिए रेलवे के उच्च्च अधिकारी को पत्र लिखा।

उनकी ओर से इस आशय का उत्तर मिला, 'प्रमाणपत्र के बिना अतिरिक्त किराया लौटाने का हमारे यहाँ रिवाज नही है। पर आपके मामले में हम लौटाये दे रहे है। बर्दवान से मुगलसराय तक का डयोढ़ा किराया वापस नही किया जा सकता।'

इसके बाद के तीसरे दर्जे की यात्रा के मेरे अनुभव तो इतने है कि उनकी एक पुस्तक बन जाय। पर उनमें से कुछ की प्रांसगिक चर्चा करने के सिवा इन प्रकरणो में उनका समावेश नही हो सकता। शारीरिक असमर्थता के कारण तीसरे दर्जे की मेरी यात्रा बन्द हो गयी। यह बात मुझे सदा खटकी है और आगे भी खटकती रहेगी। तीसरे दर्जे की यात्रा में अधिकारियो की मनमानी से उत्पन्न होने वाली विडम्बना तो रहती ही है। पर तीसरे दर्जे में बैठने वाले कई यात्रियो का उजड्पन, उनकी स्वार्थबुद्धि और उनका अज्ञान भी कुछ कम नही होता। दुःख तो यह है कि अकसर यात्री यह जानते ही नही कि वे अशिष्टता कर रहे है, अथवा गंदगी फैला रहे है अथवा अपना ही मतलब खोज रहे है। वे जो करते है, वह उन्हे स्वाभाविक मालूम होता है। हम सभ्य और पढ़े लिखे लोगो ने उनकी कभी चिन्ता ही नही की।

थके मांदे हम कल्याण जंकशन पहुँचे। नहाने की तैयारी की। मगनलाल और मैंने स्टेशन के नल से पानी लेकर स्नान किया। पत्नी के लिए कुछ तजवीज कर रहा था कि इतने में भारत समाज के भाई कौल ने हमें पहचान लिया। वे भी पूना जा रहे थे। उन्होने पत्नी को दूसरे दर्जे के स्नानग्रह में स्नान कराने के लिए ले जाने की बात कही। इस सौजन्य को स्वीकार करने में मुझे संकोच हुआ। पत्नी को दूसरे दर्जे के स्नानघर का उपयोग करने का अधिकार नही था इसे मैं जानता था। पर मैंने उसे इस स्नानघर में नहाने देने के अनौचित्य के प्रति आँखे मूँद ली। सत्य के पुजारी को यह भी शोभा नही देता। पत्नी का वहाँ जाने का कोई आग्रह नही था, पर पति के मोहरूपी सुवर्णपात्र ने सत्य को ढांक लिया।

६. मेरा प्रयत्न

पूना पहुँचने पर गोखले की उत्तरक्रिया आदि सम्पन्न करके हम सब इस प्रश्न की चर्चा में लग गये कि अब सोसायटी किस तरह चलायी जाय और मुझे उसमें सम्मिलित होना चाहिए या नही । मुझ पर भारी बोझ आ पड़ा । गोखले के जीते जी मेरे लिए सोसायटी में दाखिल होने का प्रयत्न करना आवश्यक न था । मुझे केवल गोखले की आज्ञा और इच्छा के वश होना था । यह स्थिति मुझे पसन्द थी । भारतवर्ष के तूफानी समुद्र में कूदते समय मुझे एक कर्णधार की आवश्यकता थी और गोखले के समान कर्णधार की छाया में मैं सुरक्षित था ।

अब मैंने अनुभव किया कि मुझे सोसायटी में भरती होने के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए । मुझे यह लगा कि गोखले की आत्मा यही चाहेगी । मैंने बिना संकोच के और दढता यह प्रयत्न शुरू किया । इस समय सोसायटी के लगभग सभी सदस्य पूना में उपस्थित थे । मैंने उन्हें मनाना और मेरे विषय में जो डर था उसे दूर करना शुरू किया । किन्तु मैंने देखा कि सदस्यो में मतभेद था। एक राय मुझे दाखिल करने के पक्ष में थी, दूसरी दृढता पूर्वक मेरे प्रवेश का विरोध करती थी । मैंन अपने प्रति दोनो पक्षो के प्रेम को देख सकता था । पर मेरे प्रति प्रेम उनकी वफादारी कदाचित् अधिक थी, प्रेम से कम तो थी ही नही ।

इस कारण हमारी चर्चा मीठी थी और केवल सिद्धान्तो का अनुसरण करने वाली थी । विरुद्ध पक्षवालो को लगा कि अनेक विषयों में मेरे और उनके विचारो के बीच उत्तर दक्षिण का अन्तर था । इससे भी अधिक उन्हे यह लगा कि जिन ध्येयो को ध्यान में रखकर गोखले ने सोसायटी की रचना की थी, मेरे सोसायटी में रहने से उन ध्ययो के ही खतरे में पड़ जाने की पूरी संभावना थी । स्वभावतः यह उन्हे असह्य प्रतीत हुआ ।

लम्बी चर्चा के बाद हम एक दूसरे से अलग हुए । सदस्यो ने अंतिम निर्णय की बात दूसरी सभा तक उठा रखी ।

घर लौटते हुए मैं विचारो के भँवर में पड़ गया । बहुमत से दाखिल होने का प्रंसग आने पर क्या वैसा करना मेरे लिए इष्ट होगा ? क्या वह गोखले के प्रति मेरी वफादारी मानी जायगी ? अगर मेरे विरुद्ध मत प्रकट हो तो क्या उस दशा में मैं सोयायटी की स्थिति को नाजुक बनाने

का निमित्त न बनूँगा ? मैंने स्पष्ट देखा कि जब तक सोसायटी के सद्स्यो में मुझे दाखिल करने के बारे में मतभेद रहे, तब तक स्वयं मुझी को दाखिल होने का आग्रह छोड़ देना चाहिए और इस प्रकार विरोधी पक्ष को नाजुक स्थिति में पड़ने से बचा लेना चाहिए। उसी में सोसायटी और गोखले के प्रति मेरी वफादारी है। ज्यो ही मेरी अन्तरात्मा में इस निर्णय का उदय हुआ, त्यो ही मैंने शास्त्री को पत्र लिखा कि वे मेरे प्रवेश के विषय में सभा बुलाये ही नही। विरोध करने वालो को मेरा यह निश्चय बहुत पसन्द आया। वे धर्म संकट से बच गये। उनके और मेरे बीच की स्नेहगाँठ अधिक दढ हो गयी और सोसायटी में प्रवेश पाने की अपनी अर्जी को वापस लेकर मैं सोसायटी का सच्चा सदस्य बना।

अनुभव से मैं देखता हूँ कि मेरा प्रथा के अनुसार सोसायटी का सदस्य न बनना ही उचित था, और जिन सदस्यो में मेरे प्रवेश का विरोध किया था, उनका विरोध वास्तविक था। अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि उनके और मेरे सिद्धान्तो के बीच भेद था।

किन्तु मतभेद को जान चुकने पर भी हमारे बीच आत्मा का अन्तर कभी नही पड़ा, खटाई कभी पैदा न हुई। मतभेद के रहते भी हम परस्पर बंधु और मित्र रहे है। सोसायटी का स्थान मेरे लिए यात्रा का धाम रहा है। लौकिक दृष्टि से मैं भले ही उसका सदस्य नही बना, पर आध्यात्मिक दृष्टि से को मैं उसका सदस्य रहा ही हूँ। लौकिक सम्बन्ध की अपेक्षा आध्यात्मिक सम्बन्ध अधिक मूल्यवान है। आध्यत्मिक सम्बन्ध से रहित लौकिक सम्बन्ध प्राणहीन देह के समान है।

७. कुम्भमेला

मुझे डॉ. प्राणजीवनदास मेहता से मिलने रंगून जाना था। वहाँ जाते हुए श्री भूपेन्द्रनाथ बसु का निमंत्रण पाकर मैं कलकत्ते में उनके घर ठहरा था। यहाँ बंगाली शिष्टाचार की पारकाष्ठा हो गयी थी। उन दिनो मैं फलाहार ही करता था। मेरे साथ मेरा लड़का रामदास था। कलकत्ते में जितने प्रकार का सूखा और हरा मेवा मिला, उतना सब इकट्ठा किया गया था। स्त्रियों में रात भर जागकर पिस्तो बगैरा को भिगोकर उनके छिलके उतारे थे। ताजे फल भी जितनी सुधड़ता से सजाये जा सकते थे, सजाये गये थे। मेरे साथियों के लिए अनेक प्रकार के पकवान तैयार किये गये थे। मैं इस प्रेम और शिष्टाचार को तो समझा, लेकिन एक दो मेहमानो के लिए समूचे परिवार का सारे दिन व्यस्त रहना मुझे असह्य प्रतीत हुआ। परन्तु इस मुसीबत से बचने का मेरे पास कोई इलाज न था .

रंगून जाते समय स्टीमर में मैं डेक का यात्री था। यदि श्री बसु के यहाँ प्रेम की मुशीबत थी, तो स्टीमर में अप्रेम की मुशीबत थी। डेक के यात्री के कष्टो का मैंने बुरी तरह अनुभव किया। नहाने की जगह तो इतनी गंदी थी कि वहाँ खड़ा रहना भी कठिन था। पाखाने नरक के कुंड बने हुए थे। मल-मूत्रादि से चलकर या उन्हें लाँधकर पाखाने में जाना होता था ! मेरे लिए ये असुविधायें भयंकर थी। मैं जहाज के अधिकारियो के पास पहुँचा, पर सुनता कौन है ? यात्रियो ने अपनी गंदगी से डेक को गंदा कर डाला था। वे जहाँ बैठे होते वहीं थूक देते, वहीं सुरती के पीक की पिचकारियाँ चलाते और वहीं खाने पीने के बाद बचा हुआ कचरा ड़ालते थे। बातचीत से होने वाले कोलाहल की कोई सीमा न थी। सब कोई अपने लिए अधिक से अधिक जगह घेरने की कोशिश करते थे। कोई किसी की सुविधा का विचार न करता था, सामान उससे अधिक जगह घेर लेता था। ये दो दिन बड़ी घबराहट में बीते।

रंगून पहुँचने पर मैंने एजेंट को सारा हाल लिख भेजा। लौटते समय भी मैं डेक पर ही आया। पर इस पत्र और डॉ. मेहता के प्रबंध के फलस्वरुप अपेक्षाकृत अधिक सुविधा से आया।

मेरे फलाहार की झंझट तो यहाँ डी अपेक्षाकृत अधिक ही रहती थी। डॉ. मेहता के साथ ऐसा सम्बन्ध था कि उनके घर को मैं अपनी ही घर समझ सकता था। इससे मैंने पदार्था पर

तो अंकुश रख लिया था, लेकिन उनकी कोई मर्यादा निश्चित नही की थी। इस कारण तरह-तरह का जो मेवा आता, उसका मैं विरोध न करता था। नाना प्रकार की वस्तुएँ आँखो और जीभ को रुचिकर लगती थी। खाने का कोई निश्चित समय नही था। मैं स्वयं जल्दी खा लेना पसन्द करता था, इसलिए बहुत देर तो नही होती थी। फिर भी रात के आठ नौ तो सहज ही बज जाते थे।

सन् 1915 में हरद्वार में कुम्भ का मेला था। उसमें जाने की मेरी कोई खास इच्छा नही थी। लेकिन मुझे महात्मा मुंशीराम के दर्शनो के लिए जरूर जाना था। कुम्भ के अवसर पर गोखले के भारत-सेवक समाज ने एक बड़ी टुकड़ी भेजी थी। उसका प्रबन्ध श्री हृदयनाथ कुंजरू के जिम्मे था। स्व. डॉ. देव भी उसमें थे। उनका यह प्रस्ताव था कि इस काम में मदद करने के लिए मैं अपनी टुकड़ी भी ले जाऊँ। शांतिनिकेतन वाली टुकड़ी को लेकर मगनलाल गांधी मुझ से पहले हरद्वार पहुँच गये थे। रंगून से लौटकर मैं भी उनसे जा मिला।

कलकत्ते से हरद्वार पहुँचने में खूब परेशानी उठानी पड़ी। गाडी के डिब्बो में कभी कभी रोशनी तक नही होती थी। सहारनपुर से तो यात्रियो को माल के या जानवरो के डिब्बो में ठूँस दिया गया था। खुले, बिना छतवाले डिब्बो पर दोपहर का सूरज तरता था। नीचे निरे लोहे को फर्श था। फिर घबराहट का क्या पूछना ? इतने पर भी श्रद्धालु हिन्दू अत्यन्त प्यासे होने पर भी 'मुसलमान पानी' के आने पर उसे कभी न पीते थे। 'हिन्दू पानी' की आवाज आती तभी वे पानी पीते। इन्हीं श्रद्धालु हिन्दुओ को डॉक्टर दवा में शराब दे, माँस का सत दे अथवा मुसलमान या ईसाई कम्पाउन्डर पानी दे, तो उसे लेने में इन्हें कोई संकोच नही होता और न पूछताछ करने की जरूरत होती है।

हमने शांतिनिकेतन में ही देख लिया था कि भंगी का काम करना हिन्दुस्तान में हमारा खास धंधा ही बन जायगा। स्वयंसेवको के लिए किसी धर्मशाला में तम्बू लगाये गये थे। पाखानो के लिए डॉ. देव ने गड्ढे खुदवाये थे। पर उन गड्ढो की सफाई का प्रबंध तो ऐसे अवसर पर जो थोडे से वैतनिक भंगी मिल सकते थे उन्ही के द्वारा वे करा सकते थे न ? इन गड्ढो में जमा होने वाले पाखाने को समय समय पर ढंकने और दूसरी तरह से उन्हे साफ रखने का काम फीनिक्स की टुकड़ी के जिम्मे कर देने की मेरी माँग को डॉ. देव ने खुशी खुशी स्वीकार

कर लिया। इस सेवा की माँग तो मैंने की, लेकिन इसे करने का बोझ मगनलाल गांधी ने उठाया। मेरा धंधा अधिकतर डेरे के अन्दर बैठकर लोगो को 'दर्शन' देने का और आनेवाले अनेक यात्रियो के साथ धर्म की या ऐसी ही दूसरी चर्चाये करने का बन गया। मैं दर्शन देते देते अकुला उठा। मुझे उससे एक मिनट की फुरसत न मिलती थी। नहाने जाते समय भी दर्शनाभिलाषी मुझे अकेला न छोड़ते थे। फलाहार के समय तो एकान्त होता ही कैसे ? अपने तम्बू के किसी भी हिस्से में मैं एक क्षण के लिए भी अकेला बैठ नही पाया। दक्षिण अफ्रीका में जो थोडी बहुत सेवा मुझसे बन पड़ी थी, उसका कितना गहरा प्रभाव सारे भारतखंड पर पड़ा है, इसका अनुभव मैंने हरद्वार में किया।

मैं तो चक्की के पाटो के बीच पिसने लगा। जहाँ प्रकट न होत वहाँ तीसरे दर्जे के यात्री के नाते कष्ट उठाता और जहाँ ठहरता वहाँ दर्शनार्थियों के प्रेम से अकुला उठता। मेरे लिए यह कहना प्रायः कठिन है कि दो में से कौन सी स्थिति अधिक दयाजनक है। दर्शनार्थियो के प्रेम प्रदर्शन से मुझे बहुत बार गुस्सा आया है, और मन में तो उससे भी अधिक बार मैं दुःखी हुआ हूँ, इतना मैं जानता हूँ। तीसरे दर्जे की कठिनाइयों से मुझे असुविधा हुई है, पर क्रोध शायद ही कभी आया है, और उससे मेरी उन्नति ही हुई है।

उन दिनो मुझ में घूमने फिरने की काफी शक्ति थी। इससे मैं काफी भ्रमण कर सका था। उस समय मैं इतना प्रसिद्ध नही हुआ था कि रास्तो पर चलना भी मुश्किल से संभव हो। इस भ्रमण में मैंने लोगो की धर्म भावना की अपेक्षा उनका पागलपन, उनकी चंचलता, उनका पाखंड और उनकी अव्यवस्था ही अधिक देखी। साधुओ का तो जमघट ही इकट्ठा हो गया था। ऐसा प्रतीत हुआ मानो वे सिर्फ मालपुए और खीर खाने के लिए ही जन्मे हो। यहाँ मैंने पाँच पैरोवाली एक गाय देखी। मुझे तो आश्चर्य हुआ किन्तु अनुभवी लोगो ने मेरा अज्ञान तुरन्त दूर कर दिया। पाँच पैरोवाली गाय दुष्ट और लोभी लोगो के लोभ की बलिरूप थी। गाय के कंधे को चीर कर उसमें जिन्दे बछडे का काटा हुआ पैर फँसाकर कंधे को सी दिया जाता था और इस दोहरे कसाईपन का उपयोग अज्ञानी लोगो को ठगने में किया जाता था। पाँच पैरोवाली गाय के दर्शन के लिए कौन हिन्दू न ललचायेगा ? उस दर्शन के लिए वह जितना दान दे उतना कम है।

कुम्भ का दिन आया। मेरे लिए वह धन्य घड़ी थी। मैं यात्रा की भावना से हरद्वार नही गया था। तीर्थक्षेत्र में पवित्रता की शोध में भटकने का मोह मुझे कभी नही रहा। किन्तु 17 लाख लोग पाखंडी नही हो सकते थे। कहा गया था कि मेले में 17 लाख लोग आये होगे। इनमें असंख्य लोग पुण्य कमाने के लिए, शुद्धि प्राप्त कमाने के लिए आये थे, इसमें मुझे कोई शंका न थी। यह कहना असंभव नही तो कठिन अवश्य है कि इस प्रकार की श्रद्धा आत्मा को किस हद तक ऊपर उठाती होगी।

मैं बिछौने पर पड़ा पड़ा विचार सागर में डूब गया। चारो ओर फैले हुए पाखंड के बीत ये पवित्र आत्माये भी है। ये ईश्वर के दरबार में दंडनीय नही मानी जाएगी। यदि ऐसे अवसर पर हरद्वार में आना ही पाप हो तो मुझे सार्वजनिक रुप से उसका विरोध करके कुम्भ के दिन तो हरद्वार का त्याग ही करना चाहिए। यदि यहाँ आने में और कुम्भ के दिन रहने में पाप न हो, तो मुझे कोई-न-कोई कठोर व्रत लेकर प्रचलित पाप का प्रायश्चित करना चाहिए, आत्मशुद्धि करनी चाहिए। मेरा जीवन व्रतो की नींव पर रचा हुआ है। इसलिए मैंने कोई कठिन व्रत लेने का निश्चय किया। मुझे उस अनावश्यक परिश्रम की याद आयी, जो कलकत्ते और रंगून में यजमानो को मेरे लिए उठाना पड़ा था। इसलिए मैंने आहार की वस्तुओ की मर्यादा बाँधने और अंधेरे से पहले भोजन करने का व्रत लेने का निश्चिय किया। मैंने देखा कि यदि मैं यजमानो के लिए मैं भारी असुविधा का कारण बन जाऊँगा और सेवा करने के बदले हर जगह लोगो को मेरी सेवा में ही उलझाये रहूँगा। अतएव चौबीस घंटो में पाँच चीजो से अधिक कुछ न खाने और रात्रि भोजन के त्याग का व्रत तो मैंने ले ही लिया। दोनो की कठिनाई का पूरा विचार कर लिया। मैंने इन व्रतो में से एक भी गली न रखने की निश्चय किया। बीमारी में दवा के रुप में बहुत सी चीजे लेना या न लेना, दवा की गितनी खाने की वस्तुओ में करना या न करना, इन सब बातो को सोच लिया और निश्चय किया कि खाने के कोई भी पदार्थ मैं पाँच से अधिक न लूँगा। इन दो व्रतों को लिये अब तेरह वर्ष हो चुके है। इन्होने मेरी काफी परीक्षा की है। किन्तु जिस प्रकार परीक्षा की हैं, उसी प्रकार ये व्रत मेर लिए काफी ढालरूप भी सिद्ध हुए हैं। मेरा यह मत है कि इन व्रतो के कारण मेरा जीवन बढ़ा है और मैं मानता हूँ कि इनकी वजह से मैं अनेक बार बीमारियो से बच गया हूँ।

८. लछमन झूला

जब मैं पहाड़ से दीखने वाले महात्मा मुंशीराम जी के दर्शन करने और उनका गुरुकुल देखने गया, तो मुझे वहाँ बड़ी शांति मिली। हरिद्वार के कोलाहल और गुरुकुल की शांति के बीच का भेद स्पष्ट दिखायी देता था। महात्मा ने मुझे अपने प्रेम से नहला दिया। ब्रह्मचारी मेरे पास से हटते ही न थे। रामदेवजी से भी उसी समय मुलाकात हुई और उनकी शक्ति का परिचय मैं तुरन्त पा गया। यद्यपि हमें अपने बीच कुछ मतभेद का अनुभव हुआ, फिर भी हम परस्पर स्नेह की गाँठ से बँध गये। गुरुकुल में औद्योगिक शिक्षा शुरु करने की आवश्यकता के बारे मैं रामदेव और दूसरे शिक्षकों के साथ मैंने काफी चर्चा की। मुझे गुरुकुल छोड़ते हुए दुःख हुआ।

मैंने लछमन झूले की तारीफ बहुत सुनी थी। बहुतो ने मुझे सलाह दी कि ऋषिकेश गये बिना मैं हरिद्वार न छोड़ूँ। मुझे वहाँ पैदल जाना था। इसलिए एक मंजिल ऋषिकेश की ओर दूसरी लछमन झूले की थी।

ऋषिकेश में अनेक संन्यासी मुझ से मिलने आये थे। उनमें से एक को मेंरे जीवन में बड़ी दिलचस्पी पैदा हुई। फीनिक्स मंडल मेंरे साथ था। उन सबको देखकर उन्होंने अनेक प्रश्न पूछे। हमारे बीच धर्म की चर्चा हुई। उन्होंने देखा कि मुझमें धर्म की तीव्र भावना है। मैं गंगा स्नान करके आया था, इसलिए शरीर खुला था। मेंरे सिर पर न शिखा और जनेऊ न देखकर उन्हें दुःख हुआ और उन्होंने मुझ से कहा, 'आप आस्तिक होते हुए भी जनेऊ और शिखा नही रखते है, इससे हमारे समान लोगो को दुःख होता है। ये दो हिन्दू धर्म की बाह्य संज्ञाये है और प्रत्येक हिन्दू को इन्हें धारण करना चाहिए।'

लगभग दस साल की उमर में पोरबन्दर में ब्राह्मणो के जनेऊ में बँधी हुई चाबियो की झंकार सुनकर मुझे उनसे ईर्ष्या होती थी। मैं सोचा करता था कि झंकार करने वाली कुंजियाँ करने वाली कुंजियाँ जनेऊ में बाँधकर मैं भी धूमूँ तो कितना अच्छा हो ! उन दिनो काठियावाड के वैश्य परिवारो में जनेऊ पहनने का रिवाज नही था। पर पहले तीन वर्णो को जनेऊ पहनना चाहिए, इस आशय का नया प्रचार चल रहा था। उसके फलस्वरूप गांधी कुटुम्ब के कुछ

क्यक्ति जनेऊ पहनने लगे थे । जो ब्राह्मण हम दो तीन भाइयो को रामरक्षा का पाठ सिखाते थे, उन्होंने हमें जनेऊ पहनाया और अपने पास कुंजी रखने का कोई कारण न होते हुए भी मैंने दो तीन कुंजियाँ उसमें लटका लीं। जनेऊ के टूट जाने पर उसका मोह उतर गया था या नही, सो तो याद नही है । पर मैंने नया जनेऊ नहीं पहना ।

बड़ी उमर होने पर हिन्दुस्तान और दक्षिण अफ्रीका में भी दूसरो ने मुझे जनेऊ पहनाने का प्रयत्न किया था, पर मेरे ऊपर दलीलो का कोई असर न हुआ था । यदि शुद्र जनेऊ न पहन सकें तो दूसरे वर्ण क्यो पहने ? जिस बाह्य वस्तु की प्रथा हमारे कुटुम्ब में नही थी, उसे आरंभ करने का मुझे एक भी सबल कारण नही मिला था । मेरा जनेऊ पहनने से कोई विरोध नही था, परन्तु उसे पहनने का कोई कारण नही दिखाई देता था । वैष्णव होने के कारण मैं कंठी पहनता था । शिखा तो गुरूजन हम भाइयो के सिर पर रखवाते ही थे । पर विलायत जाने के समय मैंने इस शरम के मारे शिखा कटा दी थी कि वहाँ सिर खुला रखना होगा, गोरे शिखा को देखकर हँसेगे और मुझे जंगली समझेगे । मेरे साथ रहनेवाले मेरे भतीजे छगनलाल गांधी दक्षिण अफ्रीका में बड़ी श्रद्धा से शिखा रखते थे । यह शिखा उनके सार्वजनिक काम में बाधक होगी, इस भ्रम के कारण मैंने उसका मन दुखाकर भी उसे कटवा दिया था । यों शिखा रखने में मुझे शरम लगती थी ।

मैंने स्वामीजी को उपर्युक्त बाते कह सुनायी और कहा, 'मैं जनेऊ तो धारण नही करुँगा । जिसे न पहनते हुए भी असंख्य हिन्दू हिन्दू माने जाते है, उसे पहनने की मैं अपने लिए कोई जरूरत नही देखता । फिर, जनेऊ धारण करने का अर्थ है दुसरा जन्म लेगा, अर्थात् स्वयं संकल्प-पूर्वक शुद्ध बनना, ऊर्ध्वगामी बनना । आजकल हिन्दू समाज और हिन्दुस्तान दोनो गिरी हालत में है । उसमें जनेऊ धारण करने का हमें अधिकार ही कहाँ है ? हिन्दू समाज को जनेऊ का अधिकार तभी हो सकता है, जब वह अस्पृश्यता का मैंल धो डाले, ऊँच-नीच की बात भूल जाये, जड़ जमाये हुए दूसरे दोषो को दूर करे और चारो ओर फैले हुए अधर्म तथा पाखंड का अन्त कर दे । इसलिए जनेऊ धारण करने की आपकी बात मेरे गले नही उतरती । किन्तु शिखा के संबंध में आपकी बात मुझे अवश्य सोचनी होगी । शिखा तो मैं रखता था । लेकिन उसे मैंने शरम और डर के मारे ही कटा डाला है । मुझे लगता है कि शिखा धारण करनी चाहिए । मैं इस सम्बन्ध में अपने साथियो से चर्चा करूँगा ।'

स्वामीजी को जनेऊ के बारे में मेरी दलील अच्छी नही लगी। जो कारण मैंने न पहनने के लिए दिये, वे उन्हें पहनने के पक्ष में दिखायी पड़े। जनेऊ के विषय में ऋषिकेश में मैंने जा विचार प्रकट किये थे, वे आज भी लगभग उसी रूप में कायम है। जब तक अलग-अलग धर्म मौजूद है, तब तक प्रत्येक धर्म को किसी विशेष बाह्य चिह्न की आवश्यकता हो सकती है। लेकिन जब बाह्य संज्ञा केवल आडम्बर बन जाती है अथवा अपने धर्म को दूसरे धर्म से अलग बताने के काम आती है, तब वह त्याज्य हो जाती है। मैं नही मानता कि आजकल जनेऊ हिन्दू धर्म को ऊपर उठाने का साधन है। इसलिए उसके विषय में मैं तटस्थ हूँ।

शिखा का त्याग स्वयं मेरे लिए लज्जा का कारण था। इसलिए साथियो से चर्चा करके मैंने उसे धारण करने का निश्चय किया। पर अब हमें लछमन झूले की ओर चलना चाहिए।

ऋषिकेश और लछमन झूले के प्राकृतिक दृश्य मुझे बहुत भले लगे। प्राकृतिक कला को पहचानने की पूर्वजो की शक्ति के विषय में और कला को धार्मिक स्वरूप देने की उनकी दीर्धदृष्टि के विषय में मैंने मन-ही-मन अत्यन्त आदर का अनुभव किया।

किन्तु मनुष्य की कृति से चित को शांति नही मिली। हरिद्वार की तरह ऋषिकेश में भी लोग रास्तो को और गंगा के सुन्दर किनारो को गन्दा कर देते थे। गंगा के पवित्र जल को दूषित करने में भी उन्हे किसी प्रकार का संकोच न होता था। पाखाने जानेवाले दूर जाने के बदले जहाँ लोगो की आमद-रफ्त होती, वही हाजत रफा करने बैठ जाते थे। यह देखकर हृदय को बहुत आधात पहुँचा।

लछमन झूला जाने हुए लोहे का झूलता पुल देखा। लोगो से सुना कि यह पुल पहले रस्सियो का था और बहुत मजबूत था। उसे तोड़कर एक उदार-हृदय मारवाड़ी सज्जन में बडा दान देकर लोहे का पुल बनवा दिया और उसकी चाबी सरकार को सौप दी।

रस्सियो को पुल की मुझे कोई कल्पना नही है, पर लोहे का पुल प्राकृतिक वातावरण को कलुषित कर रहा था और अप्रिय मालूम होता था। यात्रियो ने इस रास्ते की चाबी सरकार को सौप दी, यह चीज मेरी उस समय की वफादारी को भी असह्य लगी।

वहाँ से भी अधिक दुःखद दृश्य स्वर्गाश्रम का था। टीन की चादरो की तबेले जैसी कोठरियो को स्वार्गश्रम का नाम दिया था। मुझे बतलाया गया कि ये साधको के लिए बनवायी गयी

थी। उस समय उनमें शायद ही कोई साधक रहता था। उनके पास बने हुए मुख्य भवन में रहनेवालो ने भी मुझ पर अच्छा असर न डाला।

पर हरिद्वार के अनुभव मेरे लिए अमूल्य सिद्ध हुए। मुझे कहाँ बसना और क्या करना चाहिए, इसका निश्चय करने में हरिद्वार के अनुभवो ने मेरी बड़ी मदद की।

९. आश्रम की स्थापना

कुम्भ की यात्रा मेरी हरिद्वार की दूसरी यात्रा थी। सन् 1915 के मई महीने की 25 तारीख के दिन सत्याग्रह आश्रम की स्थापना हुई। श्रद्धानन्दजी की इच्छा थी कि मैं हरिद्वार में बसूँ। कलकत्ते के कुछ मित्रो की सलाह वैद्यनाथधाम में बसाने की थी। कुछ मित्रो को प्रबल आग्रह राजकोट में बसने का था।

किन्तु जब मैं अहमदाबाद से गुजरात, तो बहुत से मित्रो ने अहमदाबाद पसन्द करने को कहा और आश्रम का खर्च खुद ही उठाने का जिम्मा लिया। उन्होने मकान खोज देना भी कबूल किया।

अहमदाबाद पर मेरी नजर टिकी थी। गुजराती होने के कारण मैं मानता था कि गुजराती भाषा द्वारा मैं देश की अधिक से अधिक सेवा कर सकूँगा। यह भी धारणा थी कि चूंकि अहमदाबाद पहले हाथ की बुनाई का केन्द्र था, इसलिए चरखे का काम यही अधिक अच्छी तरह से हो सकेगा। साथ ही, यह आशा भी थी कि गुजरात का मुख्य नगर होने के कारण यहाँ के धनी लोग धन की अधिक मदद कर सकेंगे।

अहमदाबाद के मित्रो के साथ मैंने जो चर्चाये की, उनमें अस्पृश्यो का प्रश्न भी चर्चा का विषय बना था। मैंने स्पष्ट शब्दो में कहा था कि यदि कोई योग्य अंत्यज भाई आश्रम में भरती होना चाहेगा तो मैं उसे अवश्य भरती करूँगा।

'आपकी शर्तो का पालन कर सकने वाले अंत्यज कौन रास्ते में पड़े है ?' यो कहकर एक वैष्णव मित्र ने अपने मन का समाधान कर लिया और आखिर में अहमदाबाद में बसने का निश्चय हुआ।

मकानो की तलाश करते हुए कोचरब में श्री जीवणलाल बारिस्टर का मकान किराये पर लेने का निशचय हुआ । श्री जीवणलाल मुझे अहमदाबाद में बसाने वालो में अग्रगण्य थे ।

तुरन्त ही प्रश्न उठा कि आश्रम का नाम क्या रखा जाय ? मैंने मित्रो से सलाह की। कई नाम सामने आये । सेवाश्रम, तपोवन आदि नाम सुझाये गये थे । सेवाश्रम नाम मुझे पसन्द था, पर उससे सेवा की रीति का बोध नही होता था । तपोवन नाम पसंद किया ही नही जा सकता था, क्योकि यद्यपि मुझे तपश्चर्या प्रिय थी, फिर भी यह नाम बहुत भारी प्रतीत हुआ । हमें तो सत्य की पूजा करनी थी, सत्य की शोध करनी थी, उसी का आग्रह रखना था, और दक्षिण अफ्रीका में मैंने जिस पद्धति का उपयोग किया था, उसका परिचय भारतवर्ष को कराना था तथा यह देखना था कि उसकी शक्ति कहाँ तक व्यापक हो सकती है । इसलिए मैंने और साथियो ने सत्याग्रह-आश्रम नाम पसन्द किया । इस नाम से सेवा का और सेवा की पद्धति का भाव सहज ही प्रकट होता था ।

आश्रम चलाने के लिए नियमावली की आवश्यकता थी । अतएव मैंने नियमावली का मसविदा तैयार करके उस पर मित्रो की राय माँगी । बहुतसी सम्मतियो में से सर गुरुदास बैनर्जी की सम्मति मुझे याद रह गयी है । उन्हें नियमवली तो पसन्द आयी, पर उन्होने सुझाया कि व्रतो में नम्रता के व्रत को स्थान देना चाहिए। उनके पत्र की ध्वनि यह थी कि हमारे युवक वर्ग में नम्रता की कमी है । यद्यपि नम्रता के अभाव का अनुभव मैं जगह-जगह करता था, फिर भी नम्रता को व्रतो में स्थान देने से नम्रता के नम्रता न रह जाने का भय लगता था । नम्रता का संपूर्ण अर्थ तो शून्यता है । शून्यता की प्राप्ति के लिए दूसरे व्रत हो सकते है । शून्यता मोक्ष की स्थिति है । मुमुक्ष अथा सेवक के प्रत्येक कार्य में नम्रता अथवा निरमिभानता न हो तो वह मुमुक्ष नही है, सेवक नही है । वह स्वार्थी है, अहंकारी है ।

आश्रम में इस समय लगभग तेरह तामिल भाई थे । दक्षिण अफ्रीका से मेरे साथ पाँच तामिल बालक आये थे और लगभग पचीस स्त्री-पुरुषो से आश्रम का आरंभ हुआ था । सब एक रसोई में भोजन करते थे और इस तरह रहने की कोशिश करते थे कि मानो एक ही कुटुम्ब के हो ।

१०. कसौटी पर चढ़े

आश्रम को कायम हुए अभी कुछ ही महीने बीते थे कि इतने में जैसी कसौटी की मुझे आशा नही थी वैसी कसौटी हमारी हुई। भाई अमृतलाल ठक्कर का पत्र मिला, 'एक गरीब और प्रामाणिक अंत्यज परिवार है। वह आपके आश्रम में रहना चाहता है। क्यो उसे भरती करेंगे ?'

मैं चौका। ठक्करबापा जैसे पुरुष की सिफारीश लेकर कोई अंत्यज परिवार इतनी जल्दी आयेगा, इसकी मुझे जरा भी आशा न थी। मैंने साथियो को वह पत्र पढने के लिए दिया। उन्होने उसका स्वागत किया। भाई अमृतलाल ठक्कर को लिखा गया कि यदि वह परिवार आश्रम के नियमो का पालन करने को तैयार हो तो हम उसे भरती करने के लिए तैयार है।

दूदाभाई, उनकी पत्नी दानीबहन और दूध-पीती तथा घुटनो चलती बच्ची लक्ष्मी तीनो आये। दूदाभाई बंबई में शिक्षक का काम करते थे। नियमो का पालन करने को वे तैयार थे उन्हें आश्रम में रख लिया।

सहायक मित्र-मंडल में खलबली मच गयी। जिस कुएँ के बगले के मालिक का हिस्सा था, उस कुएँ से पानी भरने में हमें अड़चन होने लगी। चरसवाले पर हमारे पानी के छींटे पड़ जाते, तो वह भ्रष्ट हो जाता। उसने गालियाँ देना और दूदाभाई को सताना शुरु किया। मैंने सबसे कह दिया कि गालियाँ सहते जाओ और दृढता पूर्वक पानी भरते रहो। हमें चुपचाप गालियाँ सुनते देखकर चरसवाला शरमिन्दा हुआ और उसने गालियाँ देना बन्द कर दिया। पर पैसे की मदद बन्द हो गयी। जिन भाई ने आश्रम के नियमो का पालन करनेवाले अंत्यजो के प्रवेश के बारे में पहले से ही शंका की थी, उन्हें तो आश्रम में अंतज्य के भरती होने की आशा ही न थी। पैसे की मदद बन्द होने के साथ बहिष्कार की अफवाहें मेरे कानो तक आने लगी। मैंने साथियो से चर्चा करके तय कर रखा था, 'यदि हमारा बहिष्कार किया जाय और हमे मदद न मिले, तो भी अब हम अहमदाबाद नही छोड़ेगे। अंतज्यो की बस्ती में जाकर उनके साथ रहेंगे और कुछ मिलेगा उससे अथवा मजदूरी करके अपना निर्वाह करेंगे।'

आखिर मगललाल ने मुझे नोटिस दी, 'अगले महीने आश्रम का खर्च चलाने के लिए हमारे पास पैसे नही है । ' मैंने धीरज से जवाब दिया, 'तो हम अंत्यजो की बस्ती में रहने जायेंगे ।'

मुझ पर ऐसा संकट पहली ही बार नही आया था । हर बार अंतिम घडी में प्रभु ने मदद भेजी है ।

मगललाल के नोटिस देने के बाद तुरन्त ही एक दिन सबेरे किसी लड़के न आकर खबर दी, 'बाहर मोटर खड़ी है और एक सेठ आपको बुला रहे है ।' मैं मोटर के पास गया । सेठ ने मुझ से पूछा,'मेरी इच्छा आश्रम को कुछ मदद देने की है, आप लेंगे ?'

मैंने जवाब दिया, 'अगर आप कुछ देंगे, तो मैं जरूर लूँगा । मुझे कबूल करना चाहिए कि इस समय मैं आर्थिक संकट में भी हूँ ।'

'मैं कल इसी समय आऊँगा । तब आप आश्रम में होगे ?'

मैंने 'हाँ' कहा और सेठ चले गये । दूसरे दिन नियत समय पर मोटर का भोपूँ बोला । लड़को ने खबर दी । सेठ अन्दर नही आये । मैं उनसे मिलने गया । वे मेरे हाथ पर तेरह हजार के नोट रखकर बिदा हो गये ।

मैंने इस मदद की कभी आशा नही रखी थी । मदद देने की यह रीति भी नई देखी । उन्होने आश्रम में पहले कभी कदम नही रखा था । मुझे याद आता है कि मैं उनसे एक ही बार मिला था । न आश्रम में आना, न कुछ पूछना, बाहर ही बाहर पैसे देकर लौट जाना ! ऐसा यह मेरा पहली ही अनुभव था । इस सहायता के कारण अंत्यजो की बस्ती में जाना रूक गया । मुझे लगभग एक साल का खर्च मिल गया । पर जिस तरह बाहर खलबली मची, उसी तरह आश्रम में भी मची । यद्यपि दक्षिण अफ्रीका में मेरे यहाँ अंत्यज आदि आते रहते थे और भोजन करते थे, तथापि यह नही कहा जा सकता कि यहाँ अंत्यज कुटुम्ब का आना मेरी पत्नी को और आश्रम की दूसरी स्त्रियो को पसन्द आया । दानीबहन के प्रति धृणा नही तो उनकी उदासीनता ऐसी थी, जिसे मेरी अत्यन्त सूक्ष्म आँखे देख लेती थी और तेज कान सुन लेते थे । आर्थिक सहायता के अभाव के डर ने मुझे जरा भी चिन्तित नही किया था । पर यह आन्तरिक क्षोभ कठिन सिद्ध हुआ । दानीबहन साधारण स्त्री थी । दूदाभाई की शिक्षा भी साधारण थी, पर उनकी बुद्धि अच्छी थी । उनकी धीरज मुझे पसन्द आता था । उन्हें कभी-

कभी गुस्सा आता था, पर कुल मिलाकर उनकी सहन-शक्ति की मुझ पर अच्छी छाप पड़ी थी। मैं दूदाभाई को समझाता था कि वे छोटे-मोटे अपमान पी लिया करे। वे समझ जाते थे और दानीबहन से भी सहन करवाते थे।

इस परिवार को आश्रम में रखकर आश्रम ने बहुतेरे पाठ सीखे है और प्रारंभिक काल में ही इस बात के बिल्कुल स्पष्ट हो जाने से कि आश्रम में अस्पृश्यता का कोई स्थान नही है, आश्रम की मर्यादा निश्चित हो गयी और इस दिशा में उसका काम बहुत सरल हो गया। इसके बावजूद, आश्रम का खर्च, बराबर बढ़ता रहने पर भी, मुख्यतः कट्टर माने जाने वाले हिन्दुओ की तरफ से मिलता रहा है। कदाचित् यह इस बात का सूचक है कि अस्पृश्यता की जड़े अच्छी तरह हिल गयी है। इसके दूसरे प्रमाण तो अनेको है। परन्तु जहाँ अंत्यज के साथ रोटी तक का व्यवहार रखा जाता है, वहाँ भी अपने को सनातनी मानने वाले हिन्दू मदद दे, यह कोई नगण्य प्रमाण नही माना जायगा।

इसी प्रश्न को लेकर आश्रम में हुई एक और स्पष्टका, उसके सिलसिले में उत्पन्न हुए नाजुक प्रश्नो का समाधान, कुछ अनसोची अड़चनो का स्वागत- इत्यादि सत्य की खोज के सिलसिले में हुए प्रयोगो का वर्णन प्रस्तुत होते हुए भी मुझे छोड़ देना पड़ रहा है। इसका मुझे दुःख है। किन्तु अब आगे के प्रकरणो में यह दोष रहने ही वाला है। मुझे महत्त्व के तथ्य छोड़ देने पड़ेगे, क्योकि उनमें हिस्सा लेने वाले पात्रो में से बहुतेरे अभी जीवित है और उनकी सम्मति के बिना उनके नामो का और उनसे संबंध रखनेवाले प्रसंगो का स्वतंत्रता-पूर्वक उपयोग करना अनुचित मालूम होता है। समय-समय पर सबकी सम्मति मंगवाना अथवा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले तथ्यों को उनके पास भेज कर सुधरवाना सम्भव नही है और यह आत्मकथा की मर्यादा के बाहर की बात है। अतएव इसके आगे की कथा यद्यपि मेरी दृष्टि से सत्य के शोधक के लिए जानने योग्य है, तथापि मुझे डर है कि वह अधूरी ही दी जा सकेंगी। तिस पर भी मेरी इच्छा और आशा यह है कि भगवान पहुँचने दे, तो असहयोग के युग तक मैं पहुँच जाऊँ।

११. गिरमिट की प्रथा

अब नये बसे हुए और भीतरी तथा बाहरी तूफानो में से उबरे हुए आश्रम को छोड़कर यहाँ गिरमिट-प्रथा पर थोड़ा विचार कर लेने का समय आ गया है। 'गिरमिटया' यानी वे मजदूर जो पाँच बरस या इससे कम की मजदूरी के इकरारनामें पर सही करके हिन्दुस्तान के बाहर मजदूरी करने गये हो। नेटाल के ऐसे गिरमिटयो पर लगा तीन पौंड का वार्षिक कर सन् 1914 में उठा लिया गया था, पर गिरमिट का प्रथा अभी तक बन्द नही हुई थी। सन् 1916 में भारत-भूषण पंडित मालवीयजी ने यह प्रश्न धारासभा में उठाया था और लार्ड हार्डिंग ने उनका प्रस्ताव स्वीकार करके घोषणा किया था कि 'समय आने पर' इस प्रथा को नष्ट करने का वचन मुझे सम्राट की ओर से मिला है। लेकिन मुझे तो स्पष्ट लगा कि इस प्रथा का तत्काल ही बन्द करने का निर्णय हो जाना चाहिए। हिन्दुस्तान ने अपनी लापरवाही से बरसो तक इस प्रथा को चलने दिया था। मैंने माना कि अब इस प्रथा को बन्द कराने जितनी जागृति लोगो में आ गयी है। मैं कुछ नेताओ से मिला, कुछ समाचारपत्रो में इस विषय में लिखा और मैंने देखा कि लोकमत इस प्रथा को मिटा देने के पक्ष में है। क्या इसमें सत्याग्रह का उपयोग हो सकता है ? मुझे इस विषय में कोई शंका नही थी। पर उसका उपयोग कैसे किया जाय, सो मैं नही जानता था।

इस बीच वाइसरॉय ने 'समय आने पर' शब्दो का अर्थ समझाने का अवसर खोज लिया। उन्होने घोषित किया कि 'दूसरी व्यवस्था करने में जितना समय लगेगा उतने समय में' यह प्रथा उठा दी जायगी। अतएव जब सन् 1917 के फरवरी महीने में भारत-भूषण पंडित मालवीयजी ने गिरमिट प्रथा सदा के लिए समाप्त कर देने का कानून बड़ी धारासभा में पेश करने की इजाजत माँगी तो वाइसरॉय ने वैसा करने से इनकार कर दिया। अतएव इस प्रश्न के संबन्ध में मैंने हिन्दुस्तान में घूमना शुरू किया।

भ्रमण आरम्भ करने से पहले मुझे वाइसरॉय से मिल लेना उचित मालूम हुआ। उन्होने तुरन्त ही मुझे मिलने की तारीख भेजी। उस समय मि. मेफी, अब सर जॉन मेफी के साथ मेरा

अच्छा सम्बन्ध स्थापित हो गया। लार्ड चेम्सफर्ड के साथ संतोषजनक बातचीत हुई। उन्होने निश्चय पूर्वक तो कुछ न कहा, पर मुझे उनकी मदद की आशा बंधी।

भ्रमण का आरम्भ मैंने बम्बई से किया। बम्बई में सभा करने का जिम्मा मि. जहाँगीर पिटीट ने अपने सिर लिया। इम्पीरियल सिटिजनशिप एसोसियेशन के नाम से सभा हुई। उसमें डॉ. रीड, सर लल्लूभाई शामलदास, मि. नटराजन आदि थे। मि. पिटीट तो थे ही। प्रस्ताव में गिरमिट प्रथा बन्द करने की विनती करनी थी। प्रश्न यह था कि वह कब बन्द की जाय? तीन सुझाव थे, 'जितनी जल्दी हो सके', 'इकतीसवीं जुलाई तक' और 'तुरन्त'। इकतीसवीम जुलाई का मेरा सुझाव था। मुझे तो निश्चित तारीख की जरूरत थी, ताकि उस अवधि में कुछ न हो तो यह सोचा जा सके कि आगे क्या करना है या क्या हो सकता है। सर लल्लूभाई का सुझाव 'तुरन्त' शब्द रखने का था। उन्होने कहा, 'इकतीसवीं जुलाई की अपेक्षा तुरन्त शब्द अधिक शीध्रता-सूचक है।' मैंने समझाने का प्रयत्न किया कि जनता 'तुरन्त' शब्द को नही समझ सकती। जनता से कुछ काम लेना हो तो उसके सामने निश्चयतात्मक शब्द होना चाहिए। 'तुरन्त' का अर्थ तो सब अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार करेंगे। सरकार उसका एक अर्थ करेगी, जनता दूसरा। 'इकतीसवीं जुलाई' का अर्थ सब एक ही करेंगे और इस तारीख तर मुक्ति न मिली तो हमें क्या कदम उठाना चाहिए, सो हम सोच सकेंगे। यह दलील डॉ. रीड के गले तुरन्त उतर गयी। अन्त में सर लल्लूभाई को भी 'इकतीसवीं जुलाई' पसन्द आ गयी और प्रस्ताव में यह तारीख रखी गयी। सार्वजनिक सभा में यह प्रस्ताव पेश किया गया और सर्वत्र 'इकतीसवीं जुलाई' की सीमा अंकित हुई।

बम्बई से श्री जायजी पिटीट के अथक परिश्रम से स्त्रियो का एक डेप्युटेशन वाइसरॉय के पास पहुँचा। उसमें लेडी ताता, स्व. दिलशाह बेगम आदि महिलायें थी। सब बहनो के नाम तो मुझे याद नही है, पर इस डेप्युटेशन का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा था और वाइसरॉय ने उन्हें आशाजनक उत्तर दिया था।

मैं करांची, कलकत्ता आदि स्थानो पर भी हो आया था। सब जगह अच्छी सभाये हुए थी और लोगो में सर्वत्र खूब उत्साह था। आन्दोलन आरम्भ करते समय मुझे यह आशा नही थी कि ऐसी सभाये होगी और उनमें लोग इतनी संख्या में उपस्थित होंगे।

इन दिनो मेरी यात्र अकेले ही होती थी, इस कारण अनोखे अनुभव प्राप्त होते थे। खुफिया पुलिसवाले तो मेरे पीछे लगे ही रहते थे। उनके साथ मेरा झगड़ा होने का कोई कारण ही न था। मुझे तो कोई बात छिपानी नही थी। इससे वे मुझे परेशान नही करते थे और न मैं उन्हें परेशान करता था। सौभाग्य से उस समय मुझे 'महात्मा' की छाप नही मिली थी, यद्यपि जहाँ में पहचान लिया जाता था, वहाँ इस नाम का घोष जरूर होता था। एक बार रेल में जाते हुए कई स्टेशनो पर खुफिया पुलिसवाले मेरा टिकट देखने आते और नम्बर वगैरा लेते रहते थे। उनके प्रश्नो का उत्तर मैं तुरन्त ही दे देता था। साथी यात्रियों ने मान लिया था कि मैं कोई सीधा-सीदा साधु अथवा फकीर हूँ। जब दो-चार स्टेशनो तक खुफिया पुलिसवाले आये तो यात्री चिढ गये और उन्हें गालियाँ देकर धमकाया, 'इस बेचारे साधु को नाहक क्यो सताते हो ?' फिर मेरी ओर मुडकर बोले, 'इन बदमाशो को टिकट मत दिखाओ।'

मैंने इन यात्रियों से धीमी आवाज में कहा, 'उनके टिकट देखने से मुझे कोई परेशानी नही होती। वे अपना कर्तव्य करते है। उससे मुझे कोई कष्ट नही होता।'

यात्रियों के गले यह बात नही उतरी। वे मुझ पर अधिक तरस खाने लगे और आपस में बाते करने लगे कि निर्दोष आदमियो को इस तरह तंग क्यो किया जाता है ?

खुफिया पुलिसवालों की तो मुझे कोई तकलीफ नही मालूम हुई, पर रेल की भीड़ की तकलीफ का मुझे लाहौर से दिल्ली के बीच कड़वे-से-कड़वे अनुभव हुआ। कराची से कलकत्ते मुझे लाहौर के रास्त जाना था। लाहौर में ट्रेन बदलनी थी। वहाँ की ट्रेन में मेरी कही दाल गलती नही थी। यात्री जबरदस्ती अपना रास्ता बना लेते थे। दरबाजा बन्द होता तो खिड़की में से अन्दर घुस जाते थे। मुझे कलकत्ते निश्चित तारीख पर पहुँचना था। ट्रेन खो देता तो मैं कलकत्ते पहुँच न पाता। मैं जगह मिलने की आशा छोड़ बैठा था। कोई मुझे अपने डिब्बे में आने न देता था। आखिर एक मजदूर ने मुझे जगह ढूंढते देखकर कहा, 'मुझे बारह आने दो, तो जगह दिला दूँ।' मैंने कहा, 'मुझे जगह दिला दो, तो जरूर दूँगा।' बेचारा मजदूर यात्रियों से गिडगिड़ाकर कह रहा था, पर कोई मुझे लेने को तैयार न होता था। ट्रेन छूटने ही वाली थी कि एक डिब्बे के कुछ यात्रियो ने कहा, 'यहाँ जगह नही है, लेकिन इसके

भीतर घुसा सकते हो तो घुसा दो। खड़ा रहना होगा।' मजदूर मेरी ओर देखकर बोला, 'क्यों जी ?'

मैंने 'हाँ' कहा और उसने मुझे उठाकर खिड़की में अन्दर डाल दिया। मैं अन्दर घुसा और उस मजदूर में बारह आने कमा लिये।

मेरी रात मुश्किल से बीती। दूसरे यात्री ज्यो-त्यो करके बैठ गये। मैं ऊपरवाली बैठक की जंजीर पकड़कर दो घंटे खड़ा ही रहा। इस बीच कुछ यात्री मुझे धमकाते ही रहते थे, 'अजी, अब तक क्यो नही बैठते हो ?' मैंने बहुतेरा समझाया कि कही जगह नही है। पर उन्हें तो मेरा खड़ा रहना ही सहन नही हो रहा था, यद्यपि वे ऊपर की बैठको पर आराम से लम्बे होकर पड़े थे। बार-बार मुझे परेशान करते थे। जितना मुझे परेशान करते थे, उतनी ही शांति से मैं उन्हें जवाब देता था। इससे वे कुछ शान्त हुए। मेरा नाम-धाम पूछा। जब मुझे नाम बतलाना पड़ा तब वे शरमाये। मुझसे माफा माँगी और मेरे लिए अपनी बगल में जगह कर दी। 'सब्र का फल मीठा होता है ' कहावत की मुझे याद आयी। मैं बहुत थक गया था। मेरा सिर घूम रहा था। बैठने के लिए जगह की जब सचमुच जरूरत थी तब ईश्वर ने दिला दी।

इस तरह मैं टकराता और धक्कामुक्की की बरदाश्त करता हुआ समय पर कलकत्ते पहुँच गया। कासिम बाजार के महाराज में मुझे अपने यहाँ उतरने का निमंत्रण दे रखा था। कलकत्ते की सभा के अध्यक्ष भी वही थे। कराची की ही तरह कलकत्ते में भी लोगो का उत्साह उमड़ा पडता था। कुछ अंग्रेज भी सभा में उपस्थित थे।

इकतीसवी जुलाई के पहले गिरमिट की प्रथा बन्द होने की सरकारी घोषणा हुई। सन् 1894 में इस प्रथा का विरोध करने वाला पहला प्रार्थना पत्र मैंने तैयार किया था और यह आशा रखी थी कि किसी दिन यह 'अर्ध-गुलामी' अवश्य ही रद्द होगी। 1894 से शुरू किये गये इस प्रयत्न में बहुतो ने सहायता की। पर यह कहे बिना नही रहा जाता कि इसके पीछे शुद्ध सत्याग्रह था।

इसका विशेष विवरण और इसमें भाग लेनेवाले पात्रो की जानकारी पाठको को 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' में अधिक मिलेगी।

१२. नील का दाग

चम्पारन जनक राजा की भूमि है। जिस तरह चम्पारन में आम के वन है, उसी तरह सन् 1917 में वहाँ नील के खेत थे। चम्पारन के किसान अपनी ही जमीन के 3/20 भाग में नील की खेती उसके असल मालिको के लिए करने को कानून से बंधे हुए थे। इसे वहाँ 'तीन कठिया' कहा जाता था। बीस कट्ठे का वहाँ एक एकड़ था और उसमें से तीन कट्ठे जमीन में नील बोने की प्रथा को 'तीन कठिया' कहते थे।

मुझे यह स्वीकार करना चाहिए कि वहाँ जाने से पहले मैं चम्पारन का नाम तक नही जानता था। नील की खेती होती है, इसका ख्याल भी नही के बराबर था। नील की गोटियाँ मैंने देखी थी, पर वे चम्पारन में बनती है और उनके कारण हजारो किसानो को कष्ट भोगना पड़ता है, इसकी मुझे कोई जानकारी नही थी।

राजकुमार शुक्ल नामक चम्पारन के एक किसान थे। उन पर दुःख पड़ा था। यह दुःख उन्हें अखरता था। लेकिन अपने इस दुःख के कारण उनमें नील के इस दाग को सबके लिए धो डालमें की तीव्र लगन पैदा हो गयी थी। जब मैं लखनऊ काँग्रेस में गया, तो वहाँ इस किसान ने मेरा पीछा पकड़ा। 'वकील बाबू आपको सब हाल बतायेंगे' ये वाक्य वे कहते जाते थे और मुझे चम्पारन आने का निमंत्रण देते जाते थे।

वकील बाबू से मतलब था, चम्पारन के मेरे प्रिय साथी, बिहार के सेवा जीवन के प्राण ब्रजकिशोर बाबू से। राजकुमार शुक्ल उन्हें मेरे तम्बू में लाये। उन्होने काले आलपाका की अचकन, पतलून वगैरा पहन रखा था। मेरे मन पर उनकी कोई अच्छी छाप नही पड़ी। मैंने मान लिया कि वे भोले किसानो को लूटने वाले कोई वकील साहब होगें।

मैंने उनसे चम्पारन की थोडी कथी सुनी। अपने रिवाज के अनुसार मैंने जवाब दिया, 'खुद देखे बिना इस विषय पर मैं कोई राय नही दे सकता। आप काँग्रेस में बोलियेगा। मुझे तो फिलहाल छोड़ ही दीजिये।' राजकुमार शुक्ल को काँग्रेस की मदद की तो जरूरत थी ही। ब्रजकिशोरबाबू काँग्रेस में चम्पारन के बारे में बोले और सहानुभूति सूचक प्रस्ताव पास हुआ।

राजकुमार शुक्ल प्रसन्न हुए। पर इतने से ही उन्हें संतोष न हुआ। वे तो खुद मुझे चम्पारन के किसानो के दुःख बताना चाहते थे। मैंने कहा, 'अपने भ्रमण में मैं चम्पारन को भी सम्मिलित कर लूँगा और एक-दो दिन वहाँ ठहरूँगा।'

उन्होने कहा, 'एक दिन काफी होगा। नजरों से देखिये तो सही।'

लखनऊ से मैं कानपुर गया था। वहाँ भी राजकुमार शुक्ल हाजिर ही थे। 'यहाँ से चम्पारन बहुत नजदीक है। एक दिन दे दीजिये। '

'अभी मुझे माफ कीजिये। पर मैं चम्पारन आने का वचन देता हूँ।' यह कहकर मैं ज्यादा बंध गया।

मैं आश्रम गया तो राजकुमार शुक्ल वहाँ भी मेरे पीछे लगे ही रहे। 'अब तो दिन मुकर्रर कीजिये।' मैंने कहा, 'मुझे फलाँ तारीख को कलकत्ते जाना है। वहाँ आइये और मुझे ले जाईये।'

कहा जाना, क्या करना और क्या देखना, इसकी मुझे कोई जानकारी न थी। कलकत्ते में भूपेन्द्रबाबू के यहाँ मेरे पहुँचने के पहले उन्होने वहाँ डेरा डाल दिया था। इस अपढ़, अनगढ परन्तु निश्चयवान किसान ने मुझे जीत लिया।

सन् 1917 के आरम्भ में कलकत्ते से हम दो क्यक्ति रवाना हुए। दोनो की एक सी जोड़ी थी। दोनो किसान जैसे ही लगते थे। राजकुमार शुक्ल जिस गाडी में ले गये, उस पर हम दोनो सवार हुए। सबेरे पटना उतरे।

पटना की मेरी यह पहली यात्रा थी। वहाँ किसी के साथ ऐसा परिचय नही था, जिससे उनके घर उतर सकूँ। मैंने यह सोच लिया था कि राजकुमार शुक्ल अनपढ़ किसान है, तथापि उनका कोई वसीला तो होगा। ट्रेन में मुझे उनकी कुछ अधिक जानकारी मिलने लगी। पटना में उनका परदा खुल गया। राजकुमार शुक्ल की बुद्धि निर्दोष थी। उन्होने जिन्हे अपना मित्र मान रखा था वे वकील उनके मित्र नही थे, बल्कि राजकुमार शुक्ल उनके आश्रित जैसे थे। किसान मुवक्किल और वकील के बीच चौमासे की गंगा के चौड़े पाट के बराबर अन्तर था।

मुझे वे राजेनद्रबाबू के घर ले गये । राजेन्द्रबाबू पुरी अथवा और कहीं गये थे । बंगले पर एक-दो नौकर थे । मेरे साथ खाने की कुछ साम्रगी थी । मुझे थोडी खजूर की जरुरत थी । बेचारे राजकुमार शुक्ल बाजार से ले आये ।

पर बिहार में तो छुआछात का बहुत कड़ा रिवाज था । मेरी बालटी के पानी के छींटे नौकर को भ्रष्ट करते थे । नौकर को क्या पता कि मैं किस जाति का हूँ । राजकुमार शुक्ल ने अन्दर के पाखाने का उपयोग करने को कहा। नौकर ने बाहर के पाखाने की ओर इशारा किया । मेरे लिए इससे परेशान या गुस्सा होने का कोई कारण न था । इस प्रकार के अनुभव कर-करके मैं बहुत पक्का हो गया था । नौकर तो अपने धर्म का पालन कर रहा था और राजेन्द्रबाबू के प्रति अपना कर्तव्य पूरा कर रहा था । इस मनोरंजक अनुभवो के कारण जहाँ राजकुमार शुक्ल के प्रति मेरा आदर बढा स वहाँ उनके विषय में मेरा ज्ञान भी बढा । पटना से लगाम मैंने अपने हाथ में ले ली ।

१३. बिहारी सरलता

मौलाना मजहरुल हक और मोहन दास करमचंद गांधी एक समय लंदन में पढते थे। उसके बाद बम्बई में सन् 1915 की काँग्रेस में मिले थे। उस साल वे मुस्लिम लीग के अध्यक्ष थे। उन्होने पुराना पहचान बताकर कहा था कि आप कभी पटना आये, तो मेरे घर अवश्य पधारिये। इस निमंत्रण के आधार पर मैंने उन्हें पत्र लिखा और अपना काम बतलाया। वे तुरन्त अपनी मोटर लाये और मुझे अपने घर ले चलने का आग्रह किया। मैंने उनका आभार माना और उनसे कहा कि जिस जगह मुझे जाना है वहाँ के लिए पहली ट्रेन से रवाना कर दे। रेलवे गाइड से कुछ पता नही चल सकता था। उन्होने राजकुमार शुक्ल से बाते की और सुझाया कि पहले मुझे मुजफ्फरपुर जाना चाहिए। उसी दिन मुजफ्फरपुर की ट्रेन जाती थी। उन्होने मुझे उसमें रवाना कर दिया। उन दिनो आचार्य कृपलानी मुजफ्फरपुर में रहते थे। मैं उन्हें जानता था। जब मैं हैदराबाद गया था तब उनके महान त्याग की, उनके जीवन की और उनके पैसे से चलने वाले आश्रम की बात डॉ. चोइथराम के मुँह से सुनी थी। वे मुजफ्फरपुर कॉलेज में प्रोफेसर थे। इस समय प्रोफेसरी छोड़ चुके थे। मैंने उन्हे तार किया। ट्रेन आधी रात को मुजफ्फरपुर पहुँचती थी। वे अपने शिष्य-मंडल के साथ स्टेशन पर आये थे। पर उनके घरबार नही था। वे अध्यापक मलकानी के यहाँ रहते थे। मुझे उनके घर ले गये। मलकानी वहाँ के कॉलेज में प्रोफेसर थे। उस समय के वातावरण में सरकारी कॉलेज के प्रोफेसर का मुझे अपने यहाँ टिकाना असाधारण बात मानी जाएगी।

कृपालानी जी ने बिहार की और उसमें भी तिरहुत विभाग की दीन दशा की बात की और मेरे काम की कठिनाई की कल्पना दी। कृपालानीजी ने बिहारवालों के साथ घनिष्ठ संबन्ध जोड़ लिया था। उन्होने उन लोगो से मेरे काम का जिक्र कर रखा था। सबेरे वकीलो का एक छोटा सा दल मेरे पास आया। उनमें से रामनवमीप्रसाद मुझ याद रह गये है। उन्होने अपने आग्रह से मेरा ध्यान आकर्षित किया था। उन्होने कहा, 'आप जो काम करने आये है, आपको तो हम-जैसो के यहाँ ठहरना चाहिए। गयाबाबू यहाँ के प्रसिद्ध वकील है। उनकी ओर से मैं आग्रह करता हूँ कि आप उनके घर ठहरिये। हम सब सरकार से डरते जरूर है।

लेकिन हमसे जितनी बनेगी उतनी मदद हम आपकी करेंगे। राजकुमार शुक्ल की बहुत सी बाते सच है। दुःख इस बात का है कि आज हमारे नेता यहाँ नही है। बाबू ब्रजकिशोरप्रसाद और राजेन्द्रप्रसाद को मैंने तार किये है। दोनो तुरन्त यहाँ आ जायेंगे और आपको पूरी जानकारी व मदद दे सकेंगे। मेहरबानी करके आप गयाबाबू के यहाँ चलिये।'

इस भाषण से मैं ललचाया। इस डर से कि कहीं मुझे अपने घर में ठहराने से गयाबाबू कठिनाई में न पड़ जाये, मुझे संकोच हो रहा था। पर गयाबाबू ने मुझे निश्चिन्त कर दिया।

मैं गयाबाबू के घर गया। उन्होंने और उनके परिवारवालों ने मुझे अपने प्रेम से सराबोर कर दिया।

ब्रजकिशोरबाबू दरभंगा से आये। राजेन्द्रबाबू पुरी से आये। यहाँ जिन्हे देखा वे लखनऊवाले ब्रजकिशोरप्रसाद नही थे। उनमें बिहारवासी की नम्रता, सादगी, भलमनसी, असाधारण श्रद्धा देखकर मेरा हृदय हर्ष से छलक उठा। बिहार के वकील मंडल का आदर भाव देखकर मुझे सानन्द आश्चर्य हुआ।

इस मंडल के और मेरे बीच जीवनभर की गाँठ बंध गयी।

ब्रजकिशोरबाबू ने मुझे सारी हकीकत की जानकारी दी। वे गरीब किसाने के लिए मुकदमें लड़ते थे। ऐसे दो मुकदमें चल रहे थे। इस तरह मुकदमो की पैरवी करके वे थोड़ा व्यक्तिगत आश्वासन प्राप्त कर लिया करते थे। कभी-कभी उसमें भी विफल हो जाते थे। इन भोले किसानो से फीस तो वे लेते ही थे। त्यागी होते हुए भी ब्रजकिशोरबाबू अथवा राजेन्द्रबाबू मेहनताना लेने में कभी संकोच नही करते थे। उनकी दलील यह थी कि पेशे के काम में मेहनताना न ले, तो उनका घरखर्च न चले और वे लोगो की मदद भी न कर सकें। उनके मेहनताने के और बंगाल तथा बिहार के बारिस्टरो को दिये जानेवाले मेहनताने के कल्पना में न आ सकनेवाले आंकड़े सुनकर मेरा दम घुटने लगा।

' ... साहब को हमने ओपिनियन (सम्मति) के लिए दस हजार रूपये दिये।' हजारो के सिवा तो मैंने बात ही न सुनी।

इस मित्र मड़ली ने इस विषय में मेरा मीठा उलाहना प्रेमपूर्वक सुन लिया। उसका उन्होने गलत अर्थ नही लगाया।

मैंने कहा, 'इन मुकदमो को पढ़ जाने के बाद मेरी राय तो यह बनी है कि अब हमें मुकदमें लड़ना ही बन्द कर देना चाहिए। ऐसे मुकदमों से लाभ बहुत कम होता है। यहाँ रैयत इतनी कुचली गई है, जहाँ सब इतने भयभीत रहते है, वहाँ कचहरियों की मारफत थोड़ा ही इलाज हो सकता है। लोगो के लिए सच्ची दवा तो उनके डर को भगाना है। जब तक यह तीन कठिया प्रथा रद्द न ही, तब तक हम चैन से बैठ ही नहीं सकते। मैं तो दो दिन में जितना देखा जा सके उतना देखने आया हूँ। लेकिन अब देख रहा हूँ कि यह काम तो दो वर्ष भी ले सकता है। इतना समय भी लगे तो मैं देने को तैयार हूँ। मुझे यह तो सूझ रहा है कि इस काम के लिए क्या करना चाहिए। लेकिन इसमें आपकी मदद जरूरी है।'

ब्रजकिशोरबाबू को मैंने बहुत ठंडे दिमाग का पाया। उन्होंने शान्ति से उत्तर दिया, 'हमसे जो मदद बनेगी, हम देंगे। लेकिन हमे समझाइये कि आप किस प्रकार की मदद चाहते है।'

इस बातचीत में हमने सारी रात बिता दी। मैंने कहा, 'मुझे आपकी वकालत की शक्ति का कम ही उपयोग होगा। आपके समान लोगो से तो मैं लेखक और दुभाषिये का काम लेना चाहूँगा। मैं देखता हूँ कि इसमें जेल भी जाना पड़ सकता है। मैं इसे पसन्द करूँगा कि आप यह जोखिम उठाये। पर आप उसे उठाना न चाहे, तो भले न उठाये। वकालत छोड़कर लेखक बनने और अपने धंधे को अनिश्चित अविधि के लिए बन्द करने की माँग करके मैं आप लोगो से कुछ कम नही माँग रहा हूँ। यहाँ कि हिन्दी बोली समझने में मुझे कठिनाई होती है। कागज-पत्र सब कैथी में या उर्दू में लिखे होते है, जिन्हे मैं नही पढ़ सकता। इनके तरजुमें की मैं आपसे आशा रखता हूँ। यह काम पैसे देकर कराना हमारे बस का नही है। यह सब सेवाभाव से और बिना पैसे के होना चाहिए।'

ब्रजकिशोरबाबू समझ गये, किन्तु उन्होंने मुझसे और अपने साथियों से जिरह शुरू की। मेरी बातो के फलितार्थ पूछे। मेरे अनुमान के अनुसार वकीलो को किस हद तक त्याग करना चाहिए, कितनो की आवश्यकता थोड़े-थोड़े लोग थोड़ी-थोड़ी मुद्दत के लिए आवे तो काम

चलेगा या नही, होगी, इत्यादि प्रश्न मुझसे पूछे। वकीलो से उन्होंने पूछा कि वे कितना त्याग कर सकते है।

अन्त में उन्होने अपना यह निश्चय प्रकट किया, 'हम इतने लोग आप जो काम हमें सौपेगे, वह कर देने के लिए तैयार रहेगे। इनमें से जितनो को आप जिस समय चाहेगे उतने आपके पास रहेंगे। जेल जाने की बात नई है। उसके लिए हम शक्ति-संचय करने की कोशिश करेंगे।'

१४. अहिंसा देवी का साक्षात्कार ?

मुझे तो किसानों की हालत की जाँच करनी थी। नील के मालिको के विरुद्ध जो शिकायते थी, उनमें कितनी सचाई है यह देखना था। इस काम के लिए हजारो किसानो से मिलने की जरूरत थी। किन्तु उनके संपर्क में आने से पहले मुझे यह आवश्यक मालूम हुआ कि मैं नील के मालिकों की बात सुन लूँ और कमिश्नर से मिल लूँ। मुझे दोनो को चिट्ठी लिखी।

मालिको के मंत्री के साथ मेरी जो मुलाकात हुई, उसमें उसने साफ कह दिया कि आपकी गिनती परदेशी में होती है। आपको हमारे और किसानो के बीच दखल नही देना चाहिए। फिर भी अगर आपको कुछ कहना हो, तो मुझे लिखकर सूचित कीजिये। मैंने मंत्री से नम्रतापूर्वक कहा कि मैं अपने को परदेशी नही मानता और किसान चाहे तो उनकी स्थिति की जाँच करने का मुझे पूरा अधिकार है। मैं कमिश्नर साहब से मिला। उन्होंने मुझे धमकाना शुरु कर दिया और मुझे सलाह दी कि मैं आगे बढ़े बिना तिरहुत छोड़ दूँ।

मैंने सारी बाते साथियों को सुनाकर कहा कि संभव है सरकार मुझे जाँच करने से रोके और जेल जाने का समय मेरी अपेक्षा से भी पहले आ जाये। अगर गिरफ्तारी होनी ही है, तो मुझे मोतीहारी में और संभव हो तो बेतिया में गिरफ्तार होना चाहिए और इसके लिए वहाँ जल्दी से जल्दी पहुँच जाना चाहिए।

चम्पारन तिरहुत विभाग का एक जिला है और मोतीहारी इसका मुख्य शहर। बेतिया के आसपास राजकुमार शुक्ल का घर था और उसके आसपास की कोठियों के किसान ज्यादा-से-ज्यादा कंगाल थे। राजकुमार शुक्ल को उनकी दशा दिखाने का लोभ था और मुझे अब उसे देखने की इच्छा थी।

अतएव मैं उसी दिन साथियो को लेकर मोतीहारी के लिए रवाना हो गया। मोतीहारी में गोरखबाबू ने आश्रय दिया और उनका घर धर्मशाला बन गया। हम सब मुश्किल से उसमें समा सकते थे। जिस दिन हम पहुँचे उसी दिन सुना कि मोतीहारी से कोई पाँच मील दूर रहने वाले एक किसान पर अत्याचार किया गया है। मैंने निश्चय किया कि धरणीधरप्रसाद वकील को साथ लेकर मैं दूसरे दिन सबेरे उसे देखने जाऊँगा। सवेरे हाथी पर सवार होकर हम चल

पड़े । चम्पारन में हाथी का उपयोग लगभग उसी तरह होता है, जिस तरह गुजरात में बैलगाड़ियो का । आधे रास्ते पहुँचे होंगे कि इतने में पुलिस सुपरिंटेंडेंट का आदमी आ पहुँचा और मुझे से बोला, ' सुपरिंटेंडेंट ने आपको सलाम भेजा है।' मैं समझ गया । धरणीधरबाबू से मैंने आगे जाने को कहा । मैं उस जासूस के साथ उसकी भाड़े की गाड़ी में सवार हुआ ।

उसने मुझे चम्पारन छोड़कर चले जाने की नोटिस दी । वह मुझे घर ले गया और मेरी सही माँगी । मैंने जवाब दिया कि मैं चम्पारन छोड़ना नहीं चाहता, मुझे तो आगे बढ़ना है और जाँच करनी है । निर्वासन की आज्ञा का अनादर करने के लिए मुझे दूसरे ही दिन कोर्ट में हाजिर रहने का समन मिला ।

मैंने सारी रात जागकर जो पत्र मुझे लिखने थे लिखे और ब्रजकिशोरबाबू को सब प्रकार की आवश्यकता सूचनाये दी ।

समन की बात एकदम चारों ओर फैल गयी । लोग कहते थे कि उस दिन मोतीहारी में जैसा दृश्य देखा गया वैसा पहले कभी न देखा गया था । गोरखबाबू के घर भीड़ उमड़ पड़ी । सौभाग्य से मैंने अपना सारा काम रात को निबटा लिया था । इसलिए मैं इन भीड़ को संभाल सका । साथियो का मूल्य मुझे पूरा-पूरा मालूम था । वे लोगो को संयत रखने में जुट गये । कचहरी में जहाँ जाता वहाँ दल के दल लोग मेरे पीछे आते । कलेक्टर, मेंजिस्ट्रेट, सुपरिंटेंडेंट आदि के साथ भी मेरा एक प्रकार का संबन्ध स्थापति हो गया । सरकारी नोटिसों वगैरा के खिलाफ कानूनी विरोध करना चाहता, तो मैं कर सकता था । इसके बदले मैंने उनकी सब नोटिसो को स्वीकार कर लिया और अधिकारियों के साथ निजी व्यवहार में मिठास से काम लिया । इसमें वे समझ गये कि मुझे उनका विरोध नही करना है, बल्कि उनकी आज्ञा का विनयपूर्वक विरोध करना है । इससे उनमें एक प्रकार की निर्भयता आ गयी । मुझे तंग करने के बदले उन्होंने लोगो को काबू में रखने में मेरी और मेरे साथियों की सहायता का प्रसन्न्ता पूर्वक उपयोग किया । किन्तु साथ ही वे समझ गये कि उनकी सत्ता आज से लुप्त हुई । लोग क्षणभर को दंड का भय छोड़कर अपने नये मित्र के प्रेम की सत्ता के अधीन हो गये ।

याद रहे कि चम्पारन में मुझे कोई पहचानता न था । किसान वर्ग बिल्कुल अनपढ़ था । चम्पारन गंगा के उस पार ठेठ हिमालय की तराई में नेपाल का समीपवर्ती प्रदेश है, अर्थात् नई दुनिया है । वहाँ न कहीँ काँग्रेस का नाम सुनायी देता था, न काँग्रेस के कोई सदस्य दिखायी पड़ते थे । जिन्होने नाम सुना था वे काँग्रेस का नाम लेने में अथवा उसमें सम्मिलित होने से डरते थे । आज काँग्रेस के नाम के बिना काँग्रेस के सवेको ने इस प्रदेश में प्रवेश किया और काँग्रेस की दुहाई फिर गयी ।

साथियो से परामर्श करके मैंने निश्चय किया था कि काँग्रेस के नाम से कोई भी काम न किया जाय । हमें नाम से नही बल्कि काम से मतलब है । 'कथनी नही' 'करनी' की आवश्यकता है । काँग्रेस का नाम यहाँ अप्रिय है । इस प्रदेश में काँग्रेस का अर्थ है, वकीलो की आपसी खींचातानी, कानूनी गलियों से सटक जाने की कोशिश । काँग्रेस यानी कथनी एक, करनी दूसरी । यह धारणा सरकार की और सरकार की निलहे गोरो की थी । हमें यह सिद्ध करना था कि काँग्रेस ऐसी नही है, काँग्रेस तो दूसरी चीज है । इसलिए हमने कही भी काँग्रेस का नाम तक न लेने और लोगो को काँग्रेस की भौतिक देह का परिचय न कराने का निश्चय किया था । हमने यह सोच लिया था कि वे उसके अक्षर को न जानकर उसकी आत्मा को जाने और उसका अनुकरण करे तो बस है । यही असल चीज है । अतएव काँग्रेस की ओर से किन्ही गुप्त या प्रकट दूतो द्वारा कोई भूमिका तैयार नही करायी गयी थी । राजकुमार शुक्ल में हजारो लोगो में प्रवेश करने की शक्ति नही थी । उनके बीच किसी में आज तक राजनीति का काम किया ही नही था । चम्पारन के बाहर की दुनिया को वे आज भी नही जानते थे । फिर भी उनका और मेरा मिलाप पुराने मित्रो जैसा लगा । अतएव यह करने में अतिशयोक्ति नही बल्कि अक्षरशः सत्य है कि इस कारण मैंने वहाँ ईश्वर का, अहिंसा का और सत्य का साक्षात्कार किया । जब मैं इस साक्षात्कार के अपने अधिकार की जाँच करता हूँ, तो मुझे लोगो के प्रति अपने प्रेम के सिवा और कुछ भी नही मिलता । इस प्रेम का अर्थ है, प्रेम अर्थात अहिंसा के प्रति मेरी अविचल श्रद्धा ।

चम्पारन का यह दिन मेरे जीवन में कभी न भूलने जैसा था । मेरे लिए और किसानो के लिए यह एक उत्सव का दिन था । सरकारी कानून के अनुसार मुझ पर मुकदमा चलाया

जानेवाला था। पर सच पूछा जाय तो मुकदमा सरकार के विरूद्ध था। कमिश्नर ने मेरे विरूद्ध जो जाल बिछाया था उसमें उसने सरकार को ही फँसा दिया।

१५. मुकदमा वापस लिया गया

मुकदमा चला। सरकारी वकील, मजिस्ट्रेट आदि घबराये हुए थे। उन्हें सूझ नही पड़ रहा था कि किया क्या जाये। सरकारी वकील सुनवाई मुलतवी रखने की माँग कर रहा था। मैं बीच में पड़ा और बिनती कर रहा था कि सुनवाई मुलतवी रखने की कोई जरूरत नही है, क्योंकि चम्पारन छोड़ने की नोटिस का अनादर करने का अपराध स्वीकार करना है। यह कह कर मैं उस बहुत ही छोटे से ब्यान को पढ़ गया, जो मैंने तैयार किया था। वह इस प्रकार था :

'जाब्ता फौजदारी की दफा 144 के अनुसार दी हुई आज्ञा का खुला अनादर करने का गंभीर कदम मुझे क्यो उठाना पड़ा, इस संबंध में मैं एक छोटा सा ब्यान अदालत की अनुमति से देना चाहता हूँ। मेरी नम्र सम्मति में यह प्रश्न अनादर का नही है, बल्कि स्थानीय सरकार और मेरे बीच मतभेद का प्रश्न है। मैं इस प्रदेश में जन-सेवा और देश-सेवा के ही उद्देश्य से आया हूँ। निलहे गोरे रैयत के साथ न्याय का व्यवहार नही करते, इस कारण उनकी मदद के लिए आने का प्रबल आग्रह मुझसे किया गया। इसलिए मुझे आना पड़ा है। समूचे प्रश्न का अध्ययन किये बिना मैं उनकी मदद किस प्रकार कर सकता हूँ? इसलिए मैं इस प्रश्न का अध्ययन करने आया हूँ और सम्भव हो तो सरकार और निलहो की सहायता लेकर इसका अध्ययन करना चाहता हूँ। मेरे सामने कोई दूसरा उद्देश्य नही है, और मैं यह नही मान सकता कि मेरे आने से लोगो की शान्ति भंग होगी और खून-खराबा होगा। मेरा दावा है कि इस विषय का मुझे अच्छा खासा अनुभव है। पर सरकार का विचार इस सम्बन्ध में मुझसे भिन्न है। उनकी कठिनाई को मैं समझता हूँ और मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि उसे प्राप्त जानकारी पर ही विश्वास करना होता है। कानून का आदर करने वाले एक प्रजाजन के नाते तो मुझे यह आज्ञा दी गयी है उसे स्वीकार करने की स्वाभाविक इच्छा होनी चाहिए, और हुई थी। पर मुझे लगा कि वैसा करने में जिनके लिए मैं यहाँ आया हूँ उनके प्रति रहे अपने कर्तव्य की मैं हत्या करूँगा। मुझे लगा है कि आज मैं उनकी सेवा उनके बीच रहकर ही कर

सकता हूँ। इसलिए स्वेच्छा से चम्पारन छोड़ना मेरे लिए सम्भव नही है। इस धर्म-संकट के कारण मुझे चम्पारन से हटाने की जिम्मेदारी मैं सरकार पर ड़ाले बिना रह न सका।

'मैं इस बात को अच्छी तरह समझता हूँ कि हिन्दुस्तान के लोक-जीवन में मुझ-जैसी प्रतिष्ठा रखने वाले आदमी को कोई कदम उठाकर उदाहरण प्रस्तुत करते समय बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। पर मेरा दढ विश्वास है कि आज जिस अटपटी परिस्थिति में हम पड़े हुए है उसमें मेरे-जैसी परिस्थितियो में फँसे हुए स्वाभिमानी मनुष्य के सामने इसके सिवा दुसरा कोई सुरक्षित और सम्मानयुक्त मार्ग नही है कि आज्ञा का अनादर करके उसके बदले में जो दंड प्राप्त हो, उसे चुपचाप सहन कर लिया जाय।

'आप मुझे जो सजा देना चाहते है, उसे कम कराने की भावना से मैं यह ब्यान नही दे रहा हूँ। मुझे तो यही जता देना है कि आज्ञा का अनादर करने में मेरा उद्देश्य कानून द्वारा स्थापित सरकार का अपमान करना नही है, बल्कि मेरा हृदय जिस अधिक बड़े कानून को अर्थात् अन्तरात्मा की आवाज को स्वीकार करता है, उसका अनुकरण करना ही मेरा उद्देश्य है।'

अब मुकदमें की सुनवाई को मुलतवी रखने की जरूरत न रही थी, किन्तु चूंकि मजिस्ट्रेट और वकील ने इस परिणाम की आशा नही की थी, इसलिए सजा सुनाने के लिए अदालत ने केस मुलतवी रखा। मैंने वाइसरॉय को सारी स्थिति तार द्वारा सूचित कर दी थी। भारत-भूषण पंडित मालवीयजी आदि को भी वस्तुस्थिति की जानकारी तार से भेज दी थी।

सजा सुनने के लिए कोर्ट में जाने का समय हुआ उससे कुछ पहले मेरे नाम मजिस्ट्रेट का हुक्म आया कि गवर्नर साहब की आज्ञा से मुकदमा वापस ले लिया गया है। साथ ही कलेक्टर का पत्र मिला कि मुझे जो जाँच करनी हो, मैं करूँ और उसमें अधिकारियो की ओर से जो मदद आवश्यकता हो, सो माँग लूँ। ऐसे तात्कालिक और शुभ परिणाम की आशा हममें से किसी ने नही रखी थी।

मैं कलेक्टर मि. हेकॉक से मिला। मुझे वह स्वयं भला और न्याय करने में तत्पर जान पड़ा। उसने कहा कि आपको जो कागज-पत्र या कुछ और देखना हो, सो आप माँग ले और मुझ से जब मिलना चाहे, मिल लिया करे।

दुसरी ओर सारे हिन्दुस्तान को सत्याग्रह का अथवा कानून के सविनय भंग का पहना स्थानीय पदार्थ-पाठ मिला । अखबारो में इसकी खूब चर्चा हुई और मेरी जाँच को अनपेक्षित रीति से प्रसिद्धि मिल गयी ।

अपनी जाँच के लिए मुझे सरकार की ओर से तटस्थता की तो आवश्यकता थी, परन्तु समाचारपत्रों की चर्चा की और उनके संवाददाताओ की आवश्यकता न थी। यही नही बल्कि उनकी आवश्यकता से अधिक टीकाओं से और जाँच की लम्बी-चौड़ी रिपोर्टो से हानि होने का भय था । इसलिए मैंने खास-खास अखबारो के संपादको से प्रार्थना की थी कि वे रिपोर्टरो को भेजना का खर्च न उठाये, जिनता छापने की जरूरत होगी उतना मैं स्वयं भेजता रहूँगा और उन्हें खबर देता रहूँगा।

मैं यह समझता था कि चम्पारन के निलहे खूब चिढ़े हुए है । मैं यह भी समझता था कि अधिकारी भी मन में खुश न होगे, अखबारो में सच्ची-झूठी खबरो के छपने से वे अधिक चिढेंगे । उनकी चिढ का प्रभाव मुझ पर तो कुछ नही पड़ेगा, पर गरीब, डरपोक रैयत पर पड़े बिना न रहेगा । ऐसा होने से जो सच्ची स्थिति मैं जानना चाहता हूँ, उसमें बाधा पड़ेगी । निलहो की तरफ से विषैला आन्दोलन शुरू हो चुका था । उनकी ओर से अखबारो में मेरे और साथियो के बारे में खूब झूठा प्रचार हुआ, किन्तु मेरे अत्यन्त सावधान रहने से और बारीक-से-बारीक बातो में भी सत्य पर दढ रहने की आदत के कारण उनके तीर व्यर्थ गये ।

निलहो ने ब्रजकिशोरबाबू की अनेक प्रकार से निन्दा करने में जरा भी कसर नही रखी । पर ज्यो-ज्यो वे निन्दा करते गये, ब्रजकिशोरबाबू की प्रतिष्ठा बढ़ती गयी।

ऐसी नाजुक स्थिति में मैंने रिपोर्टरों को आने के लिए जरा भी प्रोत्साहित नही किया, न नेताओ को बुलाया । मालवीयजी ने मुझे कहला भेजा था कि, 'जब जरूरत समझे मुझे बुला ले । मैं आने को तैयार हूँ ।' उन्हें भी मैंने तकलीफ नही दी । मैंने इस लड़ाई को कभी राजनीतिक रुप धारण न करने दिया । जो कुछ होता था उसकी प्रासंगिक रिपोर्ट मैं मुख्य-मुख्य समाचारपत्रों को भेज दिया करता था । राजनीतिक काम करने के लिए भी जहाँ राजनीति की गुंजाइश न हो, वहाँ उसे राजनीतिक स्वरूप देने से पांड़े को दोनो दीन से जाना पड़ता है, और इस प्रकार विषय का स्थानान्तर न करने से दोनो सुधरते है । बहुत बार के

अनुभव से मैंने यह सब देख लिया था। चम्पारन की लड़ाई यह सिद्ध कर रही थी कि शुद्ध लोकसेवा में प्रत्यक्ष नही तो परोक्ष रीत से राजनीति मौजूद ही रहती है।

१६. कार्य-पद्धति

चम्पारन की जाँच का विवरण देने का अर्थ है, चम्पारन के किसानो का इतिहास देना। ऐसा विवरण इन प्रकरणों में नही दिया जा सकता। फिर, चम्पारन की जाँच का अर्थ है, अहिंसा और सत्य का एक बड़ा प्रयोग। इसके सम्बन्ध की जितनी बाते मुझे प्रति सप्ताह सूझती है उतनी देता रहता हूँ। उसका विशेष विवरण तो पाठको को बाबू राजेन्द्रप्रसाद द्वारा लिखित इस सत्याग्रह के इतिहास और 'युगधर्म' प्रेस द्वारा प्रकाशित उसके (गुजराती) अनुवाद में ही मिल सकता है।

अब मैं इस प्रकरण के विषय पर आता हूँ। यदि गोरखबाबू के घर रहकर यह जाँच चलायी जाती, तो उन्हें अपना घर खाली करना पड़ता। मोतीहारी में अभी लोग इतने निर्भय नही हुए थे कि माँगने पर कोई तुरन्त अपना मकान किराये पर दे दे। किन्तु चतुर ब्रजकिशोरबाबू ने एक लम्बे चौड़े अहाते वाला मकान किराये पर लिया और हम उसमें रहने गये।

स्थिति ऐसी नही थी कि हम बिल्कुल बिना पैसे के अपना काम चला सके। आज तक की प्रथा सार्वजनिक काम के लिए जनता से धन प्राप्त करने की नही थी। ब्रजकिशोरबाबू का मंडल मुख्यतः वकीलो का मंडल था। अतएव वे जरूरत पड़ने पर अपनी जेब से खर्च कर लेते थे और कुछ मित्रो से भी माँग लेते थे। उनकी भावना यह थी कि जो लोग स्वयं पैसे-टके से सुखी हो, वे लोगो से द्रव्य की भिक्षा क्यो माँगे ? मेरा यह दृढ निश्चय था कि चम्पारन की रैयत से एक कौड़ी भी न ली जाय। यदि ली जाती तो उसका गलत अर्थ लगाये जाते। यह भी निश्चय था कि इस जाँच के लिए हिन्दुस्तान में सार्वजनिक चन्दा न किया जा। वैसा करने पर यह जाँच राष्ट्रीय और राजनीतिक रूप धारण कर लेती। बम्बई से मित्रो में 15 हजार रुपये की मदद का तार भेजा। उनकी यह मदद सधन्यबाद अस्वीकार की गयी। निश्चय यह हुआ कि ब्रजकिशोरबाबू का मंडल चम्पारन के बाहर से लेकिन बिहार के ही खुशहाल लोगो से जितनी मदद ले सके और कम पड़ने वाली रकम मैं डॉ. प्राणजीवनदास

मेहता से प्राप्त कर लूँ। डॉ. मेहता ने लिखा कि जितने रूपयो की जरूरत हो, मंगा लीजिये। अतएव द्रव्य के विषय में हम निश्चिन्त हो गये। गरीबी-से, कम-से कम से खर्च करते हुए, लड़ाई चलानी थी, अतएव अधिक द्रव्य की आवश्यकता पड़ने की संभावना न थी। असल में पड़ी भी नही। मेरा ख्याल है कि कुल मिलाकर दो या तीन हजार से अधिक खर्च नही हुआ था। जो द्रव्य इकट्ठा किया गया था उसमें से पाँच सौ या एक हजार रुपये बच गये थे, ऐसा मुझे याद है।

शुरू-शुरू के दिनो में हमारी रहन-सहन विचित्र थी और मेरे लिए वह रोज के विनोद का विषय बन गयी थी। वकील-मंडल में हर एक का अपना रसोइयो था और हरएक के लिए अलग अलग रसोई बनती थी। वे रात बारह बजे तक भी भोजन करते थे। ये सब महाशय रहते तो अपने खर्च से ही थे। परन्तु मेरे लिए अनकी यह रहन-सहन उपाधि रूप थी। मेरे और साथियों के बीच इतनी मजबूत प्रेमगांठ बंध गयी थी कि हममें कभी गलतफहमी हो ही नही सकती थी। वे मेरे शब्दबाणो को प्रेम-पूर्वक सहते थे। आखिर यह तय हुआ कि नौकरो को छुट्टी दे दी जाय। सब एक साथ भोजन करे और भोजन के नियमो का पालन करे। सब निरामिषाहारी नही थे और दो रसोईघर चलाने से खर्च बढता था। अतएव निश्चय हुआ कि निरामिष भोजन ही बनाया जाये और एक ही रसोईघर रखा जाये। भोजन भी सादा रखने का आग्रह था। इससे खर्च में बहुत बहुत हुई, काम करने की शक्ति बढ़ी और समय भी बचा।

अधिक शक्ति की बहुत आवश्यकता थी, क्योकि किसानो के दल-के-दल अपनी कहानी लिखाने के लिए आने लगे थे। कहानी लिखाने वालो के साथ भीड़ तो रहती ही थी। इससे मकान का आहाता और बगीचा सहज ही भर जाता था। मुझे दर्शानार्थियो से सुरक्षित रखने के लिए साथी भारी प्रयत्न करते और विफल हो जाते। एक निश्चित समय पर मुझे दर्शन देने के बाहर निकाने सिवा कोई चारा न रह जाता था। कहानी लिखनेवाले भी पाँच-सात बराबर बने ही रहते थे, तो भी दिन के अन्त में सबके बयान पूरे न हो पाते थे। इतने सारे बयानों की आवश्यकता नही थी, फिर भी बयान लेने से लोगो को संतोष होता था और मुझे उनकी भावना का पता चलता था।

कहानी लिखनेवालों को कुछ नियमों का पालन करना पड़ता था। जैसे, हरएक किसान से जिरह की जाय। जिरह में जो उखड़ जाये, उसका बयान न लिया जाय। जिसकी बात मूल में ही बेबुनियाद मालूम हो, उसके बयान न लिखे जाये। इस तरह के नियमो के पालन से यद्यपि थोड़ा अधिक समय खर्च होता था, फिर भी बयान बहुत सच्चे और साबित हो सकने वाले मिलते थे।

इन बयानों के लेते समय खुफिया पुलिस का कोई-न-कोई अधिकारी हाजिर रहता ही था। इन अधिकारियों को आने से रोका जा सकता था। पर हमने शुरू से ही निश्चय कर लिया था कि उन्हें न सिर्फ हम आने से नही रोकेंगे, बल्कि उनके प्रति विनय का बरताव करेंगे और दे सकने योग्य खबरे भी उन्हें देते रहेंगे। उनके सुनते और देखतो ही सारे बयान लिये जाते थे। उसका लाभ यह हुआ कि लोगो में अधिक निर्भयता आयी। खुफिया पुलिस से लोग बहुत डरते थे। ऐसा करने से वह डर चला गया और उनकी आँखो के सामने दिये जानेवाले बयानो में अतिशयोक्ति का डर कम रहता था। इस डर से कि झूठ बोलने पर अधिकारी कही उन्हे फांद न ले, उन्हें सावधानी से बोलना पड़ता था।

मैं निलहो को खिझाना नही चाहता था, बल्कि मुझे तो उन्हें विनय द्वारा जीतने का प्रयत्न करना था। इसलिए जिसके विरूद्ध विशेष शिकायते आती, उसे मैं पत्र लिखता और उससे मिलनेका प्रयत्न भी करता था। निलहो के मंडल से भी मैं मिला और रैयत की शिकायते उनके सामने रखकर मैंने उनकी बातें भी सुन ली थी। उनमें से कुछ तिरस्कार करते थे, कुछ उदासीन रहते थे और कोई-कोई मेरे साथ सभ्यता और नम्रता का व्यवहार करते थे।

१७. साथी

ब्रजकिशोरबाबू और राजेन्द्रबाबू की तो एक अद्वितीय जोडी थी। उन्होंने अपने प्रेम से मुझे इतना पंगु बना दिया था कि उनके बिना मैं एक कदम भी आगे नहीं जा सकता था। उनके शिष्य कहिये अथवा साथी, शंभूबाबू, अनुग्रहबाबू, धरणीबाबू और रामनवमीबाबू ये वकील लगभग निरन्तर मेरे साथ रहते थे। विन्ध्याबाबू और जनकधारीबाबू भी समय समय पर साथ रहते थे। यह तो बिहारियो का संघ हुआ। उनका मुख्य काम था लोगो का बयान लेना।

अध्यापक कृपालानी इसमें सम्मिलित हुए बिना कैसे रह सकते थे? स्वयं सिन्धी होते हुए भी वे बिहारी से भी बढकर बिहारी थे। मैंने ऐसे सेवक कम देखे है, जिनमें वे जिस प्रान्त में जाये उसमें पूरी तरह घुलमिल जाने की शक्ति हो और जो किसा को यह मालूम न होने दे कि वे दूसरे प्रान्त के है। इनमें कृपालानी एक है। उनका मुख्य काम द्वारपाल का था। दर्शन करनेवालो से मुझे बचा लेने में उन्होने जीवन की सार्थकता समझ ली थी। किसी को वे विनोद करके मेरे पास आने से रोकते थे, तो किसी को अहिंसक धमकी से। रात होने पर अध्यापक का धन्धा शुरू करते और सब साथियो को हँसाते थे और कोई डरपोक पहुँच जाय तो उसे हिम्मत बँधाते थे।

मौलाना मजहरुल हक ने मेरे सहायक के रूप में अपना हक दर्ज करा रखा था और वे महीने में एक-दो बार दर्शन दे जाते थे। उस समय के उनके ठाटबाट और दबदबे में और आज की उनकी सादगी में जमीन-आसमान का अन्तर है। हमारे बीच आकर वे हमसे हृदय की एकता साध जाते थे, पर अपनी साहबी के कारण बाहर के आदमी को वे हमसे अलग जैसे जान पड़ते थे।

जैसे-तैसे मुझे अनुभव प्राप्त होता गया वैस-वैसे मैंने देखा कि चम्पारन में ठीक से काम करना हो तो गाँवो में शिक्षा का प्रवेश होना चाहिए। लोगो को अज्ञान दयनीय था। गाँवो के बच्चे मारे-मारे फिरते थे अथवा माता-पिता दो या तीन पैसे की आमदनी के लिए उनसे सारे दिन नील के खेतो में मजदूरी करवाते थे। उन दिनो वहाँ पुरूषो की मजदूरी दस पैसे से अधिक

नही थी। स्त्रियो की छह पैसे और बालको की तीन पैसे थी। चार आने की मजदूरी पाने वाला किसान भाग्यशाली समझा जाता था।

साथियो से सलाह करके पहले तो छह गाँवो में बालको के लिए पाठशाला खोलने का निश्चय किया। शर्त यह थी कि उन गाँवो के मुखिया मकान और शिक्षक का भोजन व्यय दे, उसके दूसरे खर्च की व्यवस्था हम करे। यहाँ के गाँवो में पैसे की विपुलता नही थी, पर अनाज वगैरा देने की शक्ति लोगो में थी। इसलिए लोग कच्चा अनाज देने को तैयार हो गये थे

महान प्रश्न यह था कि शिक्षक कहाँ से लाये जाये ? बिहार में थोडा वेतन लेने वाले अथवा कुछ न लेनेवाले अच्छे शिक्षको का मिलना कठिन था। मेरी कल्पना यह थी कि साधारण शिक्षको के हाथ में बच्चो को कभी न छोडना चाहिए। शिक्षक को अक्षर-ज्ञान चाहे थोड़ा हो, पर उसमें चरित्र बल तो होना ही चाहिए।

इस काम के लिए मैंने सार्वजनिक रूप से स्वयंसेवको की माँग की। उसके उत्तर में गंगाधरराव देशपांडे ने बाबासाहब सोमण और पुंडलीक को भेजा। बम्बई से अवन्तिकाबाई गोखले आयी। दक्षिण से आनन्दीबाई आयी। मैंने छोटेलाल, सुरेन्द्रनाथ तथा अपने लड़के देवदास को बुला लिया। इसी बीच महादेव देसाई और महादेव देसाई और नरहरि परीख मुझे मिल गये थे। महादेव देसाई की पत्नी दुर्गाबहन और नरहरि परीख की पत्नी मणिबहन भी आयी। मैंने कस्तूरबाई को भी बुला लिया था। शिक्षको और शिक्षिकाओं का इतना संघ काफी था। श्रीमति अवन्तिकाबाई और आनन्दीबाई की गिनती तो शिक्षितो में हो सकती थी, पर मणिबहन परीख और दुर्गाबहन को सिर्फ थोडी-सी गुजराती आती थी। कस्तूरबाई की पढाई तो नही के बराबर ही थी। ये बहने हिन्दी-भाषी बच्चो को किसी प्रकार पढ़ाती ?

चर्चा करके मैंने बहनो को समझाया कि उन्हे बच्चो को व्याकरण नही, बल्कि रहन-सहन का तौर तरीका सिखाना है। पढना-लिखना सिखाने की अपेक्षा उन्हें स्वच्छता के नियम सिखाने है। उन्हें यह भी बताया कि हिन्दी, गुजराती, मराठी के बीच कोई बड़ा भेद नही है, और पहले दर्जे में तो मुश्किल से अंक लिखना सिखाना है। अतएव उन्हें कोई कठिनाई

होगी ही नही। परिणाम यह निकला कि बहनो की कक्षाये बहुत अच्छी तरह चली। बहनो में आत्मविश्वास उत्पन्न हो गया और उन्हें अपने काम में रस भी आने लगा। अवन्तिकाबाई की पाठशाला आदर्श पाठशाला बन गयी। उन्होने अपनी पाठशाला में प्राण फूँक दिये। इस बहनो के द्वारा गाँवो के स्त्री-समाज में भी हमारा प्रवेश हो सका था।

पर मुझे पढ़ाई की व्यवस्था करके ही रुकना नही था। गाँवो में गंदगी की कोई सीमा न थी। गलियो में कचरा, कुओं के आसपास कीचड़ और बदबू, आँगन इतने गंदे कि देखे न जा सके। बड़ो को स्वच्छता की शिक्षा की जरूरत थी। चम्पारन के लोग रोगो से पीडित देखे जाते थे। जितना हो सके उतना सफाई का काम करके लोगो के जीवन के प्रत्येक विभाग में प्रवेश करने की हमारी वृत्ति थी।

इस काम में डॉक्टरो की सहायता की जरूरत थी। अतएव मैंने गोखले की सोसायटी से डॉ. देव की माँग की। उनके साथ मेरी स्नेहगांठ तो बंध ही चुकी थी। छह महीनो के लिए उनकी सेवा का लाभ मिला। उनकी देखरेख में शिक्षको और शिक्षिकाओ को काम करना था।

सबको यह समझा दिया गया कि कोई भी निलहो के विरुद्ध की जाने वाली शिकायतों में न पड़े। राजनीति को न छुए। शिकायत करनेवालो को मेरे पास भेज दे। कोई अपने क्षेत्र से बाहर एक कदम भी न रखे। चम्पारन के इन साथियो का नियम-पालन अद्भूत था। मुझे ऐसा कोई अवसर याद नही आता, जब किसी ने दी हुई सूचनाओ का उल्लंघन किया हो।

१८. ग्राम-प्रवेश

प्रायः प्रत्येक पाठशाला में एक पुरुष और एक स्त्री की व्यवस्था की गयी थी। उन्हीं के द्वारा दवा और सफाई के काम करने थे। स्त्रियों की मारफत स्त्री-समाज में प्रवेश करना था। दवा का काम बहुत सरल बना दिया था। अंडी का तेल, कुनैन और एक मरहम

इतनी ही चीजें प्रत्येक पाठशाला में रखी जाती थी। जाँचने पर जीभ मैंली दिखाई दे और कब्ज की शिकायत हो तो अंड़ी का तेल पिला देना। बुखार की शिकायत हो तो अंडी का तेल देने के बाद आने वाले को कुनैन पिला देना। और अगर फोड़े हो तो उन्हे धोकर उनपर मरहम लगा देना। खाने की दवा अथवा मरहम के साथ ले जाने के लिए शायद ही दिया जाता था। कही कोई खतरनाक या समझ में न आनी वाली बीमारी होती, तो वह डॉ. देव को दिखाने के लिए छोड़ दी जाती। डॉ. देव अलग-अलग जगह में नियत समय पर हो आते थे। ऐसी सादी सुविधा का लाभ लोग ठीक मात्रा में उठाने लगे थे। आम तौर से होने वाली बीमारियो थोडी ही है और उनके लिए बड़े-बड़े विशारदो की आवश्यकता नही होती। इसे ध्यान में रखा जाय, तो उपर्युक्त रीति से की गयी व्यवस्था किसी को हास्यजनक प्रतीत नही होगी। लोगो को तो नही ही हुई।

सफाई का काम कठिन था। लोग गंदगी दूर करने के लिए तैयार नही थे। जो लोग गोज खेतो की मजदूरी करते थे वे भी अपने हाथ से मैंला साफ करने के लिए तैयार न थे। डॉ. देव हार मान लेनेवाले आदमी न थे। उन्होने और स्वयंसेवको ने अपने हाथ से एक गाँव की सफाई की, लोगो के आंगनो से कचरा साफ किया, कुओ के आसपास के गड्ढे भरे, कीचड़ निकाला और गाँववालो को स्वयंसेवक देने की बात प्रेम-पूर्वक समझाते रहे। कुछ स्थानो में लोगो ने शरम में पड़कर काम करना शुरू किया और कहीं-कहीं तो लोगो ने मेरी मोटर आने-जाने के लिए अपनी मेहनत से सड़के भी तैयार कर दी। ऐसे मीठे अनुभवो के साथ ही लोगो की लापरवाही के कड़वे अनुभव भी होते रहते थे। मुझे याद है कि कुछ जगहो में लोगो ने अपनी नाराजी भी प्रकट की थी।

इस अनुभवो में से एक, जिसका वर्णन मैंने स्त्रियो की कई सभाओ में किया है, यहाँ देना अनुचित न होगा। भीतिहरवा एक छोटा से गाँव था। उसके पास उससे भी छोटा एक गाँव था। वहाँ कुछ बहनो के कपड़े बहुत मैंले दिखायी दिये। इन बहनो को कपड़े बदलने के बारे में समझाने के लिए मैंने कस्तूरबाई से कहा। उसने उन बहनो से बात की। उनमें से एक बहन कस्तूरबाई को अपनी झोंपड़ी में ले गयी और बोली, 'आप देखिये, यहाँ कोई पेटी या आलमारी नही है कि जिसमें कपड़े बन्द हो। मेरे पास यही एक साड़ी है, जो मैंने पहन रखी है। इसे मैं कैसे धो सकती हूँ ? महात्माजी से कहिये कि वे कपड़े दिलवाये। उस दशा में मैं रोज नहाने और कपडे बदलने को तैयार रहूँगी।' हिन्दुस्तान में ऐसे झोपडो में साज-सामान, संदूक-पेटी, कपड़े लत्ते, कुछ नही होते और असंख्य लोग केवल पहने हुए कपड़ो पर ही अपना निर्वाह करते है।

एक दूसरा अनुभव भी बताने-जैसा है। चम्पारन में बास या घास की कमी नही रहती। लोगो ने भीतिहरवा में पाठशाला का जो छप्पर बनाया था, वह बांस और घास का था। किसी ने उसे रात को जला दिया। सन्देह तो आसपास के निलहो के आदमियो पर हुआ था। फिर से बांस और घास का मकान बनाना मुनासिब मालूम नही हुआ। यह पाठशाला श्री सोमण और कस्तूरबाई के जिम्मे थी। श्री सोमण ने ईटों का पक्का मकान बनाने का निश्चय किया और उनके स्वपरिश्रम की छूत दूसरो को लगी, जिससे देखते-देखते ईटो का मकान तैयार हो गया और फिर से मकान के जलजाने का डर न रहा।

इस प्रकार पाठशाला सफाई और औषधोपचार के कामो से लोगो में स्वयंसेवको के प्रति विश्वास और आदर की वृद्धि हुई औऱ उन पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

पर मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस काम को स्थायी रूप देने का मेरा मनोरथ सफल न हो सका। जो स्वयंसेवक मिले थे, वे एक निश्चित अवधि के लिए ही मिले थे। दूसरे नये स्वयंसेवको को मिलने में कठिनाई हुई और बिहार से इस काम के लिए योग्य सेवक न मिल सके। मुझे भी चम्पारन का काम पूरा होते-होते एक दूसरा काम, जो तैयार हो रहा था, घसीट ले गया। इतने पर भी छह महीनो तक हुए इस काम ने इतनी जड़ पकड ली कि एक नही तो दूसरे स्वरूप में उसका प्रभाव आज तक बना हुआ है।

१९. उजला पहलू

एक ओर समाज सेवा का वह काम हो रहा था, जिसका वर्णन मैंने पिछले प्रकरणो में किया है और दूसरी ओऱ लोगो के दुःखो की कहानियाँ लिखने का काम उत्तरोत्तर बढते पैमाने पर हो रहा था। हजारो लोगो की कहानियाँ लिखी गयी। उनका कोई असर न हो, यह कैसी संभव था? जैसे जैसे मेरे पड़ाव पर लोगो की आमद रफ्त बढती गयी वैसे वैसे निलहों का क्रोध बढ़ता गया, उनकी ओर सो मेरी जाँच को बन्द कराने के प्रयत्न बढ़ते गये।

एक दिन मुझे बिहार सरकार का पत्र मिला। उसका आशय इस प्रकार था, 'आपकी जाँच काफी लम्बे समय तक चल चुकी है और अब आपको उसे बन्द करके बिहार छोड देना चाहिए।' पत्र विनय पूर्वक लिखा गया था, पर उसका अर्थ स्पष्ट था। मैंने लिखा कि जाँच का काम तो अभी देर तक चलेगा और समाप्त होने पर भी जब तक लोगो के दुःख दूर न होगे, मेरा इरादा बिहार छोडने का जाने का नही है। मेरी जाँच बन्द कराने के लिए सरकार के पास एक समुचित उपाय यही था कि वह लोगो की शिकायतो को सच मान कर उन्हे दूर करे, अथवा शिकायतो को ध्यान में लेकर अपनी जाँच समिति नियुक्त करे। गवर्नर सर एडवर्ड गेट में मुझे बुलाया और कहा कि वे स्वयं जाँच समिति नियुक्त करना चाहते है। उन्होने मुझे उसका सदस्य बनने के लिए आमंत्रित किया। समिति के दूसरे नाम देखने के बाद मैंने साथियो से सलाह की और इस शर्त के साथ सदस्य बनना कबूल किया कि मुझे अपने साथियो से सलाहमशविरा करने की स्वतंत्रता रहनी चाहिए और सरकार को समझ लेना चाहिए कि सदस्य बन जाने से मैं हिमायत करना छोड़ न दूँगा, तथा जाँच पूरी हो जाने पर यदि मुझे संतोष न हुआ तो किसानो का मार्गदर्शन करने की अपनी स्वतंत्रता को मैं हाथ से जाने न दूँगा।

सर एडवर्ड गेट ने इस शर्तो को उचित मानकर इन्हे मंजूर किया। स्व. सर फ्रेंक स्लाई समिति के अध्यक्ष नियुक्त किये गये थे। जाँच समिति ने किसानों की सारी शिकायतो को सही ठहराया और निलहे गोरो ने उनसे जो रकम अनुचित रीति से वसूल की थी, उसका कुछ अंश लौटाने और 'तीन कठिया' के कानून को रद्द करने की सिफारीश की।

इन रिपोर्ट के सांगोपांग तैयार होने और अन्त में कानून के पास होने में सर एडवर्ड गेट का बहुत बड़ा हाथ था। यदि वे दढ न रहे होते अथवा उन्होनें अपनी कुशलता का पूरा उपयोग न किया होता, तो जो सर्वसम्मत रिपोर्ट तैयार हो सकी वह न हो पाती और आखिर में जो कानून पास हुआ वह भी न हो पाता। निलहों की सत्ता बहुत प्रबल थी। रिपोर्ट पेश हो जाने पर भी उनमें से कुछ ने बिल का कड़ा विरोध किया था। पर सर एडवर्ड गेट अन्त कर दढ रहे और उन्होने समिति की सिफारिशो पर पूरा पूरा अमल किया। इस प्रकार सौ साल से चले आनेवाले 'तीन कठिया' के कानून के रद्द होते ही निलहे गोरो का राज्य का अस्त हुआ, जनता का जो समुदाय बराबर दबा ही रहता था उसे अपनी शक्ति का कुछ भान हुआ और लोगो का यह वहम दूर हुआ कि नील का दाग धोये धुल ही नही सकता।

मैं तो चाहता था कि चम्पारन में शुरू किये गये रचनात्मक काम को जारी रखकर लोगो में कुछ वर्षो तक काम करूँ, अधिक पाठशालाएँ खोलूँ और अधिक गाँवो में प्रवेश करूँ। पर ईश्वर ने मेरे मनोरश प्रायः पूरे होने ही नही दिये। मैंन सोचा कुछ था और दैव मुझे घसीट कर ले गया दूसरे ही काम में।

२०. मजदूरों के सम्पर्क में

चम्पारन में अभी मैं समिति के काम को समेट ही रहा था कि इतने में खेड़ा से मोहनलाल पंडया और शंकरलाला परीख का पत्र आया कि खेड़ा जिले में फसल नष्ट हो गयी हैं और लगान माफ कराने की जरूरत हैं। उन्होंने आग्रह पूर्वक लिखा कि मैं वहाँ पहुँचू और लोगो की रहनुमाई करूँ। मौके पर जाँच किये बिना कोई सलाह देने की मेरी इच्छा नही थी, न मुझे में वैसी शक्ति या हिम्मत ही थी।

दूसरी ओर से श्री अनसुयाबाई का पत्र उनके मजदूर संघ के बारे में आया था। मजदूरो की तनख्वाहे कम थी। तनख्वाह बढाने की उनकी माँग बहुत पुरानी थी। इस मामले में उनकी रहनुमाई करने का उत्साह मुझ में था। लेकिन मुझ में यह क्षमता न थी कि इस अपेक्षाकृत छोटे प्रतीत होने वाले काम को भी मैं दूर बैठकर कर सकूँ। इसलिए मौका मिलते ही मैं पहले अहमदाबाद पहुँचा। मैंने यह सोचा कि दोनो मामलो की जाँच करके थोड़े समय में मैं वापस चम्पारन पहुँचूगा और वहाँ के रचनात्मक काम की देखरेख करूँगा।

पर अहमदाबाद पहुँचने के बाद वहाँ ऐसे काम निकल आये कि मैं कुछ समय तक चम्पारन नही जा सका और जो पाठशालाये वहाँ चल रही थी वे एक एक करके बन्द हो गयी। साथियो ने और मैंने कितने ही हवाई किले रचे थे, पर बस कुछ समय के लिए तो वे सब ढह ही गये।

चम्पारन में ग्राम पाठशालाओ और ग्राम सुधार के अलावा गोरक्षा की काम भी मैंने हाथ में लिखा था। गोरक्षा और हिन्दी प्रचार के काम का इजारा मारवाडी भाइयों ने ले रखा है, इसे मैं अपने भ्रमण में देख चुका था। बेतिया में एक मारवाड़ी सज्जन ने अपनी धर्मशाला में मुझे आश्रय दिया था। बेतिया के मारवाड़ी सज्जनों ने मुझे अपनी गोरक्षा के काम में फाँद लिया था। गोरक्षा के विषय में मेरी जो कल्पना आज है, वही उस समय बन चुकी थी। गोरक्षा का अर्थ है, गोवंश की वृद्धि, गोजाति का सुधार, बैल से मर्यादित काम लेना, गोशाला को आदर्श दुग्धालय बनाना, आदि आदि। इस काम में मारवाडी भाइयो ने पूरी मदद देने का

आश्वासन दिया था। पर मैं चम्पारन में स्थिर होकर रह न सका, इसलिए वह काम अधूरा ही रह गया।

बेतिया में गोशाला तो आज भी चलती है पर वह आदर्श दुग्धालय नही बन सकी है। चम्पारन के बैलो से आज भी उनकी शक्ति से अधिक काम लिया जाता हैं। नामधारी हिन्दू आज भी बैलो को निर्दयता पूर्वक पीटते है और धर्म को बदनाम करते है। यह कसक मेरे मन में सदा के लिए रह गयी। और, जब जब मैं चम्पारन जाता हूँ तब तब इन अधूरे कामो का स्मरण करके लम्बी साँस लेता हूँ और उन्हें अधूरा छोड देने के लिए मारवाड़ी भाइयो और बिहारियों का मीठा उलाहना सुनता हूँ।

पाठशालाओं का काम को एक या दूसरी रीति से अन्य स्थानो में चल रहा है, पर गोसेवा के कार्यक्रम ने जड़ ही नही पकड़ी थी, इसलिए उसे सही दिशा में गति न मिल सकी।

अहमदाबाद में खेड़ा जिले के काम के बारे में सलाह मशविरा हो ही रहा था कि इस बीच मैंने मजदूरो का काम हाथ में ले लिया।

मेरी स्थिति बहुत ही नाजुक थी। मजदूरो का मामला मुझे मजबूत मालूम हुआ। श्री अनसूयाबाई को अपने सगे भाई के साथ लड़ना था। मजदूरो और मालिको के बीच के इस दारूण युद्ध में श्री अंबालाल साराभाई ने मुख्य रूप से हिस्सा लिया था। मिल मालिको के साथ मेरा मीठा सम्बन्ध था।

उनके विरुद्ध लड़ने का काम विकट था। उनसे चर्चाये करके मैंने प्रार्थना की कि वे मजदूरो की माँग के संबंध में पंच नियुक्त करे। किन्तु मालिको ने अपने और मजदूरो के बीच पंच के हस्ताक्षेप की आवश्यकता को स्वीकार न किया।

मैंने मजदूरो को हडताल करने की सलाह दी। यह सलाह देने से पहले मैं मजदूरो और मजदूर नेताओ के सम्पर्क में अच्छी तरह आया। उन्हें हड़ताल की शर्ते समझायी :

1. किसी भी दशा में शांति भंग न होने दी जाय।

2. जो मजदूर काम पर जाना चाहे उसके साथ जोर जबरदस्ती न की जाय।

3. मजदूर भिक्षा का अन्न न खाये।

4. हडताल कितनी ही लम्बी क्यो न चले, वे दढ रहे और अपने पास पैसा न रहे तो दूसरी मजदूरी करके खाने योग्य कमा लें।

मजदूर नेताओ ने ये शर्तें समझ ली और स्वीकार कर ली। मजदूरो की आम सभा हुई और उसमें उन्होंने निश्चय किया कि जब तक उनकी माँग मंजूर न की जाय अथवा उसकी योग्यता अयोग्यता की जाँच के लिए पंच की नियुक्ति न हो तब तक वे काम पर नही जायेंगे।

कहना होगा कि इस हडताल के दौरान में मैं श्री वल्लभभाई पटेल और श्री शंकरलाल बैकर को यथार्थ रूप मैं पहचानने लगा। श्री अनसूयाबाई का परिचय तो मुझे इसके पहले ही अच्छी तरह हो चुका था। हडतालियों की सभा रोज साबरमती नदी के किनारे एक पेड़ का छाया तले होने लगी। उसमें वे लोग सैकड़ो की तादाद में जमा होते थे। मैं उन्हें रोज प्रतिज्ञा का स्मरण कराता तथा शान्ति बनाये रखने और स्वाभिमान समझाता था। वे अपना 'एक टेक' का झंडा लेकर रोज शहर में घूमते थे और जुलूस के रूप में सभा में हाजिर होते थे।

यह हडताल इक्कीस दिन तक चली। इस बीच समय समय पर मैं मालिको से बातचीत किया करता था और उन्हें इन्साफ करने के लिए मनाता था। मुझे यह जवाब मिलता, 'हमारी भी तो टेक है न ? हममें और हमारे मजदूरो में बाप बेटे का सम्बन्ध हैं। उसके बीच में कोई दखल दे तो हम कैसे सहन करे ? हमारे बीच पंच कैसे ?'

२१. आश्रम की झाँकी

मजदूरों की बात को आगे बढाने से पहले यहाँ आश्रम की झाँकी कर लेना आवश्यक है। चम्पारन में रहते हुए भी मैं आश्रम को भूल नही सकता था। कभी कभी वहाँ हो भी आता था।

कोचरब अहमदाबाद के पास एक छोटा सा गाँव है। आश्रम का स्थान इस गाँव में था। कोचरब में प्लेग शुरू हुआ। आश्रम के बालको को मैं उइस बस्ती के बीच सुरक्षित नही रख सकता था। स्वच्छता के नियमो का अधिक से अधिक सावधानी से पालन करने पर भी आसपास की अस्वच्छता से आश्रम को अछूता रखना असमभव था। कोचरब के लोगो से स्वच्छता के नियमों का पालन कराने की अथवा ऐसे समय उनकी सेवा करने की हममें शक्ति नही थी, हमारा आदर्श तो यह था कि आश्रम को शहर या गाँव से अलग रखे, फिर भी वह इतना दूर न हो कि वहाँ पहुँचने में बहुत कठिनाई हो। किसी न किसी दिन तो आश्रम को आश्रम के रूप में सुशोभित होने से पहले अरनी जमीन पर खुली जगह में स्थिर होना ही था।

प्लेग को मैंने कोचरब छोड़ने की नोटिस माना। श्री पूंजाभाई हीराचन्द आश्रम के साथ बहुत निकट का सम्बन्ध रखते थे और आश्रम की छोटी बड़ी सेवा शुद्ध और निरभिमान भाव से करते थे। उन्हें अहमदाबाद के कारबारी जीवन का व्यापक अनुभव था। उन्होंने आश्रम के लिए जमीन खोज तुरन्त ही कर लेने का बीड़ा उठाया। कोचरब के उत्तर दक्षिण के भाग में मैं उनके साथ घूमा। फिर उत्तर की ओर तीन चार मील दूर कोई टुक़डा मिल जाय तो उसका पता लगाने की बात मैंने उनसे कही। उन्होंने आज की आश्रमवाली जमीन का पता लगा लिया। वह जेल के पास है, यह मेरे लिए खास प्रलोभन था। सत्याग्रह आश्रम में रहने वाले के भाग्य में जेल तो लिखा ही होता है। अपनी इस मान्यता के कारण जेल का पड़ोस मुझे पसन्द आया। मैं यह तो जानता ही था कि जेल के लिए हमेंशा वही जगह पसन्द की जाती है जहाँ आसपास स्वच्छ स्थान हो।

कोई आठ दिन के अन्दर ही जमीन का सौदा तय कर लिया। जमीन पर न तो कोई मकान था, न कोई पेड़। जमीन के हक में नदी का किनारा और एकान्त ये दो बड़ी सिफारिशे थी। हमने तम्बुओ में रहने का निश्चय किया और सोचा कि रसोईघर के लिए टीन का एक कामचलाऊ छप्पर बाँध लेंगे और धीरे धीरे स्थायी मकान बनाना शुरू कर देंगे।

इस समय आश्रम की बस्ती बढ गयी थी। लगभग चालीस छोटे-बढे स्त्री-पुरुष थे। सुविधा यह थी कि सब एक ही रसोईघर में खाते थे। योजना का कल्पना मेरी थी। उसे असली रूप देने का बोझ उठाने वाले तो नियमानुसार स्व. मगललाल गांधी ही थे।

स्थायी मकान बनने से पहले की कठिनाइयों का पार न था। बारिश का मौसम सामने था। सामान सब चार मील दूर शहर से लाना होता था। इस निर्जन भूमि में साँप आदि हिंसक जीव तो थे ही। ऐसी स्थिति में बालको की सार सँभाल को खतरा मामूली नही था। रिवाज यह था कि सर्पादि को मारा न जाय लेकिन उनके भय से मुक्त तो हममें से कोई न था, आज भी नही है।

फीनिक्स, टॉल्सटॉय फार्म और साबरमती आश्रम तीनो जगहों में हिंसक जीवो को न मारने का यथाशक्ति पालन किया गया है। तीनो जगहों में निर्जन जमीने बसानी पड़ी थी। कहना होगा कि तीनो स्थानो में सर्पादि का उपद्रव काफी था। तिस पर भी आज तक एक भी जान खोनी नही पड़ी। इसमें मेरे समान श्रद्धालु को तो ईश्वर के हाथ का, उसकी कृपा का ही दर्शन होता है। कोई यह निरर्थक शंका न उठावे कि ईश्वर कभी पक्षपात नही करता, मनुष्य के दैनिक कामो में दखल देने के लिए यह बेकार नहीं बैठा है। मैं इस चीज को, इस अनुभव को, दूसरी भाषा में रखना नही जानता। ईश्वर की कृति को लौकिक भाषा में प्रकट करते हुए भी मैं जानता हूँ कि उसका 'कार्य' अवर्णनीय है। किन्तु यदि पामर मनुष्य वर्णन करने बैठे तो उसकी अपनी तोतली बोली ही हो सकती है। साधारणतः सर्पादि को न मारने पर भी आश्रम समाज के पच्चीस वर्ष तक बचे रहने का संयोग मानने के बदले ईश्वर की कृपा मानना यदि वहम हो, तो वह वहम भी बनाये रखने जैसा है।

जब मजदूरो की हड़ताल हुई, तब आश्रम की नींव पड़ रही थी। आश्रम का प्रधान प्रवृत्ति बुनाई काम की थी। कातने की तो अभी हम खोज ही नही कर पाये थे। अतएव पहले बुनाईघर बनाने का निश्चय किया था। इससे उसकी नींव चुनी जा रही थी।

२२. उपवास

मजदूरों ने शुरू के दो हफ्तों में खूब हिम्मत दिखाई; शांति भी खूब रखी; प्रतिदिन सभाओं में वे बड़ी संख्या में हाजिर भी रहें | प्रतिज्ञा का स्मरण में रोज उन्हें कराता ही था | वे रोज पुकार-पुकार कर कहते थे, "हम मर मिटेंगे, पर अपनी टेक कभी न छोड़ेंगे |"

लेकिन आखिर वे कमजोर पड़ते जान पड़े | और जिस प्रकार कमजोर आदमी हिंसक होता है, उसी प्रकार उनमें जो कमजोर पड़े वे मिलमें जानेवालों का द्वेष करने लगे और मुझे डर मालूम हुआ की कहीं वे किसीके साथ जबरदस्ती न कर बैठे | रोज की सभा में लोगों की उपस्थिति कम पड़ने लगी | आनेवालों के चेहरों पर उदासीनता छायी रहती थी | मुझे खबर मिली की मजदुर डगमगाने लगे है | मैं परेशान हुआ | यह सोचने लगा की ऐसे समय में मेरा धर्म क्या हो सकता है | मुझे दक्षिण आफ्रिका के मजदूरों की हड़ताल का अनुभव था | पर यह अनुभव नया था | जिस प्रतिज्ञा के करने में मेरी प्रेरणा थी जिसका में प्रतिदिन साक्षी बनता था वह प्रतिज्ञा कैसे टूट सकती है? इस विचार को आप चाहें मेरा अभिमान कह लीजिये अथवा मजदूरों के और सत्य के प्रति मेरा प्रेम कह लीजिये |

सबेरे का समय था | मैं सभा में बैठा था | मेरी समझ में नहीं आ रहा था की मुझे क्या करना चाहिए | किन्तु सभा में हि मेरे मुहं से निकल गया यदि मजदुर फिर से दृढ़ न बने और फैसला होने तक हड़ताल को चला न सके तो मैं तब तक के लिए उपवास करूँगा |

जो मजदूर हाजिर थे वे सब हक्के-बक्के रह गए | अनुसुयाबहन की आँखों से धारा बह चली | मजदुर बोल उठे आप नहीं हम उपवास करेंगे | आपको उपवास नहीं करना चाहिए हमें माफ़ कीजिए हम अपनी प्रतिज्ञा का पालन करेंगे |

मैंने कहा आपको उपवास करने की जरूरत नहीं हैं | आपके लिए तो यही बस है की आप अपनी प्रतिज्ञा का पालन करें | हमारे पास पैसा नहीं है | हम मजदूरों को भीख का अन्न खिलाकर हड़ताल चलाना नहीं चाहते | आप कुछ मजदूरी कीजिए और उससे अपनी रोज की रोटी के लायक पैसा कमा लीजिये | ऐसा करेंगे तो फिर हड़ताल कितने दिन क्यों न चले आप निश्चिन्त रह सकेंगे | मेरा उपवास तो अब फैसले से पहले न छूटेगा |

वल्लभभाई पटेल मजदूरों के लिए म्युनिसिपैलिटी में काम खोज रहें थे | पर वहां कुछ काम मिलने की संभावना न थी | आश्रम की बुने-शाला में रेत का भराव करने की जरूरत थी | मगनलाल गांधी ने सुझाया की इस काम में बहुत से मजदुर लगाये जा सकते हैं | मजदुर इसे करने को तैयार हो गए | अनुसुयाबहन ने पहली टोकरी उठाई और नदी में से रेत की टोकरियाँ ढोनेवाली मजदूरों की एक कतार कड़ी हो गयी | वह दृश्य देखने योग्य था मजदूरों में नया बल आ गया | उन्हें पैसे चुकानेवाले चुकाते-चुकाते थक गए |

इस उपवास में एक दोष था | मैं ऊपर लिख चूका हूँ की मालिकों के साथ मेरा मीठा सम्बन्ध था | इसलिए उन पर उपवास का प्रभाव पड़े बिना रह ही नहीं सकता था | मैं तो जानता था की सत्याग्रही के नाते मैं उनके विरूद्ध उपवास कर ही नहीं सकता | उन पर कोई प्रभाव पड़े तो वह मजदूरों की हड़ताल का ही पड़ना चाहिए | मेरा प्रायश्चित्त उनके दोषों के लिए नहीं था | मजदूरों के दोष के निमित्त से था | मैं मजदूरों का प्रतिनिधि था इसलिए उनके दोष से मैं दोषित होता था | मालिकों से तो मैं केवल बिनती हि कर सकता था | उनके विरुद्ध उपवास करना उन पर ज्यादती करने के समान था | फिर भी मैं जानता था की मेंरे उपवास का प्रभाव उन पर पड़े बिना रहेगा ही नहीं | प्रभाव पड़ा भी | किन्तु मैं अपने उपवास को रोक नहीं सकता था | मैंने स्पष्ट देखा की ऐसा दोषमय उपवास करना मेरा धर्म है |

मैंने मालिकों को समझाया | मेरे उपवास के कारण आपको अपना मार्ग छोड़ने की तनिक भी जरूरत नहीं | उन्होंने मुझे कड़वे-मीठे ताने भी दिए | उन्हें वैसा करने का अधिकार था |

सेठ अम्बालाल इस हड़ताल विरूद्ध दृढ़ रहनेवालों में अग्रगण्य थे | उनकी दृढ़ता आश्चर्यजनक थी | उनकी निष्कपटता भी मुझे उतनी ही पसंद आयी | उनसे लड़ना मुझे प्रिय लगा | उनके जैसे अगुवा जिस विरोधी दल में थे | उस पर उपवास का पड़नेवाला अप्रत्यक्ष

प्रभाव मुझे अखरा | फिर उनकी धर्मपत्नी श्री सरलादेवी का मेरे प्रति सगी बहन जैसा प्रेम था | मेरे उपवास से उन्हें जो घबराहट होती थी वह मुझे से देखी नहीं जाती थी |

मेरे पहले उपवास में अनुसूयाबहन दुसरे कई मित्र और मजदुर साथी बने | उन्हें अधिक उपवास न करने के लिए मैं मुश्किल से समझा सका | इस प्रकार चारों ओर प्रेममय वातावरण बन गया | मालिक केवल दयावश होकर समझौते का रास्ता खोजने लगे | अनुसुयाबहन के यहाँ उनकी चर्चाएँ चलने लगी | श्री आनन्दशंकर ध्रुव भी बीच में पड़े | आखिर में पंच नियुक्त हुए और हड़ताल टूटी | मुझे केवल तीन उपवास करने पड़े | मालिकों ने मजदूरों को मिठाई बांटी | इक्कीसवें दिन समझौता हुआ | समझौते की सभा में मिल-मालिक और उत्तरी विभाग के कमिश्नर मौजूद थे | कमिश्नर ने मजदूरों को सलाह दी | आपको हमेशा मि. गांधी जैसा कहे वैसा करना चाहिए | इस घटना के बाद तुरंत ही मुझे इन्ही कमिश्नर से लड़ना पडा था | समय बदला इसलिए वे भी बदल गए और खेड़ा के पाटीदारों को मेरी सलाह न मानने की बात कहने लगे |

यहाँ एक दिलचस्प और करुणाजनक घटना का उल्लेख करना उचित जान पड़ता है | मालिकों की बनवाई हुई मिठाई बहुत ज्यादा थी और सवाल यह खड़ा हो गया था की वह हजारों मजदूरों में कैसे बांटी जाय | जिस पेड़ की छाया तले मजदूरों ने प्रतिज्ञा की थी वहीँ से उसे बांटना उचित है | यह सोचकर और दूसरी जगह हजारों मजदूरों को इकठठा करना कष्टप्रद होगा | यह समझकर पेड़ के आसपास के खुले मैंदान में बांटने का निश्चय हुआ था | अपने भोलेपन के कारण मैंने यह मान लिया था की इक्कीस दिन तक नियमन में रहें हुए मजदुर बिना प्रयत्न के कतार में खड़े होकर मिठाई ले लेगे और अधीर बनकर उस पर टूट न पड़ेंगे | पर मैंदान में बांटने की दो-तीन रीतियाँ आजमाई गयी और वे विफल हुई | दो-तीन मिनट काम ढंग से चलता और फिर तुरंत बंधी कतार टूट जाती | मजदूरों के नेताओने खूब कोशिश की पर वह व्यर्थ सिद्ध हुई | अंत में भीड़ कोलाहल और छीनाझपटी यहाँ तक बढ़ गयी की कुछ मिठाई कुचलकर बर्बाद हो गयी | मैंदान में बांटना बंद करना पडा और बची हुई मिठाई को मुश्किल से बचाकर सेठ अम्बालाल के मिर्जापुरवाले बंगले पर पहुँचाया जा सका | दुसरे दिन यह मिठाई बंगले के मैंदान में हि बांटनी पड़ी |

इस घटना में निहित हास्यरस तो स्पष्ट हि है परन्तु उसके करुण रस का उल्लेख करना जरुरी है | एक टेक वाले पेड के पास मिठाई न बंट सकने के कारण का पता लगाने पर मालूम हुआ की मिठाई बांटने की खबर पाकर अहमदाबाद के भिखारी वहां आ पहुंचे थे और उन्होंने कतार तोड़कर मिठाई झपट लेने की कोशिश की थी |

यह देश भुखमरी से इतना पीड़ित है की भिखारियों की संख्या दिनोंदिन बढती जाती है और वे भोजन पाने के लिए साधारण मर्यादा का उल्लंघन करते है | धनवान लोग ऐसे भिखारियों के लिए काम की व्यवस्था करने के बदले बिना विचारे भिक्षा देकर उन्हें पोसते है |

२३. खेड़ा-सत्याग्रह

मजदूरों की हड़ताल समाप्त होने के बाद दम लेने को भी समय न मिला और मुझे खेड़ा जिले के सत्याग्रह का काम हाथ में लेना पड़ा। खेड़ा जिले में अकाल की-सी स्थिति होने के कारण खेड़ा के पाटीदार लोग लगान माफ कराने की कोशिश कर रहे थे। इस विषय में श्री अमृतलाल ठक्कर ने जाँच करके रिपोर्ट तैयार की थी। इस बारे में कोई निश्चित सलाह देने से पहले मैं कमिश्नर से मिला। श्री मोहनलाल पंड्या और श्री शंकरलाल परीख अथक परिश्रम कर रहे थे। वे स्व. गोकलदास कहानदास पारेख और विट्ठलभाई पटेल के द्वारा धारासभा में आन्दोलन कर रहे थे। सरकार के पास डेप्युटेशन भी गये थे।

इस समय मैं गुजरात-सभा का सभापति था। सभा ने कमिश्नर और गवर्नर को प्रार्थना पत्र भेजे, तार भेजे, अपमान सहे। सभा उनकी धमकियों को पचा गयी। अधिकारियों का उस समय का ढंग आज तो हास्यजनक प्रतीत होता है। उन दिनो का उनका अत्यन्त हलका बरताव आज असंभव सा मालूम होता है।

लोगों की माँग इतनी साफ और इतनी साधारण थी कि उसके लिए लड़ाई लड़ने की जरूरत ही न होनी चाहिए थी। कानून यह था कि अगर फसल चार ही आना या उससे कम आवे, तो उस साल का लगान माफ किया जाना चाहिए। पर सरकारी अधिकारियों का अंदाज चार आने से अधिक था। लोगो द्वारा यह सिद्ध किया जा रहा था कि उपज चार आने से कम कूती जानी चाहिए, पर सरकार क्यो मानने लगी ? लोगो की ओर से पंच बैठाने की माँग की गयी। सरकार को वह असह्य मालूम हुई। जितना अनुनय-विनय हो सकता था, सो सब कर चुकने के बाद और साथियो से परामर्श करने के पश्चात मैंने सत्याग्रह करने की सलाह दी।

साथियों में खेड़ा जिले के सेवको के अतिरिक्त मुख्यतः श्री वल्लभभाई पटेल, श्री शंकरलाल बैंकर, श्री अनसूयाबहन, श्री इन्दुलाल कन्हैया याज्ञिक, श्री महादेव देसाई आदि थे। श्री वल्लभभाई अपनी बड़ी और बढ़ती हुई वकालत की बलि देकर आये थे। ऐसा कहा जा सकता है कि इसके बाद वे निश्चिन्त होकर वकालत कर ही न सके।

हम नडियाद के अनाथाश्रम में ठहरे थे। अनाथाश्रम में ठहरने को कोई विशेषता न समझे। नड़ियाद में उसके जैसा स्वतंत्र मकान नही था, जिसमें इतने सारे लोग समा सकें। अन्त में नीचे लिखी प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर लिये गये :

'हम जानते है कि हमारे गाँवो की फसल चार आने से कम हुई है। इस कारण हमने सरकार से प्रार्थना की कि वह लगान वसूली का काम अगले वर्ष तक मुलतवी रखे। फिर भी वह मुलतवी नही किया। अतएव हम नीचे सही करने वाले लोग यह प्रतिज्ञा करते है कि हम सब इस साल का पूरा या बाकी रहा सरकारी लगान नहीं देंगे। पर उसे वसूल करने के लिए सरकार जो भी कानूनी कार्यवाई करना चाहेगी, हम करने देंगे और उससे होने वाले दुःख सहन करेगे। यदि हमारी जमीन खालसा की गयी, तो हम उसे खालसा भी होने देगे। पर अपने हाथो पैसे जमा करके हम झूठे नही ठहरेंगे और स्वाभिमान नहीं खोयेंगे। अगर सरकार बाकी बची हुई सब जगहों में दूसरी किस्त की वसूली मुलतवी रखे तो हममें से जो लोग जमा करा सकते है वे पूरा अथवा बाकी रहा हुआ लगान जमा कराने को तैयार है। हममें से जो जमा करा सकते है, उनके लगान जमा न कराने का कारण यह है कि अगर समर्थ लोग जमा करा दे, तो असमर्थ लोग घबराहट में पड़कर अपनी कोई भी चीज बेचकर या कर्ज लेकर लगान जमा करा देगे और दुःख उठायेंगे। हमारी मान्यता है कि ऐसी स्थिति में गरीबो की रक्षा करना समर्थ लोगो का कर्तव्य है। '

इस लड़ाई के लिए मैं अधिक प्रकरण नही दे सकता। अतएव अनेक मीठे स्मरण छोड़ देने पड़ेगे। जो इस महत्त्वपूर्ण लड़ाई का गहरा अध्ययन करना चाहे, उन्हें श्री शंकरलाल परीख द्वारा लिखित खेड़ा की लड़ाई का विस्तृत प्रामाणिक इतिहास पढ़ जाने की मैं सिफारिश करता हूँ।

२४. 'प्याजचोर'

चम्पारन हिन्दुस्तान के ऐसे कोने में स्थित था और वहाँ की लड़ाई को इस तरह अखबारो से अलग रखा जा सका था कि वहाँ से बाहर से देखनेवाले कोई आते नहीं थे। पर खेड़ा की लड़ाई अखबारो की चर्चा का विषय बन चुकी थी। गुजरातियों को इस नई वस्तु में विशेष रस आने लगा था। वे पैसा लुटाने को तैयार थे। सत्याग्रह की लड़ाई पैसे से नही चल सकती, उसे पैसे की कम से कम आवश्यकता रहती है, यह बात जल्दी उनकी समझ में नही आ रही थी। मना करने पर भी बम्बई के सेठो ने आवश्यकता से अधिक पैसे दिये थे और लड़ाई के अन्त में उसमें से कुछ रकम बच गयी थी।

दूसरी तरफ सत्याग्रही सेना को भी सादगी का नया पाठ सीखना था। मैं यह तो नहीं कह सकता कि वे पूरा पाठ सीख सके थे, पर उन्होने अपनी रहन सहन में बहुत कुछ सुधार कर लिया था।

पाटीदारों के लिए भी यह लड़ाई नई थी। गाँव-गाँव घूमकर लोगो को इसका रहस्य समझाना पड़ता था। सरकारी अधिकारी जनता के मालिक नहीं, नौकर हैं, जनता के पैसे से उन्हें तनख्वाह मिलती हैं यह सब समझाकर उनका भय दूर करने का काम मुख्य था। और निर्भय होने पर भी विनय के पालन का उपाय बताना और उसे गले उतारना लगभग असम्भव सा प्रतीत होता था।

अधिकारियों का डर छोड़ने के बाद उनके द्वारा किये गये अपमानो का बदला चुकाने की इच्छा किसे नहीं होती ! फिर भी यदि सत्याग्रही अविनयी बनता है, तो वह दूध में जहर मिलने के समान हैं। पाटीदार विनय का पाठ पूरी तरह पढ़ नहीं पाये, इसे मैं बाद में अधिक समझ सका। अनुभव से मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि विनय सत्याग्रह का कठिन से कठिन अंश है। यहाँ विनय का अर्थ केवल सम्मान पूर्वक वचन कहना ही नही हैं। विनय से तात्पर्य है, विरोधी के प्रति भी मन में आदर, सरल भाव, उसके हित की इच्छा और तदनुसार व्यवहार।

शुरु के दिनों में लोगो में खूब हिम्मत दिखायी देती थी। शुरू-शुरू में सरकारी कारवाई भी कुछ ढीली थी। लेकिन जैसे-जैसे लोगो की दढता बढती मालूम हुई, वैसे-वैसे सरकार को भी अधिक उग्र कार्यवाई करने की इच्छा हुई। कुर्की करनेवालो ने लोगो के पशु बेच डाले, घर में से जो चाहा सो माल उठाकर ले गये। चौथाई जुर्माने की नोटिस निकली। किसी-किसी गाँव की सारी फसल जब्त कर ली गयी। लोगो में घबराहट फैली। कुछ ने लगान जमा करा दिया। दूसरे मन-ही-मन यह चाहने लगे कि सरकारी अधिकारी उनका सामान जब्त करके लगान वसूल कर ले तो भर पाये। कुछ लोग मर-मिटनेवाले भी निकले।

इसी बीच शंकरलाल परीख की जमीन का लगान उनकी जमीन पर रहनेवाले आदमी ने जमा करा दिया। इससे हाहाकार मच गया। शंकरलाल परीख ने वह जमीन जनता को देकर अपने आदमी से हूई भूल का प्रायश्चित किया। इससे उनकी प्रतिष्ठा की रक्षा हुई और दूसरो के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत हो गया।

भयभीत लोगो को प्रोत्साहित करने के लिए मोहनलाल पंडया के नेतृत्व में मैंने एक ऐसे खेत में खड़ी फसल को उतार लेने की सलाह दी, जो अनुचित रीति से जब्त किया गया था। मेरी दृष्टि में इससे कानून का भंग नहीं होता था। लेकिन अगर कानून टूटता हो, तो भी मैंने यह सुझाया कि मामूली से लगान के लिए समूची तैयार फसल को जब्त करना कानूनन् ठीक होते हुए भी नीति के विरुद्ध है और स्पष्ट लूट है, अतएव इस प्रकार की जब्ती का अनादर करना हमारा धर्म है। लोगों को स्पष्ट रूप से समझा दिया था कि ऐसा करने में जेल जाने और जुर्माना होने का खतरा है। मोहनलाल पंडया तो यही चाहते थे। सत्याग्रह के अनुरूप किसी रीति से किसी सत्याग्रही के जेल गये बिना खेड़ा की लड़ाई समाप्त हो जाय, यह चीज उन्हें अच्छी नही लग रही थी। उन्होंने इस खेत का प्याज खुदवाने का बीड़ा उठाया। सात-आठ आदमियों ने उनका साथ दिया।

सरकार उन्हें पकड़े बिना भला कैसे रहती ? मोहनलाल पंडया और उनके साथी पकड़े गये। इससे लोगो का उत्साह बढ़ गया। जहाँ लोग जेल इत्यादि के विषय में निर्भय बन जाते है, वहाँ राजदंड लोगो को दबाने के बदले उनमें शूरवीरता उत्पन्न करता है। अदालत में लोगो के दल-के-दल मुकदमा देखने को उमड़ पड़े। मोहनलाल पंडया को और उनके साथियों को

थोडे-थोड़े दिनो की कैद की सजा दी गयी। मैं मानता हूँ कि अदालत का फैसला गलत था। प्याज उखाडने का काम चोरी की कानूनी व्याख्या की सीमा में नही आता था। पर अपील करने की किसी की वृति ही न थी।

जेल जानेवालो को पहुँचाने के लिए एक जुलूस उनके साथ हो गया और उस दिन से मोहनलाल पंडया को लोगो की ओर से 'प्याजचोर' की सम्मानित पदवी प्राप्त हुई, जिसका उपभोग वे आज तक कर रहे है।

इस लड़ाई का कैसा और किस प्रकार अन्त हुआ, इसका वर्णन करके हम खेड़ा-प्रकरण समाप्त करेंगे।

२५. खेड़ा की लड़ाई का अन्त

इस लड़ाई का अन्त विचित्र रीति से हुआ। यह तो साफ था कि लोग थक चुके थे । जो दढ रहे थे, उन्हे पूरी तरह बरबाद होने देने में संकोच हो रहा था । मेरा झुकाव इस ओर था कि सत्याग्रह ते अनुरुप इसकी समाप्ति का कोई शोभापद मार्ग निकल आये, तो उसे अपनाना ठीक होगा । ऐसा एक अनसोचा उपाय सामने आ गया । नडियाद तालुके के तहसीलदार ने संदेशा भेजा कि अगर अच्छी स्थितिवाले पाटीदार लगान अदा कर दे, तो गरीबो का लगान मुलतवी रहेगा । इस विषय में मैंने लिखित स्वीकृति माँगी और वह मिल गयी । तहसीलदार अपनी तहसील का ही जिम्मेदारी ले सकता था । सारे जिले की जिम्मेदारी तो कलेक्टर ही ले सकता था । इसलिए मैंने कलेक्टर से पूछा । उसका जवाब मिला कि तहसीलदार ने जो कहा है, उसके अनुसार तो हुक्म निकल ही चुका है । मुझे इसका पता नही था । लेकिन यदि ऐसा हुक्म निकल चुका हो, तो माना जा सकता है कि लोगो की प्रतिज्ञा का पालन हुआ । प्रतिज्ञा में यही वस्तु थी, अतएव इस हुक्म से हमने संतोष माना ।

फिर भी इस प्रकार की समाप्ति से हम प्रसन्न न हो सके । सत्याग्रह की लड़ाई के पीछे जो एक मिठास होती है, वह इसमें नही थी । कलेक्टर मानता था कि उसने कुछ किया ही नही । गरीब लोगो को छोड़ने की बात कहीं जाती थी, किन्तु वे शायद ही छूट पाये । जनता यह करने का अधिकार आजमा न सकी कि गरीब में किसकी गिनती की जाय । मुझे इस बात का दुःख था कि जनता में इस प्रकार की शक्ति रह नही गयी थी । अतएव लड़ाई की समाप्ति का उत्सव तो मनाया गया, पर इस दृष्टि से मुझे वह निस्तेज लगा । सत्याग्रह का शुद्ध अन्त तभी माना जाता है, जब जनता में आरम्भ की अपेक्षा अन्त में अधिक तेज और शक्ति पायी जाय । मैं इसका दर्शन न कर सका । इतने पर भी इस लड़ाई के जो अदृश्य परिणाम निकले, उसका लाभ तो आज भी देखा जा सकता है और उठाया जा रहा है। खेड़ा की लड़ाई से गुजरात के किसान-समाज की जागृति का और उसकी राजनीतिक शिक्षा का श्रीगणेश हुआ।

विदुषी डॉ. बेसेंट के 'होम रुल' के तेजस्वी आन्दोलन ने उसका स्पर्श अवश्य किया था, लेकिन कहना होगा कि किसानो के जीवन में शिक्षित समाज का और स्वयंसेवको का सच्चा प्रवेश तो इस लड़ाई से ही हुआ। सेवक पाटीदारों के जीवन में ओतप्रोत हो गये थे। स्वयंसेवको को इस लड़ाई में अपनी क्षेत्र की मर्यादाओं का पता चला। इससे उनकी त्यागशक्ति बढ़ी। इस लड़ाई में वल्लभभाई ने अपने आपको पहचाना। यह एक ही कोई ऐसा-वैसा परिणाम नही है। इसे हम पिछले साल संकट निवारण के समय और इस साल बारडोली में देख चुके है। इससे गुजरात के लोक जीवन में नया तेज आया, नया उत्साह उत्पन्न हुआ। पाटीदारो को अपनी शक्ति को जो ज्ञान हुआ, उसे वे कभी न भूले। सब कोई समझ गये कि जनता की मुक्ति का आधार स्वयं जनता पर, उसकी त्यागशक्ति पर है। सत्याग्रह ने खेड़ा के द्वारा गुजरात में अपनी जड़े जमा ली। अतएव यद्यपि लड़ाई के अन्त से मैं प्रसन्न न हो सका, तो भी खेड़ा की जनता में उत्साह था। क्योकि उसने देख लिया थी कि उसकी शक्ति के अनुपात में उसे कुछ मिल गया है और भविष्य में राज्य की ओर से होनेवाले कष्टो के निवारण का मार्ग उसके हाथ लग गया है। उनके उत्साह के लिए इतना ज्ञान पर्याप्त था। किन्तु खेड़ा की जनता सत्याग्रह का स्वरुप पूरी तरह समझ नही सकी थी। इस कारण उसे कैसे कड़वे अनुभव हुए, सो हम आगे देखेंगे।

२६. एकता की रट

जिन दिनों खेड़ा का आन्दोलन चल रहा था, उन दिनों यूरोप का महायुद्ध भी जारी था। वाइसरॉय ने उसके सिलसिले में नेताओ को दिल्ली बुलाया था। मुझसे आग्रह किया गया था कि मैं भी उसमें हाजिर होऊँ। मैं बता चुका हूँ कि लॉर्ड चेम्सफर्ड के साथ मेरी मित्रता थी।

मैंने निमंत्रण स्वीकार किया और मैं दिल्ली गया। किन्तु इस सभा में सम्मिलित होते समय मेरे मन में एक संकोच था। मुख्य कारण तो यह था कि इस सभा में अलीभाइयो को, लोकमान्य को और दूसरे नेताओ को निमंत्रित नही किया गया था। उस समय अलीभाई जेल में थे। उनसे मैं एक-दो बार ही मिला था। उनके बारे में सुना बहुत था। उनकी सेवावृति औऱ बहादुरी की सराहना सब कोई करते थे। हकीम साहब के सम्पर्क में मैं नहीं आया था। स्व. आचार्य रुद्र और दीनबन्धु एंड्रूज के मुँह से उनकी बहुत प्रशंसा सुनी थी। कलकत्ते में हुई मुस्लिम लीग की बैठक के समय श्वेब कुरेशी और बारिस्टर ख्वाजा से मेरी जान-पहचान हुई थी। डॉ. अन्सारी, डॉ. अब्दुर रहमान के साथ भी जानपहचान हो चुकी थी। मैं सज्जन मुसलमानो की संगति के अवसर ढूँढता रहता था और जो पवित्र तथा देशभक्त माने जाते थे, उनसे जान-पहचान करके उनकी भावना को जानने की तीव्र इच्छा मुझ में रहती थी। इसलिए वे अपने समाज में मुझे जहाँ कहीं ले जाते वहाँ बिना किसी आनाकानी के मैं चला जाता था।

इस बात को तो मैं दक्षिण अफ्रीका में ही समझ चुका था कि हिन्दु-मुसलमानों के बीच सच्चा मित्रभाव नही है। मैं वहाँ ऐसे एक भी उपाय को हाथ से जाने न देता था, जिससे दोनो के बीच की अनबन दूर हो। झूठी खुशामद करके अथवा स्वाभिमान खोकर उनको अथवा किसी और को रिझाना मेरे स्वभाव में न था। लेकिन वही से मेरे दिल में यह बात जमी हई थी कि मेरी अहिंसा की कसौटी और उसका विशाल प्रयोग इस एकता के सिलसिले में ही होगा। आज भी मेरी यह राय कायम है। ईश्वर प्रतिक्षण मुझे कसौटी पर कस रहा है। मेरा प्रयोग चालू है।

इस प्रकार के विचार लेकर मैं बम्बई बन्दर पर उतरा था। इसलिए मुझे इन दोनो भाइयों से मिलकर प्रसन्नता हुई। हमारा स्नेह बढता गया। हमारी जान-पहचान होने के बाद तुरन्त ही अलीभाइयो को सरकार ने जीते-जी दफना दिया। मौलाना मुहम्मदअली को जब इजाजत मिलती, तब वे बैतूल या छिंदवाड़ा जेल से मुझे लम्बे लम्बे पत्र लिखा करते थे। मैंने उनसे मिलने की इजाजत सरकार से माँगी थी, पर वह मिल न सकी।

अलीभाइयो की नजरबन्दी के बाद मुसलमान भाई मुझे कलकत्ते मुस्लिम लीग की बैठक में लिवा ले गये थे। वहाँ मुझ से बोलने को कहा गया। मैं बोला। मैंने मुसलमानो को समझाया कि अलीभाइयो को छुड़ाना उनका धर्म है।

इसके बाद वे मुझे अलीगढ कॉलेज में भी ले गये थे। वहाँ मैंने मुसलमानो को देश के लिए अख्तियार करने की दावत दी।

अलीभाइयो को छुड़ाने के लिए मैंने सरकार से पत्र-व्यवहार शुरू किया। उसके निमित्त से इन भाइयो की खिलाफत-सम्बन्धी हलचल का अध्ययन किया। मुसलमानों के साथ चर्चाये की। मुझे लगा कि अगर मैं मुसलमानो का सच्चा मित्र बनना चाहता हूँ तो मुझे अलीभाइयो को छुड़ाने में और खिलाफत के प्रश्न को न्यायपूर्वक सुलझाने में पूरी मदद करनी चाहिए। खिलाफत का सवाल मेरे लिए सरल था। मुझे उसके स्वतंत्र गुण-दोष देखने की जरुरत नही थी। मुझे लगा कि अगर उसके सम्बन्ध में मुसलमानों की माँग नीति-विरुद्ध न हो, तो मुझे उनकी मदद करनी चाहिए। धर्म के प्रश्न में श्रद्धा सर्वोपरि होती है। यदि एक ही वस्तु के प्रति सब की एक सी श्रद्धा हो, तो संसार में एक ही धर्म रह जाय। मुझे मुसलमानो की खिलाफत सम्बन्धी माँग नीति-विरुद्ध प्रतीत नहीं हुई, यही नही, बल्कि ब्रिटेन के प्रधानमंत्री लायड जॉर्ज ने इस माँग को स्वीकार किया था, इसलिए मुझे तो उनसे वचन पालन करवाने का भी प्रयत्न करना था। वचन ऐसे स्पष्ट शब्दो में था कि मर्यादित माँग के गुण-दोष जाँचने का काम अपनी अन्तरात्मा को प्रसन्न करने के लिए ही करना था।

चूंकि मैंने खिलाफत के मामले में मुसलमानो का साथ दिया था, इसलिए इस सम्बन्ध में मित्रो और आलोचको ने मेरी काफी आलोचना की है। उन सब पर विचार करने के बाद जो राय मैंने बनायी और जो मदद दी या दिलायी, उसके बारे में मुझे कोई पश्चाताप नही है, न

उसमें मुझे कोई सुधार ही करना है। मुझे लगता है कि आज भी ऐसा सवाल उठे, तो मेरा व्यवहार पहले की तरह ही होगा।

इस प्रकार के विचार लेकर मैं दिल्ली गया। मुसलमानो के दुःख की चर्चा मुझे वाइसरॉय से करनी थी। खिलाफत के प्रश्न ने अभी पूर्ण स्वरूप धारण नही किया था।

दिल्ली पहुँचते ही दीनबन्धु एंड्रूज ने एक नैतिक प्रश्न खड़ा कर दिया। उन्हीं दिनो इटली और इग्लैंड के बीच गुप्त संधि होने की जो चर्चा अंग्रेजी अखबारो में छिड़ी थी, उसकी बात कहकर दीनबन्धु ने मुझ से कहा, 'यदि इंग्लैंड ने इस प्रकार की गुप्त संधि किसी राष्ट्र के साथ की हो, तो आप इस सभा में सहायक की तरह कैसे भाग ले सकते है ? ' मैं इन संधियो के विषय में कुछ जानता नही था। दीनबन्धु का शब्द मेरे लिए पर्याप्त था। इस कारण को निमित्त बनाकर मैंने लॉर्ड चेम्सफर्ड को पत्र लिखा कि सभा में सम्मिलित होते हुए मुझे संकोच हो रहा है। उन्होंने मुझे चर्चा के लिए बुलाया। उनके साथ और बाद में मि. मेंफी के साथ मेरी लम्बी चर्चा हुई। उसका परिणाम यह हुआ कि मैंने सभा में सम्मिलित होना स्वीकार किया। थोड़े में वाइसरॉय की दलील यह थी, 'आप यह तो नही मानते कि ब्रिटिश मंत्रिमंडल जो कुछ करे, उसकी जानकारी वाइसरॉय को होनी चाहिए ? मैं यह दावा नही करता कि ब्रिटिश सरकार कभी भूल करती ही नही। कोई भी ऐसा दावा नही करता। किन्तु यदि आप स्वीकार करते है कि उसका अस्तित्व संसार के लिए कल्याणकारी है, यदि आप यह मानते है कि उसके कार्यो से इस देश को कुल मिलाकर कुछ लाभ हुआ है, तो क्या आप यह स्वीकार नही करेंगे कि उसकी विपत्ति के समय उसे मदद पहुँचना प्रत्येक नागरिक का धर्म है ? गुप्त संधि के विषय में आपने समाचार पत्रो में जो देखा है, वही मैंने भी देखा है। इससे अधिक मैं कुछ नही जानता यह मैं आपसे विश्वास पूर्वक कह सकता हूँ। अखबारो में कैसी कैसी गप्पे आती है, यह तो आप जानते ही है। क्या अखबार में आयी हुई एक निन्दाजनक बात पर आप ऐसे समय राज्य का त्याग कर सकते है ? लडाई समाप्त होने पर आपको जितने नैतिक प्रश्न उठाने हो उठा सकते है और जितनी तकरार करनी हो उतनी कर सकते है।'

यह दलील नई नही थी। लेकिन जिस अवसर पर और जिस रीति से यह पेश की गयी, उसमें मुझे नई-जैसी लगी और मैंने सभा में जाना स्वीकार कर लिया। खिलाफत के बारे में यह निश्चय हुआ कि मैं वाइसरॉय को पत्र लिखकर भेजूँ।

२७. रंगरुटो की भरती

मैं सभा में हाजिर हुआ । वाइसरॉय की तीव्र इच्छा थी कि मैं सिपाहियो की मददवासे प्रस्ताव का समर्थन करूँ। मैंने हिन्दी हिन्दुस्तानी में बोलने की इजाजत चाही। वाइसरॉय ने इजाजत तो दी, किन्तु साथ ही अंग्रेजी में भी बोलने को कहा। मुझे भाषण तो करना ही नहीं था। मैंने वहाँ जो कहा सो इतना ही था, 'मुझे अपनी जिम्मेदारी का पूरा ख्याल है और उस जिम्मेदारी को समझते हुए मैं इस प्रस्ताव का समर्थन करता हूँ।'

हिन्दुस्तानी में बोलने के लिए मुझे बहुतो ने धन्यबाद दिया। वे कहते थे कि इधर के जमाने में वाइसरॉय की सभा में हिन्दुस्तानी बोलने का यह पहला उदाहरण था। धन्यबाद की और पहले उदाहरण की बात सुनकर मुझे दुःख हुआ । मैं शरमाया, अपने ही देश में, देश से सम्बन्ध रखनेवाले काम की सभा में, देश की भाषा का बहिस्कार अथवा अवगणना कितने दुःख की बात थी ! और, मेरे जैसा कोई हिन्दुस्तानी में एक या दो वाक्य बोले तो उसमें धन्यबाद किस बात का ? ऐसे प्रसंग हमारी गिरी हुई दशा का ख्याल करानेवाले है। सभा में कहे गये मेरे वाक्य में मेरे लिए तो बहुत वजन था। मैं उस सभा को अथवा उस समर्थन को भूल नही सकता था । अपनी एक जिम्मेदारी तो मुझे दिल्ली में ही पूरी कर लेनी थी । वाइसरॉय को पत्र लिखने का काम मुझे सरल न जान पड़ा । सभा में जाने की अपनी अनिच्छा, उसके कारण, भविष्य की आशाये आदि की सफाई देना मुझे अपने लिए सरकार के लिए और जनता के लिए आवश्यक मालूम हुआ।

मैंने वाइसरॉय को जो पत्र लिखा, उसमें लोकमान्य तिलक, अली भाई आदि नेताओ की अनुपस्थिति के विषय में अपना खेद प्रकट किया तथा लोगो की राजनीतिक माँग का और लड़ाई के कारण उत्पन्न हुई मुसलमानों की माँग का उल्लेख किया। मैंने इस पत्र को छपाने की अनुमति चाही और वाइसरॉय ने वह खुशी से दे दी।

यह पत्र शिमला भेजना था, क्योकि सभा के समाप्त होते ही वाइसरॉय शिमला पहुँच गये थे। वहाँ डाक द्वारा पत्र भेजने में देर होती थी। मेरी दृष्टि से पत्र महत्त्व का था। समय बचाने की आवश्यकता थी। हर किसी के साथ पत्र भेजने की इच्छा न थी। मुझे लगा कि पत्र किसी पवित्र मनुष्य के द्वारा जाये तो अच्छा हो। दीनबन्धु और सुशील रुद्र ने रेवरंड आयरलेंड नामक एक सज्जन का नाम सुझाया। उन्होने पत्र ले जाना स्वीकार किया, बशर्ते कि पढने पर वह उन्हें शुद्ध प्रतीत हो। पत्र व्यक्तिगत नही था। उन्होने पढ़ा और वे ले जाने को राजी हुए। मैंने दूसरे दरजे का रेल-किराया देने की व्यवस्था की, किन्तु उन्होने उसे लेने से इनकार किया और रात की यात्रा होते हुए भी डयोढे दर्जे का ही टिकट लिया। उनकी सादगी, सरलता और स्पष्टता पर मैं मुग्ध हो गया। इस प्रकार पवित्र हाथो द्वारा दिये गये पत्र का परिणाम मेरी दृष्टि से अच्छा ही हुआ। उससे मेरा मार्ग साफ हो गया।

मेरी दूसरी जिम्मेदारी रंगरूट भरती कराने की थी। इसकी याचना मैं खेड़ा में न करता तो और कहाँ करता ? पहले अपने साथियो को न न्योतता तो किसे न्योतता ? खेड़ा पहुँचने ही वल्लभभाई इत्यादि के साथ मैंने सलाह की। उनमें से कुछ के गले बात तुरन्त नही उतरी नही। जिनके गले उतरी उन्होने कार्य की सफलता के विषय में शंका प्रकट की। जिन लोगो में रंगरूटो की भरती करनी थी, उन लोगो में सरकार के प्रति किसी प्रकार का अनुराग न था। सरकारी अफसरो का उन्हे जो कड़वा अनुभव हुआ था, वह भी ताजा ही था।

फिर भी सब इस पक्ष में हो गये कि काम शुरू करते ही मेरी आँख खुली। मेरा आशावाद भी कुछ शिथिल पड़ा। खेड़ा की लड़ाई में लोग अपनी बैलगाड़ी मुफ्त में देते थे। जहाँ एक स्वयंसेवक का हाजिरी की जरूरत थी, वहाँ तीन-चार मिल जाते थे। अब पैसे देने पर भी गाड़ी दुर्लभ हो गयी। लेकिन हम यों निराश होने वाले नही थे। गाड़ी के बदले हमने पैदल यात्रा करने का निश्चय किया। रोज बीस मील की मंजिल तय करनी थी। जहाँ गाड़ी न मिलती, वहाँ खाना तो मिलता ही कैसे ? माँगना उचित नही जान पड़ा अतएव यह निश्चय किया कि प्रत्येक स्वयंसेवक अपने खाने के लिए पर्याप्त साम्रगी अपनी थैली में लेकर निकले। गर्मी के दिन थे, इसलिए साथ में ओढने के लिए तो कुछ रखने की आवश्यकता न थी।

हम जिस गाँव में जाते, उस गाँव में सभा करते। लोग आते, लेकिन भरती के लिए नाम तो मुश्किल से एक या दो ही मिलते। 'आप अहिंसावादी होकर हमें हथियार उठाने के लिए क्यो कहते है ? ' 'सरकार ने हिन्दुस्तान का क्या भला किया है कि आप हमें उसकी मदद करने को कहते है ?' ऐसे अनेक प्रकार के प्रश्न मेरे सामने रखे जाते थे।

यह सब होते हुए भी धीरे-धीरे सतत कार्य का प्रभाव लोगो पर पड़ने लगा था। नाम भी काफी संख्या ने दर्ज होने लगे थे औऱ हम यह मानने लगे थे कि अगर पहली टुकड़ी निकल पड़े तो दूसरो के लिए रास्ता खुल जायगा। यदि रंगरूट निकले तो उन्हे कहाँ रखा जाये इत्यादि प्रश्नो की चर्चा मैं कमिश्नर से करने लगा था। कमिश्नर दिल्ली के ढंग पर जगह-जगह सभाये करने लगे थे। गुजरात में भी वैसी सभा हुई। उसमें मुझे और साथियो को निमंत्रित किया गया था। मैं उसमें भी सम्मिलित हुआ था। पर यदि दिल्ली की सभा में मेरे लिए कम स्थान था, तो यहाँ की सभा में उससे भी कम स्थान मुझे अपने लिए मालूम हुआ। 'जी-हुजूरी' के वातावरण में मुझे चैन न पड़ता था। यहाँ मैं कुछ अधिक बोला था। मेरी बात में खुशामद जैसी तो कोई चीज थी ही नही, बल्कि दो कड़वे शब्द भी थे। रंगरूटो की भरती के सिलसिले में मैंने जो पत्रिका प्रकाशित की थी, उसमें भरती के लिए लोगो को निमंत्रित करते हुए जो एक दलील दी गयी थी वह कमिश्नर को बुरी लगी थी। उसका आशय यह था, 'ब्रिटिश राज्य के अनेकानेक दुष्कृत्यो में समूची प्रजा को निःशस्त्र बनाने वाले कानून को इतिहास उसका काले से काला काम मानेगा। इस कानून को रद्द कराना हो और शस्त्रो का उपयोग सीखना हो, तो उसके लिए यह एक सुवर्ण अवसर है। संकट के समय मध्यम श्रेणी के लोग स्वेच्छा से शासन की सहायता करेगे तो अविषश्वास दूर होगा और जो व्यक्ति शस्त्र धारण करना चाहेगा वह आसानी से वैसा कर सकेगा। ' इसको लक्ष्य में रखकर कमिश्नर को कहना पड़ा था कि उनके और मेरे मतभेद के रहते हुए भी सभा में **मेरी** उपस्थिति उन्हें प्रिय थी। मुझे भी अपने मत का समर्थन यथासंभव मीठे शब्दो ने करना पड़ा था।

ऊपर वाइसरॉय को लिखे जिस पत्र का उल्लेख किया गया है, उसका सार नीचे दिया गया है :

'युद्ध-परिषद में उपस्थिति रहने के विषय में मेरी अनिच्छा थी पर आपसे मिलने के बाद वह दूर हो गयी और उसका एक कारण यह अवश्य था कि आपके प्रति मुझे बड़ा आदर है। न आने के कारणो में मजबूत कारण यह था कि उसमें लोकमान्य तिलक, मिसेज बेसेंट और अली भाई निमंत्रित नही किये गये थे। इन्हें मैं जनता के शक्तिशाली नेता मानता हूँ। मुझे तो लगता है कि सरकार ने इन्हें निमंत्रित न करने में सरकार ने गंभीर भूल की है और मैं अभी भी सुझाता हू कि प्रान्तीय परिषदे की जाये तो उनमें इन्हें निमंत्रित किया जाये। मेरा यह नम्र मत है कि कोई सरकार ऐसे प्रौढ़ नेताओ की उपेक्षा नही कर सकती, फिर भले उनके साथ उसका कैसा भी मतभेद क्यो न हो। इस स्तिथि में मैं सभा की समितियों में उपस्थित नही रह सका और सभा में प्रस्ताव का समर्थन करके संतुष्ट रहा। सरकार के सम्मुख मैंने जो सुझाव रखे है, उनके स्वीकृत होते ही मैं अपने समर्थन को अमली रूप देने की आशा रखता हूँ।

'जिस साम्राज्य में आगे चलकर हम सम्पूर्ण रूप से साझेदार बनने की आशा रखते है, संकट के समय में उसकी पूरी मदद करना हमारा धर्म है। किन्तु मुझे यह तो कहना ही चाहिए कि इसके साथ यह आशा बंधी हुई है कि मदद के कारण हम उपने ध्येय तक शीध्र पहुँच सकेगे। अतएव लोगो को यह मानने का अधिकार है कि आपके भाषण में जिन सुधारो के तुरन्त अमल में आने की आशा प्रकट की गयी है, उन सुधारो में काँग्रेस और मुस्लिम लीग की मुख्य माँगो का समावेश किया जायेगा। यदि मेरे लिए यह सम्भव होता तो मैं ऐसे समय होमरूल आदि का उच्चारण तक न करता। बल्कि मैं समस्त शक्तिशाली भारतीयो को प्रेरित करता कि साम्राज्य के संकट के समय वे उसकी रक्षा के लिए चुपचाप खप जाये। इतना करने से ही हम साम्राज्य के बड़े-से-बड़े और आदरणीय साझेदार बन जाते और रंगभेद तथा देशभेद का नाम-निशान भी न रहता।

'पर शिक्षित समाज ने इससे कम प्रभावकारी मार्ग अपनाया है। आम लोगो पर उसका बड़ा प्रभाव है। मैं जब से हिन्दुस्तान आया हूँ तभी से आम लोगो के गाढ़ सम्पर्क में आता रहा हूँ और मैं आपको बतलाना चाहता हूँ कि होमरूल की लगन उनमें पैठ गयी है। होमरूल के बिना लोगो को कभी संतोष न होगा। वे समझते है कि होमरूल प्राप्त करने के लिए जितना बलिदान दिया जाये उतना कम है। अतएव यद्यपि साम्राज्य के लिए जितने स्वयंसेवक दिये जा सके उतने देने चाहिए, तथापि आर्थिक सहायता के विषय में मैं ऐसा नहीं कर सकता।

लोगो की हालत को जानने के बाद मैं यह कह सकता हूँ कि हिन्दुस्तान जो सहायता दे चुका है वह उसके सामर्थ्य से अधिक है। लेकिन मैं यह समझता हूँ कि सभा में जिन्होने समर्थन किया है, उन्होने मरते दम तक सहायता करने का निश्चय किया है। फिर भी हमारी स्थिति विषम है। हम एक पेढी के हिस्सेदार नही है। हमारी मदद की नींव भविष्य की आशा पर रखी गयी है और यह आशा क्या है सो जरा खोल कर कहने का जरूरत है। मैं सौदा करना नही चाहता पर मुझे इतना तो कहना ही चाहिए कि उसके बारे में हमारे मन में निराशा पैदा हो जाये, तो साम्राज्य के विषय में आज तक की हमारी धारणा भ्रम मानी जाएगी।

'आपने घर के झगडे भूल जाने की सलाह दी है। यदि उसका अर्थ यह हो कि अत्याचार और अधिकारियो के अपकृत्य सहन कर लिये जाये तो यह असंभव है। संगठित अत्याचार का सामना अपनी समूची शक्ति लगाकर करना मैं अपना धर्म मानता हूँ। अतएव आपको अधिकारियों को यह सुझाना चाहिए कि वे एक भी मनुष्य की अवगणना न करे और लोकमत का उतना आदर करे जितना पहले कभी नही किया है। चम्पारन में सौ साल पुराने अत्याचार का विरोध करके मैंने ब्रिटिश न्याय की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध कर दिखायी है। खेड़ा की जनता ने देख लिया है कि जब उसमें सत्य के लिए दुःख सहने की शक्ति होती है, तब वास्तविक सत्ता राजसत्ता नही, बल्कि लोकसत्ता होती है, और फलतः जनता जिस शासन को शाप देती है, उसके प्रति उसकी कटुता कम हुई है और जिस हुकूमत ने सविनय कानून-भंग को सहन कर लिया वह लोकमत की पूरी उपेक्षा करनेवाली नही हो सकती, इसका उसे विश्वास हो गया है। अतएव मैं यह मानता हूँ कि चम्पारन और खेड़ा में मैंने जो काम किया है, वह इस लडाई में मेरी सेवा है। यदि आप मुझे इस प्रकार का अपना काम बन्द कर देने को कहेंगे तो मैं यह मानूँगा कि आपने मुझे मेरी साँस बन्द करने के लिए कहा है। यदि आत्मबल को अर्थात प्रेमबल को शस्त्र-बल के बदले लोकप्रिय बनाने मैं सफल हो जाऊँ, तो मैं मानता हूँ कि हिन्दुस्तान सारे संसार की टेढी नजर का भी सामना कर सकता है। अतएव हर बार मैं दुःख सहन करने की इस सनातन नीति को अपने जीवन में बुन लेने के लिए अपनी आत्मा को कसता रहूँगा और इस नीति को स्वीकार करने के लिए दूसरो को निमंत्रण देता रहूँगा, और यदि मैं किसी अन्य कार्य में योग देता हूँ तो उसका हेतु भी केवल इसी नीति की अद्वितीय उत्तमता सिद्ध करना है।

'अन्त में मैं आपसे बिनती करता हूँ कि आप मुसलमानी राज्यो के बारे में स्पष्ट आश्वासन देने के लिए ब्रिटिश मंत्री-मंडल को लिखिये । आप जानते है कि इसके बारे में हरएक मुसलमान को चिन्ता बनी रहती है । स्वयं हिन्दू होने के कारण उनकी भावना के प्रति मैं उपेक्षा का भाव नहीं रख सकता । उनका दुःख हमारी ही दुःख है । इन मुसलमानी राज्यो के अधिकारो की रक्षा में उनके धर्मस्थानो के बारे में उनकी भावना का आदर करने में और हिन्दुस्तान के होमरूल-विषयक माँग को स्वीकार करने में साम्राज्य की सुरक्षा समायी हुई है । चूंकि मैं अग्रेजो से प्रेम करता हूँ, इसलिए मैंने यह पत्र लिखा है और मैं चाहता हूँ कि जो वफादारी एक अंग्रेज में है वही वफादारी हरएक हिन्दुस्तानी में जागे।'

२८. मृत्यु-शय्या पर

रंगरूटो की भरती के काम में मेरा शरीर काफी क्षीण हो गया । उन दिनो मेरे आहार में मुख्यतः सिकी हुई और कुटी मूंगफली, उसके साथ थोड़ा गुड़, केले वगैरा फल और दो-तीन नीबू का पानी, इतनी चीजे रहा करती थी । मैं जानता था कि अधिक मात्रा में खाने से मूंगफली नुकसान करती है । फिर भी वह अधिक खा ली गयी । उसके कारण पेट में कुछ पेचिश रहने लगी । मैं समय-समय पर आश्रम तो आता ही था । मुझे यह पेचिश बहुत ध्यान देने योग्य प्रतीत न हुई । रात-आश्रम पहुँचा । उन दिनो मैं दवा क्वचित ही लेता था । विश्वास यह था कि एक बार खाना छोड देने से दर्द मिट जायेगा । दूसरे दिन सवेरे कुछ भी न खाया था । इससे दर्द लगभग बन्द हो चुका था । पर मैं जानता था कि मुझे उपवास चालू ही रखना चाहिए अथवा खाना ही हो तो फल के रस जैसी कोई चीज लेनी चाहिए ।

उस दिन कोई त्यौहार था । मुझे याद पड़ता है कि मैंने कस्तूरबाई से कह दिया था कि मैं दोपहर को भी नही खाऊँगा । लेकिन उसने मुझे ललचाया और मैं लालच में फँस गया । उन दिनो मैं किसी पशु का दूध नही लेता था । इससे धी-छाछ का भी मैंने त्याग कर दिया था । इसलिए उसने मुझ से कहा कि आपके लिए दले हुए गेहूँ को तेल में भूनकर लपसी बनायी गयी है और खास तौर पर आपके लिए ही पूरे मूंग भी बनाये गये है । मैं स्वाद के वश होकर पिघला । पिघलते हुए भी इच्छा तो यह रखी थी कि कस्तूरबाई को खुश रखने के लिए

थोड़ा खा लूँगा, स्वाद भी ले लूँगा और शरीर की रक्षा भी कर लूँगा। पर शैतान अपना निशाना ताक कर ही बैठा था। खाने बैठा तो थोड़ा खाने के बदले पेट भर कर खा गया। इस प्रकार स्वाद तो मैंने पूरा लिया, पर साथ ही यमराज को न्योता भी भेज दिया। खाने के बाद एक घंटा भी न बीता था कि जोर की पेचिश शुरू हो गयी।

रात नड़ियाद तो वापिस जाना ही था। साबरमती स्टेशन तक पैदल गया। पर सवा मील का वह रास्ता तय करना मुश्किल हो गया। अहमदाबाद स्टेशन पर वल्लभभाई पटेल मिलने वाले थे। वे मिले और मेरी पीड़ा ताड़ ली। फिर भी मैंने उन्हें अथवा दूसरे साथियो को यह मालूम न होने दिया कि पीड़ा असह्य थी।

नड़ियाद पहुँचे। वहाँ से अनाथाश्रम जाना था, जो आधे मील से कुछ कम ही दूर था। लेकिन उस दिन यह दूरी मील के बराबर मालूम हुई। बड़ी मुश्किल से घर पहुँचा। लेकिन पेट का दर्द बढ़ता ही जाता था। 15-15 मिनट से पाखाने की हाजत मालूम होती थी। आखिर मैं हारा। मैंने अपनी असह्य वेदना प्रकट की और बिछौना पकड़ा। आश्रम के आम पाखाने में जाता था, उसके बदले दो मंजिले पर कमोड मँगवाया। शरम तो बहुत आयी, पर मैं लाचार हो गया था। फूलचन्द बापू जी बिजली की गति से कमोड ले आये। चिन्तातुर होकर साथियो ने मुझे चारो ओर से घेर दिया। उन्होने मुझे अपने प्रेम से नहला दिया। पर वे बेचारे मेरे दुःख में किस प्रकार हाथ बँटा सकते थे ? मेरे हठ का पार न था। मैंने डॉक्टर को बुलाने से इनकार कर दिया। दवा तो लेनी ही न थी, सोचा किये हुए पाप की सजा भोगूँगा। साथियों ने यह सब मुँह लटका कर सहन किया। चौबीस बार पाखाने की हाजत हुई होगी। खाना मैं बन्द कर ही चुका था, और शुरू के दिनो में तो मैंने फल का रस भी नही लिया था। लेने की बिल्कुल रुचि न थी।

आज तक जिस शरीर को मैं पत्थर के समान मानता था, वह अब गीली मिट्टी जैसा बन गया। शक्ति क्षीण हो गयी। साथियो ने दवा लेने के लिए समझाया। मैंने इनकार किया। उन्होने पिचकारी लगवाने की सलाह दी। उस समय की पिचकारी विषयक मेरा अज्ञान हास्यास्पद था। मैं यह मानता था कि पिचकारी में किसी-न-किसी प्रकार की लसी होगी। बाद में मुझे मालूम हुआ कि वह तो निर्दोष वनस्पति से बनी औषधि की पिचकारी थी। पर जब समझ

आयी तब अवसर बीत चुका था। हाजते तो जारी ही थी। अतिशय परिश्रम के कारण बुखार आ गया और बेहोशी भी आ गयी। मित्र अधिक घबराये। दूसरे डॉक्टर भी आये। पर जो रोगी उनकी बात माने नही, उसके लिए वे क्या कर सकते थे।

सेठ अम्बालाल और उनकी धर्मपत्नी दोनो नड़ियाद आये। साथियो से चर्चा करने के बाद वे अत्यन्त सावधानी के साथ मुझे मिर्जापुर वाले अपने बंगले पर ले गये। इतनी बात तो मैं अवश्य कह सकता हूँ कि अपनी बीमारी में मुझे तो निर्मल और निष्काम सेवा प्राप्त हुई, उससे अधिक सेवा कोई पा नही सकता। मुझे हलका बुखार रहने लगा। मेरा शरीर क्षीण होता गया। बीमारी लम्बे समय तक चलेगी, शायद मैं बिछौने से उठ नही सकूँगा, ऐसा भी एक विचार मन में पैदा हुआ। अम्बालाल सेठ के बंगले में प्रेम से धिरा होने के पर भी मैं अशान्त हो उठा और वे मुझे आश्रम ले गये। मेरा अतिशय आग्रह देखकर वे मुझे आश्रम ले गये।

मैं अभी आश्रम में पीड़ा भोग ही रहा था कि इतने में वल्लभभाई समाचार लाये कि जर्मनी पूरी तरह हार चुका है और कमिश्नर में कहलवाया है कि और रंगरूटो भरती करने की कोई आवश्यकता नही है। यह सुनकर भरती की चिन्ता से मैं मुक्त हुआ और मुझे शान्ति मिली।

उन दिनो मैं जल का उपचार करता था और उससे शरीर टिका हुआ था। पीड़ शान्त हो गयी थी, किन्तु किसी भी उपाय से पुष्ट नही हो रहा था। वैद्य मित्र और डॉक्टर मित्र अनेक प्रकार की सलाह देते थे, पर मैं किसी तरह दवा पीने को तैयार नही हुआ। दो-तीन मित्रो ने सलाह दी कि दूध लेने में आपत्ति हो, तो माँस का शोरवा लेना चाहिए और औषधि के रूप में माँसादि चाहे जो वस्तु ली जा सकती है। इसके समर्थन में उन्होने आयुर्वेद के प्रमाण दिये। एक ने अंड़े लेने की सिफारिस की। लेकिन मैं इनमें से किसी भी सलाह को स्वीकार न कर सका। मेरा उत्तर एक ही था। नहीं।

खाद्याखाद्य का निर्णय मेरे लिए केवल शास्त्रो के श्लोको पर अवलंबित नही था, बल्कि मेरे जीवन के साथ वह स्वतन्त्र रीति से जूड़ा हुआ था। चाहे जो चीज खाकर और चाहे जैसा उपचार करके जीने का मुझे तनिक लोभ न था। जिस धर्म का आचरण मैंने अपने पुत्रो के

लिए किया, स्त्री के लिए किया, स्नेहियों के लिए किया, उस धर्म का त्याग मैं अपने लिए कैसे करता ?

इस प्रकार मुझे अपनी इस लम्बी और जीवन की सबसे पहले इतनी बड़ी बीमारी में धर्म का निरीक्षण करने और उसे कसौटी पर चढाने का अलभ्य लाभ मिला । एक रात तो मैंने बिल्कुल ही आशा छोड़ दी थी । मुझे ऐसा भास हुआ कि अब मृत्यु समीप ही है । श्री अनसूयाबहन को खबर भिजवायी । वे आयी । वल्लभभाई आये । डॉक्टर कानूगा आये । डॉ. कानूगा ने मेरी नाड़ी देखी और कहा, 'मैं खुद तो मरने के कोई चिह्न देख नही रहा हूँ । नाड़ी साफ है । केवल कमजोरी के कारण आपके मन में घबराहट है ।' लेकिन मेरा मन न माना । रात तो बीती । किन्तु उस रात मैं शायद ही सो सका होउँगा ।

सबेरा हुआ । मौत न आयी । फिर भी उस समय जीने की आशा न बाँध सका और यह समझकर कि मृत्यु समीप है, जितनी देर बन सके उतनी देर तक साथियों से गीतापाठ सुनने में लगा रहा । कामकाज करने की कोई शक्ति रही ही नहीं थी । पढ़ने जितनी शक्ति भी नही रह गयी थी । किसी के साथ बात करने की भी इच्छा न होती थी । थोड़ी बात करके दिमाग थक जाता था । इस कारण जीने में कोई रस न रह गया था । जीने के लिए जीना मुझे कभी पसंद पड़ा ही नही । बिना कुछ कामकाज किये साथियों की सेवा लेकर क्षीण हो रहे शरीर को टिकाये रखने में मुझे भारी उकताहट मालूम होती थी ।

यों मैं मौत की राह देखता बैठा था । इतने में डॉ. तलवरकर एक विचित्र प्राणी तो लेकर आये । वे महाराष्ट्री है । हिन्दुस्तान उन्हें पहचानता नही । मैं उन्हें देखकर समझ सका था कि वे मेरी ही तरह 'चक्रम' है । वे अपने उपचार का प्रयोग मुझ पर करने के लिए आये थे । उन्हें डॉ. तलवरकर अपनी सिफारिश के साथ मेरे पास लाये थे । उन्होने ग्रांट मेंडिकल कॉलेज में डॉकटरी का अध्ययन किया था, पर वे डिग्री नही पा सके थे । बाद में मालूम हुआ कि वे ब्रह्मसमाजी है । नाम उनका केलकर है । बड़े स्वतंत्र स्वभाव के है । वे बरफ के उपचार के बड़े हिमायती है । मेरी बीमारी की बात सुनकर जिस दिन वे मुझ पर बरफ का अपना उपचार आजमाने के लिए आये, उसी दिन से हम उन्हें 'आइस डॉक्टर' के उपनाम से पहचानते है । उपने विचारो के विषय में वे अत्यन्त आग्रही है । उनका विश्वास है कि उन्होने डिग्रीधारी

डॉक्टरो से भी कुछ अधिक खोजे की है। अपना यह विश्वास वे मुझ में पैदा नही कर सके, यह उनक और मेंरे दोनो के लिए दुःख की बात रही है। मैं एक हद तक उनके उपचारो में विश्वास करता हूँ। पर मेरा ख्याल है कि कुछ अनुमानो तक पहुँचने में उन्होने जल्दी की है।

पर उनकी खोजे योग्य हो अथवा अयोग्य, मैंने उन्हें अपने शरीर पर प्रयोग करने दिये। मुझे बाह्य उपचारों से स्वस्थ होना अच्छा लगता था, सो भी बरफ अर्थात् पानी के। अतएव उन्होने मेंरे सारे शरीर पर बरफ घिसनी शुरू की। इस इलाज से जितने परिणाम की आशा वे लगाये हुए थे, उतना परिणाम तो मेंरे सम्बन्ध में नही निकला। फिर भी मैं, जो रोज मौत की राह देखा करता था, अब मरने के बदले कुछ जीने की आशा रखने लगा। मुझे कुछ उत्साह पैदा हुआ। मन के उत्साह के साथ मैंने शरीर में भी कुछ उत्साह का अनुभव किया। मैं कुछ अधिक खाने लगा। रोज पाँच-दस मिनट धूमने लगा। अब उन्होने सुझाया, 'अगर आप अंड़े का रस पीये, तो आप में जितनी शक्ति आयी है उससे अधिक शक्ति आने की गारंटी मैं दे सकता हूँ। अंड़े दूध के समान ही निर्दोष है। वे माँस तो हरगिज नही है। हरएक अंड़े में से बच्चा पैदा होता ही है, ऐसा कोई नियम नही है। जिनसे बच्चे पैदा होते ही नही ऐसे निर्जीव अंड़े भी काम में लाये जाते है, इसे मैं आपके सामने सिद्ध कर सकता हूँ।' पर मैं ऐसे निर्जीव अंड़े लेने को भी तैयार न हुआ। फिर भी री गाड़ी कुछ आगे बढ़ी और मैं आसपास के कामो में थोड़ा-थोड़ा रस लेने लगा।

२९. रौलट-एक्ट और मेरा धर्म-संकट

मित्रो ने सलाह दी कि माथेरान जाने से मेरा शरीर शीघ्र ही पुष्ट होगा। अतएव मैं माथेरान गया। किन्तु वहाँ का पानी भारी था, इसलिए मेरे सरीखे रोगी के लिए वहाँ रहना कठिन हो गया। पेचिश के कारण गुदाद्वार इतना नाजुक हो गया था कि साधारण स्पर्श भी मुझ से सहा न जाता था और उसमें दरारे पड़ गयी थी, जिससे मलत्याग के समय बहुत कष्ट होता था। इससे कुछ भी खाते हुए डर लगता था। एक हफ्ते में माथेरान से वापस लौटा। मेरी तबीयत की हिफाजत का जिम्मा शंकरलाला बैंकर ने अपने हाथ में लिया था। उन्होने डॉ. दलाल से सलाह लेने का आग्रह किया। डॉ. दलाल आये। उनकी तत्काल निर्णय करने की शक्ति ने मुझे मुग्ध कर लिया। वे बोले, 'जब तक आप दूध न लेगें, मैं आपके शरीर को फिर से हृष्ट-पुष्ट न बना सकूँगा। उसे पुष्ट बनाने के लिए आपको दूध लेना चाहिए और लोहे तथा आर्सेनिक की पिचकारी लेनी चाहिए। यदि आप इतना करे, तो आपके शरीर को पुनः पुष्ट करने की गारंटी मैं देता हूँ।'

मैंने जवाब दिया, 'पिचकारी लगाइये, लेकिन दूध मैं न लूँगा।'

डॉक्टर ने पूछा, 'दूध के सम्बन्ध में आपकी प्रतिज्ञा क्या है ?'

'यह जानकर कि गाय-भैस पर फूंके की क्रिया की जाती है, मुझे दूध से नफरत हो गयी है। और, यह सदा से मानता रहा हूँ कि दूध मनुष्य का आहार नही है। इसलिए मैंने दूध छोड़ दिया है।'

यह सुनकर कस्तूरबाई, जो खटिया के पास ही खडी थी, बोल उठी, 'तब तो आप बकरी का दूध ले सकते है।'

डॉक्टर बीच में बोले, 'आप बकरी का दूध ले, तो मेरा काम बन जाये।'

मैं गिरा। सत्याग्रह की लड़ाई के मोह ने मेरे अन्दर जीने का लोभ पैदा कर दिया और मैंने प्रतिज्ञा के अक्षरार्थ के पालन के संतोष मानकर उसकी आत्मा का हनन किया। यद्यपि दूध की प्रतिज्ञा लेते समय मेरे सामने गाय-भैंस ही थी, फिर भी मेरी प्रतिज्ञा दूधमात्र की मानी

जानी चाहिए। और, जब तक मैं पशु के दूधमात्र को मनुष्य के आहार के रूप में निषिद्ध मानता हूँ, तब तक मुझे उसे लेने का अधिकार नही, इस बात के जानते हुए भी मैं बकरी का दूध लेने को तैयार हो गया। सत्य के पुजारी ने सत्याग्रह की लड़ाई के लिए जीने की इच्छा रखकर अपने सत्य को लांछित किया।

मेरे इस कार्य का डंक अभी तक मिटा नही है और बकरी का दूध छोड़ने के विषय में मेरा चिन्तन तो चल ही रहा है। बकरी का दूध पीते समय मैं रोज दुःख का अनुभव करता हूँ। किन्तु सेवा करने का महासूक्ष्म मोह, जो मेरे पीछे पड़ा है, मुझे छोड़ता नही। अहिंसा की दृष्टि से आहार के अपने प्रयोग मुझे प्रिय है। उनसे मुझे आनन्द प्राप्त होता है। वह मेरा विनोद है। परन्तु बकरी का दूध मुझे आज इस दृष्टि से नही अखरता। वह अखरता है सत्य की दृष्टि से। मुझे ऐसा भास होता है कि मैं अहिंसा को जितना पहचान सका हूँ, सत्य को उससे अधिक पहचानता हूँ। मेरा अनुभव यह है कि अगर मैं सत्य को छोड़ दूँ, तो अहिंसा की भारी गुत्थियाँ मैं कभी सुलभा नही सकूँगा। सत्य के पालन का अर्थ है, लिये हुए व्रत के शरीर और आत्मा की रक्षा, शब्दार्थ और भावार्थ का पालन। मुझे हर दिन यह बात खटकती रहती है कि मैंने दूध के बारे में व्रत की आत्मा को भावार्थ का हनन किया है। यह जानते हुए भी मैं यह नही जान सका कि अपने व्रत के प्रति मेरा धर्म क्या है, अथवा कहिये कि मुझे उसे पालने की हिम्मत नही है। दोनो बाते एक ही है, क्योकि शंका के मूल में श्रद्धा का अभाव रहता है। हे ईश्वर, तू मुझे श्रद्धा दे!

बकरी का दूध शुरू करने के कुछ दिन बाद डॉ. दलाल ने गुदाद्वार की दरारो का ओपरेशन किया और वह बहुत सफल हुआ।

बिछौना छोड़कर उठने की कुछ आशा बंध रही थी और अखबार वगैरा पढने लगा ही था कि इतने में रौलट कमेटी की रिपोर्ट मेरे हाथ में आयी। उसकी सिफारिशे पढकर मैं चौका। भाई उमर सोबानी और शंकरलाल बैंकर ने चाहा कि कोई निश्चित कदम उठाना चाहिए। एकाध महीने मैं अहमदाबाद गया। वल्लभभाई प्रायः प्रतिदिन मुझे देखने आते थे। मैंने उनसे बात की और सुझाया कि इस विषय में हमें कुछ करना चाहिए। 'क्या किया जा सकता है?' इसके उत्तर में मैंने कहा, 'यदि थोड़े लोग भी इस सम्बन्ध में प्रतिज्ञा करने मिल

जाये तो, और कमेटी की सिफारिश के अनुसार कानून बने तो, हमें सत्याग्रह शुरू करना चाहिए। यदि मैं बिछौने पर पड़ा न होता तो अकेला भी इसमें जूझता और यह आशा रखता कि दूसरे लोग बाद में आ मिलेंगे। किन्तु अपनी लाचार स्थिति में अकेले जूझने की मुझमें बिल्कुल शक्ति नही है।'

इस बातचीत के परिणाम-स्वरूप ऐसे कुछ लोगो की एक छोटी सभा बुलाने का निश्चय हुआ, जो मेरे सम्पर्क में ठीक-ठीक आ चुके थे। मुझे तो यह स्पष्ट प्रतीत हुआ कि प्राप्त प्रमाणो के आधार पर रौलट कमेटी ने जो कानून बनानेकी सिफारिश की है उसकी कोई आवश्यकता नही है। मुझे यह भी इतना ही स्पष्ट प्रतीत हुआ कि स्वाभिमान की रक्षा करने वाली कोई भी जनता ऐसे कानून को स्वीकार नहीं कर सकती।

वह सभा हुए। उसमें मुश्किल से कोई बीस लोगो को न्योता गया था। जहाँ तक मुझे याद है, वल्लभभाई के अतिरिक्त उसमें सरोजिनी नायडू, मि. हार्निमैंन, स्व. उमर सोबानी, श्री शंकरलाल बैंकर, श्री अनसूयाबहन आदि सम्मिलित हुए थे।

प्रतिज्ञा-पत्र तैयार हुआ और मुझे याद है कि जितने लोग हाजिर थे उन सबने उस पर हस्ताक्षर किये। उस समय मैं कोई अखबार नही निकालता था। पर समय-समय पर अखबारो में लिखा करता था, उसी तरह लिखना शुरू किया और शंकरलाल बैकर ने जोर का आन्दोलन चलाया। इस अवसर पर उनकी काम करने की शक्ति और संगठन करने की शक्ति का मुझे खूब अनुभव हुआ।

कोई भी चलती हुई संस्था सत्याग्रह जैसे नये शस्त्र को स्वयं उठा ले, इसे मैंने असम्भव माना। इस कारण सत्याग्रह सभा की स्थापना हुई। उसके मुख्य सदस्यों के नाम बम्बई में लिखे गये। केन्द्र बम्बई में रखा गया। प्रतिज्ञा-पत्रो पर खूब हस्ताक्षर होने लगे। खेडा की लड़ाई की तरह पत्रिकाये निकाली और जगह जगह सभाये हुई।

मैं इस सभा का सभापति बना था। मैंने देखा कि शिक्षित समाज के और मेरे बीच बहुत मेल नही बैठ सकता। सभा मेरे गुजराती भाषा के उपयोग के मेरे आग्रह ने और मेरे कुछ दूसरे तरीको ने उन्हें परेशानी में डाल दिया। फिर भी बहुतो ने मेरी पद्धति को निबाहने की उदारता दिखायी, यह मुझे स्वीकार करना चाहिए। लेकिन मैंने शुरू में ही देख लिया कि यह सभा

लम्बे समय तक टिक नही सकेगी। इसके अलावा, सत्य और अहिंसा पर जो जोर मैं देता था, वह कुछ लोगो को अप्रिय मालूम हुआ। फिर भी शुरू के दिनो में यह नया काम घड़ल्ले के साथ आगे बढा।

३०. वह अदभुत दृश्य!

एक ओर से रौलट कमेटी की रिपोर्ट के विरुद्ध आन्दोलन बढता गया, दूसरी ओर से सरकार कमेटी की सिफारिशों पर अमल करने के लिए दढ होती गयी। रौलट बिल प्रकाशित हुआ। मैं एक बार ही धारासभा की बैठक में गया था। रौलट बिल की चर्चा सुनने गया था। शास्त्रीजी ने अपना जोशीला भाषण दिया, सरकार को चेतावनी दी। जिस समय शास्त्रीजी की वाग्धारा बह रही थी, वाइसरॉय उनके सामने टकटकी लगाकर देख रहे थे। मुझे तो जान पड़ा कि इस भाषण का असर उन पर हुआ होगा। शास्त्रीजी की भावना उमड़ी पड़ती थी।

पर सोये हुए आदमी को जगाया जा सकता है, जागनेवाला सोने का बहाना करे तो उसके कान में ढोल बजाने पर भी वह क्यों सुनने लगा?

धारासभा में बिलो की चर्चा का 'फार्स' तो करना ही चाहिए। सरकार ने वह किया। किन्तु उसे जो काम करना था उसका निश्चय तो हो चुका था। इसलिए शास्त्रीजी की चेतावनी व्यर्थ सिद्ध हुई।

मेरी तूती की आवाज को तो भला कौन सुनता? मैंने वाइसरॉय से मिलकर उन्हें बहुत समझाया। व्यक्तिगत पत्र लिखे। सार्वजनिक पत्र लिखे। मैंने उनमें स्पष्ट बता दिया कि सत्याग्रह को छोड़कर मेरे पास दूसरा कोई मार्ग नहीं है। लेकिन सब व्यर्थ हुआ।

अभी बिल गजट में नही छपा था। मेरा शरीर कमजोर था, फिर भी मैंने लम्बी यात्रा का खतरा उठाया। मुझमें ऊँची से बोलने की शक्ति नही आयी थी। खड़े रहकर बोलने की शक्ति जो गयी, सो अभी तक लौटी नहीं है। थोड़ी देर खड़े रहकर बोलने पर सारा शरीर काँपने लगता था और छाती तथा पेट में दर्द मालूम होने लगता था। पर मुझे लगा कि मद्रास में आया हुआ निमंत्रण स्वीकार करना ही चाहिए। दक्षिण के प्रान्त उस समय भी मुझे घर

सरीखे मालूम होते थे। दक्षिण अफ्रीका के सम्बन्ध के कारण तामिल-तेलुगु आदि दक्षिण प्रदेश के लोगो पर मेरा कुछ अधिकार है, ऐसा मैं मानता आया हूँ। और, अपनी इस मान्यता में मैंने थोडी भी भूल की है, ऐसा मुझे आज तक प्रतीत नही हुआ। निमंत्रण स्व. कस्तूरी आयंगार की ओर से मिला था। मद्रास जाने पर पता चला कि इस निमंत्रण के मूल में राजगोपालाचार्य थे। राजगोपालाचार्य के साथ यह मेरा पहला परिचय कहा जा सकता है। मैं इसी समय उन्हें प्रत्यक्ष पहचानने लगा था।

सार्वजनिक काम में अधिक हिस्सा लेने के विचार से और श्री कस्तूरी रंगा आयंगार इत्यादि मित्रो की माँग पर वे सेलम छोड़कर मद्रास में वकालत करनेवाले थे। मुझे उनके घर पर ठहराया गया था। कोई दो दिन बाद ही मुझे पता चला कि मैं उनके घर ठहरा हूँ, क्योंकि बंगला कस्तूरी रंगा आयंगार का था, इसलिए मैंने अपने को उन्हीं का मेहमान मान लिया था। महादेव देसाई ने मेरी भूल सुधारी। राजगोपालाचार्य दूर-दूर ही रहते थे। पर महादेव ने उन्हें भलीभांति पहचान लिया था। महादेव ने मुझे सावधान करते हुए कहा, 'आपको राजगोपालाचार्य से जान-पहचान बढा लेनी चाहिए।'

मैंने परिचय बढाया। मैं प्रतिदिन उनके साथ लड़ाई की रचना के विषय में चर्चा करता था। सभाओ के सिवा मुझे और कुछ सूझता ही न था। यदि रौलट बिल कानून बन जाय, तो उसकी सविनय अवज्ञा किस प्रकार की जाये ? उसकी सविनय अवज्ञा करने का अवसर तो सरकार दे तभी मिल सकता है। दूसरे कानूनो की सविनय अवज्ञा की जा सकती है ? उसकी मर्यादा क्या हो ? आदि प्रश्नो की चर्चा होती थी।

श्री कस्तूरी रंगा आयंगार ने नेताओ की एक छोटी सभा भी बुलायी। उसमें भी खूब चर्चा हुई। श्री विजयराधवाचार्य ने उसमें पूरा हिस्सा लिया। उन्होने सुझाव दिया कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म सूचनाये लिखकर मैं सत्याग्रह का शास्त्र तैयार कर लूँ। मैंने बताया कि यह काम मेरी शक्ति से बाहर है।

इस प्रकार मन्थन-चिन्तन चल रहा था कि इतने में समाचार मिला कि बिल कानून के रूप में गजट में छप गया है। इस खबरो के बाद की रात को मैं विचार करते-करते सो गया। सवेरे जल्दी जाग उठा। अर्धनिद्रा की दशा रही होगी, ऐसे में मुझे सपने में एक विचार सूझा। मैंने

सवेरे ही सवेरे राजगोपालाचार्य को बुलाया और कहा, 'मुझे रात स्वप्नावस्था में यह विचार सूझा कि इस कानून के जवाब में हम सारे देश को हड़ताल करने की सूचना दे। सत्याग्रह आत्मशुद्धि की लड़ाई है। वह धार्मिक युद्ध है। धर्मकार्य का आरम्भ शुद्धि से करना ठीक मालूम होता है। उस दिन सब उपवास करे और काम-धंधा बन्द रखे। मुसलमान भाई रोजे से अधिक उपवास न करेंगे, इसलिए चौबीस घंटो का उपवास करने की सिफारिश की जाये। इसमें सब प्रान्त सम्मिलित होगे या नही, यह तो कहा नही जा सकता। पर बम्बई, मद्रास, बिहार और सिन्ध की आशा तो मुझे है ही। यदि इतने स्थानो पर भी ठीक से हड़ताल रहे तो हमें संतोष मानना चाहिए।'

राजगोपालाचार्य को यह सूचना बहुत अच्छी लगी। बाद में दूसरे मित्रो को तुरन्त इसकी जानकारी दी गयी। सबने इसका स्वागत किया। मैंने एक छोटी सी विज्ञप्ति तैयार कर ली। पहले 1919 के मार्च की 30वीं तारीख रखी गयी थी। बाद में 6 अप्रेल रखी गयी। लोगो को बहुत ही थोडे दिन की मुद्दत दी गयी थी। चूंकि काम तुरन्त करना जरूरी समझा गया था, अतएव तैयारी के लिए लम्बी मुद्दत देने का समय ही न था।

लेकिन न जाने कैसे सारी व्यवस्था हो गयी। समूचे हिन्दुस्तान में शहरो में औऱ गाँवो में हडताल हुई ! वह दृश्य भव्य था !

३१. वह सप्ताह! - 1

दक्षिण में थोड़ी यात्रा करके संभवतः 4 अप्रैल को मैं बम्बई पहुँचा। शंकरलाल बैंकर का तार था कि छठी का तारीख मनाने के लिए मुझे बम्बई में मौजूद रहना चाहिए।

पर इससे पहले दिल्ली में तो हड़ताल 30 मार्च के दिन ही मनायी जा चुकी थी। दिल्ली में स्व. श्रद्धानन्दजी और मरहूम हकीम साहब अजमलखाँ की दुहाई फिरती थी। 6 अप्रेल तक हडताल की अवधि बढाने की सूचना दिल्ली देर से पहुँची थी। दिल्ली में उस दिन जैसी हड़ताल हुई वैसी पहले कभी न हुई थी। ऐसा जान पड़ा मानो हिन्दु और मुसलमान दोनो एक दिल हो गये है। श्रद्धानन्दजी को जामा मस्जिद में निमंत्रित किया गया और वहाँ उन्हें भाषण करने दिया गया। अधिकारी यह सब सहन नही कर पाये। रेलवे स्टेशन की तरफ जाते हुए जुलूस को पुलिस ने रोका और गोलियाँ चलायी। कितने ही लोग घायल हुए। कुछ जान से मारे गये। दिल्ली में दमन का दौर शुरू हुआ। श्रद्धानन्दजी ने मुझे दिल्ली बुलाया। मैंने तार दिया कि बम्बई में छठी तारीख मनाकर तुरन्त दिल्ली पहुँचूगा।

जो हाल दिल्ली का था, वही लाहौर-अमृतसर का भी रहा। अमृतसर से डॉ. सत्यपाल और किचलू के तार आये थे कि मुझे वहाँ तुरन्त पहुँचना चाहिए। इन दो भाईयो को मैं उस समय बिल्कुल जानता नही था। पर वहाँ भी इस निश्चय की सूचना भेजी थी कि दिल्ली होकर अमृतसर पहुँचूगा।

6 अप्रैल के दिन बम्बई में सवेरे-सवेरे हजारो लोग चौपाटी पर स्नान करने गये और वहाँ से ठाकुरद्वार (यहाँ 'ठाकुरद्वार' के स्थान पर 'माधवबाग' पढिये। अब तक के अंग्रेजी और गुजराती संस्करण में यह गलती रहती आयी है। उस समय गांधीजी के साथ रहनेवाले श्री मथुरादास त्रिकमजी ने इसे सुधरवाया था।) जाने के लिए जुलूस रवाना हुआ। उसमें स्त्रियाँ और बच्चे भी थे। जुलूल में मुसलमान भी अच्छी संख्या ने सम्मिलित हुए थे। इस जुलूस को से मुसलमान भाई हमें एक मजिस्द में ले गये। वहाँ श्रीमति सरोजिनीदेवी से और मुझ से भाषण कराये। वहाँ श्री विठ्ठलदास जेराजाणी ने स्वदेशी और हिन्दू-मुस्लिम एकता की प्रतिज्ञा लिवाने का सुझाव रखा। मैंने ऐसी उतावली में प्रतिज्ञा कराने से इनकार किया और

जितना हो रहा था उतने से संतोष करने की सलाह दी। की हुई प्रतिज्ञा फिर तोड़ी नही जा सकती। स्वदेशी का अर्थ हमें समझना चाहिए। हिन्दू-मुस्लिम एकता की प्रतिज्ञा की जिम्मेदार का ख्याल हमें रहना चाहिए आदि बाते कही और यह सूचना की कि प्रतिज्ञा लेने का जिसका विचार हो, वह चाहे तो अगले दिन सवेरे चौपाटी के मैंदान पर पहुँच जाय।

बम्बई की हड़ताल सम्पूर्ण थी।

यहाँ कानून की सविनय अवज्ञा की तैयारी कर रखी थी। जिनकी अवज्ञा की जा सके ऐसी दो-तीन चीजे थी। जो कानून रद्द किये जाने लायक थे और जिनकी अवज्ञा सब सरलता से कर सकते थे, उनमें से एक का ही उपयोग करने का निश्चय था। नमक-कर का कानून सबको अप्रिय था। उस कर को रद्द कराने के लिए बहुत कोशिशे हो रही थी। अतएव मैंने सुझाव यह रखा कि सब लोग बिना परवाने के अपने घर में नमक बनाये। दूसरा सुझाव सरकार द्वारा जब्त की हुई पुस्तके छापने और बेचने का था। ऐसी दो पुस्तके मेरी ही थी, 'हिन्द स्वराज' और 'सर्वोदय'। इन पुस्तको को छपाना और बेचना सबसे सरल सविनय अवज्ञा मालूम हुई। इसलिए ये पुस्तके छपायी गयी और शाम को उपवास से छूटने के बाद और चौपाटी की विराट सभा के विसर्जित होने के बाद इन्हें बेचने का प्रबंध किया गया।

शाम को कई स्वयंसेवक ये पुस्तके लेकर बेचने निकल पड़े। एक मोटर में मैं निकला और एक में श्रीमति सरोजिनी नायडू निकली। जितनी प्रतियाँ छपायी गयी थी उतनी सब बिक गयी। इनको जो कीमत वसूल होती, वह लड़ाई के काम में ही खर्च की जाने वाली थी। एक प्रति का मूल्य चार आना रखा गया था। पर मेरे हाथ पर अथवा सरोजिनीदेवी के हाथ पर शायद ही किसी ने चार आने रखे होगे। अपनी जेब में जो था सो सब देकर किताबे खरीदने वाले बहुतेरे निकल आये। कोई कोई दस और पाँच के नोट भी देते थे। मुझे स्मरण है कि एक प्रति के लिए 50 रुपये के नोट भी मिले थे। लोगो को समझा दिया गया था कि खरीदनेवाले के लिए भी जेल का खतरा है। लेकिन क्षण भर के लिए लोगो ने जेल का भय छोड़ दिया था।

7 तारीख को पता चला कि जिन किताबो के बेचने पर सरकार ने रोक लगायी थी, सरकारी दृष्टि से वे बेची नही गयी है। जो पुस्तके बिकी है वे तो उनकी दूसरी आवृति मानी जायगी।

जब्त की हुई पुस्तको में उनकी गिनती नही हो सकती। सरकारी ओर से कहा गया था कि नई आवृति छपाने, बेचने और खरीदने में कोई गुनाह नही है। यह खबर सुनकर लोग निराश हुए।

उस दिन सवेरे लोगो को चौपाटी पर स्वदेशी-व्रत और हिन्दू-मुस्लिम एकता का व्रत लेने के लिए इकट्ठा होना था। विट्ठलदास जेराजाणी को यह पहला अनुभव हुआ कि हर सफेद चीज दूध नही होती। बहुत थोड़े लोग इकट्ठे हुए थे। इनमें से दो-चार बहनो के नाम मेरे ध्यान में आ रहे है। पुरुष भी थोड़े ही थे। मैंने व्रतो का मसविदा बना रखा था। उपस्थित लोगो को उनका अर्थ अच्छी तरह समझा दिया गया और उन्हें व्रत लेने दिये गये। थोडी उपस्थिति से मुझे आश्चर्य नही हुआ, दुःख भी नही हुआ। परन्तु मैं उसी समय से धूम-धड़क्के के काम और धीमें तथा शान्त रचनात्मक काम के बीच का भेद तथा लोगो में पहले काम के लिए पक्षपात और दूसरे के लिए अरुचि का अनुभव करता आया हूँ।

पर इस विषय के लिए एक अलग प्रकरण देना पड़ेगा।

7 अप्रैल की रात को मैं दिल्ली अमृतसर जाने के लिए रवाना हुआ। 8 को मथुरा पहुँचने पर कुछ ऐसी भनक कान तक आयी कि शायद मुझे गिफ्तार करेंगे। मुथरा के बाद एक स्टेशन पर गाड़ी रुकती थी। वहाँ आचार्य गिडवानी मिले। उन्होने मेरे पकड़े जाने के बारे में पक्की खबर दी और जरूरत हो तो अपनी सेवा अर्पण करने के लिए कहा। मैंने धन्यवाद दिया और कहा कि जरूरत पड़ने पर आपकी सेवा लेना नही भूलूँगा।

पलवल स्टेशन आने के पहले ही पुलिस अधिकारी ने मेरे हाथ पर आदेश-पत्र रखा। आदेश इस प्रकार का था : 'आपके पंजाब में प्रवेश करने से अशान्ति बढ़ने का डर है, अतएव आप पंजाव की सीमा में प्रवेश न करे।' आदेश-पत्र देकर पुलिस में उतर जाने को कहा। मैंने उतरने से इनकार किया और कहा, 'मैं अशान्ति बढाने नहीं बल्कि निमंत्रण पाकर अशान्ति घटाने के लिए जाना चाहता हूँ। इसलिए खेद है कि मुझसे इस आदेश का पालन नही हो सकेगा।'

पलवल आया। महादेव मेरे साथ थे। उनसे मैंने दिल्ली जाकर श्रद्धानन्दजी को खबर देने और लोगो को शान्त रखने के लिए कहा। मैंने महादेव से यह भी कहा कि वे लोगो को बता

दे कि सरकारी आदेश का अनादर करने के कारण जो सजा होगी उसे भोगने का मैंने निश्चय कर लिया है, साथ ही लोगो को समझाने के लिए कहा कि मुझे सजा होने पर भी उनके शान्त रहने में ही हमारी जीत है।

मुझे पलवल स्टेशन पर उतार लिया गया और पुलिस के हवाले किया गया। फिर दिल्ली से आनेवाली किसी ट्रेन के तीसरे दर्जे के डिब्बे में मुझे बैठाया गया और साथ में पुलिस का दल भी बैठा। मथुरा पहुँचने पर मुझे पुलिस की बारक में ले गये। मेरा क्या होगा और मुझे कहाँ ले जाना है, सो कोई पुलिस अधिकारी मुझे बता न सका। सुबह 4 बजे मुझे जगाया और बम्बई जानेवाली मालगाड़ी में बैठा दिया गया। दोपहर को मुझे सवाई माधोपुर स्टेशन पर उतारा गया। वहाँ बम्बई की डाकगाड़ी में लाहौर से इन्स्पेटर बोरिंग आये। उन्होने मेरा चार्ज लिया।

अब मुझे पहले दर्जे में बैठाया गया। साथ में साहब भी बैठे। अभी तक मैं एक साधारण कैदी था, अब 'जेंटलमैंन कैदी' माना जाने लगा। साहब ने सर माइकल ओडवायर का बखान शुरू किया। उन्हें मेरे विरुद्ध तो कोई शिकायत है ही नही, किन्तु मेरे पंजाब जाने से उन्हें अशान्ति का पूरा भय है, आदि बाते कह कर मुझे स्वेच्छा से लौट जाने और फिर से पंजाब की सीमा पार न करने का अनुरोध किया। मैंने उनसे कह दिया कि मुझसे इस आज्ञा का पालन नही हो सकेगा और मैं स्वेच्छा से वापस जाने को तैयार नही। अतएव साहब में लाचार होकर कानूनी कार्रवाई करने की बात कहीं। मैंने पूछा, 'लेकिन यह तो कहिये कि आप मेरा क्या करना चाहते है ?' वे बोले, 'मुझे पता नही है। मैं दूसरे आदेश की राह देख रहा हूँ। अभी तो मैं आपको बम्बई ले जा रहा हूँ।'

सूरत पहुँचने पर किसी दूसरे अधिकारी ने मुझे अपने कब्जे में लिया। उसने मुझे रास्ते में कहा, 'आप रिहा कर दिये गये है। लेकिन आपके लिए मैं ट्रेन को मरीन लाइन्स स्टेशन के पास रुकवाऊँगा। आप वहाँ उतर जायेंगे, तो ज्यादा अच्छा होगा। कोलाबा स्टेशन पर बड़ी भीड़ होने की सम्भावना है।' मैंने उससे कहा कि आपका कहा करने में मुझे प्रसन्नता होगी। वह खुश हुआ और उसने मुझे धन्यवाद दिया। मैं मरीन लाइन्स पर उतरा। वहाँ किसी परिचित को घोड़ागाड़ी दिखायी दी। वे मुझे रेवाशंकर झवेरी के घर छोड़ गये। उन्होने मुझे

खबर दी, 'आपके पकड़े जाने की खबर पाकर लोग क्रुद्ध हो गये है और पागल-से बन गये है। पायधूनी के पास दंगे का खतरा है। मजिस्ट्रेट और पुलिस वहाँ पहुँच गयी है।'

मैं घर पहुँचा ही था कि इतने में उमर सोबानी और अनसूयाबहन मोटर में आये और उन्होने मुझे पायधूनी चलने को कहा। उन्होने बताया, 'लोग अधीर हो गये है और बड़े उत्तेजित हैं। हममें से किसी के किये शान्त नही हो सकते। आपको दखेगे तभी शान्त होगे। '

मैं मोटर में बैठ गया। पायधूनी पहुँचते ही रास्ते में भारी भीड़ दिखायी दी। लोग मुझे देखकर हर्षोन्मत हो उठे। अब जुलूस बना। 'वन्दे मातरम' और 'अल्लाहो अकबर' के नारो से आकाश गूंज उठा। पायधूनी पर घुडसवार दिखायी दिये। ऊपर से ईटो की वर्षा हो रही थी। मैं हाथ जोड़कर लोगो से प्रार्थना कर रहा था कि वे शान्त रहे। पर जान पड़ा कि हम भी ईटो की इस बौछार से बच नही पायेगे।

अब्दुर्रहमान गली में से क्रॉफर्ड मारकेट की ओर जाते हुए जुलूस को रोकने के लिए घुडसवारो की एक टुकड़ी सामने से आ पहुँची। वे जुलूस को किले की ओर जाने से रोकने की कोशिश कर रहे थे। लोग वहाँ समा नही रहे थे। लोगो ने पुलिस की पांत को चीर कर आगे बढ़ने के लिए जोर लगाया। वहाँ हालत ऐसी नही कि मेरी आवाज सुनायी पड़ सके। यह देखकर घुडसवारो की टुकड़ी के अफसर ने भीड़ को तितर-बितर करने का हुक्म दिया और अपने भालो को घुमाते हुए इस टुकड़ी ने एकदम घोडे दौडाने शुरू कर दिये। मुझे डर लगा कि उनके भाले हमारा काम तमाम कर दे तो आश्चर्य नही। पर मेरा वह डर निराधार था। बगल से होकर सारे भाले रेलगाड़ी की गति से सनसनाते हुए दूर निकल जाते थे। लोगो की भीड़ में दरार पड़ी। भगदड मच गयी। कोई कुचले गये। कोई घायल हुए। घुटसवारो को निकलने के लिए कोई रास्ता नही था। लोगो के लिए आसपास बिखरने का रास्ता नही था। वे पीछे लौटे तो उधर भी हजारो लोग ठसाठस भरे हुए थे। सारा दृश्य भयंकर प्रतीत हुआ। घुड़सवार और जनता दोनो पागल जैसे मालूम हुए। घुडसवार कुछ देखते ही नही थे अथवा देख नही सकते थे। वे तो टेढे होकर घोडो को दौड़ाने में लगे थे। मैंने देखा कि जितना समय इन हजारो के दल को चीरने में लगा, उतने समय तक वे कुछ देख ही नही सकते थे।

इस तरह लोगो को तितर-बितर किया गया और आगे बढने से रोका गया। हमारी मोटर को आगे जाने से रोक दिया गया। मैंने कमिश्नर के कार्यालय के सामने मोटर रुकवाई और मैं उससे पुलिस के व्यवहार की शिकायत करने के लिए उतरा।

३२. वह सप्ताह! 2

मैं कमिश्नर ग्रिफिथ साहब के कार्यालय में गया। उनकी सीढी के पास जहाँ देखा वहीं हथियारबन्द सैनिको को बैठा पाया, मानो लड़ाई के लिए तैयार हो रहे हो ! बरामदे में भी हलचल मची हुई थी। मैं खबर देकर ऑफिस में पैठा, तो देखा कि कमिश्नर के पास मि. बोरिंग बैठे हुए है।

मैंने कमिश्नर से उस दृश्य का वर्णन किया, जिसे मैं अभी -अभी देखकर आया था। उन्होने संक्षेप में जवाब दिया, ' मैं नही चाहता था कि जुलूस फोर्ट की ओर जाये। वहाँ जाने पर उपद्रव हुए बिना न रहता। और मैंने देखा कि लोग लौटाये लौटनेवाले न थे। इसलिए सिवा घोड़े दौड़ाने के मेरे पास दूसरा कोई उपाय न था।'

मैंने कहा, 'किन्तु उसका परिणाम तो आप जानते थे। लोग घोडो के पैरा तले दबने से बच नही सकते थे। मेरा तो ख्याल है कि घुडसवारो की टुकड़ी भेजने की आवश्यकता ही नही थी।'

साहब बोले, 'आप इसे समझ नही सकते। आपकी शिक्षा का लोगो पर क्या असर हुआ है, इसका पता आपकी अपेक्षा हम पुलिसवालो को अधिर रहता है। हम पहले से कड़ी कार्रवाई न करे, तो अधिक नुकसान हो सकता है। मैं आपसे कहता हूँ कि लोग आपके काबू में भी रहने वाले नही है। वे कानून को तोड़ने की बात तो झट समझ जायेगे, लेकिन शान्ति की बात समझना उनकी शक्ति से परे है। आपके हेतु अच्छे है, लेकिन लोग उन्हें समझेगे नही। वे तो अपने स्वभाव का ही अनुकरण करेगे।'

मैंने जवाब दिया,' किन्तु आपके और मेरे बीच जो भेद है, सो इसी बात में है। मैं कहता हूँ कि लोग स्वभाव से लड़ाकू नही, बल्कि शान्तिप्रिय है।'

हममें बहस होने लगी।

आखिर साहब ने कहा, 'अच्छी बात है, यदि आपको विश्वास हो जाये कि लोग आपकी शिक्षो को समझे नही है, तो आप क्या करेगे?'

मैंने उत्तर दिया, 'यदि मुझे इसका विश्वास हो जाय तो मैं इस लड़ाई को मुलतवी कर दूँगा।'

'मुलतवी करने का मतलब क्या? आपने तो मि. बोरिंग से कहा है कि मुक्त होने पर आप तुरन्त वापस पंजाब जाना चाहते है!'

'हाँ, मेरा इरादा तो लौटती ट्रेन से ही वापस जाने का था, पर अब आज तो जाना हो ही नही सकता।'

'आप धैर्य से काम लेगे तो आपको और अधिक बाते मालूम होगी। आप जानते है, अहमदाबाद में क्या हो रहा है ? अमृतसर में क्या हुआ है ? लोग सब कहीं पागल से हो गये है। कई स्थानो में तार टूटे है। मैं तो आपसे कहता हुँ कि इस सारे उपद्रव की जवाबदेही आपके सिर पर है।'

मैंने कहा, 'मुझे जहाँ अपनी जिम्मेदारी महसूस होगी, वहाँ मैं उसे अपने ऊपर लिये बिना नही रहूँगा। अहमदाबाद में तो लोग थोडा भी उपद्रव करे तो मुझे आश्चर्य और दुःख होगा। अमृतसर के बारे में मैं कुछ भी नही जानता हूँ कि पंजाब की सरकार में मुझे वहाँ जाने से रोका न होता, तो मैं शान्ति रक्षा में बहुत मदद कर सकता था। मुझे रोक कर तो सरकार ने लोगो को चिढाया ही है।'

इस तरह हमारी बातचीत होती रही। हमारे मन को मेल मिलने वाला न था। मैं यह कहकर बिदा हुआ कि चौपाटी पर सभा करने और लोगो को शान्ति रखने के लिए समझाने का मेरा इरादा है।

चौपाटी पर सभा हुई। मैंने लोगो को शान्ति और सत्याग्रह की मर्यादा के विषय में समझाया और बतलाया, 'सत्याग्रह सच्चे का हथियार है। यदि लोग शान्ति न रखेगे, तो मैं सत्याग्रह की लड़ाई कभी लड़ न सकूँगा।'

अहमदाबाद से श्री अनसूयाबहन को भी खबर मिल चुकी थी कि उपद्रव हुआ है। किसी ने अफवाह फैला दी थी कि वे भी पकड़ी गयी है। उससे मजदूर पागल हो उठे थे। उन्होंने हड़ताल कर दी थी, उपद्रव भी मचाया, और एक सिपाही का खून भी हो गया था।

मैं अहमदाबाद गया। मुझे पता चला कि नड़ियाद के पास रेल की पटरी उखाडने की कोशिश भी हुई थी। वीरगाम में एक सरकारी कर्मचारी का खून हो गया था। अहमदाबाद पहुँचा तब वहाँ मार्शल लॉ जारी था। लोगो में आतंक फैला हुआ था। लोगो ने जैसा किया वैसा पाया और उसका ब्याज भी पाया।

मुझे कमिश्नर मि. प्रेट के पास ले जाने के लिए एक आदमी स्टेशन पर हाजिर था। मैं उसके पास गया। वे बहुत गुस्से में थे। मैंने उन्हें शान्ति से उत्तर दिया। जो हत्या हुई थी उसके लिए मैंने खेद प्रकट किया। यह भी सुझाया कि मार्शल लॉ की आवश्यकता नही है, और पुनः शान्ति स्थापति करने के लिए जो उपवास करने जरूरी हो, सो करने की अपनी तैयारी बतायी। मैंने आम सभा बुलाने की माँग की। यह सभा आश्रम की भूमि पर करने की अपनी इच्छा प्रकट की। उन्हे यह बात अच्छी लगी। जहाँ तक मुझे याद है, मैंने रविवार ता. 13 अप्रैल को सभा की था। मार्शल लॉ भी उसी दिन अथवा अगले दिन रद हुआ था। इस सभा में मैंने लोगो को उनके दोष दिखाने का प्रयत्न किया। मैंने प्रायश्चित के रूप में तीन दिन के उपवास किये और लोगो को एक उपवास करने की सलाह दी। जिन्होने हत्या वगैरा में हिस्सा लिया हो, उन्हें मैंने सुझाया कि वे अपना अपराध स्वीकार कर लें।

मैंने अपना धर्म स्पष्ट देखा। जिन मजदूरो आदि के बीच मैंने इतना समय बिताया था, जिनकी मैंने सेवा की थी और जिनके विषय में मैं अच्छे व्यवहार की आशा रखता था, उन्होने उपद्रव में हिस्सा लिया, यह मुझे असह्य मालूम हुआ और मैंने अपने को उनके दोष में हिस्सेदार माना।

जिस तरह मैंने लोगो को समझाया कि वे अपना अपराध स्वीकार कर ले, उसी तरह सरकार को भी गुनाह माफ करने की सलाह दी। दोनो में से किसी एक ने भी मेरी बात नही सुनी। न लोगो ने अपने दोष स्वीकार किये, न सरकार ने किसी को माफ किया।

स्व. रमणभाई आदि नागरिक मेरे पास आये और मुझे सत्याग्रह मुलतवी करने के लिए मनाने लगे। पर मुझे मनाने की आवश्यकता ही नही रही थी। मैंने स्वयं निश्चय कर लिया था कि जब तक लोग शान्ति का पाठ न सीख ले, तब तक सत्याग्रह मुलतवी रखा जाये। इससे वे प्रसन्न हुए।

कुछ मित्र नाराज भी हुए। उनका ख्याल यह था कि अगर मैं सब कहीं शान्ति की आशा रखूँ और सत्याग्रह की यही शर्त रहे, तो बड़े पैमाने पर सत्याग्रह कभी चल ही नही सकता। मैंने अपना मतभेद प्रकट किया। जिन लोगो में काम किया गया है, जिनके द्वारा सत्याग्रह करने की आशा रखी जाती है, वे यदि शान्ति का पालन न करे, तो अवश्य ही सत्याग्रह कभी चल नही सकता। मेरी दलील यह थी कि सत्याग्रही नेताओ को इस प्रकार की मर्यादित शान्ति बनाये रखने की शक्ति प्राप्त करनी चाहिए। अपने इन विचारो को मैं आज भी बदल नही सका हूँ।

३३. 'पहाड़-जैसी भूल'

अहमदाबाद की सभा के बाद मैं तुरन्त ही नडियाद गया। 'पहाड़-जैसी भूल' नामक का जो शब्द-प्रयोग हुआ है, उसका उपयोग मैंने पहली बार नड़ियाद में किया। अहमदाबाद में ही मुझे अपनी भूल मालूम पड़ने लगी थी। पर नड़ियाद में वहाँ की स्थिति का विचार करके और यह सुनकर कि खेडा जिले के बहुत से लोग पकडे गये है, जिस सभा में मैं घटित घटनाओ पर भाषण कर रहा था, उसमें मुझे अचानक यह ख्याल आया कि खेड़ा जिले के और ऐसे दूसरे लोगो को कानून का सविनय भंग करने के लिए निमंत्रित करने में मैंने जल्दबाजी की भूल की और वह भूल मुझे पहाड़-जैसी मालूम हुई।

इस प्रकार अपनी भूल कबूल करने के लिए मेरी खूब हँसी उड़ाई गयी। फिर भी अपनी इस स्वीकृति के लिए मुझे कभी पश्चाताप नही हुआ। मैंने हमेंशा यह माना है कि जैसे हम दूसरो के गज-जैसे दोषो को रजवत् मानकर देखते है और अपने रजवत् प्रतीत होने वाले दोषो को पहाड़-जैसा देखना सीखते है, तभी अपने और पराये दोषो को ठीक-ठीक अंदाज हो पाता है। मैंने यह भी माना है कि सत्याग्रही बनने की इच्छा रखने वाले को तो इस साधारण नियम का पालन बहुत अधिक सूक्ष्मता के साथ करना चाहिए।

अब हम यह देखे कि पहाड़-जैसी प्रतीत होने वाली वह भूल क्या थी। कानून का सविनय भंग उन्हीं लोगो द्वारा किया जा सकता है, जिन्होने विनय-पूर्वक और स्वेच्छा से कानून का सम्मान किया हो। अधिकतर तो हम कानून का पालन इसलिए करते है कि उसे तोड़ने पर जो सजा होती है उससे हम डरते है। और, यह बात उस कानून पर विशेष रूप से घटित होती है, जिसमें नीति-अनीति का प्रश्न नही होता। कानून हो चाहे न हो, जो लोग भले माने जाते है वे एकाएक कभी चोरी नही करते। फिर भी रात में साइकल पर बत्ती जलाने के नियम से बच निकलने में भले आदमियों को भी क्षोभ नही होता, और ऐसे नियम का पालन करने की कोई सलाह-भर देता है, तो भले आदमी भी उसका पालन करने के लिए तुरन्त तैयार नही होते। किन्तु जब उसे कानून में स्थान मिलता है और उसका भंग करने पर दंड़ित होने का

डर लगता है, तब दंड की असुविधा से बचने के लिए वे रात में साइकल पर बत्ती जलाते है । इस प्रकार का नियम पालन स्वेच्छा से किया हुआ पालन नही कहा जा सकता ।

लेकिन सत्याग्रही समाज के जिन कानूनो का सम्मालन करेगा, वह सम्मान सोच-समझकर, स्वेच्छा से, सम्मान करना धर्म है ऐसा मानकर करेगा । जिसने इस प्रकार समाज के नियमो का विचार-पूर्वक पालन किया है, उसी को समाज के नियमो में नीति-अनीति का भेद करने की शक्ति प्राप्त होती है और उसी को मर्यादित परिस्थितियो में अमुक नियमो को तोड़ने का अधिकार प्राप्त करने से पहले मैंने उन्हे सविनय कानूनभंग के लिए निमंत्रित किया, अपनी यह भूल मुझे पहाड़-जैसी लगी । और, खेड़ा जिले में प्रवेश करने पर मुझे खेड़ा का लड़ाई का स्मरण हुआ और मुझे लगा कि मैं बिल्कुल गलत रास्ते पर चल पड़ा हूँ । मुझे लगा कि लोग सविनय कानूनभंग करने योग्य बने, इससे पहले उन्हें उसके गंभीर रहस्य का ज्ञान होना चाहिए । जिन्होने कानूनो को रोज जान-बूझकर तोडा हो, जो गुप्त रीति से अनेक बार कानूनो का भंग करते हो, वे अचानक सविनय कानून-भंग को कैसे समझ सकते है ? उसकी मर्यादा का पालन कैसे कर सकते है ?

यह तो सहज ही समझ में आ सकता है कि इस प्रकार की आदर्श स्थिति तक हजारो या लाखो लोग नही पहुँच सकते । किन्तु यदि बात ऐसी है तो सविनय कानून-भंग कराने से पहले शुद्ध स्वयंसेवको का एक ऐसा दल खड़ा होना चाहिए । जो लोगो को ये सारी बाते समझाये और प्रतिक्षण उनका मार्गदर्शन करे । और ऐसे दल को सविनय कानून-भंग तथा उसकी मर्यादा का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए

इन विचारों से भरा हुआ मैं बम्बई पहुँचा और सत्याग्रह-सभा के द्वारा सत्याग्रही स्वयंसेवको का एक दल खड़ा किया । लोगो को सविनय कानून-भंग का मर्म समझाने के लिए जिस तालीम की जरूरत थी, वह इस दल के जरिये देनी शुरू की और इस चीज को समझानेवाली पत्रिकाये निकाली ।

यह काम चला तो सही, लेकिन मैंने देखा कि मैं इसमें ज्यादा दिलचस्पी पैदा नहीं कर सका । स्वयंसेवको की बाढ नही आयी । यह नही कहा जा सकता कि जो लोग भरती हुए उन सबने नियमित तालीम ली । भरती में नाम लिखानेवाले भी जैसे-जैसे दिन बीतते गये, वैसे-

वैसे दढ बनने के बदले खिसकने लगे। मैं समझ गया कि सविनय कानून-भंग की गाड़ी मैंने सोचा था उससे धीमी चलेगी।

३४. 'नवजीवन' और 'यंग इंडिया'

एक तरफ तो चाहे जैसा धीमा होने पर भी शान्ति-रक्षा का यह आन्दोलन चल रहा था और दूसरी तरफ सरकार की दमन नीति पूरे जोर से चल रही थी। पंजाब में उसके प्रभाव का साक्षात्कार हुआ। वहाँ फौजी कानून यानि नादिरशाही शुरू हुई। नेतागण पकड़े गये। खास अदालते अदालते नही, बल्कि केवल गवर्नर का हुक्म बजाने का साधन बनी हुई थी। उन्होंने बिना सबूत और बिना शहाशत के लोगो को सजाये दी। फऔजू सिपाहियो ने निर्दोष लोगो को कीड़ो की तरह पेट के बल चलाया। इसके सामने जलियाँवाला बाग का घोर हत्याकांड तो मेरी दृष्टि में किसी गिनती में नही था, यद्यपि आम लोगो का और दुनिया का ध्यान इस हत्याकांड ने ही खींचा था।

मुझ पर दबाव पड़ने लगा कि मैं जैसे भी बनू पंजाब पहुँचू। मैंने वाइसरॉय को पत्र लिखे, तार किये, परन्तु जाने की इजाजत न मिली। बिना इजाजत के जाने पर अन्दर तो जा ही नही सकता था, केवल सविनय कानून-भंग करने का संतोष मिल सकता था। मेरे सामने यह विकट प्रश्न खड़ा था कि इस धर्म-संकट में मुझे क्या करना चाहिए। मुझे लगा कि निषेधाज्ञा का अनादार करके प्रवेश करूँगा, तो वह विनय-पूर्वक अनादार न माना जायेगा। शान्ति की जो प्रतीति मैं चाहता था, वह मुझे अब तक हुई नही थी। पंजाब की नादिरशाही ने लोगो को अशान्ति को अधिक भड़का दिया था। मुझे लगा कि ऐसे समय मेरे द्वारा की गयी कानून की अवज्ञा जलती आग में घी होम ने का काम करेगी। अतएव पंजाब में प्रवेश करने की सलाह को मैंने तुरन्त माना नही। मेरे लिए यह निर्णय एक कड़वा घूट था। पंजाब से रोज अन्याय के समाचार आते थे औऱ मुझे उन्हें रोज सुनना तथा दाँत पीसकर रह जाना पड़ता था।

इतने में मि. हार्निमैंन को, जिन्होने 'क्रॉनिकल' को एक प्रचंड शक्ति बना दिया था, सरकार चुरा ले गयी और जनता को इसका पता तक न चलने दिया गया। इस चोरी में जो गन्दगी थी, उसकी बदबू मुझे अभी तक आया करती है। मैं जानता हूँ कि मि. हार्निमैंन अराजकता

नहीं चाहते थे। मैंने सत्याग्रह-समिति की सलाह के बिना पंजाब-सरकार का हुक्म तोड़ा, यह उन्हें अच्छा नही लगा था। सविनय कानून-भंग को मुलतवी रखने में वे पूरी तरह सहमत थे। उस मुलतवी रखनेका अपना निर्णय मैंने प्रकट किया, इसके पहले ही मुलतवी रखने की सलाह देने वाला उनका पत्र मेंरे नाम रवाना हो चुका था औ वह मेरा निर्णय प्रकट होने के बाद मुझे मिला। इसका कारण अहमदाबाद और बम्बई के बीच का फासला था। अतएव उनके देश निकाले से मुझे जितना आश्चर्य हुआ उतना ही दुःख भी हुआ।

इस घटना के कारण 'क्रॉनिकल' के व्यवस्थापको में उसे चलाने का बोझ मुझ पर डाला। मि. ब्रेलवी तो थे ही। इसलिए मुझे अधिक कुछ करना नही पड़ता था। फिर भी मेंरे स्वभाव के अनुसार मेंरे लिए यह जिम्मेदारी बहुत बड़ी हो गयी थी।

किन्तु मुझे यह जिम्मेदारी अधिक दिन तक उठानी नही पड़ी। सरकारी मेहरबानी से 'क्रॉनिकल' बन्द हो गया।

जो लोग 'क्रॉनिकल' की व्यवस्था के कर्ताधर्ता थे, वे ही लोग 'यंग इंडिया' की व्यवस्था पर भी निगरानी रखते थे। वे थे उमर सोबानी और शंकरलाल बैकर। इन दोनो भाइयों ने मुझे सुझाया कि मैं 'यंग इंडिया' की जिम्मेदारी अपने सिर लूँ। और 'क्रॉनिकल' के अभाव की थोड़ी पूर्ति करने के विचार से 'यंग इंडिया' को हफ्ते में एक बार के बदले दो बार निकालना उन्हें औऱ मुझे ठीक लगा। मुझे लोगो को सत्याग्रह का रहस्य समझाने का उत्साह था। पंजाब के बारे में मैं और कुछ नही तो कम-से-कम उचित आलोचना को कर ही सकता था, और उसके पीछे सत्याग्रह-रूपी शक्ति है इसका पता सरकार को था ही। अतएव इन मित्रो की सलाह मैंने स्वीकार कर ली।

किन्तु अंग्रेजी द्वारा जनता को सत्याग्रह की शिक्षा कैसे दी जा सकती थी ? गुजरात मेंरे कार्य का मुख्य क्षेत्र था। इस समय भाई इन्दुलाल याज्ञिक उमर सोबानी और शंकरलाल बैकर की मंडली में थे। वे 'नवजीवन' नामक गुजराती मासिक चला रहे थे। उसका खर्च भी उक्त मित्र पूरा करते थे। भाई इन्दुलाल और उन मित्रो ने यह पत्र मुझे सौंप दिया और भाई इन्दुलाल ने इसमें काम करना भी स्वीकार किया। इस मासिक को साप्ताहिक बनाया गया।

इस बीच 'क्रॉनिकल' फिर जी उठा, इसलिए 'यंग इंडिया' पुनः साप्ताहिक हो गया और मेरी सलाह के कारण उसे अहमदाबाद ले जाया गया । दो पत्रो को अलग-अलग स्थानो से निकालने में खर्च अधिक होता था और मुझे अधिक कठिनाई होती थी । 'नवजीवन' तो अहमदाबाद से ही निकलता था । ऐसे पत्रो के लिए स्वतंत्र छापाखाना होना चाहिए, इसका अनुभव मुझे 'इंडियन ओपीनियन' के सम्बन्ध में हो चुका था । इसके अतिरिक्त यहाँ के उस समय के अखबारों के कानून भी ऐसे थे कि मैं जो विचार प्रकट करना चाहता था, उन्हें व्यापारिक दृष्टि से चलनेवाले छापखानो के मालिक छापने में हिचकिचाते थे । अपना स्वतंत्र छापखाना खड़ा करने का यह भी एक प्रबल कारण था और यह काम अहमदाबाद में ही सरलता से हो सकता था । अतएव 'यंग इंडिया' को अहमदाबाद ले गये ।

इन पत्रो के द्वारा मैंने जनता को यथाशक्ति सत्याग्रह की शिक्षा देना शुरू किया । पहले दोनो पत्रो की थोड़ी ही प्रतियाँ खपती थी । लेकिन बढते-बढते वे चालिस हजार के आसपास पहुँच गयी । 'नवजीवन' के ग्राहक एकदम बढे, जब कि 'यंग इंडिया' के धीरे-धीरे बढे । मेरे जेल जाने के बाद इसमें कमी हुई और आज दोनो की ग्राहक संख्या 8000 से नीचे चली गयी है ।

इन पत्रो में विज्ञापर न लेने का मेरा आग्रह शुरू से ही था । मैं मानता हूँ कि इससे कोई हानि नही हुई और इस प्रथा के कारण पत्रो के विचार-स्वातंत्र्य की रक्षा करने में बहुत मदद मिली । इस पत्रो द्वारा मैं अपनी शान्ति प्राप्त कर सका । क्योकि यद्यपि मैं सविनय कानून-भंग तुरन्त ही शुरू नही कर सका, फिर भी मैं अपने विचार स्वतंत्रता-पूर्वक प्रकट कर सका, जो लोग सलाह और सुझाव के लिए मेरी ओर देख रहे थे, उन्हे मैं आश्वासन दे सका । और, मेरा ख्याल है कि दोनो पत्रो ने उस कठिन समय में जनता की अच्छी सेवा की और फौजी कानून के जुल्म को हलका करने में हाथ बंटाया ।

३५. पंजाब में

पंजाब में जो कुछ हुआ उसके लिए अगर सर माइकल ओडवायर ने मुझे गुनहगार ठहराया, तो वहाँ के कोई कोई नवयुवक फौजी कानून के लिए भी मुझे गुनहगार ठहराने में हिचकिचाते न थे। क्रोधावेश में भरे इन नवयुवको की दलील यह थी कि यदि मैंने सविनय कानून-भंग को मुलतवी न किया होता, तो जलियावाला बाद का कत्लेआम कभी न होता और न फौजी कानून ही जारी हुआ होता। किसी-किसी ने तो यह धमकी भी दी थी कि मेरे पंजाब जाने पर लोग मुझे जान से मारे बिना न रहेंगे।

किन्तु मुझे तो अपना कदम उपयुक्त मालूम होता था कि उसके कारण समझदार आदमियो में गलतफहमी होने की सम्भावना ही न थी। मैं पंजाब जाने के लिए अधीर हो रहा था। मैंने पंजाब कभी देखा न था। अपनी आँखो से जो कुछ देखने को मिले, उसे देखने की मेरी तीव्र इच्छा थी, और मुझे बुलानेवाले डॉ. सत्यपाल, डॉ. किचलू तथा प. रामभजदत्त चौधरी को मैं देखना चाहता था। वे जेल में थे। पर मुझे पूरा विश्वास था कि सरकार उन्हें लम्बे समय तक जेल में रख ही नही सकेगी। मैं जब-जब बम्बई जाता तब-तब बहुत से पंजाबी मुझ से आकर मिला करते थे। मैं उन्हें प्रोत्साहन देता था, जिसे पाकर वे प्रसन्न होते थे। इस समय मुझमें विपुल आत्मविश्वास था।

लेकिन मेरा जाना टलता जाता था। वाइसरॉय लिखते रहते थे कि 'अभी जरा देर है।'

इसी बीच हंटर-कमेटी आयी। उसे फौजी कानून के दिनो में पंजाब के अधिकारियों द्वारा किये गये कारनामो की जाँच करनी थी। दीनबन्धु एंड्रूज वहाँ पहुँच गये थे। उनके पत्रो में हृदयद्रावक वर्णन होते थे। उनके पत्रो की ध्वनि यह थी कि अखबारो में जो कुछ छपता था, फौजी कानून का जुल्म उससे कही अधिक था। पत्रो में मुझे पंजाब पहुँचने का आग्रह किया गया। दूसरी तरफ मालवीयजी के भी तार आ रहे थे कि मुझे पंजाब पहुँचना चाहिए। इस पर मैंने वाइसरॉय को फिर तार दिया।

उत्तर मिला, 'आप फलाँ तारीख को जा सकते है।' मुझे तारीख ठीक याद नही है, पर बहुत करके वह 16 अक्तूबर थी।

लाहौर पहुँचने पर जो दृश्य मैंने देखा, वह कभी भुलाया नही जा सकता। स्टेशन पर लोगो का समुदाय इस कदर इकट्ठा हुआ था, मानो बरसो के बिछोह के बाद कोई प्रियजन आ रहा हो और सगे-संबंधी उससे मिलने आये हो। लोग हर्षोन्मत्त हो गये थे।

मुझे प. राजभजदत्त चौधरी के घर ठहराया गया था। श्री सरलादेवी चौधरानी पर, जिन्हें मैं पहले से ही जानता था, मेरी आवभगत का बोझ आ पड़ा था। आवभगत का बोझ शब्द मैं जानबूझकर लिख रहा हूँ, क्योकि आजकल की तरह इस समय भी जहाँ मैं ठहरता था, वहाँ मकान-मालिक का मकान धर्मशाला सा हो जाता था।

पंजाब में मैंने देखा कि बहुत से पंजाबी नेताओ के जेल में होने के कारण मुख्य नेताओ का स्थान पं. मालवीयजी, पं. मोतीलालजी और स्व. स्वामी श्रद्धानन्दजी ने ले रखा था। मालवीयजी और श्रद्धानन्द के सम्पर्क में तो मैं भलीभाँति आ चुका था, पर पं. मोतीलालजी के सम्पर्क में तो मैं लाहौर में ही आया। इन नेताओं ने और स्थानीय नेताओ ने, जिन्हें जेल जाने का सम्मान नही मिला था, मुझे तुरन्त अपना बना लिया। मैं कहीं भी अपरिचित-सा नही जान पड़ा।

हंटर कमेटी के सामने गवाही न देने का निश्चय हम सब ने सर्वसम्मति से किया। इसके सब कारण प्रकाशित कर दिये गये थे। इसलिए यहाँ मैं उनकी चर्चा नही करता। आज भी मेरी यह ख्याल है कि वे कारण सबल थे और कमेंटी का बहिष्कार उचित था।

पर यह निश्चय हुआ कि यदि हंटर कमेटी का बहिस्कार किया जाये, तो जनता की ओर से अर्थात काँग्रेस की और से एक कमेटी होनी चाहिए। पं. मालवीय, पं. मोतीलाल नेहरू, स्व. चितरंजनदास, श्री अब्बास तैयबजी और श्री जयकर को तथा मुझे इस कमेटी में रखा गया। हम जाँच के लिए अलग अलग स्थानो पर बँट गये। इस कमेटी का व्यवस्था का भार सहज ही मुझ पर आ पड़ा था, और चूंकि अधिक-से-अधिक गाँवो की जाँच का काम मेरे हिस्से ही आया था, इसलिए मुझे पंजाब और पंजाब के गाँव देखने का अलभ्य लाभ मिला।

इस जाँच के दौरान में पंजाब की स्त्रियो से तो मैं इस तरह से मिला, मानो मैं उन्हें युगे से पहचानता होऊँ। जहाँ जाता वहाँ दल-के-दल मुझसे मिलते और वे मेरे सामने अपने काते

हुए सूत का ढेर लगा देती थी। इस जाँच के सिलसिलों में अनायास ही मैं देख सका कि पंजाब खादी का महान क्षेत्र हो सकता है।

लोगो पर ढाये गये जुल्मो की जाँच करते हुए जैसे-जैसे मैं गहराई में जाने लगा, वैसे-वैसे सरकारी अराजकता की, अधिकारियो की नादिरशाही और निरंकुशता की अपनी कल्पना से परे की बाते सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ और मैंने दुःख का अनुभव किया। जिस पंजाब से सरकार को अधिक से अधिक सिपाही मिलते है, इस पंजाब में लोग इतना ज्यादा जुल्म कैसे सहन कर सके, यह बात मुझे उस समय भी आश्चर्यजनक मालूम हुई थी और आज भी मालूम होती है।

इस कमेंटी की रिपोर्ट तैयार करने का काम भी मुझे ही सौपा गया था। जो यह जानना चाहते है कि पंजाब में किस तरह के जुल्म हुए थे, उन्हे यह रिपोर्ट अवश्य पढनी चाहिए। इस रिपोर्ट के बारे में इतना मैं कह सकता हूँ कि उसमें जान-बूझकर एक भी जगह अतिशयोक्ति नही हुई है। जितनी हकीकते दी गयी है, उनके लिए उसी में प्रमाण भी प्रस्तुत किये गये है। इस रिपोर्ट में जितने प्रमाण दिये गये है, उनसे अधिक प्रमाण कमेंटी के पास मौजूद थे। जिसके विषय में तनिक भी शंका थी, ऐसी एक भी बात रिपोर्ट में नही दी गयी। इस तरह केवल सत्य को ही ध्यान में रखकर लिखी हुई रिपोर्ट से पाठक देख सकेंगे कि ब्रिटिश राज्य अपनी सत्ता के दृढ बनाये रखने के लिए किस हद तक जा सकता है, कैसे अमानुषिक काम कर सकता है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस रिपोर्ट की एक भी बात आज तक झूठ साबित नही हुई।

३६. खिलाफत के बदले गोरक्षा?

अब थोड़ी देर के लिए पंजाब के हत्याकांड को छोड़ दें।

काँग्रेस की तरफ से पंजाव की डायरशाही की जाँच चल रही थी। इतने में एक सार्वजनिक निमंत्रण मेंरे हाथ में आया। उसमें स्व. हकीम साहब और भाई आसफअली के नाम थे। उसमें यह लिखा भी था कि सभा में श्रद्धानन्दजी उपस्थित रहनेवाले है। मुझे कुछ ऐसा ख्याल है कि वे उप-सभापति थे। यह निमंत्रण दिल्ली में खिलाफत के सम्बन्ध में उत्पन्न परिस्थिति का विचार करनेवाली और सन्धि के उत्सव में सम्मिलित होने या न होने का निर्णय करनेवाली हिन्दू-मुसलमानो की एक संयुक्त सभा में उपस्थित होने का था। मुझे कुछ ऐसा याद है कि यह सभा नवम्बर महीने में हुई थी।

इस निमंतत्रण में यह लिखा था कि सभा में केवल खिलाफत के प्रश्न की ही चर्चा नही होगी, बल्कि गोरक्षा के प्रश्न पर भी विचार होगा और यह कि गोरक्षा साधने का यह एक सुन्दर अवसर बनेगा। मुझे यह वाक्य चुभा। इस निमंत्रण-पत्र का उत्तर देते हुए मैंने लिखा कि मैं उपस्थित होने की कोशिश करूँगा और यह भी लिखा कि खिलाफत और गोरक्षा को एकसाथ मिलाकर उन्हें परस्पर सौदे का सवाल नही बनाना चाहिए। हर प्रश्न का विचार उसके गुण-दोष की दृष्टि से किया जाना चाहिए।

मैं सभा में हाजिर रहा। सभा में उपस्थिति अच्छी थी। पर बाद में जिस तरह हजारो लोग उमडते थे, वैसा दृश्य वहाँ नही था। इस सभा में श्रद्धानन्दजी उपस्थित थे। मैंने उनके साथ उक्त विषय पर चर्चा कर ली। उन्हें मेरी दलील जँची और उसे पेश करने का भार उन्होने मुझ पर डाला। हकीम साहब के साथ भी मैंने बात कर ली थी। मेरी दलील यह थी कि दोनो प्रश्नो पर उनके अपने गुण-दोष की दृष्टि से विचार करना चाहिए। यदि खिलाफत के प्रश्न में सार हो, उसमें सरकार की ओर से अन्याय हो रहा हो तो हिन्दुओ को मुसलमानो का साथ देना चाहिए और इस प्रश्न के साथ गोरक्षा के प्रश्न को नही जोडना चाहिए। अगर हिन्दू ऐसी कोई शर्त करते है, तो वह उन्हें शोभा नही देगा। मुसलमान खिलाफत के लिए मिलनेवाली मदद के बदले में गोवध बन्द करे, तो वह उनके लिए भी शोभास्पद न होगा। पड़ोसी और

एक ही भूमि के निवासी होने के नाते तथा हिन्दुओ की भावना का आदर करने की दृष्टि से यदि मुसलमान स्वतंत्र रूप से गोवध बन्द करे, तो यह उनके लिए शोभा की बात होगी। यह उनका फर्ज है और एक स्वतंत्र प्रश्न है। अगर यह फर्ज है और मुसलमान इसे फर्ज समझे, तो हिन्दू खिलाफत के काम में मदद दे या न दें, तो भी मुसलमानो को गोवध बन्द करना चाहिए। मैंने अपनी तरफ से यह दलील पेश की कि इस तरह दोनो प्रश्नो का विचार स्वतंत्र रीति से किया जाना चाहिए और इसलिए इस सभा में तो सिर्फ खिलाफत के प्रश्न की ही चर्चा मुनासिब है।

सभा को मेरी दलील पसन्द पड़ी। गोरक्षा के प्रश्न पर सभा में चर्चा नही हुई। लेकिन मौलाना अब्दुलबारी ने कहा, 'हिन्दू खिलाफत के मामले में मदद दे चाहे न दे, लेकिन चूंकि हम एक ही मुल्क के रहनेवाले है इसलिए मुसलमानो को हिन्दुओ के जज्बात की खातिर गोकुशी बन्द करनी चाहिए।' एक समय तो ऐसा मालूम हुआ कि मुसलमान सचमुच गोवध बन्द कर देंगे।

कुछ लोगो की यह सलाह थी कि पंजाब के सवाल को भी खिलाफत के साथ जोड़ दिया जाये। मैंने इस विषय में अपना विरोध प्रकट किया। मेरी दलील यह थी कि पंजाब का प्रश्न स्थानीय है, पंजाब के दुःख की वजह से हम हुकमत से सम्बन्ध रखनेवाले सन्धिविषयक उत्सव से अलग नही रह सकते। इस सिलसिले में खिलाफत के सवाल के साथ पंजाब को जोड देने से हम अपने सिर अविवेक का आरोप ले लेगे। मेरी दलील सबको पसन्द आयी।

इस सभा में मौलाना हसरत मोहानी भी थे। उनसे मेरी जान-पहचान तो हो ही चुकी थी। पर वे कैसे लड़वैया है, इसका अनुभव मुझे यहीँ हुआ। यहीं से हमारे बीच मतभेद शुरू हुआ और कुई मामलो में वह आखिर तक बना रहा।

कई प्रस्तावो में एक प्रस्ताव यह भी था कि हिन्दू-मुसलमान सबको स्वदेशी-व्रत का पालन करना चाहिए और उसके लिए विदेशी कपड़े का बहिस्कार करना चाहिए। खादी का पुनर्जन्म अभी नही हुआ था। मौलाना हसरत मोहानी को यह प्रस्ताव जँच नही रहा था। यदि अंग्रेजी हुकूमत खिलाफत के मामले में इन्साफ न करे, तो उन्हें उससे बदला लेना था। इसलिए उन्होने सुझाया कि यथासंभव हर तरह के ब्रिटिश माल का बहिस्कार करना चाहिए

। मैंने हर तरह के ब्रिटिश माल के बहिस्कार की आवश्यकता और अयोग्यता के बारे में अपनी वे दलीले पेश की, जो अब सुपरिचित हो चुकी है। मैंने अपनी अहिंसा-वृति का भी प्रतिपादन किया। मैंने देखा कि सभा पर मेरी दलीलो का गहरा असर पड़ा है। हसरत मोहानी की दलीले सुनकर लोग ऐसा हर्षनाद करते थे कि मुझे लगा, यहाँ मेरी तूती की आवाज कोई नही सुनेगा। पर मुझे अपना धर्म चूकना और छिपाना नही चाहिए, यह सोचकर मैं बोलने के लिए उठा। लोगो ने मेरा भाषण बहुत ध्यान से सुना। मंच पर तो मुझे संपूर्ण समर्थन मिला और मेरे समर्थन में एक के बाद एक भाषण होने लगे। नेतागण यह देख सके कि ब्रिटिश माल के बहिस्कार का प्रस्ताव पास करने से एक भी हेतु सिद्ध नही होगा। हाँ, हँसी काफी होगी। सारी सभी में शायद ही कोई ऐसा आदमी देखने में आता था, जिसके शरीर पर कोई-न-कोई ब्रिटिश वस्तु न हो। इतना तो अधिकांश लोग समझ गये कि जो बात सभा में उपस्थित लोग भी नही कर सकते, उसे करने का प्रस्ताव पास होने के लाभ के बदले हानि ही होगी।

मौलाना हसरत मोहानी ने अपने भाषण में कहा, 'हमें आपके विदेशी वस्त्र बहिस्कार से संतोष हो ही नही सकता। कब हम अपनी जरूरत का सब कपड़ा पैदा कर सकेंगे और कब विदेशी वस्त्रो का बहिस्कार होगा ? हमें तो ऐसी चीज चाहिए, जिसका प्रभाव ब्रिटिश जनता पर तत्काल पड़े। आपका बहिस्कार चाहे रहे, पर इससे ज्यादा तेज कोई चीज आप हमें बताइये।' मैं यह भाषण सुन रहा था। मुझे लगा कि विदेशी वस्त्र के बहिस्कार के अलावा कोई दूसरी नई चीज सुझानी चाहिए। उस समय मैं यह तो स्पष्ट रूप से जानता था कि विदेशी वस्त्र का बहिस्कार तुरन्त नही हो सकता। यदि हम चाहें तो संपूर्ण रूप से खादी उत्पन्न करने की शक्ति हममें है, इस बात को जिस तरह मैं बाद में देख सका, वैसे उस समय नही देख सका था . अकेली मिल तो दगा दे जाएगी, यह मैं उस समय भी जानता था। जब मौलाना साहब ने अपना भाषण पूरा किया, तब मैं जवाब देने के लिए तैयार हो रहा था।

मुझे कोई उर्दू या हिन्दी शब्द तो नही सूझा। ऐसी खास मुसलमानो की सभा में तर्कयुक्त भाषण करने का मेरा यह पहला अनुभव था। कलकत्ते में मुस्लिम लीग की सभा में मैं बोला था, किन्तु वह तो कुछ मिनटो का और दिल को छूनेवाला भाषण था। पर यहाँ तो मुझे विरुद्ध मतवाले समाज को समझाना था। लेकिन मैंने शरम छोड़ दी थी। मुझे दिल्ली के

मुसलमानो के सामने उर्दू में लच्छेदार भाषण नही करना था, बल्कि अपनी मंशा टूटीफूटी हिन्दी में समझा देनी थी। यह काम मैं भली भाँति कर सका। यह सभा इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण थी कि हिन्दी-उर्दू ही राष्ट्रभाषा बन सकती है। अगर मैंने अंग्रेजी में भाषण किया होता, तो मेरी गाड़ी आगे न बढती, और मौलाना साहब ने जो चुनौती मुझे दी उसे देने को मौका और आया भी होता तो मुझे उसका जवाब न सूझता।

उर्दू या हिन्दी शब्द ध्यान में न आने से मैं शरमाया, पर मैंने जवाब तो दिया ही। मुझे 'नॉन-कोऑपरेशन' शब्द सूझा। जब मौलाना भाषण कर रहे थे तब मैं यह सोच रहा था कि मौलाना खुद कई मामलो में जिस सरकार का साथ दे रहे है, उस सरकार के विरोध की बात करना उनके लिए बेकार है। मुझे लगा कि जब तलवार से सरकार का विरोध नही करना है, तो उसका साथ न देने में ही सच्चा विरोध है। और फलतः मैंने 'नॉन-कोऑपरेशन' शब्द का प्रयोग पहली बार इस सभा में किया। समर्थन में अपनी दलीले दी। उस समय मुझे इस बात का कोई ख्याल न था कि इस शब्द में किन-किन बातो का समावेश हो सकता है। इसलिए मैं तफसील में न जा सका। मुझे तो इतना ही कहने की याद है, 'मुसलमान भाइयो ने एक और भी महत्त्वपूर्ण निश्चय किया है। ईश्वर न करे, पर यदि कही सुलह की शर्ते उनके खिलाफ जाये, तो वे सरकार की सहायता करना बन्द कर देगी। मेरे विचार में यह जनता का अधिकार है। सरकारी उपाधियाँ धारण करने अथवा सरकारी नौकरियाँ करने के लिए हम बँधे हुए नही है। जब सरकार के हाथो खिलाफत जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धार्मिक प्रश्न के सम्बन्ध में हमें नुकसान पहुँचता है, तब हम उसकी सहायता कैसे कर सकते है ? इसलिए अगर खिलाफत का फैसला हमारे खिलाफ हुआ, तो सरकारी सहायता न करने का हमें हक होगा।'

पर इसके बाद इस वस्तु का प्रचार होने में कई महीने बीत गये। यह शब्द कुछ महीनो तक तो इस सभा में ही दबा रहा। एक महीने बाद जब अमृतसर में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ, तो वहां मैंने असहयोग के प्रस्ताव का समर्थन किया। उस समय तो मैंने यही आशा रखी थी कि हिन्दू-मुसलमानो के लिए सरकार के खिलाफ असहयोग करने का अवसर नही आयेगा।

३७. अमृतसर की काँग्रेस

फौजी कानून के चलते जिन सैकड़ो निर्दोष पंजाबियो को नाम की अदालतो ने नाम के सबूत लेकर छोटी-बड़ी मुद्दतो के लिए जेल में ठूँस दिया था, पंजाब की सरकार उन्हें जेल में रख न सकी। इस घोर अन्याय के विरुद्ध चारो ओर से ऐसी जबरदस्त आवाज उठी कि सरकार के लिए इन कैदियो को अधिक समय तक जेल में रखना सम्भव न रहा। अतएव काँग्रेस-अधिवेशन के पहले बहुत से कैदी छूट गये। लाला हरकिसनलाल आदि सब नेता रिहा हो गये और काँग्रेस अधिवेशन के दिनो में अलीभाई भी छूट कर आ गये। इससे लोगो के हर्ष की सीमा न रही। पं. मोतीलाल नेहरु, जिन्होने अपनी वकालत को एक तरफ रखकर पंजाब में ही डेरा डाल दिया था, काँग्रेस के सभापति थे। स्वामी श्रद्धानन्दजी स्वागत-समिति के अध्यक्ष थे।

अब तक काँग्रेस में मेरा काम इतना ही रहता था कि हिन्दी में अपना छोटा सा भाषण करूँ, हिन्दी भाषा की वकालत करूँ, और उपनिवेशो में रहने वाले हिन्दूस्तानियो का मामला पेश करूँ ? यह ख्याल नहीं था कि अमृतसर में मुझे इसमें अधिक कुछ करना पड़ेगा। लेकिन जैसा कि मेरे संबंध में पहले भी हो चुका है, जिम्मेदारी अचानक मुझ पर आ पड़ी।

नये सुधारो के सम्बन्ध में सम्राट की घोषणा प्रकट हो चुकी थी। वह मुझे पूर्ण संतोष देनेवाली नही थी। और किसी को तो वह बिल्कुल पसन्द ही नही थी। लेकिन उस समय मैंने यह माना था कि उक्त घोषणा में सूचित सुधार त्रुटिपूर्ण होते हुए भी स्वीकार किये जा सकते है। सम्राट की घोषणा में मुझे लार्ड सिंह का हाथ दिखायी पड़ा था। उस समय की मेरी आँखो ने घोषणा की भाषा में आशा की किरणे देखी थी। किन्तु लोकमान्य, चितरंजन दास आदि अनुभवी योद्धा विरोध में सिर हिला रहे थे। भारत-भूषण मालवीयजी तटस्थ थे।

मेरा डेरा मालवीयजी में अपने ही कमरे में रखा था। उनकी सादगी की झाँकी काशी विश्वविद्यालय के शिलान्यास के समय मैं कर चुका था। लेकिन इस बार तो उन्होने मुझे अपने कमरे में ही स्थान दिया था। इससे मैं उनकी सारी दिनचर्या देख सका और मुझे सानन्द आश्चर्य हुआ। उनका कमरा क्या था, गरीबो की धर्मशाला थी। उसमें कही रास्ता

नही रहने दिया गया था। जहाँ-तहाँ लोग पड़े ही मिलते थे। वहाँ न एकान्त था। चाहे जो आदमी चाहे जिस समय आता था और उनका चाहे जितना समय ले लेता था। इस कमरे के एक कोने में मेरा दरबार अर्थात खटिया थी।

किन्तु मुझे इस प्रकरण में मालवीयजी की रहन-सहन का वर्णन नही करना है। अतएव मैं अपने विषय पर आता हूँ।

इस स्थिति में मालवीयजी के साथ रोज मेरी बातचीत होती थी। वे मुझे सबका पक्ष बड़ा भाई जैसे छोटे को समझाता है वैसे प्रेम से समझाते थे। सुधार-सम्बन्धी प्रस्ताव में भाग लेना मुझे धर्मरूप प्रतीत हुआ। पंजाब विषयक काँग्रेस की रिपोर्ट की जिम्मेदारी में मेरा हिस्सा था। पंजाब के विषय में सरकार से काम लेना था। खिलाफत का प्रश्न तो था ही। मैंने यह भी माना कि मांटेग्यू हिन्दुस्तान के साथ विश्वासघात नही करने देगे। कैदियो की और उनमें भी अलीभाईयो की रिहाई को मैंने शुभ चिह्न माना था। अतएव मुझे लगा कि सुधारो को स्वीकार करने का प्रस्ताव पास होना चाहिए। चितरंजन दास का दृढ मत था कि सुधारो को बिल्कुल असंतोषजनक और अधूरे मान कर उनकी उपेक्षा करनी चाहिए। लोकमान्य कुछ तटस्थ थे। किन्तु देशबन्धु जिस प्रस्ताव को पसन्द करे, उसके पक्ष में अपना वजन डालने का उन्होंने निश्चय कर लिया था।

ऐसे पुराने अनुभवी और कसे हुए सर्वमान्य लोकनायको के साथ अपना मतभेद मुझे स्वयं असह्य मालूम हुआ। दूसरी ओर मेरा अन्तर्नाद स्पष्ट था मैंने काँग्रेस की बैठक में से भागने का प्रयत्न किया। पं. मोतीलाल नेहरू और मालवीयजी को मैंने यह सुझाया कि मुझे अनुपस्थित रहने देने से सब काम बन जायेगा और मैं महान नेताओ के साथ मतभेद प्रकट करने के संकट से बच जाऊँगा।

यह सुझाव इन दोनो बुजुर्गो के गले न उतरा। जब बात लाला हरकिसनलाल के कान तक पहुँची तो उन्होने कहा, 'यह हरगिज न होगा। इससे पंजाबियो को भारी आधात पहुँचेगा।'

मैंने लोकमान्य और देशबन्धु के साथ विचार-विमर्श किया। मि. जिन्ना से मिला। किसी तरह कोई रास्ता निकलता न था। मैंने अपनी वेदना मालवीयजी के सामने रखी, 'समझौते के कोई लक्षण मुझे दिखाई नही देते। यदि मुझे अपना प्रस्ताव रखाना ही पड़ा, तो अन्त में

मत तो लिये ही जायेगे। पर यहाँ मत ले सकने की कोई व्यवस्था मैं नही देख रहा हूँ। आज तक हमने भरी सभा में हाथ उठवाये है। हाथ उठाते समय दर्शको और प्रतिनिधियो के बीच कोई भेद नही रहता। ऐसी विशाल सभा में मत गिनने की कोई व्यवस्था हमारे पास नही होती। अतएव मुझे अपने प्रस्ताव पर मत लिवाने हो, तो भी इसकी सुविधा नही है।'

लाला हरकिसनलाल ने यह सुविधा संतोषजनक रीति से कर देने का जिम्मा लिया। उन्होने कहा, 'मत लेने के दिन दर्शको को नही आने देंगे। केवल प्रतिनिधि ही आयेगे और वहाँ मतो की गिनती करा देना मेरा काम होगा। पर आप काँग्रेस की बैठक से अनुपस्थित तो रह ही नही सकते।'

आखिर मैं हारा।

मैंने अपना प्रस्ताव तैयार किया। बड़े संकोच से मैंने उसे पेश करना कबूल किया। मि. जिन्ना और मालवीयजी उसका समर्थन करने वाले थे। भाषण हुए। मैं देख रहा था कि यद्यपि हमारे मतभेद में कही कटुता नही थी, भाषणो में भी दलीलो के सिवा और कुछ नही था, फिर भी सभा जरा-सा भी मतभेद सहन नही कर सकती थी और नेताओ के मतभेद से उसे दुःख हो रहा था। सभा को तो एकमत चाहिए था।

जब भाषण हो रहे थे उस समय भी मंच पर मतभेद मिटाने की कोशिशे चल रही थी। एक-दूसरे बीच चिट्ठियाँ आ-जा रही थी। मालवीयजी, जैसे भी बने, समझौता कराने का प्रयत्न कर रहे थे। इतने में जयरामगदास ने मेरे हाथ पर अपना सुझाव रखा और सदस्यो को मत देने के संकट से उबार लेने के लिए बहुत मीठे शब्दो में मुझ से प्रार्थना की। मुझे उनका सुझाव पसन्द आया। मालवीयजी की दृष्टि तो चारो ओर आशा की खोज में घूम ही रही थी। मैंने कहा, 'यह सुझाव दोनो पक्षो को पसन्द आने लायक मालूम होता है।' मैंने उसे लोकमान्य को दिखाया। उन्होने कहा, 'दास को पसन्द आ जाये, तो मुझे कोई आपत्ति नही।' देशबन्धु पिघले। उन्होंने विपिनचन्द्र पाल की ओर देखा। मालवीयजी को पूरी आशा बँध गयी। उन्होने परची हाथ से छीन ली। अभी देशबन्धु के मुँह से 'हाँ' का शब्द पूरा निकल भी नही पाया था कि वे बोल उठे, 'सज्जनो, आपको यह जानकर खुशी होगी कि समझौता हो गया

है ।' फिर क्या था ? तालियो का गडगड़ाहट से मंड़प गूंज उठा और लोगो के चहेरो पर जो गंभीरता थी, उसके बदले खुशी चमक उठी ।

यह प्रस्ताव क्या था, इसकी चर्चा की यहाँ आवश्यकता नही । यह प्रस्ताव किस तरह स्वीकृत हुआ, इतना ही इस सम्बन्ध में बतलाना मेंरे इन प्रयोगो का विषय है। समझौते ने मेरी जिम्मेदारी बढा दी ।

३८. काँग्रेस में प्रवेश

मुझे काँग्रेस के कामकाज में हिस्सा लेना पड़ा, इसे मैं काँग्रेस में अपना प्रवेश नही मानता। इससे पहले की काँग्रेस की बैठको में मैं गया सो सिर्फ अपनी वफादारी की निशानी के रूप में। छोटे-से-छोटे सिपाही के काम के सिवा मेरा वहाँ दूसरा कोई कार्य हो सकता है, ऐसा पहले की बैठको के समय मुझे कभी आभास नही हुआ था, न इससम अधिक कुछ करने की मुझे इच्छा हुई थी।

अमृतसर के अनुभव ने बतलाया कि मेरी एक-दो शक्तियाँ काँग्रेस के लिए उपयोगी है। मैं काँग्रेस यह देख रहा था कि पंजाब की जाँच-कमेंटी के मेरे काम से लोकमान्य, मालवीयजी, मोतीलाल, देशबन्धु आदि खुश हुए थे। इसलिए उन्होने मुझे अपनी बैठको और चर्चाओ में बुलाया। इतना तो मैंने देख लिया था कि विषय-विचारिणी समिति का सच्चा काम इन्ही बैठको में होता था और ऐसी चर्चाओ में वे लोग सम्मिलित होते थे, जिनपर नेता विशेष विश्वास या आधार रखते थे और दूसरे वे लोग होते थे, जो किसी-न-किसी बहाने से घुस जाते थे।

अगले साल करने योग्य कामो में से दो कामो में मुझे दिलचस्पी थी, क्योकि उनमें मैं कुछ दखल रखता था। एक था जलियाँवाला बाग के हत्याकांड का स्मारक। इसके बारे में काँग्रेस ने बड़ी शान के साथ प्रस्ताव पास किया था। स्मारक के लिए करीब पाँच लाख रुपये की रकम इकट्ठी करनी थी। उसके संरक्षको (ट्रस्टियो) में मेरी नाम था। देश में जनता के काम के लिए भिक्षा माँगने की जबरदस्त शक्ति रखनेवालो में पहला पद मालवीयजी का था और है। मैं जानता था कि मेरा दर्जा उनसे बहुत दूर नही रहेगा। अपनी यह शक्ति मैंने दक्षिण अफ्रीका में देख ली थी। राजा-महाराजाओ पर अपना जादू चलाकर उनसे लाखो रुपये प्राप्त करने की शक्ति मुझमें नही थी, आज भी नही है। इस विषय में मालवीयजी के साथ प्रतिस्पर्धा करनेवाला मुझे कोई मिला ही नही। मैं जानता था कि जलियाँवाला बाग के काम के लिए उन लोगो से पैसा नहीं माँगा जा सकता। अतएव रक्षक का पद स्वीकार करते समय ही मैं यह समझ गया था कि इस स्मारक के लिए धन-संग्रह का बोझ मुझे पर पड़ेगा

और यही हुआ भी। बम्बई के उदार नागरिको में इस स्मारक के लिए दिल खोलकर धन दिया और आज जनता के पास उसके लिए जितना चाहिए उतना पैसा है। किन्तु हिन्दुओ, मुसलमानो और सिखो के मिश्रित रक्त से पावन बनी हुई इस भूमि पर किस तरह का स्मारक बनाया जाये, अर्थात पड़े हुए पैसो का क्या उपयोग किया जाये, यह एक विकट सवाल हो गया है, क्योकि तीनो के बीच आज दोस्ती के बदले दुश्मनी का भास हो रहा है।

मेरी दूसरी शक्ति लेखक और मुंशी का काम करने की थी, जिसका उपयोग काँग्रेस कर सकती थी। नेतागण यह समझ चुके थे कि लम्बे समय के अभ्यास के कारण कहाँ, क्या औऱ कितने कम शब्दो में व अविनय-रहित भाषा में लिखना चाहिए सो मैं जानता हूँ। उस समय काँग्रेस का जो विधान था, वह गोखले की छोड़ी हुई पूंजी थी। उन्होने कुछ नियम बना दिये थे। उनके सहारे काँग्रेस का काम चलता था। वे नियम कैसे बनाये गये, इसका मधुर इतिहास मैंने उन्हीं के मुँह से सुना था। पर अब सब कोई यह अनुभव कर रहे थे कि काँग्रेस का काम उतने नियमो से नही चल सकता। उसका विधान बनाने की चर्चाये हर साल उठती थी। पर काँग्रेस के पास ऐसी कोई व्यवस्था ही नही थी जिससे पूरे वर्षभर उसका काम चलता रहे, अथवा भविष्य की बात कोई सोचे। उनके तीन मंत्री होते थे, पर वास्तव में कार्यवाहक मंत्री तो एक ही रहता था। वह भी चौबीसो घंटे दे सकने वाला नही होता था। एक मंत्री कार्यालय चलाये या भविष्य का विचार करे अथवा भूतकाल में उठायी हुई काँग्रेस की जिम्मेदारियो को वर्तमान वर्ष में पूरा करे? इसलिए इस वर्ष यह प्रश्न सबकी दृष्टि में अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया। काँग्रेस में हजारो की भीड़ होती थी। उसमें राष्ट्र का काम कैसे हो सकता था? प्रतिनिधियो की संख्या की कोई सीमा न थी। किसी भी प्रान्त से चाहे जितने प्रतिनिधि हो सकता था। अतएव कुछ व्यवस्था करने की आवश्यकता सबको प्रतीत हुई। विधान तैयार करने का भार उठाने की जिम्मेदारी मैंने अपने सिर ली। मेरी एक शर्त थी। जनता पर दो नेताओ का प्रभुत्व मैं देख रहा था। इससे मैंने चाहा कि उनके प्रतिनिधि मेरे साथ रहे।

मैं समझता था कि वे स्वयं शान्ति से बैठकर विधान बनाने का काम नही कर सकते। इसलिए लोकमान्य और देशबन्धु से उनके विश्वास के दो नाम मैंने माँगे। मैंने यह सुझाव रखा कि इनके सिवा विधान-समिति में और कोई न होना चाहिए। यह सुझाव मान लिया

गया। लोकमान्य ने श्री केलकर का और देशबन्धु ने श्री आई. बी. सेन का नाम दिया। यह विधान-समिति एक दिन भी कहीं मिलकर नही बैठी। फिर भी हमने अपना काम एकमत से पूरा किया। पत्र- व्यवहार द्वारा अपना काम चला लिया। इस विधान के लिए मुझे थोड़ा अभिमान है। मैं मानता हूँ कि इसका अनुकरण करके काम किया जाये, तो हमारा बेड़ा पार हो सकता है। यह तो जब होगा, परन्तु मेरी यह मान्यता है कि इस जिम्मेदारी को लेकर मैंने काँग्रेस में सच्चा प्रवेश किया।

३९. खादी का जन्म

मुझे याद नही पड़ता कि सन् 1908 तक मैंने चरखा या करधा कहीं देखा हो । फिर भी मैंने 'हिन्द स्वराज' में यह माना था कि चरखे के जरिये हिन्दुस्तान की कंगालियत मिट सकती है । और यह तो सबके समझ सकने जैसी बात है कि जिस रास्ते भुखमरी मिटेगी उसी रास्ते स्वराज्य मिलेगा । सन् 1915 में मैं दक्षिण अफ्रीका से हिन्दुस्तान वापस आया, तब भी मैंने चरखे के दर्शन नही किये थे । आश्रम के खुलते ही उसमें करधा शुरू किया था । करधा शुरू किया था । करधा शुरू करने में भी मुझे बड़ी मुश्किल का सामना करना पडा । हम सब अनजान थे, अतएव करधे के मिल जाने भर से करधा चल नही सकता था । आश्रम में हम सब कलम चलाने वाले या व्यापार करना जाननेवाले लोग इकट्ठा हुए थे, हममें कोई कारीगर नही था । इसलिए करधा प्राप्त करने के बाद बुनना सिखानेवाले की आवश्यकता पड़ी । कोठियावाड़ और पालनपूर से करधा मिला और एक सिखाने वाला आया । उसने अपना पूरा हुनर नही बताया । परन्तु मगनलाल गांधी शुरू किये हुए काम को जल्दी छोडनेवाले न थे । उनके हाथ में कारीगरी तो थी ही । इसलिए उन्होने बुनने की कला पूरी तरह समझ ली और फिर आश्रम में एक के बाद एक नये-नये बुनने वाले तैयार हुए ।

हमें तो अब अपने कपड़े तैयार करके पहनने थे । इसलिए आश्रमवासियो ने मिल के कपड़े पहनना बन्द किया और यह निश्यच किया कि वे हाथ-करधे पर देशी मिल के सूत का बुना हुआ कपड़ा पहनेगे । ऐसा करने से हमें बहुत कुछ सीखने को मिला । हिन्दुस्तान के बुनकारो के जीवन की, उनकी आमदनी की, सूत प्राप्त करने में होने वाली उनकी कठिनाई की, इसमें वे किस प्रकार ठगे जाते थे और आखिर किस प्रकार दिन-दिन कर्जदार होते जाते थे, इस सबकी जानकारी हमें मिली । हम स्वयं अपना सब कपड़ा तुरन्त बुन सके, ऐसी स्थिति तो थी ही नही। कारण से बाहर के बुनकरो से हमें अपनी आवश्यकता का कपड़ा बुनवा लेना पडता था। देशी मिल के सूत का हाथ से बुना कपड़ा झट मिलता नही था । बुनकर सारा अच्छा कपड़ा विलायती सूत का ही बुनते थे, क्योंकि हमारी मिले सूत कातती नही थी । आज भी वे महीन सूत अपेक्षाकृत कम ही कातती है, बहुत महीन तो कात ही नही सकती ।

बडे प्रयत्न के बाद कुछ बुनकर हाथ लगे, जिन्होने देशी सूत का कपडा बुन देने की मेंहरबानी की। इन बुनकरो को आश्रम की तरफ से यह गारंटी देनी पड़ी थी कि देशी सूत का बुना हुआ कपड़ा खरीद लिया जायेगा। इस प्रकार विशेष रूप से तैयार कराया हुआ कपड़ा बुनवाकर हमने पहना और मित्रो में उसका प्रचार किया। यों हम कातनेवाली मिलो के अवैतनिक एजेंट बने। मिलो के सम्पर्क में आने पर उनकी व्यवस्था की और उनकी लाचारी की जानकारी हमें मिली। हमने देखा कि मिलो का ध्येय खुद कातकर खुद ही बुनना था। वे हाथ-करधे की सहायता स्वेच्छा से नही, बल्कि अनिच्छा से करती था।

यह सब देखकर हम हाथ से कातने के लिए अधीर हो उठे। हमने देखा कि जब तक हाथ से कातेगे नही, तब तक हमारी पराधीनता बनी रहेगी। मिलो के एजेंट बनकर देशसेवा करते है, ऐसा हमें प्रतीत नही हुआ।

लेकिन न तो कही चरखा मिलता था और न कही चरखे का चलाने वाला मिलता था। कुकड़ियाँ आदि भरने के चरखे तो हमारे पास थे, पर उन पर काता जा सकता है इसका तो हमें ख्याल ही नही था। एक बार कालीदास वकील एक वकील एक बहन को खोजकर लाये। उन्होने कहा कि यह बहन सूत कातकर दिखायेगी। उसके पास एक आश्रमवासी को भेजा, जो इस विषय में कुछ बता सकता था, मैं पूछताछ किया करता था। पर कातने का इजारा तो स्त्री का ही था। अतएव ओने-कोने में पड़ा हुई कातना जाननेवाली स्त्री तो किसी स्त्री को ही मिल सकती थी।

सन् 1917 में मेंरे गुजराती मित्र मुझे भड़ोच शिक्षा परिषद में घसीट ले गये थे। वहाँ महा साहसी विधवा बहन गंगाबाई मुझे मिली। वे पढी-लिखी अधिक नही थी, पर उनमें हिम्मत और समझदारी साधारणतया जितनी शिक्षित बहनो में होती है उससे अधिक थी। उन्होने अपने जीवन में अस्पृश्यता की जड़ काट डाली थी, वे बेधड़क अंत्यजों में मिलती थी और उनकी सेवा करती थी। उनके पास पैसा था, पर उनकी अपनी आवश्यकताये बहुत कम थी। उनका शरीर कसा हुआ था। और चाहे जहाँ अकेले जाने में उन्हें जरा भी झिझक नही होती थी। वे घोड़े की सवारी के लिए भी तैयार रहती थी। इन बहन का विशेष परिचय गोधरा की परिषद में प्राप्त हुआ। अपना दुख मैंने उनके सामने रखा और दमयंती जिस प्रकार

नल की खोज में भटकी थी, उसी प्रकार चरखे की खोज में भटकने की प्रतिज्ञा करके उन्होने मेरा बोझ हलका कर दिया।

४०. चरखा मिला!

गुजरात में अच्छी तरह भटक चुकने के बाद गायकवाड़ के बीजापुर गाँव में गंगाबहन को चरखा मिला। वहाँ बहुत से कुटुम्बो के पास चरखा था, जिसे उठाकर उन्होने छत पर चढा दिया था। पर यदि कोई उनका सूत खरीद ले और उन्हे कोई पूनी मुहैया कर दे, तो वे कातने को तैयार थे। गंगाबहन ने मुझे खबर भेजी। मेंरे हर्ष का कोई पार न रहा। पूनी मुहैया कराने का का मुश्किल मालूम हुआ। स्व. भाई उमर सोबानी से चर्चा करने पर उन्होने अपनी मिल से पुनी की गुछियाँ भेजने का जिम्मा लिया। मैंने वे गुच्छियाँ गंगाबहन के पास भेजी और सूत इतनी तेजी से कतने लगा कि मैं हार गया।

भाई उमर सोबानी की उदारता विशाल थी, फिर भी उसकी हद थी। दाम देकर पुनियाँ लेने का निश्चय करने में मुझे संकोच हुआ। इसके सिवा, मिल की पूनियों से सूत करवाना मुझे बहुत दोष पूर्ण मालूम हुआ। अगर मिल की पूनियाँ हम लेते है, तो फिर मिल का सूत लेने में क्या दोष है ? हमारे पूर्वजो के पास मिल की पुनियाँ कहाँ थी? वे किस तरह पूनियाँ तैयार करते होगे ?मैंने गंगाबहन को लिखा कि वे पूनी बनाने वाले की खोज करे। उन्होने इसका जिम्मा लिया और एक पिंजारे को खोज निकाला। उसे 35 रुपये या इससे अधिक वेतन पर रखा गया। बालको को पूनी बनाना सिखाया गया। मैंने रुई की भिक्षा माँगी। भाई यशवंतप्रसाद देसाई ने रुई की गाँठे देने का जिम्मा लिया। गंगाबहन ने काम एकदम बढा दिया। बुनकरो को लाकर बसाया और कता हुआ सूत बुनवाना शुरू किया। बीजापुर की खादी मशहूर हो गयी।

दूसरी तरफ आश्रम में अब चरखे का प्रवेश होने में देर न लगी। मगनालाल गाँधी की शोधक शक्ति ने चरखे में सुधार किये और चरखे तथा तकुए आश्रम में बने। आश्रम की खादी पहले थान की लागत फी गज सतरह आने आयी। मैंने मित्रो से मोटी और कच्चे सूत की खादी के दाम सतरह आना फी गज के हिसाब से लिये, जो उन्होने खुशी-शुशी दिये।

मैं बम्बई में रोगशय्या पर पड़ा हुआ था, पर सबसे पूछता रहता था। मैं खादीशास्त्र में अभी निपट अनाड़ी था। मुझे हाथकते सूत की जरूरत थी। कत्तिनो की जरूरत थी। गंगाबहन जो भाव देती थी, उससे तुलना करने पर मालूम हुआ कि मैं ठगा रहा हूँ। लेकिन वे बहने कम लेने को तैयार न थी। अतएव उन्हें छोड़ देना पड़ा। पर उन्होने अपना काम किया। उन्होने श्री अवन्तिकाबाई, श्री रमीबाई कामदार, श्री शंकरलाल बैकर की माताजी और वसुमतीबहन को कातना सिखा दिया और मेंरे कमरे में चरखा गूंजने लगा। यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि इस यंत्र में मुझ बीमार को चंगा करने में मदद की। बेशक यह एक मानसिक असर था। पर मनुष्य को स्वस्थ या अस्वस्थ करने में मन का हिस्सा कौन कम होता है? चरखे पर मैंने भी हाथ आजमाया। किन्तु इससे आगे मैं इस समय जा नही सका।

बम्बई में हाथ की पूनियाँ कैसे प्राप्त की जाय? श्री रेवाशंकर झेवरी के बंगले के पास से रोज एक घुनिया तांत बजाता हुआ निकला करता था। मैंने उसे बुलाया। वह गद्दो के लिए रुई धूना करता था। उसने पूनियाँ तैयार करके देना स्वीकार किया। भाव ऊँचा माँगा, जो मैंने दिया। इस तरह तैयार हुआ सूत मैंने बैष्णवो के हाथ ठाकुरजी की माला के लिए दाम लेकर बेचा। भाई शिवजी ने बम्बई में चरखा सिकाने का वर्ग शुरू किया। इन प्रयोगो में पैसा काफी खर्च हुआ। श्रद्धालु देशभक्तो ने पैसे दिये और मैंने खर्च किये। मेंरे नम्र विचार में यह खर्च व्यर्थ नही गया। उससे बहुत-कुछ सीखने को मिला। चरखे की मर्यादा का माप मिल गया।

अब मैं केवल खादीमय बनने के लिए अधीर हो उठा। मेरी धोती देशी मिल के कपड़े की थी। बीजापुर में और आश्रम में जो खादी बनती थी, वह बहुत मोटी और 30 इंच अर्ज की होती थी। मैंने गंगाबहन को चेतावनी दी कि अगर वे एक महीने के अन्दर 45 इंच अर्जवाली खादी की धोती तैयार करके न देगी, तो मुझे मोटी खादी की घटनो तक की धोती पहनकर अपना काम चलाना पड़ेगा। गंगाबहन अकुलायी। मुद्दत कम मालूम हुई, पर वे हारी नही। उन्होने एक महीने के अन्दर मेंरे लिए 50 इंच अर्ज का धोतीजोडा मुहैया कर दिया और मेरा दारिद्रय मिटाया।

इसी बीच भाई लक्ष्मीदास लाठी गाँव से एक अन्त्यज भाई राजजी और उसकी पत्नी गंगाबहन को आश्रम में लाये और उनके द्वारा बड़े अर्ज की खादी बुनवाई। खादी प्रचार में इस दम्पती का हिस्सा ऐसा-वैसा नही कहा जा सकता। उन्होने गुजरात में और गुजरात के बाहर हाथ का सूत बनने की कला दूसरो को सिखायी है। निरक्षर परन्तु संस्कारशील गगाबहन जब करधा चलाती है, तब उसमें इतनी लीन हो जाती है कि इधर उधर देखने या किसी के साथ बातचीत करने की फुरसत भी अपने लिए नही रखती।

४१. एक संवाद

जिस समय स्वदेशी के नाम से परिचित यह आन्दोलन चलने लगा, उस समय मिल मालिको की ओर से मेंरे पास काफी टीकाये आने लगी। भाई उमर सोबानी स्वयं एक होशियार मिल-मालिक थे। अतएव वे अपने ज्ञान का लाभ तो मुझे देते ही थे, पर दूसरो की राय की जानकारी भी मुझे देते रहते थे। उनमें से एक की दलील का असर उन पर भी हुआ और उन्होने मुझे उस भाई के पास चलने की सूचना की। मैंने उसका स्वागत किया। हम उनके पास गये। उन्होने आरम्भ इस प्रकार किया, 'आप यह तो जानते है न कि आपका स्वदेशी आन्दोलन पहला ही नही है?'

मैंने जवाब दिया, 'जी हाँ।'

'आप जानते है न कि बंग भंग के समय स्वदेशी आन्दोलन ने खूब जोर पकड़ा था, जिसका हम मिलवालो ने खूब फायदा उठाया था और कपड़े के दाम बढ़ा दिये थे ? कुछ नही करने लायक बाते की भी?'

'मैंने यह बात सुनी है और सुनकर मैं दुःखी हुआ हूँ।'

'मैं आपका दुःख समझता हूँ पर उसके लिए कोई कारण नही है। हम परोपकार के लिए व्यापार नही करते। हमें तो पैसा कमाना है। अपने हिस्सेदारो को जवाब देना है। वस्तु का मूल्य उसकी माँग पर निर्भर करता है, इस नियम के विरुद्ध कौन जा सकता है ? बंगालियो को जानना चाहिए था कि उनके आन्दोलन से स्वदेशी वस्त्र के दाम अवश्य बढेंगे।'

'वे विचारे मेरी तरह विश्वासशील है। इसलिए उन्होने मान लिया कि मिल-मालिक नितान्त स्वार्थी नही बन जायेंगे। विश्वासधात तो कदापि न करेंगे। स्वदेशी के नाम पर विदेशी कपड़ा हरगिज न बेचेंगे।'

'मैं जानता था कि आप ऐसा मानते है। इसी से मैंने आपको सावधान करने का विचार किया और यहाँ आने का कष्ट दिया, ताकि आप भोले बंगालियो की तरह धोखे में न रह जाये।'

यह कहकर सेठजी ने अपने गुमाश्ते को नमूने लाने का इशारा किया। ये रद्दी रुई में से बने हुए कम्बल के नमूने थे। उन्हे हाथ में लेकर वे भाई बोले, 'देखिये, यह माल हमने नया बनाया है। इसकी अच्छी खपत है। रद्धी रुई से बनाया है, इसलिए यह सस्ता तो पड़ता ही है। इस माल को हम ठेठ उत्तर तक पहुँचातो है। हमारे एजेंट चारो ओर फैले हुए है। अतएव हमें आपके समान एजेट की जरूरत नही रहती। सच तो यह है कि जहाँ आप-जैसो की आवाज नही पहुँचती, वहाँ हमारा माल पहुँचती है। साथ ही, आपको यह भी जानना चाहिए कि हिन्दुस्तान की आश्यकता का सब माल हम उत्पन्न नही करते है। अतएव स्वदेशी का प्रश्न मुख्यतः उत्पादन का प्रश्न है। जब हम आवश्यक मात्रा में कपड़ा पैदा कर सकेंगे और कपड़े की किस्म में सुधार कर सकेंगे, तब विदेशी कपड़े का आना अपने आप बन्द हो जायेगा। इसलिए आपको मेरी सलाह तो यह है कि आप अपना स्वदेशी आन्दोलन जिस तरह चला रहे है, उस तरह न चलाये और नई मिले खोलने की ओर ध्यान दे। हमारे देश में स्वदेशी माल खपाने का आन्दोलन चलाने की आवश्यकता नही है, बल्कि उसे उत्पन्न करने की आवश्यकता है।'

मैंने कहा, 'यदि मैं यही काम कर रहा होऊँ, तब तो आप उसे आशीर्वाद देंगे न ?'

'सो किस तरह? यदि आपमिल खोलने का प्रयत्न करते हो, तो आप धन्यवाद के पात्र है।'

'ऐसा तो मैं नही कर रहा हूँ, पर मैं चरखे के काम में लगा हुआ हूँ।'

'यह क्या चीज है ?'

मैंने चरखे की बात सुनाई और कहा, 'मैं आपके विचारो से सहमत हूँ। मुझे मिलो की दलाली नही करनी चाहिए। इससे फायदे के बदले नुकसान ही है। मिलो का माल पड़ा नही

रहता। मुझे तो उत्पादन बढाने में और उत्पन्न हुए कपड़े को खपाने में लगना चाहिए। इस समय मैं उत्पादन के काम में लगा हुआ हूँ। इस प्रकार की स्वदेशी में मेरा विश्वास है, क्योकि उसके द्वारा हिन्दुस्तान की भूखो मरनेवाली अर्ध-बेकार स्त्रियो को काम दिया जा सकता है। उनका काता हुआ सूत बुनवाना और उसकी खादी लोगो को पहनाना, यही मेरा विचार है और यही मेरा आन्दोलन है। मैं नही जानता कि चरखा आन्दोलन कहाँ तक सफल होगा। अभी तो उसका आरम्भ काल ही है, पर मुझे उसमें पूरा विश्वास है। कुछ भी हो, उसमें नुकसान तो है ही नही। हिन्दुस्तान में उत्पन्न होने वाले कपड़े में जितनी वृद्धि इस आन्दोलन से होगी उतना फायदा ही है। अतएव इस प्रयत्न में आप बताते है वह दोष तो है ही नही।'

'यदि आप इस रीति से आन्दोलन चलाते हो, तो मुझे कुछ नही कहना है। हाँ, इस युग में चरखा चल सकता है या नही, यह अलग बात है। मैं तो आपकी सफलता ही चाहता हूँ।'

४२. असहयोग का प्रवाह

इसके आगे खादी की प्रगति किस प्रकार हुई, इसकी वर्णन इन प्रकरणों में नही किया जा सकता। कौन-कौन सी वस्तुएँ जनता के सामने किस प्रकार आयी, यह बता देने के बाद उनके इतिहास में उतरना इन प्रकरणो का क्षेत्र नही है। उतरने पर उन विषयो की अलग पुस्तक तैयार हो सकती है। यहाँ तो मैं इतना ही बताना चाहता हूँ कि सत्य की शोध करते हुए कुछ वस्तुएँ मेरे जीवन में एक के बाद एक किस प्रकार अनायास आती गयी।

अतएव मैं मानता हूँ कि अब असहयोग के विषय में थोडा कहने का समय आ गया है। खिलाफत के बारे में अलीभाइयो का जबरदस्त आन्दोलन तो चल ही रहा था। मरहूम मौलाना अब्दुलबारी वगैरा उलेमाओं के साथ इस विषय की खूब चर्चायें हुई। इस बारे में विवेचन हुआ कि मुसलमान शान्ति को, अहिंसा को, कहाँ तक पाल सकते है। आखिर तय हुआ कि अमुक हद तक युक्ति के रूप में उसका पालन करने में कोई एतराज नही हो सकता, और अगर किसी ने एक बार अहिंसा की प्रतिज्ञा की है, तो वह उसे पालने के लिए बँधा हुआ है। आखिर खिलाफत परिषद में असहयोग का प्रस्ताव पेश हुआ और बड़ी चर्चा के बाद वह मंजूर हुआ। मुझे याद है कि एक बार इलाहाबाग में इसके लिए सारी रात सभा चलती रही थी। हकीम साहब को शान्तिमय असहयोग का शक्यका के विषय में शंका थी। किन्तु उनकी शंका दूर होने पर वे उसमें सम्मिलित हुए और उनकी सहायता अमूल्य सिद्ध हुई।

इसके बाद गुजरात में परिषद हुई। उसमें मैंने असहयोग का प्रस्ताव रखा। उसमें विरोध करनेवालो की पहली दलील यह थी कि जब तक काँग्रेस असहयोग का प्रस्ताव स्वीकार न करे, तब तक प्रान्तीय परिषदो को यह प्रस्ताव पास करने का अधिकार नही है। मैंने सुझाया कि प्रान्तीय परिषदे पीछे कदम नही हटा सकती, लेकिन आगे कदम बढाने का अधिकार तो सब शाखा-संस्थाओ को है। यही नही, बल्कि उनमें हिम्मत हो तो ऐसा करना उनका धर्म है। इससे मुख्य संस्था का गौरव बढता है। असहयोग के गुण-दोष पर अच्छी और मीठी चर्चा हुई। मत गिने गये और विशाल बहुमत से असहयोग का प्रस्ताव पास हुआ। इस प्रस्ताव

को पास कराने में अब्बास तैयबजी और वल्लभभाई पटेल का बड़ा हाथ रहा । अब्बास साहब सभापति थे और उनका झुकाव असहयोग के प्रस्ताव की तरफ ही था ।

काँग्रेस की महासमति ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए काँग्रेस का एक विशेष अधिवेशन सन् 1920 के सितम्बर महीने में कलकत्ते में करने का निश्चय किया । तैयारियाँ बहुत बड़े पैमाने पर थी । लाला लाजपतराय सभापति चुने गये थे । बम्बई से खिलाफत स्पेशल और काँग्रेस स्पेशल रवाना हुई । कलकत्ते में सदस्यो और दर्शको का बहुत बड़ा समुदाय इकट्ठा हुआ ।

मौलाना शौकतअली के कहने पर मैंने असहयोक के प्रस्ताव का मसविदा रेलगाड़ी में तैयार किया । आज तक मेरे मसविदो में 'शान्तिमय' शब्द प्रायः नही आता था। मैं अपने भाषण में इस शब्द का उपयोग करता था । सिर्फ मुसलमान भाइयो की सभा में 'शान्तिमय' शब्द से मुझे जो समझाना था वह मैं समझा नही पाता था । इसलिए मैंने मौलाना अबुलकलाम आजाद से दूसरा शब्द माँगा । उन्होने 'बाअमन' शब्द दिया और असहयोग के लिए 'तर्के मवालत' शब्द सुझाया ।

इस तरह अभी गुजराती में, हिन्दी में, हिन्दुस्तानी में असहयोग की भाषा मेरे दिमाग में बन रही थी कि इतने में ऊपर लिखे अनुसार काँग्रेस के लिए प्रस्ताव का मसविदा तैयार करने का काम मेरे हाथ में आया । प्रस्ताव में 'शान्तिमय' शब्द लिखना रह गया । मैंने प्रस्ताव रेलगाडी में ही मौलाना शौकतअली को दे दिया । रात में मुझे ख्याल आया कि मुख्य शब्द 'शान्तिमय' तो छूट गया है । मैंने महादेव को दौड़ाया और कहलवाया कि छापते समय प्रस्ताव में 'शान्तिमय' शब्द बढ़ा ले । मेरा कुछ ऐसा ख्याल है कि शब्द बढाने से पहले सी प्रस्ताव छप चुका था । विषय-विचारिणी समिति की बैठक उसी रात थी । अतएव उसमें उक्त शब्द मुझे बाद में बढवाना पड़ा था । मैंने देखा कि यदि मैं प्रस्ताव के साथ तैयार न होता, तो बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ता ।

मेरी स्थिति दयनीय थी । मैं नही जानता था कि कौन प्रस्ताव का विरोध करेगा और कौन प्रस्ताव का समर्थन करेगा । लालाजी के रुख के विषय में मैं कुछ न जानता था । तपे-तपाये

अनुभवी योद्धा कलकत्ते में उपस्थित हुए थे। विदुषी एनी बेसेंट, पं. मालवीयजी, श्री विजयराधवाचार्य, पं. मोतीलालजी, देशबन्धु आदि उनमें थे।

मेंरे प्रस्ताव में खिलाफत और पंजाब के अन्याय को ध्यान में रखकर ही असहयोग की बात कही गयी थी। पर श्री विजयराधवाचार्य को इसमें कोई दिलचस्पी मालूम न हुई। उन्होने कहा, 'यदि असहयोग ही कराना है, तो अमुक अन्याय के लिए ही क्यो किया ? स्वराज्य का अभाव बड़े -से - बडा अन्याय है। अतएव उसके लिए असहयोग किया जा सकता है।' मोतीलालजी भी स्वराज्य की माँग को प्रस्ताव में दाखिल कराना चाहते थे। मैंने तुरन्त ही इस सूचना को स्वीकार कर लिया और प्रस्ताव में स्वराज्य की माँग भी सम्मिलित कर ली। विस्तृत, गंभीर और कुछ तींखी चर्चाओ के बाद असहयोग का प्रस्ताव पास हुआ। मोती लाल जी उसमें सबसे पहले सम्मिलित हुए। मेंरे साथ हुई उनकी मीठी चर्चा मुझे अभी तक याद है। उन्होने कुछ शाब्दिक परिवर्तन सुझाये थे, जिन्हें मैंने स्वीकार कर लिया था। देशबन्धु को मना लेने का बीड़ा उन्होने उठाया था। देशबन्धु का हृदय असहयोग के साथ था, पर बुद्धि उनसे कर रही थी कि असहयोग को जनता ग्रहण नही करेगी। देशबन्धु और लालाजी ने असहयोग के प्रस्ताव को पूरी तरह तो नागपुर में स्वीकार किया। इस विशेष अवसर पर लोकमान्य की अनुपस्थिति मेंरे लिए बहुत दुःखदायक सिद्ध हुई। आज भी मेरा मत है कि वे जीवित होते, तो कलकत्ते की घटना का स्वागत करते। पर वैसा न होता और वे विरोध करते, तो भी मुझे अच्छा ही लगता। मुझे उससे कुछ सीखने को मिलता। उनके साथ मेंरे मतभेद सदा ही रहे, पर वे सब मीठे थे। उन्होंने मुझे हमेंशा यह मानने का मौका दिया था कि हमारे बीच निकट का सम्बन्ध है। यह लिखते समय उनके स्वर्गवास का चित्र मेंरे सामने खड़ा हो रहा है। मेंरे साथी पटवर्धन ने आधी रात को मुझे टेलीफोन पर उनके अवसान का समाचार दिया था। उसी समय मैंने साथियो से कहा था, 'मेंरे पास एक बड़ा सहारा था, जो आज टूट गया।' उस समय असहयोग का आन्दोलन पूरे जोर से चल रहा था। मैं उनसे उत्साह और प्रेरणा पाने की आशा रखता था। अन्त में जब असहयोग पूरी तरह मूर्तिमंत हुआ, तब उसके प्रति उनका रुख क्या रहा होता सो तो भगवान जाने, पर इतना मैं जानता हूँ कि राष्ट्र के इतिहास की उस महत्त्वपूर्ण घड़ी में उनकी उपस्थिति का अभाव सब को खटक रहा था।

४३. नागपुर में

काँग्रेस के विशेष अधिवेशन में स्वीकृत असहयोग के प्रस्ताव को नागपुर में होनेवाले वार्षिक अधिवेशन में बहाल रखना था। कलकत्ते की तरह नागपुर में भी असंख्य लोग इक्टठा हुए थे। अभी तक प्रतिनिधियो की संख्या निश्चित नही हुई थी। अतएव जहाँ तक मुझे याद है, इस अधिवेशन में चौदह हजार प्रतिनिधि हाजिर हुए थे। लालाजी के आग्रह से विद्यालयो सम्बन्धी प्रस्ताव में मैंने एक छोटा-सा परिवर्तन स्वीकार कर लिया था। देशबन्धु ने भी कुछ परिवर्तन कराया था और अन्त में शान्तिमय असहयोग का प्रस्ताव सर्व-सम्मति से पास हुआ था।

इसी बैठक में महासभा के विधान का प्रस्ताव भी पास करना था। यह विधान मैंने कलकत्ते की विशेष बैठक में पेश तो किया ही था। इसलिए वह प्रकाशित हो गया था और उस पर चर्चा भी हो चुकी थी। श्री विजया राधवाचार्य इस बैठक के सभापति थे। विधान में विषय-विचारिणी समिति ने एक ही महत्व का परिवर्तन किया था। मैंने प्रतिनिधियो की संख्या पंद्रह सौ मानी थी। विषय-विचारणी समिति ने इसे बदलकर छह हजार कर दिया। मैं मानता था कि यह कदम बिना सोचे-विचारे उठाया गया है। इतने वर्षो के अनुभव के बाद भी मेरा यही ख्याल है। मैं इस कल्पना को बिल्कुल गलत मानता हूँ कि बहुत से प्रतिनिधियो से काम अधिक अच्छा होता है अथवा जनतंत्र की अधिक रक्षा होती है। ये पन्द्रह सौ प्रतिनिधि उदार मनवाले, जनता के अधिकारो की रक्षा करनेवाले और प्रामाणिक हो, तो छह हजार निरंकुश प्रतिनिधियो की अपेक्षा जनतंत्र की अधिक रक्षा करेंगे। जनतंत्र की रक्षा के लिए जनता में स्वतंत्रता की, स्वाभिमान की और एकता की भावना होनी चाहिए और अच्छे तथा सच्चे प्रतिनिधियो को ही चुनने का आग्रह रहना चाहिए। किन्तु संख्या के मोह में पड़ी हुई विषय-विचारिणी समिति छह हजार से भी अधिक प्रतिनिधि चाहती थी। इसलिए छह हजार पर मुश्किल से समझौता हुआ।

काँग्रेस में स्वराज्य के ध्येय पर चर्चा हुई थी। विधान की धारा में साम्राज्य के भीतर अथवा उसके बाहर, जैसा मिले वैसा, स्वराज्य प्राप्त करने की बात थी। काँग्रेस में भी एक पक्ष ऐसा

था, जो साम्राज्य के अन्दर रहकर ही स्वराज्य प्राप्त करना चाहता था। उस पक्ष का समर्थन पं. मालवीयजी और मि. जिन्ना ने किया था। पर उन्हें अधिक मत न मिल सके। विधान की यह एक धारा यह थी कि शान्तिपूर्ण और सत्यरूप साधनो द्वारा ही हमें स्वराज्य प्राप्त करना चाहिए। इस शर्त का भी विरोध किया गया था। पर काँग्रेस ने उसे अस्वीकार किया और सारा विधान काँग्रेस में सुन्दर चर्चा होने के बाद स्वीकृत हुआ। मेरा मत है कि यदि लोगो ने इस विधान पर प्रामाणिकतापूर्वक और उत्साहपूर्वक अमल किया होता, तो उससे जनता को बड़ी शिक्षा मिलती। उसके अमल में स्वराज्य की सिद्धि समायी हुई थी। पर यह विषय यहाँ प्रस्तुत नही है।

इसी सभा में हिन्दू-मुस्लिम एकता के बारे में, अस्पृश्यता-निवारण के बारे में और खादी के बारे में भी प्रस्ताव पास हुए। उस समय से काँग्रेस के हिन्दू सदस्यो ने अस्पृश्यता को मिटाने का भार अपने ऊपर लिया है और खादी के द्वारा काँग्रेस ने अपना सम्बन्ध हिन्दुस्तान के नर-कंकालो के साथ जोडा है। काँग्रेस ने खिलाफत के सवाल के सिलसिले में असहयोग का निश्चय करके हिन्दु-मुस्लिम एकता सिद्ध करने का एक महान प्रयाय किया था।

पूर्णाहुति

अब इन प्रकरणो को समाप्त करने का समय आ पहुँचा है।

इससे आगे का मेरा जीवन इतना अधिक सार्वजनिक हो गया है कि शायद ही कोई ऐसी चीज हो, जिसे जनता जानती न हो। फिर सन 1921 से मैं काँग्रेस के नेताओ के साथ इतना अधिक ओतप्रोत रहा हूँ कि किसी प्रसंग का वर्णन नेताओ के सम्बन्ध की चर्चा किये बिना मैं यर्थाथ रूप में कर ही नही सकता। ये सम्बन्ध अभी ताजे है। श्रद्धानन्दजी, देशबन्धु, लालाजी और हकीम साहब आज हमारे बीच नही है। पर सौभाग्य से दूसरे कई नेता अभी मौजूद है। काँग्रेस के महान परिवर्तन के बाद का इतिहास अभी तैयार हो रहा है। मेंरे मुख्य प्रयोग काँग्रेस के माध्यम से हुए है। अतएव उन प्रयोगो के वर्णन में नेताओ के सम्बन्धो की चर्चा अनिवार्य है। शिष्टता के विचार से भी फिलहाल तो मैं ऐसा कर ही नही सकता। अंतिम बात यह है कि इस समय चल रहे प्रयोगो के बारे में मेंरे निर्णय निश्चयात्मक नही माने जा सकते। अतएव इन प्रकरणो को तत्काल तो बन्द कर देना ही मुझे अपना कर्तव्य मालूम होता है। यह कहना गलत नही होगा कि इसके आगे मेरी कलम ही चलने से इनकार करती है।

पाठको से बिदा लेते हुए मुझे दुःख होता है। मेंरे निकट अपने इन प्रयोगो की बड़ी कीमत है। मैं नही जानता कि मैं उनका यर्थाथ वर्णन कर सका हूँ या नही। यर्थाथ वर्णन करने में मैंने कोई कसर नही रखी है। सत्य को मैंने जिस रूप में देखा है, जिस मार्ग से देखा है, उसे उसी तरह प्रकट करने का मैंने सतत प्रयत्न किया है और पाठको के लिए उसका वर्णन करके चित्त में शान्ति का अनुभव किया है। क्योकि मैंने आशा यह रखी है कि इससे पाठको में सत्य और अहिंसा के प्रति अधिक आस्था उत्पन्न होगी।

सत्य से भिन्न कोई परमेंश्वर है, ऐसा मैंने कभी अनुभव नही किया। यदि इन प्रकरणो के पन्ने-पन्ने से यह प्रतीति न हुई हो कि सत्यमय बनने का एकमात्र मार्ग अहिंसा ही है तो मैं इस प्रयत्न को व्यर्थ समझता हूँ। मेरी अहिंसा सच्ची होने पर भी कच्ची है, अपूर्ण है। अतएव हजारो सूर्यो को इकट्ठा करने से भी जिस सत्यरूपी सूर्य के तेज का पूरा माप नही

निकल सकता, सत्य की मेरी झाँकी ऐसे सूर्य की केवल एक किरण के दर्शन के समान ही है । आज तक के अपने प्रयोगो के अन्त में मैं इतना तो अवश्य कह सकता हूँ कि सत्य का संपूर्ण दर्शन संपूर्ण अहिंसा के बिना असम्भव है ।

ऐसे व्यापक सत्य-नारायण के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए जीवनमात्र के प्रति आत्मवत् प्रेम की परम आवश्यकता है । और, जो मनुष्य ऐसा करना चाहता है, वह जीवन के किसी भी क्षेत्र से बाहर नही रह सकता । यही कारण है कि सत्य की मेरी पूजा मुझे राजनीति में खींच लायी है । जो मनुष्य यह कहता है कि धर्म का राजनीति के साथ कोई सम्बन्ध नही है वह धर्म को नही जानता, ऐसा कहने में मुझे संकोच नही होता और न ऐसा कहने में मैं अविनय करता हूँ।

बिना आत्मशुद्धि के जीवन मात्र के साथ ऐक्य सध ही नही सकता । आत्मशुद्धि के बिना अहिंसा-धर्म का पालन सर्वधा असंभव है । अशुद्ध आत्मा परमात्मा के दर्शन करने में असमर्थ है । अतएव जीवन-मार्ग के सभी क्षेत्रो में शुद्धि की आवश्यकता है । यह शुद्धि साध्य है, क्योकि व्यष्टि और समष्टि के बीच ऐसा निकट सम्बन्ध है कि एक की शुद्धि अनेको की शुद्धि के बराबर हो जाती है । और व्यक्तिगत प्रयत्न करने की शक्ति तो सत्य-नारायण ने सबको जन्म से ही दी है ।लेकिन मैं प्रतिक्षण यह अनुभव करता हूँ कि शुद्धि का मार्ग विकट है। शुद्ध बनने का अर्थ है मन से, वचन से और काया से निर्विकार बनना, राग-द्वेषादि से रहित होना । इस निर्विकारता तक पहुँचने का प्रतिक्षण प्रयत्न करते हुए भी मैं पहुँच नहीं पाया हूँ, इसलिए लोगो की स्तुतु मुझे भुलावे में नही डाल सकती। उलटे, यह स्तुति प्रायः तीव्र वेदना पहुँचाती है। मन के विकारो को जीतना संसार को शस्त्र से जीतने की अपेक्षा मुझे अधिक कठिन मालूम होता है। हिन्दुस्तान आने के बाद भी अपने भीतर छिपे हुए विकारो को देख सका हूँ, शरमिन्दा हुआ हूँ किन्तु हारा नही हूँ। सत्य के प्रयोग करते हुए मैंने आनन्द लूटा है, और आज सभी लूट रहा हूँ। लेकिन मैं जानता हूँ कि अभी मुझे विकट मार्ग तय करना है। इसके लिए मुझे शून्यबत् बनना है। मनुष्य जब तक स्वेच्छा से अपने को सबसे नीचे नही रखता, तब तक उसे मुक्ति नही मिलती। अहिंसा नम्रता की पराकाष्ठा है और यह अनुभव-सिद्ध बात है कि इस नम्रता के बिना मुक्ति कभी नही मिलती। ऐसी नम्रता के लिए प्रार्थना करते हुए और उसके लिए संसार की सहायता की याचना करते हुए इस समय तो मैं इन प्रकरणों को बन्द करता हूँ ।